संत काव्य-धारा

परशुराम चतुर्वेदी

किताब महल

इलाहाबाद, दिल्ली, पटना, नागपुर

प्रथम संस्करण, १९५२
द्वितीय संस्करण, १९६१
तृतीय संस्करण, १९६७
चतुर्थ संस्करण, १९८१

शाखायें--(१) २८, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-२
(२) अशोक राजपथ, पटना
(३) प्लाट नं० १, मनोज बिल्डिंग, रामदास पेठ,
सेन्ट्रल बाजार रोड, नागपुर

मूल्य : रु० ४५.००

प्रकाशक--किताब महल, १५, थार्नहिल रोड, इलाहाबाद।
मुद्रक--अनुपम प्रेस, ६ चक, इलाहाबाद।

प्रस्तुत संस्करण

संत-परंपरा मात्र वैष्णव धर्म की एकांत विशेषता कभी नहीं रही है। उसके द्वार अन्य सभी धर्मों के लिए सदा उन्मुक्त रहे हैं। संत रहस्यवादी इसलिए न थे कि परम तत्त्व अथवा चरम सत्य उन्हें अनुभवगम्य नहीं रहा है। वास्तव में वह अज्ञात की अपेक्षा अनिर्वचनीय रहा है। वहाँ कठिनाई अनुभव से अधिक अभिव्यक्ति की रही है।

सत्यनिष्ठ संतों की सदाचार-मूलक दृष्टि उनकी सामाजिक चेतना को भी उजागर करती है। संत-साहित्य के माध्यम से एक ऐसी संश्लिष्ट सांस्कृतिक चेतना। अभिव्यक्ति पा सकी है जिसने जीवन-मूल्य को नई गरिमा एवं महिमा प्रदान की है -- इसमें सहज हृदयोद्गार ही नहीं, स्वानुभूत विचार भी समाहित हैं। इसी कारण कहींहैं कहीं देश-कालबद्ध शास्त्रों तक की तीखी आलोचना पायी जाती है और उनके अनु-यायियों को कड़वी फटकारें भी सुनने को मिल जाती हैं। श्रम-साधना भी वहाँ समादृत और सच्ची अनुभूति को ही वहाँ खरी कसौटी माना गया है। वे आत्म-निरीक्षण के साथ-साथ परिस्थिति-परीक्षण को भी महत्त्व देते हैं और उनका आत्मोद्धार सहज ही लोक कल्याण का पर्याय बन जाता है। सोऽहं में अहं का लय हो जाने से कुंठा के लिए भी अवकश या अवसर शेष नहीं रह जाता है। जड़ संस्कारों के प्रति वे असहिष्णु दिखायी देते हैं और सुप्त लोक-चेतना को वे झकझोर कर जागृत कर देते हैं। वे मृतप्राय रूढ़ परंपरा के पोषक नहीं, जीवंत प्रगतिशील भविष्य के समर्थक हैं।

'संत-काव्यधारा' पूर्ववर्ती 'संत-काव्य' का ही परिवर्तित नामकरण है। 'संत-काव्य' के रूप में इसका संक्षिप्त संस्करण प्रकाशित किया गया है। ऐसा करते समय दोनों के भूमिका-भाग को यथावत् रहने दिया गया है, परंतु पाठ-भाग को कम करते समय भरसक इस बात का ध्यान रखा गया है कि उसकी क्षेत्रीय उपयोगिता तथा सांप्रदायिक विशेषता को कोई व्याघात न पहुँचने पावे।

संत-साहित्य में लोक-प्रचलित धर्म, दर्शन एवं आचार-विचार का निदर्शन है। उनका धर्म न तो ऐश्वर्य का पुजारी या अंधविश्वास-विहारी है, न दर्शन ही बुद्धि-विलास या वाग्व्यापार का मात्र वैभव-प्रदर्शन। उनकी कथनी-करनी की एकरूपता ही उसके आचार-विचार की रीढ़ है। उनकी भाषा-शैली भी प्रचलित लोक-परंपरा से संपृक्त तथा अनुप्राणित है। उसका क्षेत्र प्रयोग, प्रगति और मौलिकता के लिए वर्जित नहीं है।

आगामी संस्करण को अधिकाधिक सम्पन्न तथा प्रतिनिधि बनाने में सुधी पाठकों एवं विद्वानों के सुझाव और सहयोग का स्वागत किया जायेगा।

२३६ चक, इलाहाबाद-३
संवत् २०३७ विक्रमी

--नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

प्रस्तावना

अपनी पुस्तक 'उत्तरी भारत की संत-परंपरा' की 'प्रस्तावना' में मैंने लिखा था कि उसका सम्बन्ध प्रधानतः संतों की परंपरा के ही परिचय से है। उनके मत एवं साहित्य का परिचय देने के लिए अन्य दो पुस्तकों की आवश्यकता होगी। इस विचार से मैं 'संत-साहित्य की रूपरेखा' नाम से एक पुस्तक लिखने की सामग्री एकत्र करने लगा था। संत-साहित्य के केवल कुछ ही ग्रंथों का अभी तक प्रकाशित रूप में पाया जाना, हस्त-लिखित पुस्तकों में से भी अनेक का दुष्प्राप्य होना तथा उपलब्ध का भी अधिकतर संदिग्ध पाठों के ही साथ मिलना इस प्रकार की बाधाएँ हैं जिनके कारण विलंब का होना अनिवार्य था। इस बीच कतिपय मित्रों के सुझाव के अनुसार, मुझे यह उपयोगी जान पड़ा कि संतों की काव्य-रचना-शैली का भी एक परिचय दे दिया जाय। इसके लिए उनकी पद्य रचनाओं में से कुछ को चुन कर अब तक एक छोटा-सा संग्रह प्रकाशित कर दिया जाय। प्रस्तुत पुस्तक उसी उद्देश्य से किये गए प्रयत्नों का फल है। इस कारण, इसका क्षेत्र उतना व्यापक नहीं है।

इस संग्रह में आदि संत कवि जयदेव से लेकर स्वामी रामतीर्थ के समय तक की चुनी हुई रचनाएँ सम्मिलित की गई हैं। ये भिन्न-भिन्न संतों की कथन-शैली वा रचना-पद्धति का प्रतिनिधित्व करती हैं। फिर भी ये अपने रचयिताओं के अनुभूति-जन्य भावों की भी परिचायिका हैं। इस प्रकार इनके द्वारा संत-साहित्य के प्रमुख विषय का कुछ आभास मिल जाना भी संभव हो सकता है। संतों ने इन्हें न तो अपना काव्य-कौशल प्रदर्शित करने के उद्देश्य से लिखा था, न इनकी रचना द्वारा उनका प्रधान लक्ष्य कभी सगुणोपासक भक्तों की भाँति, अपने इष्टदेव का गुणगान करना ही रहा। वे इन्हें आत्मचिन्तन एवं स्वानुभूति के आधार पर समय-समय पर निर्मित करते गए थे। इस प्रकार, इनकी रचना विशेषतः उनके व्यक्तिगत उद्गारों अथवा उपदेशों के ही रूप में हुई थी और इनका जो कुछ भी महत्त्व है, वह केवल इसी के अनुसार समझा जा सकता है। संतों में से अधिकांश को न तो पूरी शिक्षा मिली थी, न उनमें से अधिकतर काव्य-कला से किसी प्रकार परिचित ही थे। अपने वर्ण्य-विषय की तीव्र अनुभूति एवं मत-प्रचार की अभिलाषा ने उन्हें पद्य-रचना की ओर प्रवृत्त किया था और उन्होंने इसे ढंग से ही निबाहा था।

संतों ने इन रचनाओं में भरसक अपनी पारिभाषिक शब्दावली के ही प्रयोग किये हैं और अपने भावों को अपनी शैली-विशेष के ही माध्यम से व्यक्त करने की ओर प्रायः सर्वत्र ध्यान देना उचित समझा है। यह बात पहले के संतों में विशेष रूप से उल्लेख-नीय है और आधुनिक संतों में से भी कुछ ने पूर्वपरिचित शब्द-भांडार से ही अधिक लाभ उठाया है। किन्तु मध्ययुग के संतों में से अधिकांश ने उन रचना-शैलियों को भी अपनाया है जो उनके समय में प्रचलित थीं। अतएव संतों के पदों एवं साखियों की रचना-शैली का अनुकरण जहाँ पहले क्रमशः कृष्णोपासक भक्तों तथा सूक्तिकारों ने किया

था, वहाँ रीतिकालीन संतों ने दूसरों के अनुकरण में कवित्त-सवैये आदि छंदों को भी अपना लिया और कभी-कभी भाषा-चमत्कार के प्रदर्शन तक की ओर प्रवृत्त हो गए। फिर भी उन्होंने अपने प्रधान विषय को सदा ध्यान में रखा और वर्णन-शैली के फेर में पड़कर भी, उसे भरसक अपने शब्दों द्वारा ही प्रकट किया।

वास्तव में, संत लोग न तो साहित्यिक थे, न उनकी रचनाओं को साहित्य-शास्त्रीय मानदंड के अनुसार परखना ही उचित है। उनकी भाषा में व्याकरण-सम्बन्धी अनेक दोष मिल सकते हैं और उनके पद्यों में छंदोनियम का पालन भी बहुत कम पाया जा सकता है। उनके साधना-सम्बन्धी विवरणों में नीरस पंक्तियों की ही भरमार दीख पड़ेगी और उनके उपदेशों में भी कोई आकर्षण विशेष नहीं जान पड़ेगा। उनके सिद्धांत-सम्बन्धी वर्णनों में भी, इसी प्रकार दार्शनिक व्याख्या की ही गंध मिल सकती है और उनकी विनयों में कोरी स्तुतियाँ पायी जा सकती हैं; किंतु संतों की रचनाएँ केवल इन्हीं कतिपय बातों के सम्बद्ध नहीं हैं। उनमें दिया गया गहरी स्वानुभूति का अस्फुट परिचय, उनकी चेतावनियों की चुटीली उक्तियाँ तथा उनमें पाये जाने वाले स्वतः-स्फूर्त हृदयोद्गार ऐसे हैं जो निःसंदेह सरस एवं सुन्दर कहला सकते हैं। इनका माधुर्य और सौंदर्य कुछ अपने ढंग का है और इनकी मर्मस्पर्शिता सिद्ध करने के लिए रीति-कालीन मानदंड का प्रयोग उचित नहीं। रस, अलंकार वा अन्य काव्य-सम्बन्धी चमत्कारों के जो उदाहरण इन रचनाओं में दीख पड़ते हैं, वे किसी साहित्यिक प्रयास या प्रशिक्षण के परिणाम नहीं हैं।

संतों की रचना-पद्धति एवं संत-काव्य की विशेषता के सम्बन्ध में 'भूमिका' में विचार किया गया है। प्रसंगवश उसके अन्तर्गत कुछ ऐसे उदाहरण भी दे दिये गए हैं जो साहित्य-शास्त्रीय दृष्टिकोण से भी काव्य की कोटि में आते हैं। इसके सिवाय संतों के अनुसार निश्चित काव्य के आदर्श, उनके संगीत-प्रेम, उनके द्वारा प्रयुक्त छंदों की विविधता तथा उनकी भाषा के बहुरंगेपन की भी चर्चा की गई है। वहाँ यह दिखलाया गया है कि किस प्रकार वे इन सभी बातों के प्रति प्रायः उदासीन-से रहते आए हैं। काव्य-रूप से कहीं अधिक ध्यान उन्होंने उसकी विषय-वस्तु की ओर ही दिया था और उसे भी सदा अपने रंग में ही रँग कर प्रस्तुत किया।

संत-परंपरा के सभी प्रमुख संतों की रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं और कई एक की केवल थोड़ी-सी ही पायी जाती हैं। जिन संतों की कृतियाँ अधिक संख्या में नहीं मिल पातीं, किन्तु जो कई अन्य कारणों से बहुत प्रसिद्ध हैं, उनके पद्यों को भी उदाहरण-स्वरूप संगृहीत कर लिया गया है जिनसे कम-से-कम उनकी भाषा एवं वर्णन-शैली का कुछ-न-कुछ पता चल जाता है। अधिक लिखने वाले संतों के संग्रहों में से पद्य-चयन करते समय उनके वर्ण्य-विषयों पर भी विचार किया गया है और भरसक इस बात का प्रयत्न किया गया है कि एक ही संत की विषयानुसार परिवर्तित शैली की अनेकरूपता का भी कुछ परिचय मिल सके। बड़े-बड़े पद्यों और विशेषतः पदों के लिए उपयुक्त शीर्षक भी दे दिये गए हैं जो उनमें व्यक्त प्रमुख विशेषताओं के परिचायक हैं।

सभी संतों की भिन्न-भिन्न संस्करणों में प्रकाशित, अथवा अनेक हस्तलिखित प्रतियों में संगृहीत रचनाओं के न पाये जाने के कारण उनके पाठांतरों के रूप देने अथवा उनके सुधारने का अवसर मुझे कम मिल पाया है। जो पाठ जहाँ से मिला है, वहाँ से उसे लगभग उसी रूप में ले लिया गया है और पाठांतर केवल उन्हीं के दिये गए हैं

जिनके विषय में ऐसा करने का सुयोग मिल सका। ऐसे पाठांतर अधिकतर संत कबीर साहब, रविदासजी आदि कुछ संतों की ही रचनाओं के दिये जा सके हैं और उनके उल्लेख पद्यों के अन्त में कर दिये गए हैं। संगृहीत पद्यों के नीचे उनमें आए हुए कठिन शब्दों अथवा वाक्यांशों के अर्थ यथास्थान टिप्पणी के रूप में दे दिये गए हैं। कहीं-कहीं पर साथ ही ऐसी अन्य पंक्तियाँ भी उद्धृत कर दी गई हैं जो दूसरे रचयिताओं की होने पर भी, समान भाव व्यक्त करती हैं। ऐसी पंक्तियों में कहीं-कहीं भावसाम्य के अतिरिक्त शब्दसाम्य तक के उदाहरण स्पष्ट दीख पड़ते हैं।

प्रस्तुत संग्रह में अपेक्षाकृत सरल एवं सुबोध रचनाओं को ही अधिकतर स्थान दिया गया है। इस बात का ध्यान रखा गया है कि उनमें उलटवाँसियों जैसे गूढ़ार्थवाची पद्यों का बहुत कम प्रवेश हो पाये। फिर भी संतों के प्रयोग में बहुधा आने वाले उन पारिभाषिक शब्दों की एक सूची भी अंत में दे दी गई है जो संगृहीत पद्यों में किसी-न-किसी प्रकार आ गए हैं। संगृहीत पद्यों में से कई के--अनेक शब्दों और वाक्यांशों के--अभिप्राय पूर्णतः स्पष्ट करते समय संतोष नहीं हो पाता। ऐसी कठिनाई विशेषतः वहाँ आ पड़ती है जहाँ पर पद्यों का पाठ या तो संदिग्ध रह गया है अथवा उनके रचयिताओं ने उनका बेतुके ढंग से प्रयोग कर दिया है। केवल थोड़ी-सी असावधानी के कारण उनमें न्यूनाधिक जटिलता का समावेश हो गया है। ऐसी समस्या कभी-कभी उस समय भी आ उपस्थित होती है जब देशज अथवा स्थानीय शब्दों और मुहावरों के प्रयोग मिलते हैं और उनके समुचित ज्ञान का अभाव पद्यों में व्यक्त किए गये गंभीर भावों के अंतस्तल तक पहुँच पाने में हमें असमर्थ-सा बना देता है। ऐसे एकाध स्थल इस संग्रह के कतिपय पदों में भी दीख पड़ेंगे और उन पर दी गई टिप्पणी भी इसी कारण बहुत कुछ अनुमान पर ही आश्रित जान पड़ेगी। शब्दों एवं वाक्यांशों के अभिप्राय कहीं-कहीं उनके प्रतीकार्थों द्वारा भी स्पष्ट कर दिये गए हैं।

संत-परंपरा के अन्तर्गत साधारणतः वे ही संत सम्मिलित किये जाते हैं जिन्होंने संत कबीर साहब अथवा उनके किसी अनुयायी को अपना पथ-प्रदर्शक माना है। किन्तु उनमें ऐसे अन्य संतों की भी गणना कर ली जाती है जिन्होंने उनके द्वारा स्वीकृत सिद्धांतों को किसी-न-किसी रूप में अपनाया है। इसके सिवाय उसमें कभी-कभी वैसे महात्माओं को भी स्थान दिया जाता है जो सूफी, वेदांती, सगुणोपासक भक्त, जैनी या नाथपंथी समझे जाते हुए भी, अपने विचार-स्वातंत्र्य एवं निरपेक्ष व्यवहार के कारण संतवत् माने जाते रहे हैं। इस संग्रह में ऐसे सभी प्रकार के संतों की कुछ-न-कुछ बानियाँ संगृहीत हैं। इनका वर्गीकरण भिन्न-भिन्न युगों के आधार पर किया गया है और प्रत्येक युग की प्रवृत्ति विशेष का परिचय देने के लिए उसके पहले 'सामान्य परिचय' जोड़ दिया गया है। फिर भी संतों की रचनाओं तथा उनके जीवन-वृत्तों में घनिष्ट सम्बन्ध है। इस कारण पद्यों के पहले उनकी संक्षिप्त जीवनी भी दे दी गई है। संगृहीत पद्यों को जिन ग्रंथों वा स्थलों से लिया गया है तथा जिनसे भूमिकादि लिखने में किसी-न-किसी प्रकार की सहायता मिल सकी है, उनकी एक सूची पुस्तक के अंत में 'सहायक साहित्य' के नाम से दे दी गई है। संभव है, उसमें कई उल्लेखनीय नामों का समावेश नहीं हो पाया हो, किन्तु ऐसी बात भूल से ही हो पायी है।

प्रस्तुत संग्रह का संपादक उन सभी लेखकों, प्रकाशकों वा साहित्य-प्रेमियों का आभारी है जिनसे उपलब्ध होने वाली सामग्रियों का उसने किसी-न-किसी रूप में

उपयोग किया है अथवा जिनकी विचारधारा एवं संकेतों द्वारा उसे कोई प्रेरणा मिल पायी है। संतों की अधिकांश रचनाएँ बहुत कुछ उपेक्षित-सी ही बनी रहती आई हैं और अभी तक केवल कुछ ही साहित्य-मर्मज्ञों ने इस दिशा की ओर अपना समुचित ध्यान दिया है। अतः इस विषय के प्राय. अछूता-सा रह जाने के कारण संपादक की अनेक बातें विचित्र-सी लग सकती हैं और उसके कथनों में अनधिकार चेष्टा का भी प्रतीत होना संभव है। फिर भी उसे विश्वास है कि इस पुस्तक में संगृहीत अनेक रचनाएँ उसे इस प्रकार के आरोपों से बचाने में स्वयं समर्थ हो सकेंगी।

अंत में, मैं उन सज्जनों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट कर देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ जिन्होंने मुझे इस प्रकार का एक संग्रह निकालने के लिए अपना सुझाव दिया था अथवा जिन्होंने इसके लिए सामग्रियाँ प्रस्तुत कर दीं। इस सम्बन्ध में यहाँ विशेषकर मेरे अनुज श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने इस कार्य में मुझे अनेक प्रकार की सहायता पहुँचायी है और इसे पूरा करने में सदा सक्रिय सहयोग प्रदान किया।

बलिया,
कार्त्तिकी पूर्णिमा
सं० २००८

—परशुराम चतुर्वेदी

विषय-सूची

भूमिका **पृष्ठ-संख्या**

विषय			पृष्ठ-संख्या

भूमिका

काव्य-परिचय

'काव्य' के सम्बन्ध में अनेक साहित्यज्ञों ने बहुत कुछ विचार किया है। उन्होंने इसकी भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ भी दी हैं। भरत मुनि से लेकर आधुनिक विद्वानों तक ने इस ओर सदा अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार ध्यान दिया है और उसी के आधार पर उन्होंने इसका परिचय भी देने के प्रयत्न किये हैं। उदाहरणार्थ, यदि किसी ने ऐसा करते समय इसके उद्देश्य या परिणाम को अधिक महत्व दिया है तो दूसरे ने इसकी कतिपय विशेषताओं को ही प्रधानता दी है। इसी प्रकार यदि कुछ लोगों ने इसके मूलतत्व या आत्मा की ओर निर्देश किया है तो अन्य लेखकों ने इसके बाह्य रूप को ही सब कुछ मान लिया है। वर्तमान आलोचकों द्वारा इसी कारण, उनकी विभिन्न परिभाषाएँ कभी-कभी एकांगी एवं अनुपयुक्त ठहरा दी जाती हैं और उन पर पूर्ण संतोष नहीं प्रकट किया जाता। फिर भी अपनी-अपनी परिभाषा देने की परम्परा अब तक लगभग पूर्ववत् ही चली आ रही है। अपने पूर्वकालीन साहित्यज्ञों के ऐसे 'दोषपूर्ण' वक्तव्यों को सुधारने के प्रयत्न में ये लोग अपनी ओर से भी कुछ-न-कुछ नवीनता लाते आ रहे हैं। इन विद्वानों में कुछ ऐसे व्यक्ति भी हैं जिन्होंने यदा-कदा उक्त भिन्न-भिन्न अङ्गों का समन्वय करने की चेष्टा भी की है। यदि इस प्रकार के लोगों की दृष्टि से विचार किया जाय तो सच्चा काव्य केवल उस प्रभावपूर्ण वाक्य या वाक्यसमूह को ही कह सकेंगे जिसके शब्द सारगर्भित हों, जो गहरी अनुभूतिजन्य होने के कारण अपनेआप, किन्तु किसी कलात्मक ढङ्ग से अभिव्यक्त हुआ हो और जो अपने उदात्त भावों के कारण, आनन्द के साथ-साथ मानव-जीवन की प्रगतिशीलता में सहयोग भी प्रदान कर सकता हो।

परन्तु उपर्युक्त सभी गुणों से युक्त काव्य कोई आदर्श कृति ही कही जा सकती है जिसके उदाहरण भी बहुत कम मिल सकेंगे। ऐसी दशा में सारे बहुमान्य काव्यग्रंथों में से अधिकांश को हमें उनसे पृथक् कर देना पड़ेगा और उन्हें किसी अन्य कोटि की रचनाओं में स्थान देना होगा। मानव-समाज द्वारा प्रयुक्त वाक्यसमूह आज तक पद्य-गद्य नामक दो भिन्न-भिन्न रूपों में दीख पड़ते आए हैं जिनमें से प्रथम का प्रयोग हमारे वाङ्मय के अन्तर्गत द्वितीय से कदाचित् कुछ पहले आरम्भ हुआ था। उसी की उत्कृष्ट रचनाओं को स्वभावतः काव्य की संज्ञा देने की प्रथा भी पहले पहल चली थी। फिर पद्य के वैसे उदाहरणों की ही मुख्य-मुख्य विशेषताएँ काव्य के लक्षण समझी जाने लगीं और वे ही उसका मानदण्ड भी बन गईं। पीछे आने वाले कवियों ने उन्हीं को अपने सामने रखकर अपने काव्यग्रन्थों की रचना की और अपने-अपने समाज में यश एवं धन भी उपार्जित किया। उक्त उत्कृष्ट पद्यों का चुनाव किसी समाज में उसके सहृदय व्यक्ति की रुचिविशेष के आधार पर ही होता रहा। इसी कारण, देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार उक्त मान्य लक्षणों का बहुत कुछ भिन्न-भिन्न हो जाना भी स्वाभाविक था। काव्य की विविध परिभाषाओं में दीख पड़ने वाली उपर्युक्त विभिन्नताएँ भी सम्भवतः इसी कारण आ गई होंगी। किसी एक परिभाषा को स्वीकार कर लेने में हमें आजकल कुछ कठिनाई भी जान पड़ती है।

इसके सिवाय भरत मुनि के समय से लेकर आज तक मानव-समाज में अनेक परिवर्तन भी हो चुके हैं। भिन्न-भिन्न देशों की जातियाँ अपनी-अपनी सभ्यता एवं संस्कृति को साथ लिये हुए क्रमशः एक-दूसरे के अधिकाधिक संपर्क में आती जा रही हैं। उनकी रहन-सहन, वेश-भूषा एवं आचार-विचार-पद्धतियों तक में कुछ-न-कुछ परिवर्तन होते जा रहे हैं और उनकी साहित्यिक रुचि पर भी इसका प्रभाव पड़ता जा रहा है। भिन्न-भिन्न परिभाषाओं के उक्त समन्वय-सम्बन्धी प्रयास का एक यह भी बहुत बड़ा कारण है। किसी काव्य की रचना करते समय अब उसके रचयिता का अधिक व्यापक दृष्टि से विचार करना स्वाभाविक हो गया है। अब केवल उसी काव्य-कृति का समाज में अधिक स्वागत होना सम्भव है जो जन-सामान्य की रुचि को भी अधिक-से-अधिक संतुष्ट करने में समर्थ हो। वैसे काव्य अब कभी चिरस्थायी नहीं हो सकते जो केवल व्यक्तिगत 'यश' वा 'अर्थ' की अभिलाषा से किसी ऐश्वर्यशाली पुरुष की छत्र-छाया में रचे गए हों और जो केवल भाषाविषयक बाह्य विशेषताओं का ही प्रदर्शन करते हों। सच्चे काव्य का मूल्यांकन अब उसके केवल मनोरंजन मात्र होने में ही नहीं, अपितु उसके विषय की व्यापकता, उसके उद्देश्य की महानता तथा उसकी उस शक्ति के आधार पर ही होगा जिससे वह अधिकाधिक जनहृदय के मर्मस्थल को स्पर्श भी कर सकता हो। भाषा वा शैलीगत सौंदर्य अथवा व्यक्तिगत विशेषताओं को इसी कारण, क्रमशः गौण स्थान दिया जाने लगा है और विषय का महत्व ही आजकल उसका प्रधान लक्ष्य समझा जाने लगा है।[1]

किसी काव्य में प्रधानतः दो बातें देखने में आती हैं। उनमें से एक का सम्बन्ध उसके विषय से होता है और दूसरी का उसकी भाषा के साथ रहा करता है। भाषा की दृष्टि से उसकी उत्कृष्टता प्रायः उसके शब्दचयन, वाक्यरचना एवं वर्णनशैली में देखी जाती है और विषय की दृष्टि से उसकी खोज उसके भावगांभीर्य, अर्थगौरव तथा उस उद्देश्य में की जाती है जिसकी ओर वह संकेत करता है। दोनों में से किसी एक विशेषता के ही कारण कोई काव्य क्रमशः भाषाप्रधान वा भावप्रधान कहा जाता है। पहले प्रकार के काव्य का रचयिता किसी विषय को लेकर उसकी वर्णन-शैली में अपनी सारी प्रतिभा-पटुता प्रदर्शित करता हुआ लक्षित होता है। वह अपने वाक्यों में शब्द-सौंदर्य भरता है, विविध अलंकारों के प्रयोग करता है, उक्ति-वैचित्र्य का आश्रय लेता है, लय का आयोजन करता है और अपने भावों को ऐसी निपुणता के साथ व्यक्त करता है जिससे उसकी कृति में एक प्रकार का चमत्कार-सा आ जाता है। परन्तु दूसरे प्रकार का कवि अपने वर्णन के साधनों की ओर उतना ध्यान नहीं देता। उसका वर्ण्य-विषय उसे इतनी गहराई तक प्रभावित किये रहता है कि उसे ज्यों-का-त्यों व्यक्त कर देने में ही उसे एक प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है। उसके भावों की व्यंजना में किसी प्रयास की अपेक्षा नहीं रहा करती और वे उसके शब्दों द्वारा आप-से-आप रमणीयार्थों के रूप में व्यक्त होते जाते हैं। भाषा का सौंदर्य यहाँ पर वास्तविक भावों को यथावत् वहन करने वाली उसकी क्षमता में ही देखा जाता है, उसके बाह्य रूप की सजावट में नहीं। यह बात

---

१. तुलनीय—"It may be quite true that fine and telling rhythms without substance (substance of idea, suggestion, feeling) are hardly poetry at all, even if they make good verse."—Letters of Sri Aurobindo (Third Series), p. 11.

दूसरी है कि भाषा पर अच्छा अधिकार प्राप्त रहने के कारण ऐसा कवि कभी-कभी उसे सँवारने का भी कुछ-न-कुछ प्रयत्न कर देता है।

अतएव, किसी काव्य का वास्तविक महत्व भाषा से अधिक उसके भावों के ही कारण माना जा सकता है। भाव, वस्तुतः काव्य-पुरुष का 'स्वभाव' है जब कि भाषा केवल उसका 'शरीर' मात्र ही कही जा सकती है। इस कारण, जिस प्रकार किसी प्रकृत मनुष्य के चरित्र के सुन्दर बने रहते उसके शरीर का भी सुन्दर होना अपेक्षित नहीं, उसी प्रकार उत्कृष्ट भावों की उपस्थिति में काव्य के भाषा-सौंदर्य का भी होना अनिवार्य नहीं कहा जा सकता। इसके सिवाय काव्य का कोई भाषागत दोष किसी प्रकार क्षम्य भी हो सकता है, किन्तु उसके भावों की अशोभनता कभी स्पृहणीय नहीं समझी जा सकती है। काव्यसरिता सुरसरि की भाँति वक्र एवं विकृत होने पर भी अपने अन्तःपूत सलिला बने रहने के कारण ही अभिनन्दनीय हुआ करती है। इस कारण किसी काव्य को श्रेष्ठ वा साधारण ठहराते समय सर्वप्रथम उसके भावों की दृष्टि से ही विचार करना आवश्यक होता है। यदि उसके भाषा वा शैली सम्बन्धी गुण भी उत्कृष्ट हुए तो वह एक आदर्श काव्य कहा जायेगा, अन्यथा उसे साधारण काव्य की श्रेणी में रख दिया जाता है। उच्च भावों का अभाव किसी पद्य को हल्का एवं नीरस बना देता है। वैसी दशा में, उसे कोरी तुकबंदी से अधिक नहीं समझा जाता, जहाँ सुन्दर भावों को यथावत् प्रकट करने वाला गद्य भी 'गद्यकाव्य' की संज्ञा पा जाता है। अतएव काव्य की संतोषप्रद परिभाषा न दे सकने का एक प्रमुख कारण यह भी हो सकता है कि इस मूलतः भावाश्रित वस्तु का वास्तविक स्रोत हृदयक्षेत्र है, जहाँ पर किसी सीमा की वैसी इयत्ता नहीं प्रतीत होती जिसके आधार पर कोई रूपरेखा निर्धारित की जा सके और उसे सर्वसाधारण के समक्ष उपस्थित किया जा सके। ऐसा प्रयत्न करने वालों की बातें इसी कारण बहुधा दार्शनिक वा रहस्यमय तक बनकर रह जाती हैं और काव्य की कोई उपयुक्त परिभाषा देने की अपेक्षा उसका किसी-न-किसी रूप में परिचय दे देना ही उनके लिये पर्याप्त समझा जाने लगता है।

किसी काव्य के उत्कर्ष में श्रीवृद्धि करने वाली जिन दो प्रमुख बातों की चर्चा साहित्यज्ञों ने विशेष रूप से की है, वे रस-परिपाक एवं अलंकारों का समुचित नि[illegible] है। 'रस' का वास्तविक अभिप्राय उस 'साहित्यिक स्वाद' से है जो सहृदय व्यक्ति [illegible] रुचि को बढ़ाने वाली काव्य-शक्ति के रूप में अनुभूत होता है। परन्तु उसका एक [illegible] अर्थ उन विविध सहानुभूतियों के रूप में लक्षित होने वाले कवि के विशेष भावों अ[illegible] काव्यरचना के पात्रों के विशेष अनुभवों के साथ संगमन करती है। उन्हें कतिपय [illegible] मानसिक वृत्तियों के रूप में श्रृंगार, वीर, हास्य, अद्‌भुत, शान्त, रौद्र, वीभत्स, करुण तथा भयानक के पारिभाषिक नामों द्वारा नव प्रकार से गिनने की परिपाटी चली आती है। इस दूसरे प्रकार का रस उस न्यूनाधिक स्थायी प्रभाव का परिचायक है जो किसी काव्य के पाठक वा श्रोता के ऊपर पड़ सकता है और उसके मनोभाव में कुछ परिवर्तन लाने में भी समर्थ होता है। इसके विपरीत, अलंकार किसी ऐसी रचना के विभिन्न भावों को उनके यथेष्ट रूप में ग्रहण करते समय उनके स्पष्टीकरण में सहायक हुआ करता है। जिस रचना के अन्तर्गत रसविशेष का परिपाक इष्ट प्रभाव का उत्पादन न कर सकता हो उसमें रसभंग वा रस-दोष आ जाता है और वह कृति अनौचित्य प्रदर्शित करती है।[1]

१. ध्वनिकार आनन्द वर्धनाचार्य ने इनके विपरीत अनौचित्य को ही रसभंग का कारण बतलाया है जो आलोचनात्मक दृष्टिकोण के कारण है और वह भी ठीक ही है।

इसी प्रकार जब किसी अलंकार के प्रयोग द्वारा भावविशेष का अभीष्ट रूप हृदयंगम नहीं हो पाता, अपितु वह केवल चमत्कारवर्द्धक ही सिद्ध होता है, तो वह एक प्रकार के काव्य-दोष का कारण बन जाता है। काव्य के उत्कर्ष का आधार समझी जाने वाली कतिपय साहित्यज्ञों द्वारा प्रस्तावित 'ध्वनि' एवं 'रीति' नामक शक्तियों की चर्चा भी क्रमशः रस एवं अलंकार का वर्णन करते समय ही की जा सकती है। क्योंकि ध्वनि एक प्रकार के 'साहित्यिक स्वाद' की ही सृष्टि करती है और अलंकार को भी इसी प्रकार, वस्तुतः वर्णनशैली के एक ढंग विशेष से अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता।

हिन्दी काव्यधारा

हिन्दी काव्य का इतिहास कम पुराना नहीं है। अपभ्रंश एवं प्राचीन हिन्दी की वेश-भूषा में इसके उदाहरण विक्रम की ९वीं शताब्दी से ही मिलने लगते हैं जिनमें से कुछ तो प्रबन्धकाव्य हैं और दूसरे फुटकर पदों आदि के रूपों में दीखते हैं। उस काल से हिन्दी भाषा का क्रमशः निखरना आरम्भ हो जाता है और उसका वास्तविक हिन्दी रूप विक्रम की १३वीं शताब्दी में जाकर प्रकट होता है। इस समय तक रची गई काव्यों की सबदियों, चारणों के छप्पयों, भक्तों के पदों तथा अज्ञात कवियों की प्रेम-कहानियों में हमें इसके अनेक शब्द एवं वाक्य कुछ परिचित से समझ पड़ने लगते हैं। ऐसा लगता है कि अब हम किसी सुविदित क्षेत्र में पदार्पण कर रहे हैं। इस समय अपने चारों ओर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि हिन्दी काव्य की सरिता एक से अधिक स्रोतों में प्रवाहित हो रही है जिनके मूल उद्गमों की परम्पराएँ भिन्न-भिन्न हैं। उदाहरणार्थ, यदि एक का लगाव योग तथा सांप्रदायिक विषयों से है तो दूसरे का श्रद्धा एवं भक्ति के साथ है। इसी प्रकार यदि एक अन्य का सम्पर्क प्रेमाख्यानों से है तो दूसरे का वीरगाथाओं तथा कीर्तिगानों के साथ है। इसी बात को यदि साहित्यिक शब्दावली द्वारा व्यक्त किया जाय तो कह सकते हैं कि प्रथम दो प्रकार की रचनाएँ यदि शांतरस-प्रधान हैं तो तीसरे प्रकार की शृंगाररस-प्रधान। उसी प्रकार उक्त अंतिम दो की गणना हम वीररस-प्रधान काव्यों में कर सकते हैं। कहना न होगा कि उपर्युक्त विषय किसी-न-किसी रूप में हमारे हिन्दी काव्य की प्रमुख वर्ण्य-वस्तु बनकर प्रायः ८०० वर्ष और आगे तक निरंतर चले आते हैं। आधुनिक समय तक पहुँचने पर ही हमें उनमें कोई वास्तविक परिवर्तन लक्षित हो पाता है।

हिन्दी साहित्य के इतिहासकार उसके काव्य का आरम्भ पहले-पहल अधिकतर वीररस-प्रधान कृतियों से ही किया करते थे और उसका आदिकाल 'वीरगाथा-काल' के नाम से प्रसिद्ध हो चला था। किन्तु इधर की खोजों द्वारा प्राप्त किये गए हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर अब यह नामकरण कुछ अनुपयुक्त-सा जान पड़ने लगा है और भिन्न-भिन्न लेखक अब इसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारने लगे हैं। तदनुसार आजकल यदि कोई इसे उस समय की प्रचलित भाषा के आधार पर नाम देना चाहते हैं तो दूसरे इसकी उपलब्ध कृतियों की पृष्ठभूमि-स्वरूप सामाजिक दशा को महत्व देते हैं। अन्य लोग इसे केवल आदिकाल वा प्रारंभिक युग कहकर ही सन्तोष ग्रहण कर लेते हैं। विषय की दृष्टि से इस युग में उक्त तीनों रसों की रचनाएँ प्रायः समान रूप से दीख पड़ती हैं। बौद्ध सिद्धों, जैन मुनियों तथा इसके उत्तरार्द्ध काल के भक्त कवियों की कृतियों में शांत-रस की प्रधानता है। प्रेम-कहानियों में शृंगाररस प्रमुख बन गया है और जैन प्रबन्ध-काव्यों वा रासों जैसी रचनाओं में प्रसंगानुसार वीर एवं शृंगार दोनों ही प्रायः एक

समान वर्त्तमान हैं। इसी प्रकार आगे विक्रम की चौदहवीं शताब्दी तक के समय का पूर्वार्द्ध अधिकतर शांतरस-प्रधान एवं उत्तरार्द्ध शृंगाररस-प्रधान है। वीररस के काव्यों की संख्या वैसी कृतियों की अपेक्षा बहुत कम दीख पड़ती है। पंद्रहवीं से लेकर सत्रहवीं तक फिर इसी प्रकार शांतरस-प्रधान काव्यों का ही बाहुल्य रहता है। आगे की उन्नीसवीं शताब्दी तक फिर शृंगाररस की प्रधानता हो जाती है। वीररस की कृतियों का कोई अपना विशेष युग नहीं है और वे सदा केवल छिटपुट रूप में ही दिखलाई पड़ती हैं।

दार्शनिक एवं धार्मिक विषय हिन्दी काव्यधारा की कदाचित् सबसे प्राचीन वर्ण्य-वस्तु हैं। इनका अस्तित्व उसके अपभ्रंश के रूप में भी पाया जाता है। विक्रम की ९वीं शताब्दी में सर्वप्रथम, हमें बौद्ध सिद्धों की रचनाएँ मिलती हैं जिनमें वज्रयान एवं सहज-यान सम्बन्धी सांप्रदायिक विचारों और उनकी साधनाओं की चर्चा की गई है तथा उनसे विरोधी संप्रदायों की अनेक बातों की आलोचना भी की गई है। प्रायः उसी प्रकार की बातें, हमें आगे चलकर नाथपंथी 'जोगियों' तथा जैन मुनियों की भी वैसी उपलब्ध रचनाओं में दीख पड़ती हैं। इनमें प्रधान अंतर यह है कि बौद्ध सिद्धों की रचनाओं में जहाँ केवल 'बोहि', 'सुन्न' एवं 'सहज' का महत्व, नैरात्मा की विविध चेष्टाओं तथा कतिपय यौगिक साधनाओं के ही प्रसंग आते हैं, वहाँ नाथों की रचनाओं में हमें ईश्वरत्व जैसी आस्तिक भावना भी लक्षित होने लगती है। उस काल की प्रायः सभी वैसी रचनाओं में हमें कुछ नैतिक बातों का भी समावेश स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। ये सभी रचनाएँ अधिकतर सांप्रदायिक प्रेरणा से ही लिखी गई हैं और इनमें स्वभावतः उपदेशों की ही भरमार है। फिर भी बौद्ध सिद्धों के चर्या-पदों, नाथों की सबदियों, जैनियों के चरितों एवं पुराण-ग्रन्थों तथा उन सभी के अनेक दोहों में हमें अनेक ऐसे स्थल भी मिलते हैं जिन्हें हम काव्य के अच्छे उदाहरण कह सकते हैं। हिन्दी-साहित्य के इतिहास के ये ४०० वर्ष उसके प्रारंभिक युग के ही द्योतक हैं। यह वस्तुतः अपभ्रंश वा प्राचीन हिन्दी अथवा राजस्थानी का युग है जिस कारण इस समय की वैसी उपलब्ध कृतियों की गणना हिन्दी काव्यों में करना उचित नहीं कहा जा सकता। हिन्दी काव्यधारा का स्रोत इनमें बहुत क्षीण रूप में ही दीख पड़ता है।

हिन्दी के उपर्युक्त प्रारम्भिक युग से ही भारत पर मुसलमान आक्रमणकारियों के आक्रमण होने लगे थे। सं० ७६९ में उन्होंने सिंध प्रदेश पर पहले धावा किया और फिर ११वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध काल में महमूद गजनी (सं० १०४५–१०८७) के हमले हुए जिनमें यहाँ की सम्पत्ति कई बार लूटी गई। भारत उस समय वास्तव में, समृद्धशाली देश था और यहाँ की कृषि, कला, एवं वाणिज्य की प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल चुकी थी। यहाँ के राजा, सेठ एवं महंत-जैसे लोग विलासिता में निमग्न रहा करते थे। उनके तथा साधारण जनता के बीच बहुत बड़ी खाई बन गई थी। राजाओं के दरबार लगते थे जहाँ सेवकों तथा चाटुकारों की भीड़ बनी रहती थी। विलासिता-उत्तेजक सजावटों तथा युद्ध-सामग्रियों में धन का अपव्यय हुआ करता था। युद्ध भी अधिकतर आपस में ही हुआ करते थे और विदेशी आक्रमणों की गम्भीरता की ओर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जाता था। फलतः विक्रम की १३वीं शताब्दी के मध्यकाल में जब शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी (सं० १२४९–१२६३) के धावे हुए तब स्थिति सम्भाली न जा सकी और दिल्ली शासन को बहुत दिनों के लिए पराधीन बन जाना पड़ा। गोरी के एक दास कुतुबुद्दीन ऐबक (सं० १२६३–१२६९) ने यहाँ पर जमकर शासन करना

आरंभ कर दिया। भारतीयों की स्वतंत्रता में अगले प्राय: ७५० वर्षों तक निरंतर ह्रास होता चला आया। विक्रम की १६वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में मुगल राज्य की स्थापना होने के पहले तक कई भिन्न-भिन्न मुस्लिम वंशों ने शासन किया। किन्तु शांति एव समृद्धि में वृद्धि की अपेक्षा बराबर कमी ही होती गई। भारतीय जनसमाज, जाति-पाँति, छुआछूत तथा पारस्परिक कलह आदि के कारण विशृंखल बनकर आडंबर एवं मिथ्याचार का भी क्रमश: शिकार बनता गया।

विक्रम की १२वीं एवं १३वीं शताब्दियों का युग वैष्णव धर्म के तीन प्रमुख आचार्य श्री रामानुज, निम्बार्क एवं मध्व के आविर्भाव का भी समय था जिसमें वेदांत-मूलक भक्तिमार्ग का प्रचार संगठित रूप में आरंभ हुआ और दक्षिण से लेकर उत्तर तक बड़े वेग के साथ फैलने लगा। इसके मूल सिद्धांत उक्त आचार्यों द्वारा निर्मित भाष्यों के अतिरिक्त विष्णु पुराण एवं पांचरात्र संहिताओं पर भी बहुत कुछ आश्रित थे। इसकी विविध साधनाएँ वैधमार्गों का अनुसरण करती थीं। वैष्णव धर्म की रागानुगा शाखा का प्रचार कुछ आगे चलकर आरम्भ हुआ जब 'श्रीमद्‌भागवत' को अधिक महत्व दिया जाने लगा और प्रेममूलक भक्ति का उपदेश दिया जाने लगा। विक्रम की १२वीं शताब्दी के हो लगभग यहाँ पर उस नवागत विदेशी धर्म का भी संगठित प्रचार आरम्भ हुआ जिसका नाम 'मजहबे इस्लाम' था और जिसे तत्कालीन मुस्लिम शासकों की राजकीय सहायता भी उपलब्ध थी। इसकी कई बातें भारतीय संस्कृति एवं परंपरा के प्रतिकूल पडती थीं और यह एक आक्रामक के भी रूप में अग्रसर होता जा रहा था। अतएव, भारतीय समाज को इसके कारण विवश होकर अपने आचार एवं संगठन के नियमों में अनेक परिवर्तन करने पड़ गए। बौद्ध धर्म इसके बहुत पहले से ही तांत्रिक एवं योग-क्रियामूलक रूप ग्रहण कर चुका था और नाथ-संप्रदाय के साथ-साथ हिन्दू धर्म के विस्तृत सागर में क्रमश: लीन होता जा रहा था। उत्कल एवं महाराष्ट्र जैसे प्रदेशों की विचित्र परिस्थितियों ने तो उन्हें यहाँ तक प्रभावित किया कि वहाँ के वैष्णवों से इनके सहज-यानियों तथा नाथ-जोगियों का कोई विशेष अंतर ही नहीं रह गया। फलत: उत्कल एवं बंगाल के तत्कालीन वातावरण ने इधर संत जयदेव को उत्पन्न किया और महाराष्ट्र की परिस्थितियों के अनुसार उधर वारकरी संप्रदाय चल निकला जिसके संत नामदेव अपने उत्तरकालीन कबीर साहब आदि के आदर्श बन गए।

संत-परंपरा

कबीर साहब जैसे संतों की परंपरा का सूत्रपात विक्रम की १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध काल में हुआ जब कि उन्होंने अपने कतिपय विचारों को स्वतंत्र रूप में प्रकट करना आरंभ किया। स्वामी रामानंद, रविदास एवं पीपा आदि संत भी प्राय: समान भावों द्वारा अनुप्राणित थे और इस नवीन संतमत के प्रचार में प्राय: सभी का सहयोग लगभग एक ही प्रकार का रहा। कबीर साहब साधारण जन-समाज में उत्पन्न हुए थे। उन्हें धन-संपन्न व्यक्तियों अथवा विद्याव्यसनियों के संपर्क में आकर अपना जीवन विकसित करने का भी कभी अवसर नहीं मिला था। परंतु वस्तुस्थिति को परखने, उसका उचित मूल्यांकन करने तथा व्यापक रूप से विचार करते हुए उसके अनुसार अपने सिद्धांत निर्धारित करने की उनमें अनुपम शक्ति थी। किसी धर्मग्रंथ, संप्रदाय अथवा वर्गविशेष का आश्रय न ग्रहण करते हुए भी वे अपने मंतव्यों पर सदा दृढ़ रहे और उन्होंने

उनका पूरी निर्भीकता के साथ प्रचार किया। उन्होंने सभी प्रचलित धर्मों के मूल सिद्धांतों के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की, किन्तु उनके बाह्याचारों को गौण स्थान दिया। वे थोथी विडंबनाओं के प्रबल विरोधी थे और सत्य वा ईश्वर के नाम पर ढोंग रचने अथवा स्वार्थ-साधन करने वालों को खरीखोटी सुनाने में कभी नहीं चूकते थे। उनकी सारी बातें निजी अनुभव को ही अपनी कसौटी के लिए लक्ष्य बनाती थीं। अतएव उनके हृदय की सचाई के प्रति विश्वास का होना असंभव न था और धीरे-धीरे सभी उन्हें श्रद्धा एवं सम्मान की दृष्टि से देखने लगे।

प्रसिद्ध है कि कबीर साहब ने स्वामी रामानंद (सं० १३५५-१४६७) को अपना दीक्षा-गुरु स्वीकार किया था। संत रविदास, सेन, पीपा, धन्ना आदि उनके गुरुभाई थे। उक्त स्वामीजी के ही उपदेशों से प्रभावित होकर इन सभी लोगों ने संत-परंपरा का सूत्र-पात किया था। परन्तु इसके लिए न तो कोई स्पष्ट तथा ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं, न इन संतों की किन्हीं रचनाओं द्वारा ही इसकी पुष्टि होती है। इसके सिवाय इन सभी सन्तों का स्वामी रामानंद के साथ समसामयिक होना भी सिद्ध नहीं होता, जिस कारण उनके साथ इन सभी महापुरुषों के किसी प्रत्यक्ष सम्बन्ध के विषय में अनुमान करना अधिकतर जनश्रुतियों तथा पौराणिक गाथाओं के आधार पर ही संभव कहा जा सकता है। बात यह है कि उस समय के पहले, अर्थात् लगभग ३०० वर्षों से ही सन्त-परंपरा की विचारधारा के लिए अनुकूल क्षेत्र तैयार होता आ रहा था। पूर्वी भारत की ओर विशेषतः उत्कल एवं बंगाल प्रदेशों में बौद्धधर्म के क्रमशः वज्रयान एवं सहजयान में परिणत हो जाने के कारण, उसके तथा स्थानीय वैष्णव संप्रदायों के बीच कोई विशेष अंतर नहीं रह गया था। वे एक-दूसरे के साथ कई बातों का आदान-प्रदान करते हुए निकटतर आने लगे थे। महाराष्ट्र एवं राजस्थान की ओर भी इसी प्रकार नाथपंथ एवं स्थानीय वैष्णव संप्रदायों की विचारधाराएँ आपस में मिलती जा रही थीं। सुदूर कश्मीर तक ऐसी बातों का प्रभाव वहाँ के शैव संप्रदाय की अनेक बातों में दीख पड़ने लगा था। फलस्वरूप पूर्व की ओर संत जयदेव, दक्षिण की ओर संत ज्ञानदेव एवं नामदेव, पश्चिम की ओर संत बेनी एवं सधना तथा कश्मीर की ओर संत लालद्येद का आविर्भाव स्वामी रामानंद से पहले ही हो चुका था। वे कबीर साहब तथा स्वयं उनके लिए भी पथ-प्रदर्शन का काम कर सकते थे। स्वामी रामानंद श्री-संप्रदाय के अनुयायी श्री राघवानंद के दीक्षित शिष्य थे। इन पर नाथपंथ की साधनाओं तथा सिद्धांतों का भी बहुत कुछ प्रभाव पड़ चुका था। विस्तृत देशाटन तथा विविध सत्संगों के कारण उनके विचार अपने गुरु से भी कहीं अधिक व्यापक एवं उदार बन गए थे। अतएव स्वामी रामानंद कबीर साहब के प्रत्यक्ष गुरु न होते हुए भी उनके अधिक निकट रहने के कारण उन्हें भलीभाँति प्रभावित कर सकते थे। परन्तु यह बात कबीर साहब के सभी समसामयिकों के विषय में भी उसी प्रकार घटायी नहीं जा सकती।

वास्तव में इन संतों के सम्बन्ध में इनके किसी सांप्रदायिक दीक्षा-गुरु के रहने वा न रहने का कोई महत्वपूर्ण प्रश्न भी नहीं उठता। 'संत' शब्द 'सत्' शब्द का एक अन्यतम रूप है जिसका वास्तविक अर्थ अस्तित्व का बोधक है और जो एक प्रकार से 'सत्य' का भी पर्यायवाची है। संतों का प्रधान लक्षण, इस कारण, यही हो सकता है कि वे सत्य के प्रति पूरी 'आस्था' रखते हैं और उसी के अनुसार अपने जीवन को ढाल भी देते हैं। सत्य की अनुभूति उनमें उसके साथ-साथ तादात्म्य का भाव ला देती है जिस कारण

उनमें सम्यक् दर्शन की शक्ति आ जाती है और उनका जीवन-स्तर बहुत ऊँचा बनकर उनके व्यक्तित्व को नितांत शुद्ध, सरल एवं सात्विक रूप प्रदान कर देता है। तदनुसार उनमें किसी प्रकार के संकुचित वा संकीर्ण विचारों के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता। वे सभी धर्मों, संप्रदायों, जातियों वा वर्गों को समान दृष्टि से देखने लग जाते हैं। उन्हें यदि गुरु की आवश्यकता भी पड़ती है तो केवल इसीलिए कि वह उनके प्रारंभिक साधारण जीवन की दशा में उनके सामने कोई-न-कोई एक संकेत वा सुझाव-सा प्रस्तुत कर देता है जिसकी झलक उसके प्रवाह की दिशा को सहसा बदल देती है। गुरु उनका इस प्रकार केवल पथ-प्रदर्शन मात्र करता है। 'जीवन' का पूर्ण कायापलट उनकी निजी साधना एवं अनुभूति पर ही आश्रित रहा करता है। उनके लिए न तो किसी संप्रदाय-विशेष के रूढ़िगत नियमों का पालन आवश्यक होता है, न वे इसी कारण किसी व्यक्तिविशेष के ऐसे दीक्षित शिष्य ही कहे जा सकते हैं जिनके लिए उसने कतिपय विधियों का निर्वाह तथा साधनाओं का अभ्यास किसी प्रकार अनिवार्य बतलाया हो।

कबीर साहब और उनके समसामयिक संतों का काल संत-परंपरा के लिए प्रारंभिक युग था। उस समय के किसी भी संत ने न तो अपने अनुकरण में अग्रसर होने वालों का कोई संगठन किया, न उन्हें किसी साधना वा संदेश के प्रचार के लिए कोई प्रेरणा प्रदान की। जहाँ तक पता चलता है, उन लोगों ने जो भी उपदेश दिये, अपने व्यक्तिगत अनुभवों के अनुसार ही दिये और प्रत्येक व्यक्ति को अपने निजी अनुभव की कसौटी पर भलीभाँति उसे परखकर ही स्वीकार करने का परामर्श दिया। किन्तु संत-परंपरा की प्रगति के मध्य युग, अर्थात् सं० १५५० से लेकर सं० १८५० तक के ३०० वर्षों में इस नियम का ठीक-ठीक पालन न हो सका और गुरु नानकदेव (सं० १५२६-१५९५) के समय से सामुदायिक संगठन, शिष्य-पद्धति-निर्माण तथा उपदेश-संग्रह की प्रथा भी चल निकली। उक्त युग के पूर्वार्द्ध काल (अर्थात् सं० १५५०-१७००) में गुरु नानकदेव के नानकपंथ के अतिरिक्त न केवल दादू दयाल (सं० १६१०-१६६०) के दादूपंथ, बावरी साहिबा (१७वीं शताब्दी) के बावरीपंथ, हरिदास (मृ० सं० १७००) के निरंजनी संप्रदाय तथा मलूकदास (सं० १६३१-१७३९) के मलूकपंथ नामक वर्गों की ही सृष्टि हुई, प्रत्युत कबीर साहब के नाम पर कबीर-पंथ भी बन कर तैयार हो गया। इसी प्रकार लालपंथ एवं साधसंप्रदाय भी बन गए। इन पंथों वा संप्रदायों के भिन्न-भिन्न केंद्र स्थापित हो गए। इनके उपदेश-संग्रहों को धर्मग्रंथों का महत्व मिलने लगा। इन पृथक्-पृथक् वर्गों के प्रवर्तकों की मूल विचारधारा के कबीर साहब के सिद्धांतानुसार होने पर भी इनकी सामुदायिक इकाइयों में कुछ-न-कुछ विशेषताएँ भी आने लगीं। उस समय केवल थोड़े ही ऐसे संत थे जिन्होंने उक्त प्रकार के सामूहिक वर्ग-निर्माण की चेष्टा नहीं की।

फिर भी, मध्ययुगीन संत-परम्परा का उक्त पूर्वार्द्ध काल केवल पंथ-निर्माण के सूत्रपात तथा उसके लिए किये गए प्रारंभिक प्रयासों के लिए ही प्रसिद्ध है। ऐसे पंथों वा सम्प्रदायों की अधिक संख्या उस युग के उत्तरार्द्ध काल (अर्थात् सं० १७००-१८५०) में दीख पड़ी जब कि संत बाबालाल (सं० १६४७-१७१२) के नेतृत्व में बाबालाली संप्रदाय, संत प्राणनाथ (सं० १६७५-१७५१) का धामी संप्रदाय, साध संप्रदाय की एक शाखा के रूप में सत्तनामी संप्रदाय, बाबा धरनीदास १८वीं शताब्दी पूर्वार्द्ध का धरनीश्वरी संप्रदाय, बिहारी दरियादास (सं० १७३१-१८३७) का दरियादासी संप्रदाय, मारवाड़ी दरिया साहब (सं० १७३३-१८१५) का दरियापंथ, संत शिवनारायण (१८वीं शताब्दी उत्त-

राद्धं) का शिवनारायणी संप्रदाय, संत चरणदास (सं० १७६०-१८३९) का चरणदासी संप्रदाय, संत गरीबदास (सं० १७७४-१८३५) का गरीब पंथ, संत पानपदास (सं० १७७८-१८३०) का पानपपंथ और संत रामचरणदास (सं० १७७८-१८३०) का रामसनेही संप्रदाय नामक भिन्न-भिन्न वर्ग प्रतिष्ठित हो गए। इन सभी का अपने-अपने क्षेत्रों में संगठित रूप से प्रचार भी होने लगा। इस काल में दीन दरवेश (उन्नीसवीं शताब्दी का प्रथम चरण) तथा बुल्लेशाह (सं० १७३७-१८१०) और बाबा किनाराम (मृ० सं० १८२६) जैसे कुछ अन्य संत भी हुए जिन्होंने संत-मत का किसी-न-किसी रूप में प्रचार किया। यह समय उस प्रकार के संतों का था जो संत-मत को अधिकतर किसी-न-किसी समन्वयात्मक दृष्टि से देखते थे। इनमें से कई एक सम्राट् अकबर (सं० १५९९-१६६२) की भाँति, एक ऐसे मत का प्रचार करना चाहते थे जिसके अंतर्गत सभी प्रचलित धर्मों के मूल सिद्धांतों का समावेश हो सके। अतः धर्मों के प्रमुख मान्य ग्रंथों का अध्ययन और सूफियों एवं वेदांतियों द्वारा प्रभावित विचारों का प्रचार तो हुआ ही, उसके साथ-साथ पौराणिक गाथाओं की सृष्टि, अलौकिक प्रदेशों की कल्पना, भक्तमालों की रचना तथा अपने-अपने श्रेष्ठ ग्रंथों की पूजा भी इस काल से आरंभ हो गई। कुछ संत एक प्रकार के अवतारवाद को अपनाकर अपने को पूर्वकालीन संतों का प्रतिरूप वा भविष्यकालीन सुधारक, अर्थात् मसीहा तक भी घोषित करने लगे। इस युग में एक विशेष बात यह भी दीख पड़ी कि उक्त संप्रदायों में से एकाध ने दिल्ली के तत्कालीन शासकों के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठाया। सत्तनामी संप्रदाय के अनुयायियों ने इसी युग में सम्राट् औरंगजेब (मृ० सं० १७६४) के शासन के विरुद्ध सं० १७२९ में विद्रोह किया। गुरु नानकदेव के अनुयायी सिखों ने अपने नवें गुरुगोविंद सिंह (सं० १७२३-१७६५) के नेतृत्व में उसके साम्राज्य के विरुद्ध 'खालसा' वीरों के रूप में डटकर लोहा लिया।

परन्तु संत-परंपरा के अंतर्गत उक्त प्रकार की सांप्रदायिक मनोवृत्तियों का जाग उठना आगे चलकर उसके लिए अहितकर सिद्ध हुआ। भिन्न-भिन्न वर्गों के अनुयायियों का अपने पंथ विशेष के प्रति पक्षपात का होता जाना स्वाभाविक था जिस कारण उनमें रूढ़िवादिता एवं संकीर्णता आ गई। वे एक-दूसरे को नितांत पृथक् तथा भिन्न समझने लगे। इन संप्रदायों के अनुयायी अपने मूल-प्रवर्त्तकों एवं प्रमुख संतों को राम, कृष्ण, बुद्ध आदि की भाँति देवत्व का स्थान देने लगे। उनकी अर्चना होने लगी। उनका स्तुति-गान आरंभ हो गया। उनके संगृहीत उपदेश ग्रंथों तक को गुरुवत् गौरव प्रदान किया जाने लगा। उनके चित्रों वा समाधियों की पूजा उनका महत्वपूर्ण कर्तव्य बन गई। उनके सम्मान में किये गए मेलों में प्रचलित पर्वों एवं तीर्थों का-सा चमत्कार आ गया। उनके जीवन की साधारण-सी घटनाओं पर भी पौराणिकता का रंग चढ़ाकर बहुत-सी पुस्तकें लिखी जाने लगीं और संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई। अपने-अपने संप्रदायों की गणना अब वे लोग भी क्रमशः अन्य प्रचलित धर्मों के संप्रदायों की भाँति ही करते थे। उनमें विविध बाह्याचारों तथा कल्पित गाथाओं की सृष्टि होती जाती थी जिसका एक परिणाम यह हुआ कि जिन बातों को दूर कर एक शुद्ध एवं सात्त्विक धर्म की प्रतिष्ठा का उद्देश्य पहले उनके सामने रखा गया था, वे उनमें फिर भी प्रवेश करने लगीं और उनका वास्तविक आदर्श उनकी दृष्टियों से ओझल हो गया। अब संतमत एवं अन्य संप्रदायों की मान्यताओं में विशेष अन्तर नहीं रह गया। फलतः उच्च स्तर के संत ऐसी प्रतिकूल भावना की कभी-कभी आलोचना तक करने लगे और कोई-कोई इन पतनोन्मुख प्रवाह की रोकथाम के लिए कटिबद्ध भी हो गए।

विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग प्रथम चरण से ही यहाँ पर अंग्रेजों की सत्ता जमने लगी थी। पाश्चात्य ढंग की शिक्षा तथा विदेशी साहित्य के अधिकाधिक अध्ययन के कारण विचारशील भारतीयों में आत्म-निरीक्षण एवं पुनरुद्धार की भावना जागृत हो चुकी थी। विदेशी विद्वानों ने जिस ढंग से हमारे साहित्य, कला एवं संस्कृति का अनुसंधान आरम्भ किया था, उसका अनुकरण अब यहाँ के लोग भी करने लगे थे। पाश्चात्य सभ्यता के आलोक में सभी बातों का मूल्यांकन करते हुए वे उनकी प्राचीन बातों की नवीन व्याख्या करने में भी संलग्न थे। तदनुसार संत-परम्परा के एकाध संतों ने भी ऐसे प्रयत्न आरम्भ किये। वे पुराने सन्त जैसे कबीर साहब, गुरु नानकदेव एवं दादूदयाल आदि की अनेक बातों पर अपनी टिप्पणी कर उनके अनुयायियों को सचेत करने लगे थे। सन्त तुलसी साहब (मृ० सं० १८९९) तथा राधास्वामी सत्संग के तृतीय गुरु ब्रह्मशंकर मिश्र (सं० १९१८-१९६४) ने ऐसे प्रसंगों की बुद्धिवादी एवं वैज्ञानिक व्याख्या कर संतमत का औचित्य एवं महत्त्व दर्शाया। कबीर पंथ के रामरहसदास (मृ० सं० १८९६) तथा दादू पंथ के साधु निश्चलदास (मृ० सं० १९२०) ने अपने-अपने पंथों के सिद्धांत स्पष्ट करने के उद्देश्य से अपने-अपने ढंग से कतिपय पुस्तकों का निर्माण किया। इसी प्रकार उस समय राजा राममोहन राय (सं० १८३५-१८९०) तथा स्वामी दयानन्द (सं० १८८१-१९४१) जैसे सुधारकों द्वारा प्रभावित वातावरण के अनुसार कुछ कुरीतियों को दूर करने के प्रयास भी होते जा रहे थे। इतना ही नहीं, इस आधुनिक युग के अन्तर्गत जो स्वामी रामतीर्थ (सं० १९३०-१९६३) एवं महात्मा गांधी (सं० १९२६-२००४) जैसे सन्त हुए, उन्होंने मानव-जीवन के केवल आध्यात्मिक अंग के ही नहीं, प्रत्युत उसकी पूर्णता के भी विकास की ओर सबका ध्यान आकृष्ट किया। व्यक्ति-विकास, पूर्णाङ्ग साधना आदि जिन बातों को कबीर, गुरु नानकदेव तथा सन्त दादूदयाल ने केवल संकेत रूप से ही बतलाया था, उन पर इन्होंने पूरा बल दिया। सन्तों का साधसंप्रदाय वाणिज्य एवं व्यवसाय की ओर पहले से ही प्रवृत्त था। राधास्वामी सत्संग की एक शाखा शिल्पकला-विकास में भी लग गई। महात्मा गांधी ने प्रायः सभी प्रकार के ऐसे क्षेत्रों में उन्नति को प्रोत्साहन दिया। इन आधुनिक सन्तों के कारण विचार-स्वातंत्र्य, निर्भीकता, विश्वप्रेम, सत्य, अहिंसा, विश्व-शांति एवं विश्व-नागरिकता जैसे उच्च नैतिक गुणों को अपनाने की एक बार फिर भी प्रेरणा मिली। सन्तों के 'भूतल पर स्वर्ग' वाले प्राचीन आदर्श की ओर एक बार सारा संसार फिर से आकृष्ट हो गया।

संतमत

संतमत किसी पंथ वा संप्रदाय के मूल प्रवर्त्तक द्वारा प्रचलित किये गये सिद्धान्तों का संग्रहमात्र नहीं है। यह उस विधान का भी परिचायक नहीं जो भिन्न-भिन्न सन्तों के उपदेशों के आधार पर निर्मित किया गया हो। इसे किसी भी ऐसी व्यवस्था वा निर्दिष्ट आदर्श से कोई सम्बन्ध नहीं जो इसके अनुयायी के भी अनुभव में आकर अपने को प्रमाणित न कर चुका हो। संत कबीर साहब ने अपने विषय में चर्चा करते हुए एक स्थल पर कहा है—

"सत गुरु तत कह्यो बिचार, मूल गह्यौ अनभै बिस्तार ॥"[1]

अर्थात् सतगुरु ने तत्त्व के विषय में विचार कर मुझे बतला दिया वा उसकी ओर संकेत

१. कबीर ग्रन्थावली, पद ३८६, पृ० २६।

कर दिया और मैंने उस मूल वस्तु को अपने निजी अनुभव के अनुसार ग्रहण कर लिया। वे दूसरों के लिए भी यही निश्चय करते हुए जान पड़ते हैं। इसी सम्बन्ध में वे एक अन्य पद में इस प्रकार भी कहते हैं—

"रांम नांम सब कोई बखानै, रांम नांम का मरम न जांनै ॥
ऊपर की मोहि बात न भावै, देखै गावै तो सुख पावै।
कहै कबीर कछु कहत न आवै, परचै बिनां मरम को पावै ॥"[1]

अर्थात् रामनाम की चर्चा करने वाले सभी लोग उसके रहस्य को नहीं जानते। इसलिए मुझे ऊपर ही ऊपर से बात कर देने वालों की बात नहीं जँचती। उसका सुख वही प्राप्त कर सकता है जो उसका स्मरण, उसे स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव कर लेने पर ही करता हो। यह बात केवल कहने-सुनने की नहीं है। इसके रहस्य को बिना इसका परिचय प्राप्त किये कोई भी नहीं जान पाता। स्वामी रामतीर्थ ने भी एक बार लगभग ऐसे ही प्रसंग से कहा था, "सत्य को सत्य तुम केवल इसी लिए मत समझो कि उसे कृष्ण, बुद्ध अथवा ईसा मसीह ने कहा है। उसे अपने निजी अनुभव की कसौटी पर परख कर भी देख लो।" सत्य का केवल उतना ही अंश हमें काम देता है और हमारे जीवन का अंग भी बन सकता है जितने को हम वस्तुतः जानते हैं। वह जैसा है, वैसा उसे पूर्णरूप से कदाचित् कोई भी नहीं जानता। उसके लिए भिन्न-भिन्न बातें सभी लोग अपने-अपने विचारानुसार गढ़ा करते हैं। इसीलिए कबीर साहब ने भी एक स्थल पर इस प्रकार कहा है—

"वो है तैसा जांनै, ओहि आहि नहिं आनै ॥"[2]

अर्थात् वह सत् वा राम जैसा है, वैसा केवल उसी को विदित है। (हम तो केवल इतना ही कहेंगे कि) केवल उसी एकमात्र का अस्तित्व है, उसके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है। इसका अभिप्राय दूसरे शब्दों में यों भी प्रकट कर सकते हैं कि 'सत्य' का शाब्दिक अर्थ ही अस्तित्व का बोधक है और जो कुछ है, वह इसी कारण उसी की परिधि के अन्तर्गत आ जाता है।

संत लोग न तो दार्शनिक थे, न उन्होंने इसके लिए कभी दावा ही किया है। वे लोग धार्मिक व्यक्ति एवं साधक थे। परमतत्त्व के विषय में किसी बात का वैज्ञानिक ढंग से निरूपण करना अथवा तद्विषयक प्रत्येक प्रश्न की जाँच के लिए कोरे तर्क की कसौटी लिए फिरना उनका स्वभाव न था। उन्होंने उस वस्तु के अनेक नाम दिये हैं। उन्होंने उसे कभी 'राम' कहा है, कभी 'रहीम' कहा है, कभी 'ब्रह्म' कहा है, कभी 'खुदा' कहा है और कभी-कभी उसे केवल 'परमपद' वा 'निर्वाण' जैसी स्थिति-निदर्शक संज्ञा भी प्रदान की है। किन्तु उसके लिए सबसे प्रिय नाम केवल 'नाम' अथवा 'सत्' अर्थात् सत्य मात्र ही है। इन दोनों को एकसाथ मिलाकर वे कभी-कभी 'सत्तनाम' शब्द का प्रयोग करते हैं और उसे बहुत बड़ा महत्त्व भी देते हैं। इन दोनों शब्दों में से 'सत्' वा सत्य शब्द उस अस्तित्व का सूचक है जो संतों के अनुसार परमतत्त्व का बोधक माना जा सकता है। 'नाम' उस

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पद २१८, पृ० १६२।
२. वही, पृ० २४२।

वस्तु के उस अंशविशेष की ओर संकेत करता है जो साधक के निजी अनुभव में आ चुका है और जो उसके लिए सभी प्रचलित नामों का एक प्रकार से प्रतिनिधि भी समझा जा सकता है। उस 'नाम' का महत्व संतों ने सब कहीं दर्शाया है और उसी को सब कुछ मानते हुए उसके स्मरण का उपदेश भी दिया है। इसका प्रधान कारण कदाचित् यही हो सकता है कि सत्य का उतना ही अंश उसके लिए परिचित है और उसी की अनुभूति उसके लिए लाभदायक भी सिद्ध हो सकती है। संत दादूदयाल ने एक स्थल पर 'सारग्राही' के प्रसंग में कहा है—

> "गऊ बच्छ का ज्ञान गहि, दूध रहै ल्यौ लाई।
> सींग, पूंछ, पग परहरै, अस्थन लागै धाइ॥"[1]

अर्थात् हमें ज्ञान का ग्रहण उस बछड़े की भाँति करना चाहिए जो दौड़कर गाय के स्तन में लग जाता है और उसके दूध को पीता है। वह उसकी सींग, पूँछ वा पैरों की ओर दृष्टि तक नहीं डालता है। संतों के नामस्मरण का भी वास्तविक रहस्य यही प्रतीत होता है।

नामस्मरण संतों के लिए सबसे प्रमुख साधना है। वे ऐसे साधक हैं जो अपनी साधना से कभी विरत होना नहीं जानते। उनका लक्ष्य सत् की अनुभूति है। वे चाहते हैं कि उसके अनुभव की दशा उनमें सदा एकसमान बनी रहे। वे न केवल किसी एकांत स्थान में बैठकर शांतचित्त हो उसकी आग को सुलगाते रहना चाहते हैं, अपितु उनका मुख्य प्रयत्न रहा करता है कि वह किसी-न-किसी प्रकार हमारे साधारण सामाजिक व्यवहारों में लगे रहने पर भी निरंतर उसी भाँति बना रहे। सत् के अनुभव को वे सभी काल में, सब कहीं एवं सभी स्थितियों में भी समान स्थिर रखना चाहते हैं और उसमें एक क्षण के लिए भी कमी का आ जाना उनके लिए असह्य हो जाता है। सगुणोपासक भक्तजन की भक्ति-साधना षोडशोपचार-पूजन एवं भजन-कीर्त्तन के रूप में चला करती है। योगीजन अपनी योग-साधना को समाधि लगाकर पूरी किया करते है। वे अपनी-अपनी साधनाओं में निरत रहते समय आनंद-विभोर हो जाते हैं। उतने समय के लिए उन्हें व्यावहारिक कार्यों के लिए कोई अवकाश नहीं मिला करता। दैनिक व्यवहार एवं आध्यात्मिक अनुभूति के असामंजस्य के ही कारण वे बहुधा संसार से विरक्त बन जाया करते हैं और निवृत्तिमार्ग को ग्रहण करते हैं। परन्तु संतों की विचारधारा के अनु-सार ऐसा करना उचित नहीं है। इस कारण अपने सत् की अनुभूति को सदा एकरूप एवं एकरस बनाये रखने के लिए वे अपने सारे जीवन में ही कायापलट ला देना चाहते हैं। जब उनकी दशा में एक बार स्थिरता आ गई और उनके दृष्टिकोण में इसके द्वारा एक बार परिवर्त्तन आ गया तो उसे वैसा ही बना रहना चाहिए और उसमें किसी प्रकार का भी फेरफार नहीं होना चाहिए। वे अनुभव की 'सुध' को सदा अपने समक्ष रखा करते हैं। संतों के इस नामस्मरण की विधि भी अपने ढंग की है। उसमें तथा साधारण जप की साधना में महान् अंतर है। इसके लिए न तो किसी माला की आवश्यकता पड़ती है, न इसके अनुसार जप करते समय अपनी उँगलियों से ही काम लिया जाता है। स्मरण का काम वे किसी प्रकार की गणना वा बार-बार दुहराने की क्रिया द्वारा पूरा नहीं करते।

---

१. स्वामी दादू दयाल की वाणी (अंगवंधू) साखी १५, पृ० २४५।

'स्मरण' शब्द को भी उन्होंने सत् की ही भाँति उसके ठीक मौलिक अर्थ 'स्मृति' के रूप में लिया है। उनका विश्वास है कि जो कुछ ब्रह्मांड में है वही ठीक-ठीक हमारे पिंड अर्थात् शरीर के भीतर विद्यमान है। अतएव जिन शब्द (या Logos) को सृष्टि का आदि कारण कहा जाता है, उसका एक प्रतिरूप हमारे शरीर में भी मधुर ध्वनि के रूप में वर्तमान है जिसे यदि चाहें तो हम सुन भी सकते हैं। उनका कहना है कि हमारी जीवात्मा जिसके द्वारा हमारा शरीर अनुप्राणित है, उसके भीतर उस परमतत्त्व को सुध वा 'सुरत' के रूप मे अंतर्निहित है। इस कारण, यदि हम इस 'सुरत' को उस 'शब्द' के साथ जोड़ सकें तो हमें अपने इष्ट 'सत्' की अनुभूति का भी हो जाना सर्वदा संभव है। इतना ही नहीं, इस संयोग की साधना का महत्त्व उस दशा में और भी बढ़ जाता है, जब हम उक्त 'सुरत शब्द-योग' की क्रिया में सदा एक भाव से लीन रहा करते हैं। ऐसी दशा में 'सुरत' एक स्रोत की भाँति 'शब्द' की ओर सदा प्रवाहित-सी होती रहा करती है। इस प्रकार हम उस 'सत्' के साथ सदा एकरस मिले-जुले से रहा करते हैं। फलतः हम अपने को उस 'सत्' में लीन करके उसके साथ तदाकारता ग्रहण कर लेते हैं। वह 'सत्' ही, वस्तुतः हमारे रूप में 'संत' का भाव ग्रहण कर लेता है। संत के जीवन का इसी कारण विश्वकल्याणमय हो जाना भी अनिवार्य है, क्योंकि विश्व मूलतः उस सत् का ही स्वरूप है। दोनों में कोई वास्तविक अंतर नहीं है। संतों की नामस्मरण-साधना, इस प्रकार जप की विधि के स्वयं निष्पन्न होते रहने के कारण, 'अजपाजाप' के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी समाधि का नाम भी इसके योगाभ्यासियों द्वारा प्रयासपूर्वक लगायी जाने वाली 'समाधि' से भिन्न होने के कारण 'सहज समाधि' कहलाती है।

संतों ने अपनी रचनाओं के अंतर्गत उपर्युक्त योगसाधना की भी कुछ-न-कुछ चर्चा की है। उन्होंने योगियों के प्रसिद्ध 'कुंडलिनी योग' की विभिन्न बातों का उल्लेख अनेक स्थलों पर किया है। पिंड वा शरीर के भीतर अन्य अनेक नाड़ियों के अतिरिक्त, तीन प्रमुख नाड़ियाँ ईड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना नाम की भी वर्त्तमान है। वह हमारी रीढ़ की हड्डी वा मेरुदंड में नीचे से ऊपर की ओर जाती हुई जान पड़ती है। ईड़ा एवं पिंगला सुषुम्ना के साथ लिपटी हुई-सी प्रतीत होती है। उनमें से पहली का अंत बायीं नाक तक एवं दूसरी का दाहिनी नाक तक हो जाता है। नाक के मूल भाग, अर्थात् दोनों भृकुटियों के बीच वाले स्थान के आगे इन दोनों की भी शक्ति का प्रवाह सुषुम्ना द्वारा ही होने लग जाता है। सुषुम्ना वहाँ से आगे की ओर कुछ टेढ़ी-सी होकर बढ़ती है। अंत में, वह हमारे मस्तिष्क के भीतर उस उच्चतम भाग तक के निकट पहुँच जाती है जो 'ब्रह्मरंध्र' के नाम से प्रसिद्ध है। वह अपने नामानुसार ही, 'सत्' के मूल स्थान के लिए कल्पित किये गए, किसी सूक्ष्म छिद्र का द्योतक है। संतों ने सुषुम्ना के उक्त अंश को 'वंकनाल' की संज्ञा दी है और ब्रह्मरंध्र के लिए एक अन्य नाम 'भँवर गुफा'[1] भी बतलाया है। सुषुम्ना नाड़ी के इस लम्बे मार्ग में कई ऐसे स्थल भी मिलते हैं जो विचित्र ढङ्ग से बने हुए हैं और एक प्रकार से उसकी क्रमिक ऊर्ध्व गति को सूचित करते हैं। ये संख्या में सात हैं और नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठान चक्र,

---

१. देखिये 'बंकनालि के अंतरै, पछिम दिसा की बाट।
नीझर झरै रस पीजिए, तहाँ भँवर गुफा के घाट रे।
कबीर ग्रन्थावली, पृ० ८८, पद ४।

मणिपूरक चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्ध चक्र, अज्ञा चक्र एवं सहस्रार के नाम से प्रसिद्ध हैं। योगियों के अनुसार इनकी रचना कमल-पुष्पों के रूप में हुई है जिनमें क्रमशः केवल चार से छह, दस, बारह, दो तथा सहस्रों तक दल हैं और जिनके रंग, रूप एवं प्रभावादि में भी बहुत अन्तर लक्षित होता है। मूलाधार चक्र का स्थान सुषुम्ना के सबसे निचले भाग वा उसके लगभग प्रस्थान-विंदु के ही निकट है और स्वाधिष्ठान चक्र की स्थिति लिंग के मूल भाग में है। मणिपूरक, इसी प्रकार, हमारी नाभि के समीप है, अनाहत हृदय स्थान में वर्तमान है। विशुद्ध कंठ स्थान में है और अज्ञा चक्र का स्थान दोनों भ्रुवों के मध्य में जान पड़ता है। इन सभी के ऊपर जो सहस्रार है, उसकी स्थिति शीर्षस्थान में बतलायी जाती है। कहा जाता है कि सुषुम्ना वहाँ तक पहुँचने के पहले ही समाप्त हो गई रहती है। सबसे निचले चक्र अर्थात् मूलाधार के समीप ही योगियों ने किसी एक अनुपम शक्ति के विद्यमान होने की भी कल्पना की है। उसे साढ़े तीन कुंडलियों वा घेरों में सिमटकर बैठी हुई सर्पिणी की भाँति वर्तमान 'कुंडलिनी शक्ति' का नाम दिया है। योगियों का कहना है कि साधक जब कुंभक प्राणायाम के द्वारा वायु का निरोध करता है तो उक्त कुंडलिनी जागृत होकर सीधी हो जाती है और सुषुम्ना द्वारा ऊपर की ओर अग्रसर होने लगती है। यह उसी प्रकार आगे बढ़ती हुई क्रमशः उक्त छहों चक्रों का भेदन करती है। अन्त में, उस सहस्रार तक पहुँच जाती है जहाँ उस 'शक्ति' का 'सत्' वा ब्रह्मरूपी 'शिव' के साथ मिलन हो जाता है। इस प्रकार समाधि लग जाती है जो 'कुंडलिनी योग' का लक्ष्य है।

इस कुंडलिनी योग की चर्चा सभी संतों ने विस्तार के साथ नहीं की है, किन्तु इसके प्रसंग उनकी रचनाओं में अनेक स्थलों पर दीख पड़ते हैं। संतों ने अष्टांगयोग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि में से भी प्रायः सभी के उल्लेख किसी-न-किसी प्रकार से किये हैं, किन्तु उनका सांगोपांग वर्णन कहीं नहीं किया है। यम-नियमों को उन्होंने साधारण संयत जीवन तथा नैतिक नियमों के प्रसंग में लाकर बतलाया है, किन्तु आसनों में से किसी एक विशेष को महत्त्व नहीं दिया है। जिस किसी आसन में सुख एवं शांति के साथ बैठकर, नामस्मरण कर सकें उसी को उन्होंने उपयोगी मान लिया है। प्राणायाम के पूरक, कुंभक एवं रेचक में से दूसरे, अर्थात् कुंभक को ही उन्होंने प्रधानता दी है और अधिकतर उसी को प्राणायाम का समानार्थक तक मान लिया है। प्रत्याहार तथा धारणा की चर्चा उन्होंने मन के स्वभावादि का वर्णन करते समय बड़े विस्तार के साथ किया है। मनोमारण, मनोयोग तथा मनोवृत्ति संयम के रूपों में उसकी चर्चा करते हुए उसकी साधना को सबसे आवश्यक ठहराया है। इसी प्रकार ध्यान एवं समाधि का वर्णन भी इनकी रचनाओं में एक विशेष ढङ्ग से ही किया गया मिलता है। इन दोनों की चर्चा करते समय उन्होंने क्रमशः 'विरह' तथा 'परचा' (परिचय) के शीर्षक दिये हैं और इन दोनों के अत्यन्त रोचक एवं सजीव चित्र भी खींचे हैं। संतों के अनुसार 'लययोग' की साधना के लिए 'हठयोग' की क्रियाओं का अभ्यास अनिवार्य नहीं है। वे अपनी 'सुरत' को 'शब्द' के साथ संयुक्त कर देने का कार्य, केवल कतिपय 'जुगतियों' के आधार पर ही सम्पन्न कर देना चाहते हैं। अतएव विभिन्न योगियों की रूढ़िगत बातों वा व्यवस्थाओं पर अधिक आश्रित रहने की उन्हें कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। उक्त योग उनके लिए (सहजयोग) बन जाता है।

संतों की भक्ति-साधना स्वभावतः निर्गुण एवं निराकार की उपासना के अन्तर्गत

आती है और उसे 'अभेद'-भक्ति का भी नाम दिया जाता है। किन्तु उन्होंने अपने इष्ट 'सत्' को कोरे अशरीरी वा भावात्मक रूप में ही नहीं समझा है। उनके तद्विषयक प्रकट किये गए उद्गारों से जान पड़ता है कि उसे सगुण एवं निर्गुण से परे बतलाते समय उन्होंने एक प्रकार का अनुपम व्यक्तित्व भी दे डाला है। वे उसे सर्वव्यापक राम कहकर उसका विश्व के प्रत्येक अणु में विद्यमान रहना तथा सभी के रूपों में भी दीख पड़ना मानते हैं। इसके सिवाय वे उसे सत्गुरु, पति, साहब, सखा आदि भी समझते हैं। इन भावों के साथ उसके प्रति अनेक प्रकार की बातें कहा करते हैं। वे उसमें दया-दाक्षिण्यादि गुणों का आरोप करते हैं, उसके प्रत्यक्ष न होने पर विरह के भाव व्यक्त करते हैं और उससे मुक्ति की याचना भी किया करते हैं। फिर भी वे केवल भजन-भाव में ही मग्न रहने वाले 'भक्त' नहीं जान पड़ते। अपने व्यक्तिगत जीवन में सदाचरण-सम्बन्धी सामाजिक नियमों का पालन करना भी आवश्यक मानते हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में इस पर पूरा बल दिया है। वे लोग पक्के प्रवृत्तिमार्गी एवं कर्मठ व्यक्ति हैं। इस बात को उनमें से प्रायः सभी ने अपने गार्हस्थ्य-जीवन द्वारा प्रमाणित किया है। उनकी उपलब्ध रचनाओं द्वारा प्रकट होता है कि उनका आदर्श जीवन्मुक्त कर्मयोगी जैसा है।

उनके अनुसार, सत् के साथ मनोवृत्ति के उपर्युक्त प्रकार से तदाकार हो जाने पर साधक की विचारधारा आप-से-आप परिवर्तित हो जाती है। उसमें पूरी उदारता एवं व्यापकता आ जाती है और उसके दैनिक आचरण एवं व्यवहार में कोई संकीर्णता नहीं रह पाती। इस प्रकार का संत सदा आनन्द के भाव में मग्न रहा करता है। अपनी प्रत्येक चेष्टा द्वारा परोपकार में निरत रहता हुआ, विश्वकल्याण का भी साधन बन जाता है। वह जो कुछ भी विचार करता है, उस पर न तो पक्षपात वा द्वेषभाव का प्रभाव रहा करता है, न वह जिस ढंग से रहता है उसमें बाह्याडंबर ही दीख पड़ता है। इस प्रकार का निर्वैर, निष्काम, शुभचिंतन एवं आत्मानंद का जीवन ही संतों के अनुसार सात्त्विक जीवन है। यही उनका आदर्श है। इसमें स्वानुभूति, विचार-स्वातंत्र्य, आत्मनिष्ठा, कर्त्तव्य-परायणता तथा सदाचरण को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। कपट, स्वार्थ, सांप्रदायिकता एवं बाह्याचार जैसी बातों से सदा दूर रहने का परामर्श भी दिया गया है। संत लोग अपनी रचनाओं में बराबर इसी बात पर विशेष ध्यान देते जान पड़ते हैं कि मानव-समाज का सुधार और उसका विकास उसके व्यक्तियों के सुधार एवं विकास पर ही अवलंबित है। अतएव यह परमावश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति वास्तविक स्थिति को समझे, मूलतत्त्व को यथासाध्य पहचाने एवं ग्रहण करे और तदनुकूल आचरण में प्रवृत्त रहे। इस प्रकार स्वयं आनंदमय जीवन व्यतीत करता हुआ समाज एवं विश्व का भी कल्याण करे। सहज जीवन उन्हें प्रिय है।

संत-साहित्य

संतों की रचनाओं के प्रधान विषय सत् वा परमतत्वरूपी राम के स्वरूप का दिग्दर्शन, उसके प्रति प्रकट किये गए विविध प्रकार के उद्गार, आत्म-निवेदन, नाम-स्मरण की साधना, सात्त्विक जीवन का महत्त्व तथा उसके लिए दिये गए उपदेश आदि कहे जा सकते हैं। उन्होंने सांसारिक बातों में मोहासक्त लोगों का भी वर्णन किया है और उनके सांप्रदायिक एवं सामाजिक भेदभावों की आलोचना की है। उन्होंने आदर्श संत को सत् का प्रतीक माना है और अपने पथ-प्रदर्शक सतगुरु को भी वही महत्त्व प्रदान किया है। अपनी रचनाओं में ये सर्वत्र उनके सद्गुणों एवं आदर्शों की ओर ही ध्यान

देते हैं। उनके भौतिक जीवन की प्रायः चर्चा नहीं किया करते। यही कारण है कि हमें बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी, यह विदित नहीं हो पाता कि वे कौन और कहाँ के थे। इसी प्रकार परमतत्त्व का वर्णन करते समय उसके सभी लक्षण अपनी अनुभूति वा अनुमान पर ही आश्रित करते चले जाते है। उसकी न तो कोई दार्शनिक व्याख्या करते हैं, न उसके स्पष्टीकरण में किसी तर्क का प्रयोग ही करते हैं। इनके दिये गए परिचय अधिकतर प्रशंसात्मक बनकर ही रह गए हैं और उनके द्वारा किसी मूर्तभाव की स्पष्ट अनुभूति नहीं हो पाती। संतों ने इसका कारण भी बतला दिया है और कहा कि उसकी जानकारी स्वानुभूति की कोटि में आ जाती है। इसका ठीक-ठीक वर्णन करना, भाषा जैसे सीमित माध्यम के द्वारा भी संभव नहीं कहा जा सकता। फिर भी इन्होंने उसके स्पष्टीकरण में अपनी अनेक पंक्तियाँ रच डाली हैं और उनके द्वारा हमें उसे अवगत कराने के बार-बार प्रयत्न किये हैं। संतों की कृतियों में इस प्रकार का किया गया विस्तार हमें अन्य विषयों के सम्बन्ध में भी बहुत अधिक मिलता है और कभी-कभी उनकी पुनरुक्तियाँ भी दीख पड़ती हैं। इस प्रकार संत-साहित्य का कलेवर न केवल अपने अनेक रचयिताओं तथा उनकी विविध रचनाओं के ही कारण बढ़ा है, अपितु इसके लिए बहुत अंशों में संतों की उक्त प्रकार की प्रवृत्ति भी उत्तरदायी है।

संत-साहित्य की अधिक वृद्धि का एक अन्य प्रमुख कारण उसमें सम्मिलित की जाने वाली सांप्रदायिक रचनाओं की बड़ी सख्या भी कही जा सकती है। संतों के नाम पर चलने वाले पंथों के अनुयायियों ने उनके मूलप्रवर्त्तकों को ईश्वरीय महत्त्व दिया है। उनके सम्बन्ध में पौराणिक पद्धति के अनुसार भिन्न-भिन्न कथाओं की सृष्टि कर ली गई है। उन्होंने विश्व की सृष्टि तथा उसके विकास की भी कल्पना की है। इस विषय पर लिखे गए ग्रंथों में प्रसिद्ध पौराणिक देवताओं के विविध प्रसंगों की अवतारणा की गई है। उन्होंने, इसी प्रकार, 'अमरपुर' अथवा 'सतदेश' जैसे कुछ अलौकिक प्रदेशों के भी वर्णन किये हैं और पौराणिक देवताओं के साथ अपने आदर्श संतों का संवाद कराया है। कभी-कभी उन्होंने ऐसी अर्द्धदार्शनिक रचनाओं को भी प्रस्तुत किया है जिनमें संतमत की अनेक बातें रूपकों द्वारा बतलायी गई हैं। उक्त प्रकार की रचनाओं में उन्होंने अपनी कल्पना से इतना अधिक काम लिया है कि उनमें अलौकिक चित्रों की भरमार-सी हो गई है। ऐसे लेखकों की कुछ रचनाएँ संतमत की प्रमुख बातों की व्याख्या के रूप में भी मिलती हैं, किन्तु ये भी सांप्रदायिक ढंग की ही हैं। पंथीय साहित्य का एक बहुत बड़ा अंश उन स्तुतियों तथा प्रार्थनाओं से भी भरा है जिन्हें ऐसे लेखकों ने अपने-अपने संप्रदायों के मूल प्रवर्त्तकों को राम-कृष्णादि अवतारों से भी बढ़कर दिखलाने की चेष्टा में लिख डाली हैं। उस वाङ्मय के अन्तर्गत ऐसे ग्रन्थों का भी बाहुल्य है जिनमें सांप्रदायिक दीक्षा अथवा पूजनादि का विधान बड़े विस्तार के साथ किया गया है।

पहले के संतों ने अपनी रचनाएँ किसी व्यवस्थित रूप में नहीं की थीं। उन्होंने अपने भावों को केवल प्रकट मात्र कर दिया था। वे जो कुछ अनुभव करते थे, उसे विविध पद्यों द्वारा व्यक्त कर देते और उनकी ऐसी पंक्तियों को लोग बहुधा लिख भी लिया करते थे। पीछे आने वाले संतों में अपनी ऐसी रचनाओं को स्वयं भी लिपिबद्ध करने की प्रवृत्ति दीख पड़ी। वे अपनी फुटकर पंक्तियों के संग्रहों के अतिरिक्त कभी-कभी ऐसे ग्रंथ भी लिखने लगे जिनमें सिद्धान्तों का निरूपण रहा करता था। संत सुन्दरदास ने इस प्रकार का एक ग्रंथ 'ज्ञानसमुद्र' नाम से लिखा था और चरणदास जैसे कुछ संतों ने इस कार्य को संस्कृत भाषा में लिखी गई उपनिषदों तथा उपाख्यानों के हिन्दी अनुवादों

द्वारा भी पूरा किया था। गुरु गोविन्दसिंह ने कुछ प्रसिद्ध संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद दूसरों से भी कराये थे और उनके आधार पर अपने विचारों का स्पष्टीकरण किया था। कुछ संतों की प्रवृत्ति सूफियों के ढंग पर लिखी जाने वाली प्रेमगाथाओं के निर्माण की ओर भी थी। बाबा धरणीदास ने अपने 'प्रेम प्रगास' ग्रंथ तथा उनके समकालीन संत दुखहरण ने अपनी 'पुहुपावती' की रचना उसी के अनुसार की थी। पंथों के अनुयायियों ने आगे चलकर कुछ ऐसी पुस्तकें भी लिख डाली जिन्हें हम छोटे-मोटे आधुनिक पुराणों की संज्ञा दे सकते हैं। संतों के लिखे नाटक भी देखने में आते हैं।

फिर भी इन संतों का जितना ध्यान फुटकर पदों, साखियों वा अन्य ऐसे पद्यों के लिखने की ओर था, उतना कथात्मक रचनाओं की ओर नहीं था। यह प्रवृत्ति इनमें कदाचित् विविध पंथों का निर्माण आरम्भ हो जाने पर ही जागृत हुई। पहले के संतों का मुख्य ध्येय अपने सिद्धांतों एवं साधनाओं का स्पष्टीकरण तथा प्रचार-मात्र था। उसी के लिए वे प्रयत्नशील रहा करते थे। पीछे आने वाले संतों ने अपनी सांप्रदायिक प्रवृत्ति के अनुसार, अन्य प्रचलित धर्मों वा संप्रदायों की अनेक बातों का अनुकरण भी आरम्भ कर दिया। वे अपनी प्रचार-पद्धति में उन सभी बातों का समावेश करने लगे जिन्हें दूसरों ने अपना रखा था। विक्रम की १७वीं शताब्दी के प्रायः आरम्भ से ही सगुणोपासक भक्तों की रचनाओं पर पौराणिक रचनाशैली का प्रभाव पड़ने लगा था। वे लोग 'रामायण' एवं 'महाभारत' के अतिरिक्त 'श्रीमद्भागवत' जैसे पुराणों की विविध कथाओं की भी चर्चा करने लगे थे। लगभग इसी समय सूफी लोगों की मसनवी पद्धति के आधार पर लिखी जाने वाली रचनाओं का आरम्भ हुआ। इस कारण तत्कालीन हिन्दी-कवियों का झुकाव, क्रमशः चरितों एवं कथाओं के लिखने की ओर भी हो चला। संतों के कुछ पंथों का निर्माण तब तक होने लगा था, किन्तु उनके प्रवर्तक संतों की रचना-पद्धति अभी तक कबीर साहब आदि पूर्वकालीन लोगों का ही अनुसरण करती जा रही थी। पीछे आने वाले, संभवतः प्राणनाथ एवं धरणीदास ने उक्त नवीन शैली को पहले पहल अपनाया और तब से यह भी प्रचलित हो चली।

संतों की रचनाओं का सबसे प्राचीन रूप उनके पदों एवं साखियों में ही दीख पड़ता है। पदों की रचना, वस्तुतः हिन्दी भाषा के आदियुग वा अपभ्रंशकाल से ही होती चली आई है और उनका प्रारम्भिक रूप हमें बौद्धों की चर्यागीतियों में मिलता है। कहा जाता है कि चर्यागीतियों वा चर्यापदों के पहले से भी कतिपय वज्रगीतियों की रचना होती आ रही थी। वज्रगीतियाँ अभी तक अधिक संख्या में उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु जो कुछ भी मिलती हैं, उनसे जान पड़ता है कि वे ही चर्यापदों का आदर्श रही होंगी। दोनों की रचना अपभ्रंश के प्रचलित छंद में ही हुई है। किन्तु चर्यापदों में कुछ नवीन बातों का भी समावेश पाया जाता है। उदाहरणार्थ, वज्रगीतियों में जहाँ मात्रा का क्रम १३+१२ का चलता है, वहाँ चर्यापदों के अन्तर्गत वही केवल ८+७ अथवा कभी ८+६+१२ (वा कभी-कभी १० का ही) मिला करता है। पहले में जहाँ अभी तक द्विपदियाँ ही दीख पड़ती थीं, वहाँ दूसरे में त्रिपदियाँ भी आ जाती हैं। इसके सिवाय वज्रगीतियों में कहीं किसी ध्रुवपद का स्पष्ट पता नहीं चलता, किन्तु चर्यापदों की ये दूसरी द्विपदी में ही आ जाते हैं। चर्यापदों को प्रायः भिन्न-भिन्न रागों के अन्तर्गत संगृहीत करने की प्रथा है और यह उनके किसी-न-किसी रूप में गेय होने के ही कारण हैं।

बौद्ध सिद्धों के उक्त चर्यापदों का रूप, इस प्रकार, उन गेय पदों के ही समान है जो संगीतज्ञों के अनुसार, 'प्रबन्ध' कहलाते आए हैं। प्रत्येक ऐसे प्रबन्ध के पाँच अंग हुआ करते थे जिन्हें क्रमश: उद्ग्रह, मेलापक, ध्रुव, अन्तरा और आभोग नाम दिये जाते थे। इनमें से उद्ग्रह सबसे पहले आता था और उसके अनन्तर मेलापक का स्थान होता था जो उद्ग्रह और ध्रुव का पारस्परिक मेल वा सम्बन्ध स्थापित करता था। 'ध्रुव' प्रबन्ध अर्थात् पूरे गीत के लिए अनुपद वा बार-बार दुहराये जाने वाले अंश का काम देता था और अन्तरा नामक अंश इस ध्रुव तथा अंत के आभोग का संधिस्थल बन जाता था। आभोग वा प्रबन्ध का अन्तिम अंग, इसी प्रकार, पूरी रचना के आशय का परिचायक हुआ करता था। उसी में अधिकतर उस व्यक्ति का नाम भी रहा करता था जो उसका रचयिता होता था। संगीतज्ञों के इस 'प्रबन्ध' का नाम-सादृश्य हमें उन रचनाओं का भी स्मरण दिलाता है जो दक्षिण भारत में प्रसिद्ध हैं और जिन्हें स्वामी रामानुजाचार्य के दादागुरु नाथमुनि (मृ० सं० ९७७) ने सर्वप्रथम, 'नाडायिर प्रबन्धम्' (अर्थात् ४००० भजनों का संग्रह) के नाम से संगृहीत किया था और जिनका पाठ वहाँ के मन्दिरों में अब तक होता आ रहा है। वे भजन प्रसिद्ध आलवार भक्तों की रचनाएँ हैं। उनके महत्वपूर्ण होने के कारण, उक्त संग्रह कभी-कभी 'तमिलवेद' कहकर भी पुकारा जाता है। उसके भजन दक्षिण भारत के प्रधान मन्दिरों में बड़ी श्रद्धा के साथ गाये जाते हैं। पता नहीं उस 'प्रबन्धम्' में संगृहीत पदों की रचना उपर्युक्त प्रकार से हुई है या नहीं, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि पीछे आने वाले कवि जयदेव की 'गीतगोविन्द' जैसी रचनाएँ उक्त प्रबन्ध-पद्धति वा बौद्धों के चर्यापदों का ही अनुसरण करती हैं। विद्यापति एवं चंडीदास आदि के पद भी लगभग उसी ढंग से लिखे गये मिलते हैं जिन पर लोकगीतों का भी प्रभाव है।

संत कवियों की ये रचनाएँ भी, इसी प्रकार, गेयपदों के रूप में स्वीकृत की जाती हैं और ये 'शब्द' वा 'भजन' कहला कर बहुधा गायी भी जाती हैं। अपने विषय की दृष्टि से ये अधिकतर उन भावों को ही व्यक्त करती हैं जो स्वानुभूति के परिचायक हैं। इनमें परमतत्त्व के अनुभूत लक्षण, उसके प्रति प्रदर्शित विविध भाव, संसार की दुरवस्था, आत्मनिवेदन एवं चेतावनी आदि विषय ही विशेष रूप में दीख पड़ते हैं जिससे अनुमान किया जा सकता है कि संतों ने उन्हें अपनी गहरी अनुभूति के अनन्तर अपने व्यक्तिगत उद्गारों के रूप में ही प्रकट किया है। आकार के विचार से ये छोटे वा बड़े सभी प्रकार के पाये जाते हैं। किन्तु 'ध्रुव' तथा 'आभोग' वाले अंग उनमें से प्राय: सभी में वर्तमान रहते हैं। संतों के पदों में ध्रुव बहुधा 'टेक' के नाम से आता है और उसे उनके आरंभ में ही दिया जाता है। परन्तु सिखों की प्रसिद्ध मान्य पुस्तक 'आदिग्रंथ' में इसके विपरीत, ध्रुव को 'रहाउ' की संज्ञा दी गई मिलती है और उसका स्थान भी दूसरा रहा करता है। 'ध्रुव' अथवा 'रहाउ' का यह क्रम-सम्बन्धी अन्तर उपर्युक्त प्रबन्धों में भी दीख पड़ता है। इससे प्रतीत होता है कि 'आदिग्रंथ' के संग्रहकर्त्ता ने कदाचित् पुरानी संगीत-पद्धति को ही स्वीकार किया होगा। संतों की ऐसी रचनाओं को कभी-कभी 'बानी' या 'वाणी' भी कहा जाता है, किन्तु ये नाम वस्तुत: उनके सारे वचनों वा उपदेशों को भी दिया जा सकता है।

संतों की बहुत-सी रचनाएँ 'साखी' के नाम से प्रसिद्ध हैं और इनका रूप अधिकतर दोहों का-सा पाया जाता है। ऐसी रचनाओं के लिए संतों ने 'साखी' शब्द का

प्रयोग किस अभिप्राय से किया है, इसके संकेत उनकी कृतियों में अनेक स्थलों पर मिल सकते हैं। यह शब्द 'साक्षी' शब्द का रूपांतर जान पड़ता है जिसका अर्थ किसी बात को अपनी आँखों देख चुकने वाला और, इसी कारण, उसके सम्बन्ध में किसी प्रश्न के उठने पर प्रमाण-स्वरूप भी समझा जाने वाला व्यक्ति हुआ करता है। संतों की साखियों में विशेषकर वे बातें ही पायी जाती हैं जिनका उनके रचयिताओं ने अपने दैनिक जीवन में भली-भाँति अनुभव कर लिया है। इन्हें अपनी निजी कसौटी पर पहले से कस चुके रहने के कारण साधिकार व्यक्त करने की उनमें क्षमता है। संतों की साखियाँ उनके ऐसे अनुभूत सिद्धांतों को प्रकट करती हैं जो हमें अपनी कठिनाई के अवसरों पर कई प्रश्नों को सुलझाते समय काम दे सकते हैं। कबीर पंथ के मान्य ग्रंथ 'बीजक' में भी, इसी कारण, कहा गया है--

"साखी आँखी ज्ञान की, समुझि देखु मनमाँहि।
बिनु साखी संसार का, झगरा छूटत नाँहि॥"[1]

अर्थात् विचारपूर्वक देखने से विदित होता है कि साखियाँ वास्तव में, ज्ञान-चक्षु का काम देती हैं, क्योंकि ये साक्षी पुरुषों की भाँति, तत्त्व-निर्णायक प्रमाणरूप हुआ करती हैं। उनके बिना संसार के झगड़े का छूटना सम्भव नहीं हुआ करता। ये छोटी होती हुई भी अत्यन्त महत्वपूर्ण होती हैं।

संतों की साखियाँ अधिकतर दोहा छंद में पायी जाती हैं जो बहुत प्राचीन हैं। 'दोहा' शब्द को संस्कृत शब्द दोग्धक या दोधक का रूपांतर मानते हैं, किन्तु यह अपभ्रंश भाषा का एक स्वतंत्र छंद भी हो सकता है। दोहे को कभी-कभी दोहरा भी कहा जाता है और उसके अंतर्गत, सामान्यतः सोरठे का भी सम्मिलित कर लिया जाता है। ऐसा करना उतना अनुचित भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोहे के प्रथम और तृतीय चरणों को क्रमशः द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों की जगह केवल बदलकर रख देने पर ही सोरठे का छंद बन जाता है। दोहा छंद अपभ्रंश में बहुत प्रचलित रहा है। उसमें की गई सिद्धों, जैनमुनियों एवं चारणों की अनेक रचनाएँ आज भी उपलब्ध हैं। दोहे को राजस्थानी में 'दूहे' की संज्ञा दी गई है। वहाँ भी इसमें अनेक सूक्तियों तथा प्रेम-कहानियों की रचना की जा चुकी है। संतों ने इन्हें अपनी साखियों के रूप में अपनाकर इनका महत्त्व और भी बढ़ा दिया। इनके अंतर्गत उन्होंने न केवल दोहों एवं सोरठों को ही सम्मिलित किया, अपितु सार, हरिपद, चौपाई, दोही, सरसी, गीता, मुक्तामणि, श्याम उल्लास आदि प्रायः बीसों अन्य छंदों को भी स्थान दे दिया। दोहों और सोरठों के भी इनमें विविध रूप देखे जाते हैं जो इनको केवल थोड़ी-सी मात्राओं के हेर-फेर से ही सिद्ध हो जाते हैं। 'आदि-ग्रंथ' में इन साखियों को ही 'सलोक' नाम दिया गया है जो सम्भवतः श्लोक या अनुष्टुप छंद का स्मरण दिलाता है। नाथपंथियों की रचनाओं में हमें साखियाँ या दोहे नहीं दीख पड़ते, किन्तु उनमें इनका काम 'सबदियों' द्वारा लिया गया है जो अन्य प्रकार के छंदों में हैं।

संतों के साखी-संग्रह विविध अंगों में विभाजित पाये जाते हैं जिनके नाम अधिकतर 'गुरुदेवको अंग', 'सुमिरणको अंग', 'परचाको अंग', 'विरहको अंग', 'सुरातनको

---

१. 'बीजक,' 'साखी' ३५३।

अंग', आदि रूपों में दीख पड़ते हैं। 'अंग' शब्द का अर्थ साधारणतः शरीर अथवा उसका कोई-न-कोई भाग समझा जाता है। इस कारण, उक्त प्रत्येक अंग को हम साखी या साक्षी पुरुष की देह अथवा उसके अवयव-विशेष का बोधक साक्षी मान सकते हैं। इस प्रकार 'अंग' शब्द से अभिप्राय यहाँ पर साखी-संग्रह के किसी खण्ड का होगा। परन्तु कबीर साहब ने इस शब्द का प्रयोग एक स्थल पर 'लक्षण' के अर्थ में भी किया है।[1] इससे सूचित होता है कि साखियों के रचयिताओं ने उक्त शीर्षकों द्वारा कतिपय विषयों का परिचय देने के प्रयत्न किये होंगे। इस कथन के लिए अभी तक कोई भी आधार उपलब्ध नहीं कि कबीर साहब की साखियाँ आरम्भ से ही इस प्रकार विभाजित थीं। इस बात के कुछ उल्लेख अवश्य मिलते हैं कि दादूदयाल की साखियों में पहले इस प्रकार का क्रम नहीं लगा था। उन्हें सर्वप्रथम ऐसे अंगों में विभाजित करने वाले उनके शिष्य रज्जब जी थे। रज्जब ने न केवल उनकी साखियों को ही इस प्रकार क्रमबद्ध किया, अपितु उन्होंने उनके पदों के भी भिन्न-भिन्न शीर्षक लगा दिये। उनकी सारी रचनाओं के संग्रह को 'अंगवधू' के नाम से तैयार कर दिया। अंगों की चर्चा 'आदिग्रंथ' में भी नहीं है। दादूदयाल की साखियाँ केवल ३७ अंगों में ही विभाजित हैं जहाँ रज्जब जी की साखियों के १६२ अंग दीख पड़ते हैं। पीछे के संतों के सवैये, झूलने, अरिल्ल एवं अन्य कई रचनाएँ भी अंगों में विभाजित पायी जाती हैं।

संतों ने जिस एक तीसरे ढंग की रचनाओं को अधिक अपनाया है, वे दोहों-चौपाइयों में लिखी पायी जाती हैं और वे वर्णनात्मक हैं। दोहों-चौपाइयों का एकसाथ किया गया इस प्रकार का प्रयोग बहुत पहले नहीं दीख पड़ता। किन्तु जिस प्रकार कबीर साहब ने अपनी 'रमैनी' में कतिपय चौपाइयों के अनन्तर दोहे का क्रम बाँधा है, उस प्रकार का प्रयोग स्वयंभू कवि की अपभ्रंश 'रामायण' में भी किया गया मिलता है जो सं० ८०० के लगभग रची गई थी। इसमें किसी छंद की पंक्तियाँ 'धत्ता' छंद के साथ प्रायः वैसे ही क्रम में पायी जाती हैं। 'धत्ता' छंद का प्रयोग वहाँ दोहे के स्थान पर किया गया जान पड़ता है जहाँ दूसरे छंद की पंक्तियाँ बीच-बीच में चौपाइयों का काम देती हैं। किसी वस्तु या घटना का किसी एक छंद द्वारा वर्णन करते समय बीच-बीच में एक अन्य छंद के प्रयोग द्वारा विश्राम करते चलना दोनों की विशेषता है। चौपाई छंद का प्रयोग गुरु गोरखनाथ की समझी जाने वाली कृति 'प्राणसंकली' में भी पाया जाता है, किन्तु उसमें दोहों का अभाव है। कबीर साहब की रमैनी में ही दोहे और चौपाइयों का उक्त क्रम, सर्वप्रथम दीख पड़ता है। यह रचना अपनी वर्णन-शैली की दृष्टि से 'प्राण-संकली' से बहुत भिन्न नहीं कही जा सकती। यह रचना-शैली प्रबन्ध-काव्यों के लिए अधिक उपयुक्त जान पड़ती है। प्रेमगाथा के कवियों तथा गोस्वामी तुलसीदास आदि ने भी इसे अपनाया है। संतों ने इसका प्रयोग या तो सृष्टि-रचना-सम्बन्धी वर्णनों में किया अथवा आगे चलकर अपनी पौराणिक रचनाओं एवं प्रेमगाथाओं में दिखलाया है। इस प्रकार के प्रयत्न अधिकतर विक्रम की १७वीं शताब्दी के अनन्तर ही दीख पड़ते हैं।

ऐसे दोहों-चौपाइयों का उपर्युक्त प्रयोग कबीर साहब की एक अन्य रचना में भी

---

१. निरवैरी निहकामता, सांई सेती नेह।
विषिया सूँ न्यारा रहै, संतनि का अंग एह ॥१॥ 'कबीर ग्रंथावली', पृ० ५०।

पाया जाता है जो 'ग्रंथ बावनी' के नाम से प्रसिद्ध है और जिसका एक यत्किंचित् परिवर्तन रूप सिखों की मान्य पुस्तक 'आदिग्रंथ' में भी मिलता है। 'आदिग्रंथ' में इसका नाम 'बावन अखरी' दिया गया है जिससे प्रतीत होता है कि इसकी प्रमुख द्विपदियों का आरम्भ बावन अक्षरों, अर्थात् नागरी लिपि के क्रमश: अकारादि सोलह स्वरों तथा ककारादि छत्तीस व्यंजनों से होना चाहिए। प्रत्येक अक्षर से अक्षरानुक्रम लिखने की यह प्रणाली भी कम पुरानी नहीं है और इसका भी प्रारंभ अपभ्रंशकाल से ही बतलाया जाता है।[1] इसके प्रमुख छंद दोहे-चौपाई ही हैं, किन्तु कई रचनाओं में कवित्त, छप्पय, सवैये वा कुंडलियाँ छंद भी पाये जाते हैं। 'ग्रंथ बावरी' के प्रधान अंश का आरम्भ ॐकार से होता है और उसके आगे स्वरों को न देकर ककारादि व्यंजनों के ही प्रयोग कर दिये जाते हैं जिस कारण इसका 'बावनी' नाम सार्थक नहीं प्रतीत होता। इस रचना में 'ङ' एवं 'ञ' के स्थानों पर केवल 'न' का प्रयोग हुआ है और 'य' का 'ज' तथा 'श' का 'स' भी कर दिया हुआ दीख पड़ता है। स्वरों की भाँति, 'क्ष', 'त्र' एवं 'ज्ञ' का भी अभाव है और 'स' एवं 'प' का प्रयोग अंत की पंक्तियों में दुबारा कर दिया गया है। इस प्रकार यदि 'ङ' तथा 'ञ' के स्थान पर 'न' को, 'य' के स्थान पर 'ज' को तथा 'श' के स्थान पर 'स' को, पुरानी प्रथा के अनुसार मान भी लें, फिर भी केवल व्यंजनों की भी संख्या तैंतीस तक ही पहुँचती है और ॐकार को भी लेकर यह चौंतीस तक जाती है। संत रज्जब जी की 'प्रथम बावनी' तथा 'बावनी अक्षर उद्धार' में भी यही बात पायी जाती है। संत हरिदास के 'बावनी योग' में 'क्ष', 'त्र', 'ज्ञ' का केवल क्षकार मात्र छकार के रूप में आता है और दो अंतिम व्यंजनों का अभाव फिर भी बना रहता है। संत सुन्दरदास ने, कदाचित्, सबसे पहले स्वरों का भी प्रयोग आरम्भ किया है, किन्तु उनकी 'बावनी' में 'ऋ', 'ॠ' तथा 'लृ', 'लॄ' के प्रयोग नहीं मिलते और न 'त्र' का ही समावेश हुआ है जिस कारण अक्षरों की संख्या ॐकार को लेकर भी, केवल, ८८ तक ही पहुँचती है। संत भीषजन की प्रसिद्ध 'बावनी' में भी सोलह स्वरों के अतिरिक्त केवल तैंतीस व्यंजन ही मिलते हैं। उसमें भी 'क्ष', 'त्र' एवं 'ज्ञ' नहीं दीख पड़ते। इस प्रकार उसमें प्रयुक्त सभी स्वरों, व्यंजनों तथा ॐकार को भी लेकर यह संख्या केवल पचास तक ही जाती है, बावन नहीं होती। इसके सिवाय, यदि 'बावनी' शब्द को द्विपदियों की संख्या में भी घटाया जाय, फिर भी वह 'ग्रंथ बावनी' में केवल ४२ ही आती है और 'बावन अखरी' में भी ४६ से अधिक आगे तक नहीं पहुँचती तथा भीषजन की 'बावनी' में यह ५४ हो जाती है।

'बावनी' शब्द का प्रयोग किसी रचना के अंतर्गत संगृहीत ५२ भिन्न-भिन्न पद्यों के अर्थ में भी बहुधा देखा जाता है। इसके लिए कदाचित् सबसे प्रसिद्ध उदाहरण कवि भूषणकृत 'शिवाबावनी' हो सकती है। परन्तु संतों का स्पष्ट उद्देश्य यहाँ पर अक्षरों का क्रमिक प्रयोग करना ही लक्षित होता है और इस बात का प्रमाण उपर्युक्त 'बावनी-ग्रंथ' की ही कुछ पंक्तियों के पढ़ने पर मिल जाता है। इसके लिए एक अन्य संकेत कबीर साहब की ही समझी जाने वाली उस रचना में भी मिलता है जो 'अखरावती' नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ के अंतर्गत नागराक्षरों के स्वरों अथवा व्यंजनों का कोई नियमित क्रम स्पष्ट नहीं है, किन्तु इसके प्राय: अंत में कहा गया है—

"वा का ज्ञान अखरावति सारा। बावन अच्छर का विस्तारा॥"[2]

---

१. 'मधुकर' (जून-जुलाई, १९४६), पृ० ४६५।
२. अखरावती, 'कबीर साहेब', पृ० २४ (बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)।

अर्थात् उस अद्वितीय तत्त्व का ज्ञान बावन अक्षरों में व्याप्त है। इसके सिवाय 'बीजक' एवं 'कबीरपंथी शब्दावली' में संगृहीत 'ज्ञान चौंतीसा' नाम की रचनाओं द्वारा प्रकट होता है कि इस प्रकार की रचनाएँ, केवल व्यंजनों के प्रयोगानुसार भी लिखी जाया करती थीं। उनमें ॐकार तो रहा करता था, किन्तु 'क्ष', 'त्र' और 'ज्ञ' अक्षर नहीं होते थे। उक्त 'कबीरपंथी शब्दावली' के चौंतीसा (संख्या २) में ॐकार का प्रयोग नहीं है, किन्तु अक्षरों को चौंतीस करने के लिए, 'क्ष' का 'छ' के रूप में, प्रयोग दीख पड़ता है और वही रचना कबीर साहब की शब्दावली (चौथा भाग) में 'ककहरा' नाम से भी दी गई है। इसी प्रकार का एक 'ककहरा' बाबा धरनीदास ने भी लिखा है, परन्तु गुलाल साहब तथा भीखा साहब ने अपने ककहरों में 'अ', 'इ', 'उ' तथा 'ए' अक्षर भी जोड़ दिये हैं।

अक्षरों के ये प्रयोग केवल नागरी की वर्णमाला तक ही सीमित नहीं हैं। संतों ने उसी प्रकार फारसी लिपि का भी व्यवहार किया है। यारी साहब ने अपना 'अलिफ-नामा' लिखते समय बतलाया है कि फारसी के "तीसों अच्छर प्रेम के" हैं और यही उनका 'बड़ा उपदेस' है। परन्तु फारसी के केवल तीस ही अक्षरों को क्यों महत्त्व दिया गया है, शेष छह को क्यों छोड़ दिया है, इसका पता नहीं चलता। तीस ही अक्षरों को महत्त्व देने के कारण ही संत बुल्लेशाह ने भी अपनी 'सीहर्फी' (अर्थात् तीस अक्षरों वाली) नाम की रचना की है। उन्होंने ऐसा करते समय 'पे', 'टे', 'डाल', 'ड़े', 'जे' और 'काफ नामक अक्षरों का समावेश नहीं किया है, किन्तु यारी साहब ने 'पे', 'टे', 'चे', 'डाल, 'ड़े' और 'जे' को छोड़ा है। यारी साहब का एक और 'अलिफनामा' उनके संग्रहों में मिलता है जिसमें उक्त छह अक्षरों के अतिरिक्त 'गाफ' अक्षर को भी निकाल दिया गया है और इस बात में उनका अनुकरण बाबा धरनीदास ने भी अपनी रचना 'अलिफनामा' में किया है। इन दो कृतियों में, इस प्रकार तीस की उपर्युक्त संख्या केवल उनतीस ही रह जाती है। जान पड़ता है कि फारसी के कतिपय अक्षरों को भी इन संतों ने यों ही उसी प्रकार छोड़ दिया है जिस प्रकार नागरी अक्षरों में से कुछ का अन्य संतों ने त्याग कर दिया था। 'बावनी' वा 'सोहर्फी' नामों पर विशेष ध्यान नहीं दिया है। इसके सिवाय 'एक' का 'पहाड़ा' लिखते समय भी, इसी प्रकार, बाबा धरनीदास ने जहाँ 'दहाई' तक लिखा है, वहाँ गुलाल साहब 'एकादस' तक चले गए हैं।

संतों की एक रचना-पद्धति उनके काल या समय के भिन्न-भिन्न अंशानुसार लिखने में देखी जाती है। 'गोरखबानी' के देखने से पता चलता है कि गोरखनाथ ने 'पंद्रह तिथि' एवं 'सप्तवार' शीर्षक दो रचनाएँ, क्रमश: तिथियों तथा दिनों के नामानुसार की थीं। उसकी एक रचना उस ग्रन्थ के 'परिशिष्ट' में, 'सप्तवार नवग्रह' नाम की भी आयी है जिसमें नवों ग्रहों का भी उल्लेख है। उक्त 'पन्द्रह तिथि' में तिथियों की चर्चा अमावस्या से लेकर पूर्णिमा तक की गई है जिससे उनके वस्तुत: सोलह नाम आ जाते हैं। 'सप्तवार' वाली उक्त रचना में योगसाधना की विविध बातें संक्षिप्त रूप में बतला दी गई हैं और 'सप्तवार-नवग्रह' में इन सभी का 'काया भीतरि' वर्त्तमान होना भी कहा गया है। संत रज्जब जी ने भी एक रचना 'पंद्रह तिथि' नाम से की है और उन्होंने भी उसी प्रकार अमावस्या से लेकर पूर्णिमा तक सोलह नाम दिये हैं। सहजोबाई ने अपनी एक ऐसी रचना का 'सोलह तिथि निर्नय' नाम दिया है और कहा है—

"ज्ञान भक्ति और जोग कूँ, तिथि में करूँ बखान।"[1]

अर्थात् इन तिथियों के द्वारा मैं ज्ञान, भक्ति एवं योग का वर्णन कर रही हूँ। संत हरिदास ने इस प्रकार की दो रचनाएँ की हैं जिनके नाम उन्होंने क्रमश: 'बड़ी तिथियोग' और 'लघु तिथियोग' रखे हैं। इनमें से पहली में छह-छह पंक्तियों के तथा दूसरी में केवल दो-दो पंक्तियों के सोलह-सोलह पद आये हैं। इसी प्रकार संत रज्जब जी ने सात वारों के नाम का प्रयोग करके उपदेश दिये हैं। सहजोबाई ने उनके द्वारा 'हरि का भेद' बतलाया है और संत हरिदास ने अपनी साधना के निजी अनुभव का वर्णन किया है। सहजोबाई की एक विशेषता यह लक्षित होती है कि उन्होंने रविवार की जगह मंगलवार से दिनों का आरंभ किया है। इस प्रकार, सप्ताह का अंत सोमवार में दिखलाया है जिसका कोई स्पष्ट कारण नहीं जान पड़ता।

समय के अनुसार की गई संतों की रचनाओं में 'बारहमासा' को भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। सिखों की मान्य पुस्तक 'आदिग्रंथ' में इस प्रकार की रचना को 'बारह-मासा' कहा गया है जिसमें गुरु अर्जुनदेव ने चैत से फाल्गुन तक के नाम लेकर उनमें किये जाने वाले कामों के विषय में विविध उपदेश दिये हैं। परंतु इसी प्रकार की अपनी एक रचना 'बारहमासा' द्वारा संत सुंदरदास ने इस प्रकार का विरह-वर्णन किया है जो एक साधारण विरहिणी नायिका की ओर से भी पूर्णत: उपयुक्त कहा जा सकता है। इन दोनों संतों के बारहमासा चैत से आरंभ होते हैं, किन्तु संत गुलाल साहब एवं भीखा साहब ने जो बारहमासे लिखे हैं, वे आषाढ़ मास से चलते हैं। इन दोनों में संतमत-सम्बन्धी कुछ सिद्धांतों के वर्णन पाये जाते हैं, किंतु संत गुलाल साहब की रचना में कहीं-कहीं प्रकृति की छटा भी दर्शनीय है। संत पलटू साहब ने बारहमासापरक एक अपने पद में विरह का वर्णन संत सुन्दरदास की ही भाँति किया है। किन्तु उसके अंत में उनकी विरहिणी को 'सुन्न मंदिल' में 'इक मूरति' की झलक भी मिल गई है। संत तुलसी साहब ने दो बारहमासे लिखे हैं जिनमें से पहला लावनी में है और दूसरा दोहों में। पहले के अन्तर्गत विरहिणी की दशा के साथ-साथ संतमत की साधना का भी समावेश कर दिया है, किन्तु दोहों में केवल संतमत का सार बतलाया गया है। इस दोहे वाले बारहमासे की एक यह भी विशेषता है कि इसका आरंभ सावन मास से होता है। संत शिवदयाल का बारहमासा इन सभी से बड़ा है और उनके 'सारवचन' ग्रन्थ के लगभग ५० पृष्ठों में आता है। उसके अन्तर्गत संसारी जीवों की दशा का वर्णन कर उनके गुरुपदेश एवं तदनुसार समाधान द्वारा सँभलने की चर्चा विस्तार के साथ की गई है और प्रसंगवश काया के भीतर वर्त्तमान द्वादश कमलों का परिचय भी दिया गया है। इन द्वादश कमलों तक अपनी चेष्टाओं द्वारा पहुँचने वाले को ही इन्होंने 'संत सुजाना' बतलाया है तथा ऐसे ही संतों के मत को सर्वोच्च स्थान भी दिया है।[2] संत शिवदयाल के शिष्य संत सालिग-राम जी ने भी 'बारहमासा' लिखा है जो उससे छोटा है। 'सुरत' की ऊर्ध्वयात्रा उसका प्रधान विषय है।

संतों की रचनाओं का एक अन्य विभाजन उनमें संगृहीत पदों की संख्या के अनुसार किया गया भी मिलता है। संत कबीर साहब की प्रसिद्ध 'रमैणी' ग्रन्थ में

१. सहज प्रकाश, पृ० ४५।

२. 'सार वचन', पृ० ५३ ४०२।

'सत पदी', 'बड़ी अष्टपदी', 'दुपदी', 'अष्टपदी', 'बारहपदी' तथा 'चौपदी' रमैणियों का संग्रह है। परन्तु इनमें से किसी में भी उक्त नियम का पालन किया गया जान नहीं पड़ता। वह ग्रन्थ एक प्रकार से दोहों-चौपाइयों के क्रमिक संग्रह मात्र का एक उदाहरण है, किंतु इन छंदों का क्रम भी किसी नियम के साथ बँधा हुआ नहीं दीख पड़ता। सिखों की मान्य पुस्तक 'आदिग्रंथ' के अंतर्गत 'असट पदीआ' नाम की कतिपय रचनाएँ गुरु नानक, गुरु अमरदास, गुरु रामदास तथा गुरु अर्जुनदेव की कृतियों के रूप में आती हैं जिनमें से कई एक आठ पदवाली नहीं हैं। गुरु अमरदास की एक रचना 'असट पदी' नाम उसे औरों से पृथक् करके दिया गया है जिसमें आठों पद वर्तमान हैं। संत हरिदास ने 'चालीसपदी योग', 'चतुर्दसपदी योग', 'तीसपदी योग' एवं 'बारहपदी योग' नामक इस प्रकार की चार रचनाएँ लिखी हैं जिनमें से पहली में ४१ द्विपदियाँ आती हैं और तीसरी में उनकी संख्या तीस की कही जा सकती है। किंतु शेष के पदों के क्रमशः १४ एवं १२ होने पर भी उनकी पंक्तियों की संख्या में किसी नियम का पालन नहीं दीख पड़ता।

संतों की साम्प्रदायिक रचनाओं में कतिपय 'गोष्ठियों' के भी नाम आते हैं जो प्रश्नोत्तरों के रूप में पायी जाती हैं। 'गोष्ठी' शब्द का अर्थ बहुधा उस वार्त्तालाप से लिया जाता है जो ज्ञानवर्द्धन के उद्देश्य से किया गया होता है अथवा जो समान कोटि वाले व्यक्तियों में कुछ शंकाओं का समाधान कराने के लिए, पारस्परिक बातचीत के रूप में हुआ करता है। ऐसी 'गोष्ठियों' की परंपरा कम-से-कम नाथपंथी 'जोगियों' के समय से चली आती है जिनके लिए यह प्रसिद्ध है कि वे अपने योगबल द्वारा किन्हीं पूर्वपुरुषों की आत्माओं के भी साथ मिलकर वार्त्तालाप कर सकते थे और जिनके यहाँ वैसे लोग बहुधा ज्ञानवर्द्धन के लिए भी आया करते थे। ऐसी गोष्ठियों का एक दूसरा नाम 'बोध' भी पाया जाता है। वह विशेषकर किसी से शिष्य रूप में प्रश्न करने पर आरंभ होता है। 'गोरख-बानी' नामक संग्रह में 'गोरष गणेश गुष्टि', 'गोरष दत्त गुष्टि' एवं 'महादेव-गोरष गुष्टि' नाम की तीन गोष्ठियाँ उसके परिशिष्ट भाग में प्रकाशित हैं और 'मछींद्र गोरष बोध' उसके मूल भाग में है। इन सभी में प्रश्नोत्तरों के द्वारा नाथपंथ की प्रमुख बातों का परिचय दिया गया है और पूछने वाले को कुछ निम्न श्रेणी का प्रदर्शित किया गया है। कबीरपंथी साहित्य के अंतर्गत 'गोरष-गोष्ठी' तथा 'रामानन्द गोष्ठी' बहुत प्रसिद्ध हैं और 'लक्ष्मणबोध', 'हनुमानबोध', 'मुहम्मदबोध', 'सुलतानबोध', 'भूपालबोध', 'गरुणबोध', 'जगजीवनबोध' जैसे अनेक बोधग्रंथों का एक बृहद् संग्रह उसके 'बोधसागर' में मिलता है। 'गोष्ठी' नाम का एक ग्रन्थ 'दरिया साहब बिहारी' तथा 'रामेश्वर जोगी' के वार्त्तालाप का पाया जाता है जो संभवतः काशी में हुआ था। संत तुलसी साहब की रचनाओं में ऐसी बातचीतों का नाम 'संवाद' पाया जाता है और उनकी 'घटरामायन', 'रत्नसागर', 'पद्मसागर' तथा फुटकर पदसंग्रह की पुस्तकों में वे एक अच्छी संख्या में दीख पड़ते हैं। 'गोष्ठियों' तथा 'बोधों' को 'ज्ञानगुष्ठि' एवं 'आत्मबोध' जैसे नाम देने की भी प्रणाली देखी जाती है। वे अधिकतर एक विशेष विषय से संबद्ध ग्रन्थ हैं जो गुरु एवं शिष्यों के बीच की बातचीत के रूप में रहा करते हैं। ज्ञानगुष्टि का एक ऐसा उदाहरण 'गुलाल' साहबकृत 'ज्ञानगुष्टि' है जो संत गुलाल साहब तथा उनके शिष्य भीखासाहब का वार्त्तालाप है।

संतों ने इसी प्रकार, 'वणजारा', 'ब्याहलो', आदि से लेकर 'सहस्रनाम' जैसी तक रचनाएँ भी की हैं। उनकी व्यापार-यात्रा, वैवाहिक प्रसंग आदि सम्बन्धी चर्चाओं के

घटनात्मक आधार पर ही नहीं, अपितु केवल नामों के विवरणों द्वारा भी अपने विचारों को स्पष्ट करने की चेष्टाएँ की है। अतएव, बावनी जैसे उपर्युक्त प्रकार के विविध ग्रन्थों की रचना भी उन्होंने किसी साहित्यिक प्रयास के रूप में नहीं की है। उन्होंने सर्वत्र केवल इसी बात के लिए प्रयत्न किये हैं कि हमारे सिद्धांतों एवं साधनाओं का स्पष्टीकरण ठीक-ठीक हो जाय। इसके लिए उन्होंने किसी विशेष प्रकार की रचना-प्रणाली का ही अनुसरण करना आवश्यक नहीं समझा। जिस किसी भी रचनाशैली को उन्होंने अपने समय में प्रचलित या परिचित पाया, उसी को अपना कर अपने उद्देश्य की सिद्धि में वे लग गए। इसी कारण, हम देखते हैं कि जिन-जिन ऐसे साधनों को उन्होंने अपने लिए स्वीकार किया है, उनके मौलिक रूपों की ओर उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया है और न उनके नियमों का ही ठीक-ठीक निबाहा है। वे सदा अपने प्रतिपाद्य विषय को ही अधिक महत्व देते रहे हैं जिस कारण उनकी कृतियों का बाह्यरूप कभी सँभाला नहीं जा सका है। 'बावनी' नाम की उपर्युक्त कबीर-कृति के एक अन्य नाम 'बावन अखरी' के कारण उसे पढ़ने वाले बहुधा आशा करते हैं कि उसकी रचना नागरी के सभी सोलह स्वरों तथा सारे छत्तीस व्यंजनों के अनुसार की गई होगी। किन्तु उसके रचयिता द्वारा दिये गए कुछ संकेतों के आधार पर उसके विषय में इस प्रकार का अनुमान करना भी आवश्यक हो जाता है कि उक्त 'अखरी' शब्द का अभिप्राय यहाँ किसी वर्णमाला के अक्षरों से न होकर, उस अक्षर या अविनाशी तत्त्व से है जो उन अक्षरों में वर्त्तमान कहा जा सकता है।

संतों की प्रायः सभी रचनाएं पद्यों में ही पायी जाती है। गद्य-ग्रन्थों की संख्या उतनी अधिक नहीं है। 'गोरखबानी' नाम के संग्रह को देखने से विदित होता है कि गद्य लिखने की परम्परा नाथपंथियों के समय से रही होगी। उसके 'गोरष गणेश गुष्टि', 'महादेव गोरष गुष्टि', 'सिष्ट पुराण', 'चौबीस सिद्धि', 'बत्तीस लछन' तथा 'अष्टचक्र' नामक परिशिष्ट के प्रकरणों में गद्य स्पष्ट दीख पड़ता है और यह बात उसके मूलभाग की 'रोमावली' नामक रचना में भी पायी जाती है। किन्तु उनमें लक्षित होने वाले गद्य के रूप को न तो हम शुद्ध, निर्दोष वा अविकृत कह सकते हैं, न उसके रंगढंग में पद्य से बहुत अन्तर जान पड़ता है। इन रचनाओं में प्रयुक्त वाक्य अधिकतर तुकों का सहारा लेते हैं और इनमें आये हुए प्रश्नों में क्रियाओं का अभाव भी लक्षित होता है। इसके सिवाय इनमें दिये गए विवरणों के उल्लेख भी संकेतवत् ही किये गए हैं और वे एक दूसरे की गति का अनुसरण करना चाहते हैं। गद्य का कोई शुद्ध रूप उस समय की कदाचित् किसी प्रकार की भी हिन्दी रचनाओं में नहीं पाया जाता। कबीर साहब के समय से सन्त-परम्परा का आरम्भ हो जाने पर तथा उसके बहुत काल पीछे तक भी सन्तों की गद्य रचनाओं के उदाहरण नहीं मिलते। कहते हैं कि सन्त बाबालाल एवं सन्त प्राणनाथ के समय, अर्थात् विक्रम की १७वीं शताब्दी के चतुर्थ चरण से लेकर उसकी १८वीं शताब्दी के मध्यकाल तक, सन्तों की गद्य रचनाओं का आरम्भ हो गया था। किन्तु अभी तक ऐसे ग्रन्थों का कहीं पता नहीं चलता। १८वीं शताब्दी के अन्तिम चरण के लगभग की समझी जाने वाली कुछ रचनाएँ शिवनारायणी सम्प्रदाय की मिलती हैं, किन्तु उनके रूपों में भी कुछ हेरफेर हो गया है। कभी-कभी ऐसा अनुमान होता है कि वे कुछ और पीछे लिखी गई भी हो सकती हैं। यही बात हम अन्य पंथों की ऐसी अनेक रचनाओं के सम्बन्ध में भी कह सकते हैं। सन्तों के गद्य साहित्य का वास्तविक आरम्भ इसी कारण, विक्रम की १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध काल से ही होता है जब कुछ संत लेखक अपने-अपने मान्य ग्रन्थों एवं अन्य प्रसिद्ध रचनाओं पर भी अपने भाष्य एवं

टीकाएँ रचने लगते हैं और साधु निश्चलदास जैसे कुछ लोग स्वतन्त्र रचनाओं की ओर भी प्रवृत्त हो जाते हैं। उस काल से पहले सन्तों के पत्र-व्यवहार तक संभवतः पद्य में ही होते थे जैसा कि जगजीवन साहब के कुछ उपलब्ध पत्रों से भी जान पड़ता है। संतों के गद्य साहित्य की अभिवृद्धि में इधर कबीर पंथ, दादू पंथ, रामसनेही सम्प्रदाय और विशेषतः राधास्वामी सत्संग का हाथ रहा है। वर्त्तमान रचना-पद्धति के प्रभाव में आकर अन्य ऐसे लोगों ने भी इधर बहुत कुछ किया है। 'सत्संग' के महर्षि शिवव्रतलाल ने साधारण प्रवचनों के अतिरिक्त उपाख्यानों, कहानियों, जीवनियों तथा आलोचनाओं, आलोचनात्मक ग्रन्थों की भी रचना की है और सामयिक साहित्य के प्रकाश में भी भाग लिया है। उस पन्थ के सर आनन्दस्वरूप की नाटक-रचना भी उल्लेखनीय है।

काव्य का आदर्श

संत-साहित्य की उपर्युक्त संक्षिप्त रूपरेखा से भी स्पष्ट है कि संतों ने उसका निर्माण करते समय अपना ध्यान न तो काव्य-कौशल की ओर दिया था, न उसमें कभी वे पूर्णरूप से सावधान ही रहे। उन्होंने अपने विचारों की अभिव्यक्ति एवं सिद्धान्तों के प्रचारार्थ ही कुछ रचनाएँ प्रचलित शैलियों के अनुसार प्रस्तुत कर दीं। इनकी संख्या में क्रमशः वृद्धि के होते जाने से इनका कलेवर विशाल संत-साहित्य के रूप में परिणत हो गया। ये रचनाएँ न तो मनोरंजन के लिए की गई थीं, न इनका उद्देश्य कभी किसी प्रकार के 'यश' या 'धन' के उपार्जन का ही रहा। इनके रचयिताओं ने अपने सामने न तो 'कविता कविता के लिए' का आदर्श रखा, न उन्मुक्त कल्पना के प्रभाव में विविध भावनाओं की सृष्टि कर अपना मनोराज्य स्थापित करने की कभी चेष्टा की। उनकी 'स्वानुभूति' में विश्वजनीन अनुभूति की व्यापकता थी और उनके आदर्श पद की स्थिति ठेठ व्यवहार से कहीं बाहर न थी। अपनी रचना के माध्यम को भी इसी कारण उन्होंने न तो उसके विषय से अधिक कभी महत्त्व दिया, न उसके शब्द एवं शैली में चमत्कार लाने के पीछे, उसके भावसौंदर्य के प्रति वे कभी उदासीन हुए। इसके सिवाय, अपने उच्च-से-उच्च एवं गंभीर-से-गंभीर भाव को भी वे सदा सर्वसाधारण की ही भाषा में व्यक्त करते आए। उन्हीं के दृष्टांतों एवं मुहावरों द्वारा उन्होंने उसका स्पष्टीकरण भी किया।

संत कबीर साहब के समसामयिक मैथिल कवि विद्यापति अच्छे पंडित और साहित्यज्ञ थे। उन्होंने कई काव्य-रचनाएँ भी की थीं। अपने हिन्दी पदों द्वारा उन्होंने नायिकाओं की वयःसंधि आदि का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया है और अपनी काव्य-शक्ति का उन्हें बहुत बड़ा गर्व है। वे अपने काव्य की भाषा की प्रशंसा में एक स्थल पर कहते हैं—

> **"बालचन्द विज्जावइ भासा, दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा।**
> **ओ परमेसर हर शिर सोहइ, ईणिच्चइ नागर मन मोहइ॥"[1]**

अर्थात् द्वितीया का चन्द्रमा और मेरी काव्यभाषा दुर्जनों के हास्य का विषय नहीं हो सकती, क्योंकि चंद्रमा शिव के मस्तक पर शोभा देता है और मेरी भाषा नागरिकों का मन मोह लिया करती है। वे काव्य के लिए भाषा की सरसता को ही सदा अधिक महत्त्व देते जान पड़ते हैं, क्योंकि इसके आगे वे फिर यह भी कहते हैं—

---

१. 'कीर्तिलता' (काशी नागरी प्रचारिणी सभा संस्करण), पृ० ४।

"का परमोधञ्जो कमण मणावञ्जो,
किमि नीरस मने रस लए लावञ्जो।
जइ सुरसा होसइ मम्मु भासा,
जो बुज्झइ सो करिह पसंसा॥"[1]

अर्थात् मैं किस प्रकार प्रबोध कराऊँ, किस प्रकार जतलाऊँ और किस प्रकार नीरस मन में रस भर दूँ। यदि मेरी भाषा सुरस होगी तो जो कोई समझेगा, वही मेरी प्रशंसा करेगा। परन्तु संत कबीर साहब के लिए इस प्रकार के 'कविकर्म' का कभी कोई महत्त्व न था। वे 'राम' के उद्देश्य से किये गए कार्य को ही उचित समझते थे। उससे विहीन संसार के किसी भी धंधे को 'कुहरा' के समान निःसार मानते थे। इस कारण काव्य-कौशल में प्रवृत्त होना भी उनके लिए वैसा ही व्यर्थ काम है, जैसा हिन्दुओं का मूर्तिपूजा में लीन रहना, मुसलमानों का 'हज' की यात्रा किया करना, योगियों का जटा बाँधे फिरा करना तथा कापड़ियों का जल लाने के लिए केदारनाथ तक पर्वत की चढ़ाई करना आदि कहे जा सकते हैं। वे कहते हैं—

"राम बिना संसार धंध कुहेरा,
सिरि प्रगट्या जम का पेरा॥टेक॥
देव पूजि पूजि हिंदू मूये, तुरक मूये हज जाई।
जटा बाँधि बाँधि योगी मूये, इनमें किनहूँ न पाई॥
कवि कवीनें कविता मूये, कापड़ी केदारौं जाई।" आदि।[2]

इसी प्रकार संत सुन्दरदास ने भी जो स्वयं पंडित और काव्यनिपुण व्यक्ति थे, विद्यापति की शृंगारमयी 'पदावली' जैसी रचनाओं को उन्होंने विषतुल्य ठहराया था। 'रसिकप्रिया', 'रसमंजरी' एवं 'सुन्दर शृंगार' की निन्दा करते हुए वे कहते हैं—

"रसिक प्रिया रस मंजरी और सिंगारहि जानि।
चतुराई करि बहुत विधि विषैं बनाई आँनि॥
विषैं बनाई आनि लगत विषयिन कौं प्यारी।
जागै मदन प्रचण्ड सराहैं नखशिख नारी॥
ज्यौं रोगी मिष्ठांन खाई रोगहिं विस्तारै।
सुन्दर यह गति होइ जुतौ रसिक प्रिया धारै॥५॥
रसिक प्रिया कै सुनत ही उपजै बहुत विकार।
जो या माहीं चित्त दे वहै होत नर ख्वार॥
वहै होत नर ख्वार तौ कछुव न लागै॥
सुनत विषय की बात लहरि विषही की जागै॥
ज्यौं कोइ ऊंघै हुतौ लही पुनि सेज बिछाई।
सुन्दर ऐसी जांनि सुनत रसिक प्रिया भाई॥"६॥[3]

---

१. 'कीर्तिलता' (काशी नागरी प्रचारिणी सभा संस्करण), पृ० ४।

२. 'कबीर ग्रंथावली' (काशी नागरी प्रचारिणी सभा), पद ३१७, पृ० १९५।

३. 'सुन्दर ग्रन्थावली' (द्वितीय खण्ड), पृ० ४३९-४०।

अर्थात् 'रसिकप्रियादि' काव्य-रचनाओं को कवियों ने बड़ी निपुणता के साथ विषरूप में प्रस्तुत किया है और वे विषयी जीवों को प्यारी लगती है। उन्हें सुनते वा पढ़ते ही वे नारियों के नख-शिख की प्रशंसा करने लगते हैं और उनमें कामोद्दीपन उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार मिष्ठान्न खाने पर रोगियों के रोग में वृद्धि हो जाती है। इसके सिवाय 'रसिकप्रियादि' का श्रवण करने मात्र से मनोविकार उत्पन्न होते हैं और जो कोई उधर आकृष्ट होता है, वही चौपट हो जाता है। विषय की बातों को सुनते ही भीतर विष की लहरें उठने लगती हैं और उसे वैसा ही जान पड़ता है जैसा ऊँघने वाले को सोने के लिए कोई बिछी-बिछाई सेज मिल गई हो।

अतएव, संतों के अनुसार आदर्श काव्य वही हो सकता है जिसमें कविता निरुद्देश्य की गई न हो। उसका विषय 'राम' से रहित न होना चाहिए और उसमें शृंगारादि विषयों की मनोविकारवर्द्धक एवं विषभरी बातों का समावेश भी न होना चाहिए। संत कवि इस बात में दूसरों से सहमत नहीं जान पड़ते कि काव्य की रचना यदि उपयुक्त शब्द-दोष-रहित छंद और प्रभावपूर्ण शैली में हो तो वह अधिक अच्छी लगेगी। उनका आग्रह केवल इसी बात के लिए है कि उसका विषय भी अवश्य सुन्दर होना चाहिए। 'हरियश' ही संत सुन्दरदास के अनुसार, काव्य का प्राण है। उसके बिना वह, अन्य बातों से युक्त होता हुआ भी निर्जीव-सा है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है—

> "नख-शिख शुद्ध कवित्त पढ़त अति नीकौ लग्गै।
> अंगहीन जो पढ़ै सुनत कविजन उठि भग्गै॥
> अक्षर घटि बढ़ि होइ षुडावत नर ज्यौं चल्लै।
> मात घटै बढ़ि कोई मनो मतवारौ हल्लै॥
> औढेर काँण से तुक अमिल, अर्थहीन अंधो यथा।
> कहि सुन्दर हरिजस जीव हैं, हरिजस बिन मृत कहि तथा॥"[1]

अर्थात् सर्वाङ्ग-शुद्ध होने पर ही कोई कविता अच्छी लगा करती है। अंगहीन होने पर उसे सुनते ही कविजन भाग चलते हैं। यदि किसी कविता में मात्राओं की न्यूनाधिकता होती है तो वह लुढ़कते हुए मनुष्य की भाँति चलती है और यदि उसमें मात्रा की घटी-बढ़ी होती है तो वह मतवाले की भाँति हिलती-डुलती रहा करती है। बेमेल तुकों वाली कविता ऐंचों-कानों की भाँति हुआ करती है और अर्थहीन काव्य अंधों से कम नहीं गिना जाता। फिर भी, उसका प्राण हरियश ही कहा जायगा। उसके बिना कविता शवतुल्य है।

इस सम्बन्ध में एक बात यह भी उल्लेखनीय है कि संतों की रचनाओं का प्रमुख उद्देश्य उनकी स्वानुभूति की अभिव्यक्ति रही है। इसमें पूर्णरूप से सफल हो जाना, यदि असम्भव नहीं तो, अत्यन्त कठिन अवश्य कहा जा सकता है। अपने जीवन के एक साधारण से भी सुखमय अनुभव में हम देखते हैं कि जिस समय हमारे ऊपर उसके प्रभाव की मात्रा अधिक हो जाती है और अनुभूत वस्तु में तन्मयता का भाव ग्रहणकर जब हम आनंदित हो उठते हैं तो उसे उपयुक्त शब्दों में प्रकट करते समय हमें बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। हम उसे स्पष्ट करने का प्रयत्न बार-बार करने लगते हैं। एक

---

१. 'सुन्दर ग्रन्थावली' (द्वितीय खण्ड), पृ० ६७२।

ही बात को कई ढंग से कहने लग जाते हैं और बीच-बीच में कुछ-न-कुछ संकेत भी करते जाते हैं, किन्तु फिर भी इसमें हमें संतोष नहीं हो पाता। अपनी भाषा हमें उस समय पूरी सहायता करती हुई प्रतीत नहीं होती और कई बार वह अस्पष्ट एवं विकृत तक बनकर रह जाती है। उक्त वस्तु जब इंद्रियगम्य रहा करती है तब तो हमें भाषा की सहायता कुछ-न-कुछ मिल जाती है। किन्तु जब हम किसी भावना के अनुभव की बातें करने लगते हैं तो हमें उस साधन का भी पूरा सहारा उपलब्ध नहीं होता। राम, साहिब, सत्य वा परमतत्त्व जिसका आत्म-स्वरूप में अनुभव करने की बातें बहुधा संतों की रचनाओं में आया करती हैं। उनके अनुसार, जो इंद्रियातीत वस्तु है जिसकी केवल भावना या ही अनुभव किया जा सकता है, उसका वर्णन भी केवल प्रतीकों के आधार पर ही हो सकता है। इन प्रतीकों का आधार मूलतः इंद्रियगम्य वस्तुएँ ही बना करती हैं। ऐसी दशा में उन दोनों में पूर्ण सामंजस्य की भी एक समस्या अलग खड़ी हो जाती है। संतों ने ऐसे प्रतीकों के प्रयोग बार-बार किये हैं और इस प्रकार हमारे लिए कुछ ऐसे चित्रों का निर्माण करते आए हैं जो उनकी उक्त भावना का न्यूनाधिक अनुकरण कर सकें। भाषा उन्हें इस कार्य में पूरी सहायता स्वभावतः नहीं कर पायी है। इसके लिए उनके जितने ऐसे प्रयोग हुए हैं, वे अधिकतर दोषपूर्ण हो गए हैं। संतों ने जहाँ-जहाँ स्वानुभूति से भिन्न-भिन्न विषयों के वर्णन किये हैं, वहाँ-वहाँ उनकी प्रतिभा तथा अभ्यास के अनुसार भाषा, छंद एवं शैली में भी उन्हें बराबर सफलता मिलती गई है। वहाँ पर उनकी योग्यता स्पष्ट ही दीखती है।

रहस्यवाद

स्वानुभूति की अभिव्यक्ति में उक्त प्रकार की अस्पष्टता आ जाने के कारण कवि की रचना बहुधा रहस्यमयी बन जाती है। उसके श्रोता या पाठक के लिए अपने पूर्व परिचित प्रतीकों के भी प्रयोग एक अपूर्व अनुभव के विधायक बन जाते हैं। 'स्वानुभूति' की दशा इस प्रकार की स्थिति है जिसमें हम अपने आपको पाकर भी वस्तुतः सर्वथा भूल से जाते हैं। उस समय किसी दूसरे को उसके साथ परिचित करने की हममें कोई शक्ति नहीं रह जाती। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में इस विचित्र दशा का वर्णन किसी प्रिया एवं प्रियतम के गाढ़ालिंगन के प्रतीक द्वारा किया गया है और इसे सभी अन्य अनुभवों को दबा देने वाला भी बतलाया गया है। वहाँ कहा गया है—

"तद् यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेदनान्तरं तद् वअस्यैतदाप्रकाममात्मकाम-मकामरूपम् शोकान्तरम् ॥"[1]

अर्थात् व्यवहार में जिस प्रकार अपनी प्रिया भार्या को आलिंगन करने वाले पुरुष को न कुछ बाहर का ज्ञान रहता है और न भीतर का, इसी प्रकार यह पुरुष प्रियतमा से आलिंगित होने पर न कुछ बाहर का विषय जानता है और भीतर का। यह उसका आप्त-काम, आत्मकाम, अकाम, शोकशून्य रूप है। अनुभव का अर्थ प्रत्यक्ष ज्ञान है और 'स्वानुभूति' की स्थिति में अपनेपन या आत्मा में अनुभव का होना उस वस्तु की अनुभूति का अर्थनिहित है, जो परमतत्त्व है। दोनों की अनुभूति एकसाथ और सम्मिलित रूप में होती है। इस अभिन्नता के कारण हमें इनमें से किसी एक की इयत्ता प्रतीत नहीं होती।

---

१. अध्याय ४, ब्राह्मण ३ (२१)।

फलतः अनुभविता एवं अनुभूत की एकता हमें अपनी स्पष्ट अभिव्यक्ति में और भी अक्षम कर देती है और हम एक प्रकार से मूकवत् बन जाते हैं। हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान उस समय साधारण अनुभव से बढ़कर उस कोटि विशेष की अनुभूति में भी परिणत हो गया रहता है जिसे 'स्वाद' या 'मजा' कहा जाता है और जिसे साहित्यिक शब्दावली के अनुसार हम 'रस' की संज्ञा देते हैं। इसमें अनुभविता और अनुभूत वस्तु के साथ-साथ स्वयं उस अनुभव की भी एकता हो जाती है जिसे अद्वैतवाद की भाषा में ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान की 'त्रिपुटी' कहा जाता है। किसी ने कहीं कहा भी है—

"ज्ञाता ज्ञेय अरु ज्ञान जो, ध्याता, ध्येय अरु ध्यान।
द्रष्टा, दृश्य अरु दरश जो, त्रिपुटी शब्दाभान।"

संतों की रचनाओं के सम्बन्ध में जिस 'रहस्यवाद' की चर्चा की जाती है, वह स्वानुभूति की उपर्युक्त, अस्फुट अभिव्यक्ति के ही कारण, अस्तित्व में आता है। परमतत्त्व की प्रत्यक्ष अनुभूति हो जाने पर भी, उसके स्वानुभूतिपरक होने के कारण, तद्विषयक अभिव्यक्ति का अस्पष्ट एवं अधूरे रूप में ही होना संभव है। संत लोग उसे प्रकट करने के प्रयत्न बार-बार किया करते हैं। एक ही बात की पुनरुक्तियाँ तक कर देते हैं, किन्तु उनकी भाषा उनका पूरा साथ नहीं दे पाती। उनके वर्णन, इसी कारण, बहुधा गूढ़ से गूढ़तर बनते जाते हैं और श्रोता वा पाठक उनसे केवल चकित होकर रह जाता है। संतों में से अधिकांश को न तो शुद्ध काव्य रचने की शक्ति थी, न उनका अपनी भाषा पर ही पूरा अधिकार था। उधर ब्रह्मात्मक स्वानुभूति का आनंदातिरेक उन्हें विह्वल एवं विभोर कर देता था और वैसी अपूर्व स्थिति में वे उस इंद्रियातीत के विषय में कुछ कह नहीं पाते थे। संत कबीर साहब ने उस दशा का वर्णन इस प्रकार किया है—

"अविगत अकल अनूपम देख्या, कहता कह्या न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूँगै जानि मिठाई॥
× × ×
आपै मैं तब आपा निरष्या, अपन पैं आपा सूक्ष्या।
आपै कहत सुनत पुनि अपना, अपन पैं आपा बूझ्या।"[1]

अर्थात् उस अव्यक्त, अखंड तथा अद्वितीय वस्तु का जो अनुभव हुआ, वह शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता। इसके लिए कोई प्रयत्न करना वैसा ही है जैसा किसी गूँगे व्यक्ति का मीठेपन के अपने स्वाद को संकेतों द्वारा बतलाना और मन-ही-मन आनंदित भी होते जाना।......उस दशा में मैंने अपने को देख लिया और मुझे आपा अपने आप सूझ गया। अपने आपका ज्ञान मुझे स्वयं कहते-सुनते ही उपलब्ध हो गया। संत रविदास के अनुसार इस दशा में पूर्ण शांतिमय संतोष की भी स्थिति आ जाती है और तब उस परमतत्त्व-विषयक भजनादि तक की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। उनका कहना है—

"गाइ गाइ अबका कहि गाऊँ, गावनहार को निकट बताऊँ॥ टेक॥
जब लग है या तन की आसा, तब लग करै पुकारा।
जब मन मिल्यौ आस नहिं तन की, तब को गावनहारा॥१॥

---

१. 'कबीर ग्रन्थावली' (का० ना० प्र० सभा), पद ६, पृ० ६०।

जब लग नदी न समुद समावै, तब लग बढ़ै हुंकारा ।
जब मन मिल्यौ राम सागर महँ, तब यह मिटी पुकारा ।।२।।
जब लग भगति मुकति की आसा, परम तत्व मुनि गावै ।।"[1] आदि ।

अर्थात् मैं बार-बार अब गाता क्या रहूँ और किसका नाम लेकर गाया करूँ । अब तो मैंने गेय वस्तु का प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया । जब तक इस शरीर की आशा बनी रही तब तक पुकार भी चलती रही । जब मन मग्न हो गया तो अब गाने वाला कौन रह जाता है । नदी जब तक समुद्र में नहीं पहुँचती तब तक वह कलकल करती व्यग्र हो बढ़ती जाती है, किन्तु जब यह मनरूपी नदी रामरूपी सागर में लीन हो गई तो इसकी पुकार भी बंद हो गई । इसलिए परमतत्त्व का श्रवण एवं ज्ञान तभी तक होता है जब तक भक्ति एवं मुक्ति की आशा बनी रहती है । संतों का रहस्यवाद प्रधानतः उनकी उपर्युक्त वर्णनशैली की ओर ही संकेत करता है और उसकी विशेषता उनके साधारण प्रतीकों के प्रयोगों में लक्षित होती है जो उनकी रचनाओं में प्रायः सर्वत्र मिला करते हैं ।

दाम्पत्य-भाव

संतों का सबसे प्रिय प्रतीक दाम्पत्य-भाव या पति-पत्नी का प्रेम जान पड़ता है । इसका प्रयोग हमारे यहाँ बहुत पहले से ही होता चला आया है । उपनिषदों तक में इसके दृष्टांत को महत्त्व दिया गया है, जैसा 'बृहदारण्यक उपनिषद' के उल्लिखित अवतरण से भी पता चलेगा । दक्षिण भारत की प्रसिद्ध भक्त कवयित्री गोदा की रचनाओं द्वारा प्रकट होता है कि उन्होंने अपने इष्टदेव को जैसे वरण-सा कर लिया था । उसे वे सदा पतिवत् मानकर ही उसकी प्रेमोपासना करती रहीं । राजस्थान की प्रसिद्ध भक्त कवयित्री मीरा-बाई की भक्ति भी उसी कोटि की थी । संत-परंपरा की बावरी साहिबा की साधना भी उसी ओर लक्ष्य करती है । इन स्त्रियों तथा पुरुष संत-कवियों में से कई एक ने उक्त प्राचीन कोरे अनुभूतिपरक प्रतीक को पति-पत्नी के स्पष्ट सम्बन्ध के रूप में भी परिणत कर लिया । उसका प्रयोग करते समय उसे मनोवेगों का रंग चढ़ाकर सजीव रूप दे दिया । फिर भी निर्गुणोपासकों एवं सगुणोपासकों में कुछ अंतर अवश्य रह गया । पहले वर्ग के साधकों की निराकारपरक भावना ने उन्हें बाह्य प्रदर्शनों के उस विस्तार से बचा लिया जिसमें पड़कर दूसरे वर्ग वाले अपने-अपने मूल उद्देश्य से बहुधा दूर हो जाया करते हैं । पहले वर्ग वालों ने जहाँ अपने प्रियतम को सर्वव्यापी मानते हुए, उसे अभेदभाव के साथ अपने भीतर अपना लेना चाहा, वहाँ दूसरे वर्गवाले उसे सब कुछ समझते हुए भी उसका अलौकिक सान्निध्य, सदा भेदभाव के साथ प्राप्त करने की अभिलाषा में मग्न रहे । अतएव, उक्त प्रतीकों की उपयोगिता जहाँ एक की रचनाओं में लगभग पूर्ववत् ही बनी रही, वहाँ दूसरे की रचनाएँ उसके सम्बंधपरक भावों से ही भर गईं और मौलिक उद्देश्य उनमें बहुत कम दीख पड़ा ।

दाम्पत्य-भाव के प्रति प्रदर्शित संतों का उपर्युक्त दृष्टिकोण बहुत कुछ सूफियों के समान था । सूफी भी अपने को निर्गुणोपासकों में ही गिना करते थे और अपने प्रेम को 'इश्क-हकीकी' अर्थात् ईश्वरीय प्रेम की संज्ञा देते थे । अपने उद्गारों के आश्रयार्थ अपने प्रेमपात्र को किसी प्रकार का व्यक्तित्व प्रदान करना, वे भी संतों की ही भाँति आवश्यक समझते थे । किन्तु इस प्रतीक की भावना का स्वरूप उनके लिए संतों से कुछ भिन्न प्रकार का था । संतों ने अपने प्रियतम की भावना पुरुष के रूप में की थी । वे अपने

---

१. रैदास जी की बानी (बे० प्रे० प्रयाग), पद ३, पृ० ३ ।

को उसकी पत्नी के रूप में मानकर उससे हिलमिल जाना चाहते थे। किंतु सूफियों ने इसके विपरीत उसे अपनी प्रियतमा बना दिया और उसकी उपलब्धि के प्रयत्न में निरत रहना अपना परम कर्त्तव्य समझा। इसके सिवाय, संतों ने जहाँ उस प्रतीक के प्रयोग केवल व्यक्तिगत रूप में अथवा उसे साधारण परिस्थितियों के ही बीच लाकर किये, वहाँ सूफियों ने उसके लिए प्रेमगाथाओं की सृष्टि की और उसके द्वारा प्रेम एवं विरह के विविध रूपों के प्रदर्शन के लिए एक विस्तृत क्षेत्र भी तैयार कर लिया। इस प्रकार संतों के इस प्रेम में जहाँ, पातिव्रत की भावना बनी रहती थी और उनकी अनुभूति की तीव्रता को तीव्रतर करने में एकांतनिष्ठा की सहायता मिलती थी, वहाँ सूफियों के पुरुष-प्रेमी के लिए केवल अपनी इच्छाशक्ति की दृढ़ता ही सहायक होती थी और पथ-प्रदर्शन के संकेत भी उसे परिचित एवं प्रोत्साहित मात्र ही कर पाते थे। उक्त दोनों बातों में संत लोग शास्त्रीय परम्परा का अनुसरण करते थे, जब कि सूफियों ने ईरान की धारणाओं को अपना आदर्श बनाया था। उन्हीं से प्रेरित होकर इन्होंने अपनी प्रतीक-सम्बन्धी भावना को स्वरूप भी दिया था।

संतों की दृष्टि में स्वभावतः एक मात्र पुरुष परमात्मा ही है और अन्य सभी उसकी पत्नियों के रूप में हैं। दादूदयाल ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

"पुरिष हमारा एक है, हम नारी बहु अंग।
जे जे जैसी ताहिसों, खेले तिसही रंग ॥५७॥"[1]

अर्थात् हम सभी का पुरुष एक मात्र वही है और हम लोग उसकी भिन्न-भिन्न लक्षणों वाली पत्नियाँ हैं। हम लोगों में से जो जिस प्रकार की है, वह उसी प्रकार उसके साथ खेल खेला करता है। संत कबीर साहब उसी एक अविनाशी को वरण करने की चर्चा करते हैं जब वे कहते हैं—

दुलहिनी गावहु मंगलचार।
हम घरि आये हो राजाराम भरतार ॥टेक॥
तन रत करि मैं मन रत करिहूं पंच तत्त बराती।
रामदेव मोरै पाहुनै आये, मैं जोवन मदमाती ॥
सरीर सरोवर वेदी करिहूं, ब्रह्म वेद उचार।
रामदेव संगि भांवरि लैहूं, धनि-धनि भाग हमार ॥
सुर तेंतीसू कौतिग आये, मुनिवर सहस अठ्यासी।
कहै कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अविनासी ॥१॥[2]

अर्थात् आत्मा को अब मंगलाचार गाने में प्रवृत्त हो जाना चाहिए, क्योंकि मेरे घट के भीतर अब स्वयं स्वामी राजाराम ही प्रकट हो गए। अब मैं अपना तन-मन अर्थात् सभी कुछ उनके प्रति अर्पित कर दूँगा और पंचतत्त्व उस दशा में मेरे लिए बराती-स्वरूप बन जायँगे। मैं अपने पाहुने राम को अपने घट में पाकर फूला न समाऊँगा और उन्मत्त-सा हो जाऊँगा। स्वामी राम के साथ प्रणय-सूत्र में बँधते समय मेरे शरीर का नाभिकमल वेदी का काम करेगा और ब्रह्मज्ञान की जागृति स्वयं वेदोच्चार का रूप

---

१. 'दादूदयाल की वाणी' (अंगवधू), पृ० ३८।

२. 'कबीर ग्रंथावली' (ना० प्र० स० संस्करण), पृ० ८७।

ग्रहण कर लेगी । मैं अपने पतिदेव के साथ भाँवरें देने में व्यस्त रहूँगा और मेरे भाग्य की सराहना होने लगेगी । उस दशा में सारे तैंतीस करोड़ देवता एवं अठासी सहस्र मुनिजन मेरे इस सम्बन्ध के सम्पन्न होने में सहयोग प्रदान करेंगे और मैं एक मात्र अविनाशी पति को वरण कर लूंगा ।

इसी प्रकार गुरु नानक देव भी लगभग उसी बात को नीचे दी हुई पंक्तियों द्वारा प्रकट करते हैं । वे कहते हैं—

"गावहु गावहु कामणी विवेक बीचारु ।
हमारे घरि आइआ जगजीवनु भतारु ।। रहाउ ।।७।।
गुरू दुआरै हमरा बीआहु जिहोआ जासहु मिलिआ तां जानिआ ।।
तिहुँ लोका महि सबदु रमिआहै आपु गइआ मनु मानिआ ।।

× × × ×

भनति नानकु सभना का पिरु एको सोई ।
जिसनो नदरि करे सा सोहागणि होई ।।१०।।"[१]

अर्थात्, हे कामिनियो ! तुम सभी लोग अब पूर्ण विवेक एवं विचारपूर्वक गान करो । मेरे घट में मेरे भर्त्ता स्वयं परमात्मा का आविर्भाव हो गया । सदगुरु के द्वार पर मेरी बिवाह-विधि पूरी हुई जिसे वही जान सकता है जो कभी उसका अनुभव कर चुका है । शब्द तो तीनों लोकों में व्याप्त है, किन्तु उसमें मन तभी लीन होता है, जब कोई उस तक पहुँच भी पाता हो ।……नानक का कहना है कि वही एक मात्र पुरुष हम सभी लोगों का प्रियतम है और वह जिस पर अपनी कृपादृष्टि डालता है, वही उसकी सोहागिन कहला सकता है ।

संतों के उक्त मिलन-वर्णनों में जीवात्मा एवं परमात्मा के क्रमश: पत्नी एवं पति के सम्बन्ध का उल्लेख पाकर यह समझ लिया जाता है कि वे इसे किसी शारीरिक या भौतिक रूप में भी स्वीकार कर रहे हैं । इस प्रकार इसमें कोई वैसी विशेषता नहीं है । परन्तु संतों की ऐसी पंक्तियों पर ध्यानपूर्वक कुछ विचार कर लेने के अनंतर यह भ्रम दूर हो जाता है और इस प्रकार के प्रतीकों का वास्तविक आशय भी प्रकट हो जाता है । उदाहरण के लिए, संत कबीर साहब के उपर्युक्त अवतरण में उनके तथा उस 'एक अविनाशी' के विवाह-सम्बन्ध का विवरण दिया गया है, उसमें बराती लोगों की चर्चा है, भाँवरें लेने का उल्लेख है । कौतुकियों का प्रसंग आया है । वेदोच्चार के रूप में कदाचित् मंत्रोच्चार एवं शाखोच्चार तक आ जाता है, किन्तु ये सभी बातें उस घटरूपी घर के भीतर ही सम्पन्न होती हैं जिसका नाभिकमल उसके लिए प्रधान वेदी का काम देता है । गुरु नानक देव का उक्त वर्णन तो इससे भी अधिक स्पष्ट जान पड़ता है । यहाँ पर भी 'घटि' का अर्थ अपने शरीर में है, 'गुरु दुआरै' का 'सदगुरु' के द्वारा होगा और 'तिहुँलोक महि सबदु रमिआ' का अभिप्राय 'सब कहीं बाजे-गाजे की धूम सी मच गई' न मान कर 'आपु गइआ मनु मानिआ' के सहारे 'स्वानुभूति' के अवसर पर विश्वव्यापी अनाहत नाद

१. 'आदिग्रन्थ' ('गुरु ग्रन्थ साहिब जी', खालसा प्रेस अमृतसर), पृ० ३५५ ।

के अपने घट में श्रवण[1] करने का ही समझा जाना चाहिए। संतों ने पति-पत्नी भाव को इस प्रकार, शुद्ध प्रतीक के रूप में ही अपनाया है। सम्भवतः उसी बात को कुछ अधिक गंभीर एवं रहस्यमय बना दिया है जो उपनिषदों में कभी, केवल एक दृष्टांत के रूप में, ब्रह्मानुभूति की तीव्रता स्पष्ट करने के लिए ही प्रयुक्त हुई थी।

इसके सिवाय, संतों की निर्गुणोपासना सदा प्रेमाभक्ति के साथ चला करती है जिसमें माधुर्य भाव को प्रधानता दी जाती है। पति-पत्नी का भाव वास्तव में, प्रेम की पराकाष्ठा का सूचक है। यही वह दशा है जिसमें उसके विशुद्ध, निःसीम एवं निरुपाधि रूप की उपलब्धि होती है जिसका अंतिम परिणाम स्वात्मार्पण द्वारा अभेद भाव की अनुभूति है। प्रेम तथा मोक्ष का स्वाभाविक सम्बन्ध है, क्योंकि दृढ़ानुराग के बिना भक्ति सम्भव नहीं, भक्ति का अंत आत्मार्पण में हो जाया करता है। आत्मनिवेदन ही क्रमशः उस अभेदभाव में भी परिणत होता है जिसकी अनुभूति को संतों ने जीवन्मुक्त की दशा माना है। वैष्णव भक्तों ने प्रेमाभक्ति के लिए पति-पत्नी भाव को स्वकीया से कहीं अधिक परकीया प्रेम के रूप में अपनाने की चेष्टा की है। इसी कारण श्रीकृष्ण की पत्नी रुक्मिणी से कहीं अधिक उनकी प्रेमिका राधा को महत्व प्राप्त है तथा 'गोपीभाव' को उनके यहाँ सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करने की भी परंपरा है। परन्तु संतों के यहाँ परकीया भाव को अपनाना उतना आवश्यक नहीं समझा गया है। इसका कारण यह हो सकता है कि परकीया नायिका अपने प्रियतम की ओर आकृष्ट होकर उसके प्रति आत्मीयता का भाव स्थापित करना तथा उसका सान्निध्य प्राप्त करना चाहती है। वहाँ ये बातें जीवात्मा एवं परमात्मा की मौलिक अभिन्नता के कारण सन्तों के लिए स्वयंसिद्ध सत्य के रूप में पहले से ही स्वीकृत रहा करती हैं। ऐसी दशा में, वैसे किसी सम्बन्ध की स्थापना की आवश्यकता ही नहीं रहा करती। पति-पत्नी भाव का उपयोग वे इसी कारण, स्वानुभूति की तीव्रता के लिए ही किया करते हैं जो उनके मंतव्यानुसार किसी सती-साध्वी स्त्री को अपने पति के प्रति प्रदर्शित की गई एकांतनिष्ठा एवं आत्म-त्याग के द्वारा स्वकीया रूप में भी समुचित प्रकार से सिद्ध हो पाता है।

उपर्युक्त दाम्पत्य-भाव अथवा गोपीभाव को बहुधा 'मधुररस' की संज्ञा दी जाती है। उसका निष्पन्न होना शृंगाररस के विभाव, अनुभावादि के ही समकक्ष अंगों पर निर्भर समझ लिया जाता है। परन्तु इन दोनों में स्वभावतः महान अंतर भी लक्षित होता है। शृंगार रस की अनुभूति किसी लौकिक वा सांसारिक वातावरण में की जाती है, जहाँ मधुररस का सम्बन्ध किसी अलौकिक वा इन्द्रियातीत जगत् के साथ रहता है। मधुररस में, इसी कारण, कामवासना का होना सम्भव नहीं समझा जाता, जहाँ शृंगार-रस की भावना तक उसमें ओतप्रोत रहा करती है। शृंगाररस द्वारा व्यक्त किये गए प्रेम में आतुरता हो सकती है और वह विवशता की परिस्थितियों में कातरता से आर्द्र भी बन जा सकती है, किन्तु मधुररस में जिस 'आर्त्ति' वा गूढ़ प्रेम का स्फुरण होता है, वह उससे कहीं भिन्न स्तर की अनुभूति है। वैष्णव भक्तों ने दाम्पत्य-भाव को राधा अथवा गोपियों के सम्बन्ध में उदाहृत कर उसे व्यावहारिक जगत् के बहुत निकट ला दिया है जिस कारण हमें उसके वास्तविक शुद्ध रूप का बहुधा परिचय नहीं मिल पाता। श्रीकृष्ण का अनुपम सौंदर्य, उनकी प्रेमिकाओं का परकीयापन, उनके आमोद-प्रमोद एवं हास-विलास की विविध चेष्टायें तथा उनके विरहजन्य विलापादि जैसी बातें उक्त भाव पर एक रंगीन आवरण-सा डाल देती हैं जो उसके मौलिक तथ्य को ढँक लेता है। फलतः गूढ़ माधुर्य की

१. श्रवन बिना धुनि सुनय, नैन बिन रूप निहारय।

अनुभूति के बदले हमें अधिकतर बाह्य 'शृंगार' का परिचय मिलने लगता है और सर्व-साधारण के विषयासक्त मन का उधर लुभा कर बहक जाना स्वाभाविक-सा हो जाता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्ति-काल के अनंतर शृंगाररस-प्रधान रीतिकाल का आना भी मुख्यतः इसी कारण संभव हुआ था।

साहित्यशास्त्र के अनुसार केवल नव ही रस माने जाते हैं जिनमें मधुररस नाम का कोई भी नहीं है। इस रस की चर्चा बहुधा भक्ति-काव्य के मर्मज्ञ लोग करते हैं। वे ही इसे बहुत बड़ा महत्व भी दिया करते हैं। उन्होंने 'भक्तिरस' नाम का भी एक पृथक् रस माना है जिसमें किसी 'देव' विषयक रति को उसका स्थायीभाव स्वीकार किया गया है। इस प्रकार मधुररस से वह वस्तुतः भिन्न नहीं समझा जा सकता। फिर भी 'भक्ति' शब्द के अर्थ में, अपने से बड़े के प्रति प्रदर्शित एक प्रकार की श्रद्धा का भाव भी मिला रहता है जो मधुररस के लिए उतना आवश्यक नहीं है। मधुररस को शुद्ध शांतरस के रूप में स्वीकार करना भी उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि शांतरस का स्थायीभाव 'निर्वेद' समझा जाता है जो कोरे वैराग्य तथा उदासीनता का द्योतक होने के कारण उसके लिए वैसा उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। हाँ, शांतरस के स्थायीभाव के लिए यदि 'शम' या 'शांति' शब्द का प्रयोग किया जा सके तो हम उसे मधुररस के प्रतिकूल नहीं ठहरा सकेंगे। मधुररस के अंतर्गत रतिभाव के सुख और आह्लाद की मात्रा आनन्द के स्तर तक पहुँच जाती है जो आत्मतृप्ति-जनित सन्तोष एवं पूर्ण शांति की दशा में ही संभव है। 'रस' को हमारे वैदिक साहित्य में 'रसो वैसः' तथा 'रस ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' कहकर पूरा महत्व दिया गया था और ब्रह्मानन्द अथवा आत्मानन्द को सर्वोत्कृष्ट भाव ठहराया गया था। किन्तु प्राचीन साहित्यज्ञों ने अपने यहाँ उसे कोई स्थान देना उचित नहीं समझा। उन्होंने केवल आठ रसों की ही कल्पना की और शांतरस नाम का नवाँ रस अपने निर्वेद स्थायीभाव के साथ कहीं पीछे चलकर ही अपनाया गया।

रस

'संतकाव्य' के अन्तर्गत प्रबंधमयी रचनाओं की कमी है जिस कारण उसमें किसी रस की पूर्ण निष्पत्ति के उदाहरणों का अधिक संख्या में पाया जाना संभव नहीं है। किन्तु संतों की फुटकर बानियों में भी हमें ऐसे अनेक स्थल मिलेंगे जिनमें किसी-न-किसी रस की अभिव्यक्ति का पता लगाया जा सकता है। संतकाव्य स्वभावतः शांतरस-प्रधान है। उसके अनंतर शृंगाररस का नाम आता है जो अधिकतर मधुररस के रूप में ही दीख पड़ता है। अन्य रसों में से वीर, बीभत्स एवं अद्भुत के भी उदाहरण अच्छी संख्या में मिलते हैं। करुण, हास्य तथा रौद्र और भयानक का प्रायः अभाव-सा है। रसों के लिए उदाहरण इस प्रकार दिये जा सकते हैं—

शांतरस

(१) **रे यामैं क्या मेरा क्या तेरा,**
लाजन मरहि कहत घर मेरा ॥टेक॥
चारि पहर निसि भोरा, जैसें तरवर पंषि बसेरा।
जैसें बनियें हाट पसारा, सब जग सो सिरजनहारा॥

ये ले जारे वे ले गाड़े, इनि दुखिइनि दोऊ घर छाड़े ।।
कहत कबीर सुनहु रे लोई, हम तुम्ह विनसि रहैगा सोई ।। १०३ ।।[१]

(२) कहा करौं कैसें तिरौं, भौजल अति भारी ।
तुम्ह सरणागति केसवा, राखि राखि मुरारी ।। टेक ।।
घर तजि बनखंडि जाइये, खनि खइये कंदा ।
विषै विकार न छूटई, ऐसा मन गंदा ।।
विष विषिया की वासना, तजौं तजी न जाई ।
अनेक जतन करि सुरझिहौं, फुनि-फुनि उरझाई ।।
जीव अछित जोवन गया, कछू कीया न नीका ।
यहु हीरा निरमोलि का, कौड़ी पर बीका ।
कहैं कबीर सुनि केसवा, तूं सकल वियापी ।
तुम्ह समानि दाता नहीं, हमसे नहिं पापी ।। १७८ ।।[२]

(३) मेरौ देह मेरौ गेह मेरौ परिवार सब,
मेरौ धन माल मैं तौ बहुविधि भारौ हौं ।
मेरौ सब सेवक हुकम कोउ मेटै नाहिं,
मेरी जुवती कौ मैं तो अधिक पियारौ हौं ।।
मेरौ वंश ऊंचौ मेरे बाप दादा ऐसे भये,
करत बड़ाई मैं तो जगत उज्यारौ हौं ।।
सुन्दर कहत मेरौ मेरौ करि जानै सठ,
ऐसी नहि जानै मैं तौ काल हीं कौ चारौ हौं ।। १५ ।।[३]

(४) तू ठगिकै धन और कौ ल्यावत, तेरेउ तौ घर औरइ फोरै ।
आगि लगै सब ही जरि जाइ सु, तूं दमरी दमरी करि जोरै ।।
हाकिम कौ डर नाहिन सूझत, सुन्दर एकहि बार निचोरै ।
तू षरचै नहिं आपुन षाइ सु तेरी हि चातुरि तोहि लै बोरै ।। २५ ।।[४]

(५) कै यह देह धरौ वन पर्वत, कै यह देह नदी मैं बहौ जू ।
कै यह देह धरौ धरती महिं, कै यह देह कृशान दहौ जू ।।
कै यह देह निरादर निंदहु, कै यह देह सराहि कहौ जू ।
सुन्दर संशय दूरि भयौ सब, कै यह देह चलौ कि रहौ जू ।। ३ ।।[५]

(६) ज्ञान को बान लगो धरती, जन सोवत चौंकि अचानक जागे ।
छूटि गयो विषया विष बंधन, पूरन प्रेम सुधारस पागे ।

---

१. 'कबीर ग्रंथावली' (का० ना० प्र० सभा), पृ० १२१ ।

२. वही, १४८ ।

३. सुन्दर ग्रंथावली, पृ० ४१३ ।

४. सुन्दर ग्रंथावली, पृ० ४०३ ।

५. 'सुन्दर ग्रंथावली' पृ० ६४३ ।

भावत बाद विवाद निखाद न, स्वाद जहां लगि सो सब त्यागे।
मूंदि गईं अंखियां तबतें, जबतें हिय में कछु हेरन लागे ।। ९ ।।[1]

(७) अजब तमासा देखा तेरा। ताते उदास भया मन मेरा ।। १ ।।
उतपति परलय नित उठ होइ। जग में अमर न देखा कोई ।। २ ।।
माटी के पुतरे माया लाई। कोई कहे बहिन कोई कहै भाई ।। ३ ।।
झूठा नाता लोग लगावें। मन मेरे परतीत न आवें ।। ४ ।।
जबहीं भेजे तबहि बुलावें। हुकुम भया कोई रहन न पावें ।। ५ ।।
उलटत पलटत जग की अंचली। जैसे फेरे पान तमोली ।। ६ ।।
कहत मलूक रह्यो मोहि घेरे। अब माया के जाउं न नेरे ।। ७ ।।[2]

(८) बनिया समुझ के लाद लदनियाँ ।। टेक ।।
यह सब मीत काम न आवें, संग न जाइ परधनियां ।। १ ।।
पांच मने की पूंजी राखत, होइगे गर्व गुमनियाँ ।। २ ।।
करिले भजन साध की सेवा, नामे से लाव लगनियां ।। ३ ।।
सौदा चाहे तो यांही करिले, आगे न हाट दुकनियां ।। ४ ।।
पलटुदास गोहराय कहत हैं, आगे देस निरपनियाँ ।। ५ ।। ६९ ।।[3]

(९) टोप टोप रस आनि मक्खी मधु लाइया।
इक लै गया निकारि सबै दुख पाइया ।।
मोको भा वैराग्य ओहिको निरखि कै।
अरे हाँ, पलटू माया बुरी बलाय तजा मैं परखि कै ।। ४८ ।।[4]

इन अवतरणों में से १, ३ एवं ७ में प्रदर्शित सांसारिक सम्बन्ध की अनस्थिरता एवं नश्वरता द्वारा निर्वेद का; ४, ५ एवं ६ के अपरिग्रह एवं अनासक्ति द्वारा वैराग्य का; ६ तथा ८ के ज्ञानोदय एवं चेतावनी द्वारा आत्मज्ञान का तथा २ के आत्मनिवेदन द्वारा जो शम का भाव व्यक्त किया गया दीख पड़ता है, उसके कारण इनमें शांतरस की अनुभूति अच्छी मात्रा में मिल जाती है।

शृंगार (मधुर) रस

संयोग

(१) अब तोहि जांन न देहूं राम पियारे,
ज्यूं भावें त्यूं होइ हमारे ।। टेक ।।
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये, भाग बड़े घरि बैठे आये ।।
चरननि लागि करौं बरियाई, प्रेम प्रीति राखौ उरझाई ।।
इत मनमंदिर रहौ नित चौषै, कहै कबीर परहु मति धोखै ।। ३ ।।[5]

---

१. 'धरनीदास की बानी', पृ० ३३ ।
२. 'मलूकदास की बानी', पृ० १२-१३ ।
३. 'पलटू साहिब की बानी', भाग ३, पृ० ३८ ।
४. 'पलटू साहिब की बानी', भाग २, पृ० ८५ ।
५. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० ८७ ।

(२) राम रंगीलै कै रंगराती ।
परमपुरुष संग प्राण हमारौ, मगन गलित मद माती ।। टेक ।।
लाग्यो नेह नाम निर्मल सों, गिनत न सीली ताती ।
डगमग नहीं अडिग उर बैठी, फिर धरि करवत काती ।।
सब विधि सुखी राम ज्यूं राखै यहु रस रीति सुहाती ।
जन रज्जब धन ध्यान तुम्हारो, बेर-बेर बलि जाती ।। २ ।।[1]

(३) बहुत दिनन पिय बसल बिदेसा ।
आजु सुनल निज अवन संदेसा ।। १ ।।
चित चितसरिया मैं लिहलों लिखाई ।
हृदय कमल धइलों दियना लेसाई ।। २ ।।
प्रेम पलंग तंह धइलों बिछाई ।
नख सिख सहज सिंगार बनाई ।। ३ ।।
मन हित अगुमन दिहल चलाई ।
नयन ध इल दोउ दुअरा बैसाई ।। ४ ।।
धरनी धनि पल पल अकुलाई ।
बिनु पिया जिवन अकारथ जाई ।। ५ ।।[2]

वियोग

(१) कब देखूं मेरे राम सनेही,
जा बिन दुख पावै मेरी देही ।।टेक।।
हूं तेरा पंथ निहारूं स्वामी, कबर मिलहुगे अंतरजामी ।
जैसे जल बिन मीन तलपै, ऐसे हरि बिन मेरा जियरा कलपै ।
निस दिन हरि बिन नींद न आवै, दरस पियासी क्यूं सचुपावै ।
कहै कबीर अब बिलंब न कीजै, अपनौ जानि मोहि दरसन दीजै ।। २२४ ।।[3]

(२) अजहूं न निकसै प्रांण कठोर ।
दर्सन बिना बहुत दिन बीते, सुन्दर प्रीतम मोर ।। टेक ।।
चारि पहर चारयौ जुग बीते, रैनि गंवाई भोर ।
अवधि गई अजहूं नहि आये, कतहूं रहे चितचोर ।। १ ।।
कबहूं नैन निरषि नहि देषे, मारग चितवत तोर ।
दादू अैसैं आतुर विरहिणि, जैसैं चंद चकोर ।। २ ।।[4]

(३) आव हमारे आंगणे, गृह त्रिभुवन राई ।
तुम बिन मैं बिलखी फिरूं, अब रह्यौ न जाई ।। टेक ।।
कुल करणी सगली तजी, हरि आनन्द मांही ।
तन तजबे की बेर है, मिलिये क्यूं नाहीं ।। १ ।।

---

१. 'रज्जबजी की बानी', पद १४, पृ० ४२५ ।
२. 'धरनीदासजी की बानी', पद २, पृ० १ ।
३. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० १६४ ।
४. 'दादूदयाल की बानी', पद ६, पृ० ३५६ ।

आरति ऊणा रति घणी, मेरा मन मांही ।
दरस परस की बेर है, पति छांडौ नाहीं ।। २ ।।
सति पिछाणे साचकूं, मनां न आने हीन ।
मन आत्मा एकं मतं, तुम सूं ल्यौलीन ।। ३ ।।
जन हरिदास हरिसूं कहै, तुम बिन तन छीजं ।
प्रेम पियाला प्याय के, अपणा करि लीजं ।। ४ ।।[1]

(४) प्रेम बान जोगी मारल हो, कसकं हिया मोर ।। टेक ।।
जोगिया के लालि लालि अंखियां हो, जस कवल के फूल ।
हमरी सुरुख चुनरिया हो, दूनो भये तूल ।। १ ।।
जोगिया के लेउ मिगछलवा हो, आपन पट चीर ।
दूनौ के सियब गुदरिया हो, होइ जाब फकीर ।। २ ।।
गगना में सिंगिया बजाइन्हि हो, ताकिन्हि मोरि ओर ।
चितवन में मन हरि लियो हो, जोगिया बड़ चोर ।। ३ ।।
गंग जमुन के बिचवां हों, बहै झिरहिर नीर ।
तेहि ठैयां जोरल सनेहिया हो, हरि लै गयो पीर ।। ४ ।।
जोगिया अमर मरै नहिं हो, पुजवल मोरी आस ।
करम लिखा वर पावल हो, गावै पलटूदास ।। ५ ।।[2]

इन अवतरणों में से संभोग वा संयोग शृंगारसूचक जो पद हैं, उनमें नायिका के मिलनजनित संताप एवं उल्लास के भाव भरे हैं। उनमें से तीसरे में किसी आगमिष्यत्पतिका वासकसज्जा का भी उदाहरण दीख पड़ता है। इसी प्रकार विप्रलंभ वा वियोगसूचक शेष चारों पदों में से जहाँ-जहां दूसरे में विरह-व्यथा का वर्णन है, वहाँ १ तथा ३ में उसी के सम्बन्ध में आत्म-निवेदन है। उनमें से चौथे, अर्थात् अंतिम पद के रचयिता ने विरहिणी की मधुर स्मृतियों का वर्णन देकर अंत में अपने मिलन की भी सूचना दे दी है।

संतों की रचनाओं में जहाँ वीररस का भाव दीख पड़ता है, वहाँ उनकी विशेषता के अनुसार युद्ध का रूपक या तो अपने मन एवं इंद्रियों के दमनार्थ उनके विरुद्ध संग्राम छेड़ने के सम्बन्ध में लक्षित होता है अथवा भीतरी योग-साधना-विषयक प्रयासों के प्रसंग में। कबीर साहब ने अनेक स्थानों पर जो 'करि इंद्रयांसू झूझ', 'काम क्रोधसू झूझणां' एवं 'सुमिरण सेलसंवाहि' आदि संकेतों के प्रयोग किये हैं, वे इसी कारण आध्यात्मिक जीवन के उद्देश्य से किये गए विविध प्रयत्नों को ही सूचित करते हैं। जैसे—

वीररस

(१) गगन दमामा बाजिया, पड्या निसानैं घाव ।
खेत बुहारया सूरिवैं, मुझ मरणे का चाव ।। ६ ।।[3]

---

१. 'हरिपुरुष जी की बानी', पद १, पृ० २०५।
२. 'पलटू साहिब की बानी', भाग ३, पद ४२, पृ० २२-२३।
३. 'कबीर ग्रंथावली', सा० ६, पृ० ६८।

कबीर मेरे संसा को नहीं, हरिसंग लागा हेत ।
काम क्रोध सूं झूझणां, चौड़े मांड्या खेत ।। ७ ।।[१]

(२) तड़फड़ै सूर नीसान घाई पड़ै, कोट की बोट सब छोड़ि चलै ।
स्यांम के काम कौ लोट अरु पोटह्वै, निकसि मैदान में चोट घालै ।
कड़कड़ै वीर गजराज हय हड़हड़ै, धड़हड़ै धरनि ब्रह्मांड गाजै ।
झलहलै सार हथियार अति धड़हड़ै देषिता दूर भकभूरि भाजै ।
तुपक तरवारि अरु सेल टूक-टूक ह्वै, बाँण की तांण चहुँ फेर होई ।
गहर घमसांण मैं कहर धीरज धरै, हहर भाजै नहीं सुभट होई ।
विसमु सब पेलि झड़झेलि सनमुख लड़ै, मर्द कौ मारि करि गर्द मेलै ।
पंच पच्चीस रिपु रीस करि निर्दलै, सीस भुइ मेल्हि को कमध षेलै ।
अगम को गमि करै दृष्टि उलटो धरै, जीति संग्राम निज धाम आवै ।
दास सुन्दर कहै मौज मोही लहै, रीझि हरि राई दरसन दिषावै ।[२]

यहाँ पर 'गगन', 'दमामा' आदि शब्दों के प्रयोग काया के भीतर वर्तमान अवयवों एवं 'शब्दों' के लिए ही किये गए हैं। दूसरे पद में उसके रचयिता ने वीर रस-सूचक तथा पुरुषा वृत्ति वाले शब्दों के भी प्रयोग अच्छी मात्रा में किये हैं।

वीभत्सरस

(१) चलत कत टेढ़ी टेढ़ौरे ।
नऊं दुवार नरक धरि मूंदे, तूं दुरगंधि कौ बेढौरे ।। टेक ।।
जे जारै तो होइ भसम तन, रहित किरम जल खाई ।
सूकर स्वांन काग कौ भाखिन, तामैं कहा भलाई ।।
फूटे नैन हिरदै नांहि सूझै, मति एकै नहिं जांनी ।
माया मोह ममता सूं बांध्यौ, बूड़ि मुवौ बिन पांनी ।।
बारू के घरवा में बैठो, चेतत नहीं अयांना ।
कहै कबीर एक भगति बिन, बूड़े बहुत सयांना ।। ३११ ।।[३]

(२) जा शरीर मांहि तूं अनेक सुख मानि रह्यौ,
ताही तूं विचार यामैं कौन बात भली है ।
मेद मज्जा मांस रग रगनि मांहि रकत,
पेट हू पिटारी सी मैं ठौर ठौर मली है ।।
हाड़नि सौं मुख भरचौ हाड़ ही के नैन नाक,
हाथ पांव सोऊ सब हाड़ ही की नली है ।
सुन्दर कहत याहि देषि जिनि भूलै कोइ ।
भीतरि भंगार भरि ऊपर तें कली है ।। २ ।।[४]

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', सा० ७, पृ० ६८ ।
२. 'सुन्दर ग्रंथावली', पद ४, पृ० ८८१ ।
३. 'कबीर ग्रंथावली', पद ३११, पृ० १९३ ।
४. 'सुन्दर ग्रंथावली', पद २, पृ० ४३६ ।

(३) उदर मैं नरक नरक अधद्वारनि मैं,
कुचनि में नरक नरक भरी छाती है।
कंठ मैं नरक गाल चिबुक नरक बिंब,
मुख मैं नरक जीभ लारहू चूआती है॥
नाक मैं नरक आंषि कान में नरक बहै,
हाथ पाव नख शिख नरक दिषाती है।
सुन्दर कहत नारी नरक कौ कुंड यह,
नरक मैं जाइ परै सो नरक पाती है॥ ३॥[1]

इन अवतरणों में से प्रथम दो में मानव-शरीर के प्रति जुगुप्सा का भाव व्यंजित है और उसके लिए अधिक ममत्व दिखलाने वालों को चेतावनी है। इसी प्रकार तीसरी रचना के अंतर्गत नारी के अंग का कुंडवत् बतलाकर उसमें तटस्थ बने रहने की ओर संकेत है।

अद्भुतरस

(१) एक अचंभा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई॥ टेक॥
पहले पूत पीछै भई माइ, चेला कै गुर लागै पाइ॥
जल की मछली तरवर ब्याई, पकड़ि बिलाई मुरगै खाई।
बैलहि डारि गूंनि घरि आई, कुत्ता कूं लै गई बिलाई॥
तलिकरि साषा ऊपरि करि मूल, बहुत भांति जड़ लागे फूल।
कहै कबीर या पद को बूझै, ताकूं तीन्यूं त्रिभुवन सूझै॥११॥[2]

(२) भाई रे बाजीगर नट षेला, ऐसै आपै रहै अकेला॥ टेक॥
यहु बाजी षेल पसारा, सब मोहे कौतिग हारा।
यहु बाजी षेल दिषावा, बाजीगर किनहूं न पावा॥ १॥
इहि बाजी जगत भुलाना, बाजीगर किनहूं न जाना।
कुछ नाहीं सो पेषा, है सो किनहूं न देषा॥ २॥
कुछ ऐसा चेटक कीन्हा, तन मन सब हरि लीन्हा।
बाजीगर भुरकीवाही, काहूपै लषी न जाई॥ ३॥
बाजीगर परकासा, यहु बाजी झूठ तमासा।
दादू पावा सोई, जो इहि बाजी लिपत न होई॥ ४॥[3]

इन दोनों उदाहरणों में ऊटपटांग अथवा अलौकिक वर्णनों के द्वारा पाठक या श्रोता के हृदय में विस्मय उत्पन्न करने की चेष्टा स्पष्ट है। पहला पद उस कोटि में भी आता है जिसे उलटबाँसी की संज्ञा दी जाती है। इसका वास्तविक अभिप्राय इसमें उपलब्ध विविध प्रतीकों के पीछे छिपी वस्तुओं को भलीभाँति समझ लेने पर ही प्रकट हो पाता है। उस पद का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है—क्योंकि आश्चर्य की बात है कि सिंह खड़ा-खड़ा गाय को चरा रहा है (अर्थात् स्थिर ज्ञान द्वारा अनुप्राणित वाणी

---

१. 'सुन्दर ग्रंथावली', पद ३, पृ० ४३८।
२. 'कबीर ग्रंथावली', पद ३११, पृ० १६३।
३. 'दादूदयाल की बानी', पद ३०६, पृ० ४८८।

उचित रूप में स्फुरित हुआ करती है), पुत्र का जन्म हो चुकने पर माता का आविर्भाव हुआ (अर्थात् जीव का शुद्ध रूप माया द्वारा परिच्छन्न होने के पूर्व विद्यमान था), चेला के पैरों पर गुरु माथा टेक रहा है (अर्थात् निर्मल हो गए हुए चित्त के प्रति शब्द स्वयं आकृष्ट हो जाता है अथवा मन स्वयं वशीभूत हो जाता है), जल में रहने वाली मछली ने वृक्ष पर जाकर अंडे दिये (अर्थात् मूलाधार के निकट वर्तमान कुंडलिनी मेरुदंड के ऊपर जाकर फलप्रद सिद्ध हुई), बिल्ली को पकड़कर मुर्गे ने खा लिया (अर्थात् ज्ञानोपलब्धि के हो जाने पर मन दुर्नीति को नष्ट कर देता है या सर्वथा त्याग देता है), बैल को बाहर छोड़कर गून स्वयं घर पर लौटा आई (अर्थात् स्वरूप की सिद्धि हो जाने के पहले से ही शरीर के प्रति उपेक्षा का भाव आ गया), कुत्ते को बिल्ली ले भागी (अर्थात् अज्ञानी पुरुष को माया ने बहका लिया), शाखा नीचे की ओर हो गई और जड़ ऊपर चली गई (अर्थात् प्राणों के ऊपर की ओर चढ़ाये जाते ही इंद्रियाँ वश में आ गईं अथवा सृष्टि का मूल ऊपर की ओर है और उसका विस्तार नीचे की ओर है) तथा उनमें अनेक प्रकार के फल-फूल भी लग गए (अर्थात् सुषुम्ना के अन्तर्गत षट्चक्रों का अस्तित्व है)। कबीर का कहना है कि जो कोई इस पद के रहस्य को जान लेता है, उसे त्रिभुवन की सारी बातें स्पष्ट हो जाती हैं।

अलंकार

संतों की रचनाओं में जिस प्रकार विभिन्न साहित्यिक रसों का स्वाद मिल जाता है, उसी प्रकार उनमें अनेक अलंकारों की भी छटा दीख पड़ती है। संतों को अपने गूढ़ विषयों का परिचय देते समय प्रतीकों का सहारा लेना आवश्यक था। उन्हें इस बात की भी आवश्यकता थी कि जिन व्यक्तियों को समझने के लिए वे अपने पद्य लिखा या कहा करते थे, वे उनके भावों को भलीभाँति हृदयंगम कर सकें। इस कारण वे अपने उद्गार इस प्रकार व्यक्त करते थे जिसमें स्पष्टीकरण के साथ-साथ रोचकता का भी समावेश हो जाया करता था। तदनुसार अलंकारों के प्रयोग उनके पद्यों में बहुधा आपसे आप हो जाया करते थे। फिर कुछ संतों की रचनाओं में ऐसी शैली का व्यवहार जानबूझ कर किया गया भी दीख पड़ता है और कहीं-कहीं वह बनावटी तक-सा हो गया। ऊँची कोटि के संतों में उपर्युक्त प्रवृत्ति का पाया जाना स्वाभाविक हो सकता है और भलीभाँति पढ़े-लिखे संतों ने ऐसे प्रयोग समझ-बूझ कर भी किये होंगे। किन्तु साधारण कोटि के व्यक्तियों ने जहाँ आदर्श संतों का अनुकरण इन बातों में भी करना चाहा है, वहाँ वे लोग उतने सफल नहीं हो सके हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास में जिसे रीतिकाल (सं० १७००-१९००) कहते हैं, उस समय पद्यों की रचना-शैली अधिक अलंकृत हो चली थी। उस युग में भक्ति एवं वीरता जैसे विषयों पर लिखी जाने वाली कविताओं में भी अलंकारों के प्रयोग प्रायः अनिवार्य हो गए थे। अतएव उस काल के संतों ने वैसी रचना-शैली का व्यवहार उस प्रचलन के अनुसार भी किया। उनमें से जो पंडित एवं साहित्य-मर्मज्ञ थे, उन्होंने काव्यकला प्रदर्शित करने के उद्देश्य से चित्रकाव्यों तक की रचनाएँ कर डालीं।

फिर भी संत-काव्य के अन्तर्गत अधिकतर केवल उन्हीं अलंकारों के प्रयोग दीख पड़ते हैं जो अर्थालंकारों में गिने जाते हैं। वे संतों की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति में स्वभावतः सहायक होने के योग्य हैं। संतों का प्रमुख वर्ण्य-विषय 'सत्' नाम की वह वस्तु है जो 'इन्द्रियगम्य' न होने के कारण सर्वथा अनिर्वचनीय-सी कही जा सकती है। उस वस्तु की वे प्रत्यक्ष अनुभूति कर चुकने का दावा करते हैं। वे यहाँ तक कह डालते हैं कि

जो कोई भी चाहे वह स्वयं अपने प्रयत्नों द्वारा उस दशा तक पहुँच सकता है। इस कारण अपने अत्यंत गूढ़ विषय का परिचय वे अधिक-से-अधिक सरलता के साथ देने के प्रयत्न करते हैं और अपनी साधनाओं एवं अनुभूतियों के स्पष्ट-से-स्पष्ट विवरण प्रस्तुत कर दूसरों से भी उनसे लाभ उठाने का अनुरोध करते हैं। इसके लिए वे एक अमूर्त वस्तु को भी स्वभावतः मूर्त रूप प्रदान कर देते हैं, अन्तर्निहित साधनाओं को प्रत्यक्ष बना देने के लिए प्रतीकों के प्रयोग करते हैं और अपनी निजी अनुभूति की अस्फुट अभिव्यक्ति को बोधगम्य कराने की चेष्टा में दृष्टांतों का सहारा लेने लगते है। उन्होंने रूपकों के प्रयोग कदाचित् सबसे अधिक किये हैं और जहाँ उन्हें भी असमर्थ पाया है, वहाँ विभावना से काम लिया है। उदाहरणों के प्रयोग उन्होंने भलीभाँति समझाने के लिए किये है। 'यमक' एवं 'अनुप्रास' को अपने आनन्दातिरेक में आकर स्थान दे दिया है। फिर भी संतों की रचनाओं में अन्य कई अलंकारों का भी समावेश हो गया है, जैसा कि नीचे के कुछ अवतरणों द्वारा विदित हो जायगा।

(क) अर्थालंकार

रूपक

(१) संतो भाई आई ग्यांन की आंधी ।
भ्रम की टाटी सबै उडाणी, माया रहै न बांधी ।। टेक ।।
हित चित की द्वै थूंनी गिरानी, मोह बलींडा टूटा ।
त्रिस्ना छांनि परी घर ऊपरि, कुबुधि का भांडा फूटा ।।
जोग जुगति करि संतौ बांधी, निरचू चुवै न पांणी ।
कूड़ कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जांण।।
आंधी पीछै जो जल बूठा, प्रेम हरी जन भींना ।
कहै कबीर भान के प्रगटें, उदित भया तम षीना ।। १६ ।।[1]

(२) अबकी लगी खेप हमारी ।
लेखा दिया साह अपने को, सहजै चोठी फारी ।। १ ।।
सौदा करत बहुत जुग बीते, दिन दिन टूटी आई ।
अबकी बार बेबाक भये हम, जम की तलब छोड़ाई ।। २ ।।
चार पदारथ नफा भया मोहि, बनिजै कबहुँ न जइहौं ।
अब डहकाय बलाय हमारी, घरही बैठे खइहौं ।। ३ ।।
वस्तु अमोलक गुप्तं पाई, ताती वायु न लाओं ।
हरि हीरा मेरा ज्ञान जौहरी, ताही सों परखाओं ।। ४ ।।
देव पितर औ राजा रानी, काहू से दीन न भाखौं ।
कह मलूक मेरे रामैं पूंजी, जीव बराबर राखौं ।। ५ ।।[2]

(३) घटा गुरू आसोज की, स्वाति बूंद सत बैन ।
सीप सुरति सरधा सहित, तहँ मुक्ता मन ऐन ।। १३५ ।।[3]

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', पद १६, पृ० ९३।
२. 'मलूकदास की बानी', पद ५, पृ० ८।
३. 'रज्जबजी की बानी', सा० १३५, पृ० ११।

(४) बिरह केतकी पैठि करि, मन मधुकर ह्वै नाश।
रज्जब भुगतै कुसुम बहु, मरै न तिनकी बास ॥ ४३ ॥[1]

(५) घट दीपक बाती पवन, ज्ञान जोति सु उजास।
रज्जब सींचै तेल लै, प्रभुता पुष्टि प्रकाश ॥ ७६ ॥[2]

(६) मन हस्ती मैला भया, आप वाहि सिर धूरि।
रज्जब रज क्यूं ऊतरे, हरिसागर जल दूरि ॥ १ ॥[3]

(७) तूमा तन मन रूप है, चेतनि आव भराय।
पीवत कोई संत जन, अमृत आपु छिपाय ॥ ७ ॥[4]

(८) बखतर पहिरे प्रेम का, घोड़ा है गुरु ज्ञान।
पलटू सुरति कमान लै, जीति चले मैदान ॥ ४० ॥[5]

(९) झूठे सुखकौं सुख कहै, मानत है मन मोद।
खलक चवीणां काल का, कुछ मुख में कुछ गोद ॥ १ ॥[6]

(१०) माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इवैं पडंत।
कहै कबीर गुरु ग्यान थैं, एक आध उबरंत ॥ २० ॥[7]

इन उद्धरणों में से प्रथम ८ में सांगरूपक तथा शेष २ में अभेदरूपक के उदाहरण स्पष्ट हैं। कुछ संतों ने कभी-कभी किसी कथा या घटना का सहारा लेकर भी रूपक के प्रयोग किये हैं, जैसे संत हरिदास निरंजनी ने अपनी 'ब्याहलो' नाम की रचना में कृष्ण द्वारा रुक्मिणी के परिणीत किये जाने की कथा को साधक के 'रामराई' द्वारा अपना लिये जाने की घटना में घटाया है।

विभावना

(१) जाइ पूछौ गोविंद पढ़िया पंडिता, तेरा कौन गुरू कौन चेला।
अपणे रूपकौं आपहिं जाणै, आपैं रहै अकेला ॥ टेक ॥
बांझ का पूत बाप बिन जाया, बिन पांऊ तरवर चढिया।
अस बिन पाखर गज बिन गुड़िया बिन षंडै संग्राम जुडिया।
बीज बिन अंकूर पेड़ बिन तरवर, बिन साषा तरवर फलिया।
रूप बिन नारी पहुप बिन परमल, बिन नीरं सरवर भरिया।
देव बिन देहुरा पत्र बिन पूजा, बिन पाँषां भंवर बिलंबिया।
सूरा होइ परम पद पावै, कीट पतंग होइ सब जरिया ॥
दीपक बिन जोति जोति बिन दीपक, हद बिन अनाहद सबद बागा।
चेतना होइ सो चेति लीज्यौ, कबीर हरि के अंगि लागा ॥ १५८ ॥[8]

१-३. 'रज्जबजी की बानी', सा० ४३, पृ० ३३; सा० ७६, पृ० ४८ और सा० १, पृ० ३२७।
४. 'भीखा साहब की बानी', सा० ७, पृ० ६६।
५. 'पलटू साहब की वानी', सा० ४०, पृ० १०४।
६-७. 'कबीर ग्रंथावली', सा० १, पृ० ७१ और सा० २०, पृ० ३।
८. 'कबीर ग्रन्थावली', पद १५८, पृ० १४०।

(२) **श्रवन बिना धुनि सुनय, नैन बिन रूप निहारय।**
रसना बिन उच्चरय, प्रशंसा बहु विस्तारय ॥
नृत्य चरन बिनु करय, हस्त बिनु ताल बजावै।
अंग बिना मिलि संग, बहुत आनन्द बढावै ॥
बिन सीस नवै तहँ सेव्य कौं, सेवक नाव लिये रहै।
मिलि परमातमसों आत्मा, पराभक्ति सुन्दर कहै ॥ ५० ॥[1]

(३) **बिना नीर बिनु मालिहीं, बिनु सींचे रँग होय।**
बिनु नैनन तहँ दरसनो, अस अचरज इक सोय ॥ १ ॥[2]

(४) **बिना सीस कर चाकरी, बिन खांडे संग्राम।**
बिन नैनन देखत रहै, निसु दिन आठो जाम ॥ ७ ॥[3]

(५) **बिन जल कंवला बिगसेऊ, बिना भँवर गुजार।**
नाभि कँवल जोति बरै, तिरवेनी उँजियार ॥ ४ ॥[4]

इन अवतरणों में प्रायः सर्वत्र उपयुक्त कारणों के अभाव में भी कार्यों के घटित होने की कल्पना की गई है जिस कारण विभावना है।

अन्योक्ति

(१) **काहेरी नलिनी तूं कुंमिलानी।**
तेरे ही नाल सरोवर पानी ॥ टेक ॥
जलमैं उतपति जलमैं बास, जलमैं नलिनी नोर निवास ॥
ना तलि तपति न ऊपरि आगि, तोर हेत कहु कासनि लागि।
कहै कबीर जे उदिक समान, ते नहीं मूए हमारे जान ॥ १४ ॥[5]

(२) **कबीर हरिणी दूबली इस हरियालै तालि।**
लक्ख अहेड़ी एक जिव, कित एक टालौं भालि ॥ ३८ ॥[6]

(३) **मालन आवत देखि करि, कलियाँ करी पुकार।**
फूले फूले चुणि लिए, काल्हि हमारी बार ॥ ११ ॥[7]

(४) **दौंकी दाधी लाकड़ी, ठाढ़ी करै पुकार।**
मति बसि परौं लुहार कै, जालै दूजी बार ॥ १० ॥[8]

(५) **बाढ़ी आवत देखि करि, तरवर डोलन लाग।**
हमैं कटै की कुछ नहीं पंखेरू घर भाग ॥ १२ ॥[9]

(६) **अहेड़ी दौं लाइया, मिरग पुकारै रोइ।**
जा बन में क्रीला, दाझत है बन सोइ ॥ ८ ॥[10]

---

१. 'सुन्दर ग्रन्थावली', छं० ५०, पृ० २८।
२. 'बुल्ला साहेब का शब्दसागर, सा० १, पृ० ३५।
३. 'केसोदास की 'अमीघूंट', सा० ७, पृ० २।
४. 'गुलाल साहब की बानी', सा० ४, पृ० १४१।
५. 'कबीर ग्रन्थावली', पद १४, पृ० १०८।
६-१०. 'कबीर ग्रन्थावली', सा० ३८, पृ० ७५; सा० ११; पृ० ७२, सा० १०, पृ० ७३; सा० १२, पृ० १२, सा० ८, पृ० १२।

(७) बुगली नीर बिटालिया, सायर चढ्या कलंक।
और पंखेरू पी गए हंस न बोवै चंच ॥ ३० ॥[1]

(८) नीर पिलावत क्या फिरै, सायर घर घर बारि।
जो त्रिषावंत होइगा, सो पीवेगा झख मारि ॥ ७ ॥[2]

इन अवतरणों में कबीर साहब ने बड़े मार्मिक शब्दों के प्रयोग द्वारा मानव-जीवन की कई बातों को दूसरों के ऊपर ढालकर बतलाया है। कबीर साहब अन्योक्तियों के प्रयोग में हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों में गिने जाते हैं।

उदाहरण

(१) ज्यों धोबी की धमस सहि, ऊजल होय सुचीर।
त्यों शिष तालिब निर्मले, मार सहे गुर पीर ॥ ९ ॥[3]

(२) दरपन में सब देखिए, गहिबे कूं कछु नांहि।
त्यूं रज्जब साधू जुदे, माया काया मांहि ॥ ४ ॥[4]

(३) रज्जब बूंद समंद की, कित सरकै कहं जाय।
साझा सकल समंद सों, त्यूं आतम राम समाय ॥ २६ ॥[5]

(४) जलचर जाणं जलचरा, शशि देख्या जल मांहि।
तैसे रज्जब साधु गति, मूरख समुझै नांहि ॥ १९ ॥[6]

(५) जैसे छाया कूप की, फिरि घिरि निकसै नांहि।
जन रज्जब यूं राखिये, मन मनसा हरि मांहि ॥ ९७ ॥[7]

(६) श्वान सबद सुणि श्वान का, बिन देखै भुसि देय।
त्यूं रज्जब साखी सबद, वे देखि निरखि नहिं लेय ॥ ७६ ॥[8]

(७) ज्यूं सुन्दरि सर न्हावतां, अभरण धरै उतारि।
त्यूं रज्जब रमि राम जल, स्वांग सरीरहि डालि ॥ ३० ॥[9]

(८) अलल बसै आकास में, नीची सुरत निवास।
ऐसे साधू जगत में, सुरत सिखर पिउ पास ॥ ३५ ॥[10]

(९) सूरा सन्मुख समर में, घायल होत निसंक।
यों साधू संसार में, जग के सहै कलंक ॥ ७ ॥[11]

१-२. 'कबीर ग्रन्थावली', सा० ३०, पृ० ३५; सा० ७, पृ० ३१।
३. 'रज्जबजी की बानी', सा० ९, पृ० २०।
४-९. 'रज्जबजी की बानी', सा० ४, पृ० ८१; सा० २६, पृ० १३८; सा० १९, पृ० १६८; सा० ९७, पृ० १८१; सा० ७६, पृ० २६६ और सा० ३०, पृ० २९४।
१०. 'दरिया साहब (मारवाड़) की बानी', सा० ३५, पृ० ४।
११. 'दयाबाई की बानी', सा० ७, पृ० ५।

संत रज्जबजी दृष्टांतों एवं उदाहरणों के प्रयोग में बड़े ही कुशल थे और कहा गया है कि उनके सामने ये सदा मानो हाथ जोड़े खड़े रहते थे।

अर्थान्तरन्यास

(१) नानक पारखे आप कउ, ता पारखु जाणु।
रोगु दारू दोवे बुझै, ता वैदु सुजाणु ॥[१]

(२) रंग होय तौ पीव कौ, आन पुरुष विष रूप।
छांह बुरी पर घरन की, अपनी भली जु धूप ॥ ४ ॥[२]

(३) साहब कूं तो भय घना, सहजो निर्भर रंक।
कुंजर के पग बेडियाँ, चींटी फिरै निसंक ॥ १३ ॥[३]

दृष्टांत

(१) संत न छांड़ै संतई, जे कोटिक मिलैं असंत।
चंदन भुवंगा बैठिया, सीतलता न तजंत ॥ २ ॥[४]

(२) रज्जब जग जलता मिलै, साधू सीतल अंग।
चंदन विष व्यापै नहीं, जो कोटिक भिदै भुवंग ॥ १२ ॥[५]

(३) पसरयू पग-पग मारहै, सिमटयू सों नहिं होय।
जन रज्जब दृष्टांत कूं, मन कच्छप दिसि जोय ॥ १५ ॥[६]

(४) कुंभे बधा जलु रहै, जल बिनु कुंभ न होइ।
गिआन का बधा मनु रहै, गुर बिन गिआन न होइ ॥[७]

तुल्ययोगिता

(१) मनका सूतकु लोभु है, जिहवा सूतकु कूड़।
अंखी सूतकु देखणा, परत्रिय परधन रूपु ॥[८]

(२) साधू सीप सरोज गति, सकति सलिल में बास।
प्यंड पुष्ट ह्वै और दिसि, प्राण और दिसि आस ॥ १५ ॥[९]

(३) थकित होत पाका सुमन, ज्यूं कण हांड़ी माहिं।
कांचा कूदै ऊछलै, निहचल बैठे नाहिं ॥ ६३ ॥[१०]

---

१. 'आदिग्रन्थ', महला २ (गुरु अंगद, सलोक)।
२. 'चरणदास की बानी', सा० ४, पृ० ४७।
३. 'सहजप्रकाश', सा० १३, पृ० ३७।
४. 'क० ग्रं०, सा० २, पृ० ५१।
५. 'रज्जबजी की बानी', सा० १२, पृ० ७६।
६. 'रज्जबजी की बानी', सा० १५, पृ० २५१।
७-८. 'आदिग्रन्थ', महला १ (गुरु नानक सा०)।
९-१०. 'रज्जबजी की बानी', सा० १५, पृ० ३१४ एवं सा० ६६, पृ० ३३१

एकावली

भूमि परै अप अपहू कै परै पावक है,
पावक कै परै पुनि वायुहू बहत है।
वायु परै व्योम व्योमहू कै परै इन्द्री दश,
इन्द्रिन कै परै अन्तःकरण रहतु है।
अन्तःकरण परै तीनों गुन अहंकार,
अहंकार परै यह तत्व कौं कहतु है।
महत्व परै मूल माया माया परै ब्रह्म,
ताहितें परात पर सुन्दर कहतु है ।। ५६ ।।[1]

इस अवतरण में यदि क्रमोत्कर्ष का भाव भी व्यंजित समझा जाए जाए तो यह 'सार' अलंकार का उदाहरण कहा जा सकता है।

काव्यलिंग

गोविन्द के किये जीव जात हैं रसातल कौं,
गुरु उपदेसे सुतौ छूटैं जम फंद तें।
गोविन्द के किये जीव बस परें कर्मनि कै,
गुरु के निवाजे सो फिरत हैं स्वच्छन्द तें।
गोविन्द के किये जीव बूड़त भौसागर में,
सुन्दर कहत गुरु काढ़ै दुख द्वंद तें।
और ऊ कहाँ लौं कछू मुखतें कहौं बनाइ,
गुरु की महिमा अधिक है गोविन्द तें ।। २२ ।।[2]

उपमा

(१) यहु ऐसा संसार है जैसा सैंवल फूल।
दिन दस के व्योहार कौं, झूठैं रंगि न भूल ।। १३ ।।[3]

(२) हाड़ जलै ज्यूं लाकड़ी, केस जलै ज्यूं घास।
सब तन जलता देखि करि, भया कबीर उदास ।। १६ ।।[4]

(३) जिहि जेवड़ी जग बंधिया, तूं जिनि बंधै कबीर।
ह्वैसी आटा लूण ज्यूं, सोना सवाँ सरीर ।। ४८ ।।[5]

(४) इंद्रिन के सुख मानत है शठ, याहित तें बहुते दुख पावै।
ज्यौं जलमैं झष मांसहि लीलत, स्वाद बंध्यौ जल बाहरि आवै ।।

---

१. 'सुन्दर ग्रन्थावली', १६, पृ० ५६८।
२. 'सुन्दर ग्रंथावली', २२, पृ० ३६२।
३-५. 'कबीर ग्रंथावली', सा० १३, पृ० २१; सा० १६, पृ० २५ एवं सा० ४८, पृ० २५।

ज्यौं कपि मूठिन छाड़त है, रसना बसि बंदि परयौ बिललावै।
सुन्दर क्यौं पहिले न संभारत, जो गुर खाइसु कांन बिंधावै ॥ १८ ॥[1]

(५) सत गुरु शब्दी लागिया, नावक का सा तीर।
कसकत है निकसत नहीं, होत प्रेम की पीर ॥ २० ॥[2]

अनन्योपमा

(१) एक कहूं तौ अनेक सौ दीसत,
एक अनेक नहीं कछु ऐसो।
आदि कहूं तिहि अंतहू आवत,
आदि न अंत न मध्य सु कैसो ॥
गोपि कहूं तौ अगोपि कहा यह,
गोपि अगोपि न ऊभो न वैसो।
जोइ कहूं सोइ है नहिं सुन्दर,
है तौ सही पर जैसो को तैसो ॥ ६ ॥[3]

(२) जस कथिये तस होत नहिं, जस है तैसा सोइ।
कहत सुनत सुख ऊपजै, अरु परमारथ होइ ॥[4]

उत्प्रेक्षा

कामिनी कौ देह मानौ कहिये सघन बन,
जहाँ कोऊ जाइ सु तौ भूलि कै परतु है।
कुंजर है गति कटि केहरि कौ भय जामैं,
बेनी काली नागिनीऊ फनकौं धरतु है ॥
कुच है पहार जहाँ काम चोर रहै तहाँ,
साधिकै कटाक्ष बान प्रान कौं हरतु है।
सुन्दर कहत एक और डर अति तामैं,
राक्षस बदन खाऊँ खाऊँ ही करतु है ॥ १ ॥[5]

यहाँ पर उत्प्रेक्षा अलंकार उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा के ढंग का है और वन की प्रायः सारी बातों के आ जाने से सांग भी कहा जा सकता है।

विरोधाभास

(१) आगैं आगैं दौं जलै पीछैं हरिया होइ।
बलिहारी ता बिरख की, जड़ काट्यां फल होइ ॥ २ ॥[6]

---

१. 'सुन्दर ग्रंथावली', १८, पृ० ८०२।
२. 'चरणदास की बानी', सा० २०, पृ० ३।
३. 'सुन्दर ग्रन्थावली', ६, पृ० ६१७।
४. 'कबीर ग्रन्थावली', पृ० २३०।
५. 'सुन्दर ग्रन्थावली', १, पृ० ४३७।
६. 'कबीर ग्रन्थावली', सा० २, पृ० ८६।

(२) जे काटौं तो डहडहीं, सींचौं तो कुमिलाइ ।
इस गुणवंती बेलि का, कुछ गुण कह्या न जाइ ।। ३ ।।[१]

(३) त्रिष्णां सींची ना बुझै, दिन दिन बधती जाइ ।
जवासा के रूष ज्यूं, छण मेहां कुमिलाइ ।। १५ ।।[२]

(४) कुल खोयां कुल ऊबरै, कुल राख्यां कुल जाइ ।
राम निकुल कुल भेंटिलै, सब कुल रह्या समाइ ।।४५।।[३]

विचित्र

निद्रा महि सूतौ है जौलौं । जन्म मरण कौ अन्त न तौलौं ।
जागि परें तें स्वप्न समाना । तब मिटि जाइ सकल अज्ञाना ।। ३५ ।।[४]

विषम

(१) हंस श्वेत बक श्वेत देषिये समान दोऊ,
हंस मोती चुगै बक मकरी कौं षात है ।
पिक अरु काक दोऊ कैसें करि जाने जांहि,
पिक अंब डार काक कंटक हि जात है ।।
सिंधौ अरु फटिक पषान सम देषियत,
वह तौ कठोर वह जल मैं समान है ।
सुंदर कहत ज्ञानी बाहर भीतर शुद्ध,
ताकी पटतर और बातन की बात है ।। ६ ।।[५]

(२) अमिल मिल्या सब ठौर है, अकल सकल सब मांहि ।
रज्जब अज्जब अगहगति, काहू न्यारा नांहि ।। ४ ।।[६]

व्यतिरेक

पलटू तीरथ को चला, बीचे मिलिगे संत ।
एक मुक्ति के खोजते, मिलि गइ मुक्ति अनंत ।। ६४ ।।[७]

कारणमाला

पहिले गुड़ सक्कर हुआ, चीनी मिसरी कीन्हि ।
मिसरी से कन्दा भया, यही सोहागिनि चीन्हि ।। १३ ।।[८]

क्रम

नदी वृच्छ अरु साध जन, तीनों एक सुभाव ।
जल न्हावे फल वृक्ष दे, साध रखावें नांव ।। ७ ।।[९]

१-३. 'कबीर ग्रन्थावली', सा० ३, पृ० ८६; सा० १५, पृ० ३३, सा० ४५, पृ० २५ ।
४-५. 'सुन्दर ग्रन्थावली', ३५, पृ० १८; ६, पृ० ४६५-६ ।
६. 'रज्जबजी की बानी', ४, पृ० १२२ ।
७. 'पलटू साहब की बानी', ६४, पृ० १०६ ।
८. 'दरिया साहेब (बिहार) के पद एवं साखी', १३, पृ० ५२ ।
९. 'गरीबदासजी की बानी', ७, पृ० ७० ।

परिणाम

परख बिना प्राणी दुखी, ज्यूं अंधा बिन नैन ।
रज्जब धक्कै दसौ दिसि, पगि पगि नाहीं चैन ॥ ११ ॥[1]

भेदकातिशयोक्ति

(१) चंद चकोरहिं प्रीति है, देखै सब संसार ।
वह सौदा औरै कछू, जहिं बलि गिलै अंगार ॥ ४३ ॥[2]

(२) नाड़ी चक्रन सास मन, ब्रह्मांड पिंड नहिं ठौर ।
जन रज्जब जुगि जुगि रहै, सो ठाहर कोइ और ॥ ४७ ॥[3]

लोकोक्ति

(१) कौन कुबुद्धि भई घट अंतर, तूं अपनौ प्रभु सौं मन चोरै ।
भूलि गयौ विषया सुख मैं सठ, लालच लागि रह्यौ अति थोरै ।
ज्यौं कोउ कंचन छार मिलावत, लैकरि पाथर सौं नग फोरै ।
सुन्दर या नरदेह अमोलिक, "तीर लगी नवका कत बोरै" ॥ १९ ॥[4]

(२) प्रीति की रीति नहीं कछु राषत, जाति न पांति नहीं कुल गारौ ।
प्रेमकै नेम कहूं नहि दीसत, लाज न कानि लग्यौ सब षारौ ॥
लीन भयौ हरि सौं अभिअंतर, आठहूं जाम रहै मतवारौ ।
सुंदर कोउ न जानि सकै यह, "गोकुल गाँव को पैंडोहि न्यारौ" ॥ १ ॥[5]

ऊपर के उपमा वाले उदाहरण (सं० २) में भी "जो गुर पाइसु कांन बिधावै" की लोकोक्ति दीख पड़ती है ।

(ख) शब्दालंकार

छेकानुप्रास

(१) अंतरगति अनि अनि वाणी ।
गगन गुपत मधुकर मधु पीवत, सुगति सेस सिव जाणी ॥ टेक ॥
त्रिगुण त्रिविध तलपत तिमरातन, तंती तंत मिलानी ।
भागे भरम भोइन भये भारी, बिधि बिरंच सुधि जाणी ।
वरन पवन अवरन विधि पावक, अनल अमर मरै प्राणी ।
रवि ससि सुभग रहै भरि सब घटि, सबद सुंनिथिति मांही ।
संकट सकति सकल सुख खोये, उदधि मथित सब हारे ।
कहै कबीर अगम पुर पटण, प्रगटि पुरातन जारे ॥ १६४ ॥[6]

१-३. 'रज्जबजी की बानी', सा० ११, पृ० १६७; सा० ४३, पृ० १७ एवं सा० ४७, पृ० १७३ ।

४-५. 'सुन्दर ग्रन्थावली', १९, पृ० ४०२ एवं १, पृ० ६४३ ।

६. 'कबीर ग्रन्थावली', १६४, पृ० १४४ ।

(२) रज्जब लौ में लोभ है, लीन हुवा रहु मांहि ।
लौ में लत लागै नहीं, और खता मिटि जांहि ॥ ४ ॥[१]

(३) अडग सुरति आठौं पहर, अस्थिर संगि अडोल ।
सो रज्जब रहसी सदा, साखी साधू बोल ॥ ८ ॥[२]

(४) शून्य सजीवनि, उरि अमर, रसना रहते मांहि ।
जन रज्जब आंखूं अखिल, प्राणी मरैं सुनाहि ॥ ८ ॥[३]

(५) धरनी धरकत है हिया, करकत आहि करेज ।
ढरकत लोचन भरि भरी, पीया नाहिन सेज ॥ १२ ॥[४]

वृत्यनुप्रास

घींच तुचा कटि है लटकी, कचऊ पलटे अजहूं रत बांमी ।
दंत भया मुष के उषरे, नषरे न गये सुषरौ षर कामी ॥
कंपति देह सनेह सु दंपति, संपति जंपति है निस जामी ॥
सुन्दर अंतहु भौंन तज्यौ न भज्यौं भगवंत सुलौन हरामी ॥ १५ ॥[५]

अनुप्रास के उक्त उदाहरणों में से छेकानुप्रास वालों में अधिकतर एक वा अनेक वर्गों की आवृत्ति एक से अधिक बार हुई है। वहाँ वृत्यनुप्रास वाले उदाहरण में 'पर', 'अपति' एवं 'अज्यौं' की आवृत्ति, वृत्ति के अनुकूल होकर उसी प्रकार हुई है। इन आवृत्तियों में माधुर्य गुणसूचक तथा छोटे-छोटे शब्दों को ही दुहराया गया है जिस कारण इनमें उपनागरिका एवं कोमल वृत्तियाँ हो जाती हैं।

यमक

(१) धार बह्यौ षग धार हयौ, जलधार सह्यौ गिरिधार गिरयौ है ।
भार संच्यौ धन भारथ हू करि, भाल रगौ सिर भार परयौ है ।
मार तप्यौ वहि मार गयौ जम मार दई मन तौन मरयौ है ।
सार तज्यौ षुट सार पढयौ, कहि सुन्दर कारिज कौन सरयौ है ॥ १२ ॥[६]

(२) बाहरि कहिये कौन सों, माहें मुशकिल काम ।
अंतरि अंतर मेटिये, अंतरजामी राम ॥ ११ ॥[७]

इन अवतरणों में से प्रथम के 'धार', 'भार', 'मार' एवं 'सार' शब्दों तथा दूसरे के 'अंतर' शब्द के अर्थ दुहराये जाने पर भिन्न-भिन्न हो गए हैं।

१-२. 'रज्जबजी की बानी', ८, पृ० ४३ एवं सा० ८, पृ० ४३ ।
३. 'रज्जबजी की बानी', सा० ८, पृ० १६३ ।
४. 'धरनीदास की बानी', सा० १२, पृ० ५४ ।
५-६. 'सुन्दर ग्रन्थावली', १५, पृ० ४०० एवं १२ पृ० ४६० ।
७. 'रज्जबजी की बानी', ११ पृ० ।

विप्सा

झिलमिल झिलमिल बरखै नूरा,
नूर जहूर सदा भरपूरा ॥ १ ॥
रुनझुन रुनझुन अनहद बाजै ।
भवन गुँजार गगन चढ़ि गाजै ॥ २ ॥
रिमझिम रिमझिम बरखै मोती;
भयो प्रकाश निरंतर जोती ॥ ३ ॥
निरमल निरमल निरमल नामा,
कह यारी तहँ लियो बिस्रामा ॥ ४ ॥[1]

यहाँ पर संत यारी साहब ने 'झिलझिल', 'रुनझुन', 'रिमझिम' एवं 'निरमल' शब्दों को स्वानुभूति के उल्लास में एक से अधिक बार कहकर अपनी आनंदमयी दशा को व्यक्त किया है जिस कारण इसमें विप्सा अलंकार का प्रयोग हो गया है।

संतों की रचनाओं मे अर्थालंकारों एवं शब्दालंकारों के उदाहरण अच्छी संख्या में मिलते हैं। वे प्राय: सब कहीं उपयुक्त भी ठहरते हैं। उपर्युक्त अवतरण अधिकतर यों ही चुन लिये गए हैं। वे केवल बानगी के रूप में हैं। अन्य उदाहरण तथा अन्य अलंकार भी पाये जा सकते हैं। रीतिकाल के प्रभाव में आकर कुछ संतों ने अपना काव्य-कौशल भी दिखलाना आरंभ कर दिया था जिस कारण संत-काव्य के अंतर्गत चित्रकाव्यों तक का समावेश हो गया। स्व० पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने अपनी संपादित 'सुन्दर ग्रन्थावली की भूमिका' में संत सुन्दरदास द्वारा प्रयुक्त नागबंध, कंकणबंध, हारबध, वृक्षबंध, छत्रबंध, चौकीबंध, चौपड़बंध एवं कमलबंध के सचित्र उदाहरण दिये हैं और इनके लिए उनकी प्रशंसा की है। संत सुन्दरदास की रचनाओं में एकाध ऐसे पद्य भी मिलते हैं जिन्हें उनमें प्रयुक्त शब्दों के निर्मात्रिक वा मात्राहीन होने के कारण, बहुधा निर्मात्र अथवा 'अमात्र' की संज्ञा दी जाती है। इसी प्रकार, कुछ वे पद्य भी पाये जाते हैं जिन्हें उनमें प्रयुक्त शब्दों के केवल दीर्घमात्रिक होने के कारण 'सर्वगुरु' कहा जाता है। इनमें से दोनों के उदाहरण इस प्रकार हैं—

निर्मात्रिक

जप तप करत धरत व्रत जत सत,
मन वच क्रम भ्रम कपट सहत तन।
बलकल बसन असन फल पत्र जल,
कसत रसन रस तजत बसत बन ॥
जरत मरत नर गरत परत सर,
कहत लहत हय गय दल बल धन।
पचत पचत भव भय न टरत सठ,
घट घट प्रगट रहत न लखत जन ॥ २ ॥[2]

---

१. यारी साहब की 'रत्नावली', ४, पृ० ३।
२. 'सुन्दर ग्रन्थावली', २, पृ० ४५५।

दीर्घमात्रिक

> झूठे हाथी झूठे घोरा झूठे आगे झूठा दौरा,
> झूठा बंध्या झूठा छोरा झूठा राजा रानी है।
>
> झूठी काया झूठी माया झूठा झूठै धंधा लाया।
> झूठा मूवा झूठा जाया झूठा याकी बानी है।
>
> झूठा सोवै झूठा जागै झूठा झूझै झूठा भाजै,
> झूठा पोछै झूठा लागै झूठै झूठी मानी है।
>
> झूठा लीया झूठा दीया झूठा षाया झूठा पीया,
> झूठा सौदा झूठै कीया ऐसा झूठा प्रानी है ।। २५ ।।[1]

इनके अतिरिक्त संत सुन्दरदास ने कुछ ऐसे पद्यों की भी रचना की है जो अंतर्लापिका (अर्थात् जिनमें प्रश्न एवं उत्तर दोनों का एक ही में समावेश हो), बहिर्लापिका (अर्थात् जिनमें प्रश्नों के उत्तर बाहर से लिये जाते हैं), लोमविलोम (अर्थात् जिनमें सीधे-सादे पढ़ने से एक अर्थ और उलटे पढ़ने से भिन्न अर्थ लक्षित होता है) और भाषासमक (अर्थात् जिनमें विविध प्रकार की भाषाओं का प्रयोग रहा करता है) की श्रेणी में गिने जा सकते हैं। वे उक्त 'ग्रन्थावली' के क्रमशः पृष्ठ ६६२-३, पृष्ठ ६६४, पृष्ठ ६६६ एवं पृष्ठ १००४ पर दिये गए हैं। संत सुन्दरदास की कविताओं में 'आद्यक्षरी' 'आदि-अंत अक्षरी' एवं 'मध्याक्षरी' के भी उदाहरण मिलते हैं। इनमें क्रमशः उनके चरणों के आद्यक्षरों, आदि एवं अंत के अक्षरों तथा मध्य के अक्षरों के आधार पर कोई भिन्न पद्य वा वाक्य बड़ी सरलता के साथ प्रस्तुत किया जा सकता है। इनके उदाहरण ग्रंथावली के पृष्ठ ६५३-६२ में हैं।

उलटवांसी

संत-काव्य की एक विशेषता उसमें पायी जाने वाली विविध उलटवांसियों की अधिकता में दीख पड़ती है। ये उलटवांसियां उन रचनाओं में मिलती हैं जिनमें किसी बात को, प्रत्यक्ष रूप में, विपरीत वा ऊटपटांग ढंग से कहा गया रहता है, किन्तु यदि उनमें प्रयुक्त शब्दों के गूढ़ अर्थ भी समझ लिये जायें तो सारा रहस्य खुल जाता है और कवि का भाव पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। ऐसी कथन-शैली में बहुधा किसी अलंकार का विधान नहीं ढूंढ़ा जाता और बहुत-से साहित्य-मर्मज्ञ ऐसी रचनाओं को 'अधम काव्य' भी कह डालते हैं। वह इनके प्रसाद-गुणहीन होने के कारण वस्तुतः यथार्थ भी माना जा सकता है। अलंकारों के अंतर्गत 'विभावना', 'विरोधाभास' और 'असंभव' इस प्रकार के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इनमें क्रमशः या तो कार्य-कारण के संबंध में कोई न-कोई विलक्षण कल्पना दीख पड़ती है अथवा जाति, गुण, द्रव्य वा क्रिया में कुछ-न-कुछ विरोधाभास मिलता है या किसी-न-किसी अनहोनी बात की चर्चा की गई रहती है जिनके कारण श्रोता वा पाठक के हृदय में केवल विस्मय और कौतूहल उत्पन्न होकर ही रह जाता है। परन्तु उलटवाँसियों के शब्दों में स्वभाव-विरुद्ध और प्राकृतिक नियमों के प्रतिकूल घटने वाली बातों के ऐसे विपरीत उल्लेख पाये जाते हैं जिनसे उत्पन्न

---

१. 'सुन्दर ग्रन्थावली', २५, पृ० ४१७।

आश्चर्य की मात्रा अपनी अंतिम सीमा तक पहुँच जाती है और सारी रचना अर्थहीन-सी लगने लगती है। शब्दालंकारों में बहुधा गिने जाने वाले 'दृष्टि-कूट' वा 'द्रष्टकूट' में कुछ इस प्रकार की बातें अवश्य दीख पड़ती हैं। किन्तु उसमे किये गए शब्दों के प्रयोग अधिकतर पाठकों या श्रोताओं के विस्तृत ज्ञान वा जानकारी को लक्ष करते हैं, जहाँ उलटवाँसियों में से इस प्रकार की परीक्षा के लेने का अवसर प्रस्तुत किया गया नहीं जान पड़ता। ये रचनाएँ पाठक अथवा श्रोताओं के उस विशेष वा पारिभाषिक ज्ञान की ही ओर संकेत करती हैं जिसका होना इन्हें समझ पाने वाले के लिए नितांत आवश्यक रहा करता है। संतों ने इनका प्रयोग, इसी कारण, विशेषतः उन बातों के वर्णनों में ही किया है जो किसी साधना वा अनुभूति से संबद्ध हैं।

उलटवाँसियों की चर्चा करते समय कुछ लोग उन्हें 'संध्याभाषा' अथवा 'संधाभाषा' नाम से भी सूचित करते हैं। 'संध्याभाषा' का अभिप्राय उस अस्पष्ट भाषा से है जो गोधूलि बेला की भाँति कुछ प्रकाश एवं कुछ अंधकार से मिश्रित रहा करती है। इसकी बातों को प्रत्यक्षतः कुछ-न कुछ समझ लेने पर भी उसमें निहित रहस्य प्रायः अज्ञात ही रहा करता है। 'संधाभाषा' शब्द उस प्रकार की भाषा की ओर संकेत करता है जो शब्दों के अनुसार किसी प्रत्यक्ष भाव को व्यक्त करती है, किन्तु जिसके प्रयोक्ता का वास्तविक उद्देश्य किसी अन्य गूढ़ भाव को सूचित करता है। पहले के अनुसार जहाँ इस प्रकार की शैली की विशेषता उसकी अस्फुटता में दीख पड़ती है, वहाँ दूसरे के अनुसार वह उसके प्रयोक्ता द्वारा किसी महत्वपूर्ण बात को गोपनीय रखने की चेष्टा में पायी जाती है। इस कारण, पहले की दृष्टि से वह सत्काव्य में सहायता भी दे सकती है, किन्तु दूसरे प्रकार से वह बाधक है। संध्याभाषा का प्रयोग हमें प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद की उस ऋचा में भी मिलता है, जहाँ पर (१.१६४–७)[१] सूर्य का अपने पैरों (किरणों) द्वारा पृथ्वी के जल का पान करना तथा अपने सिर (आकाश) द्वारा उसे मेघों के रूप में बरसाना कहा गया है। इसका वास्तविक अभिप्राय आत्मा का बाह्येंद्रियों द्वारा विषयों का रस लेना तथा उनके सिरोभागरूप अंतःकरण द्वारा ज्ञानरस के आनंद का लेना समझा जाता है। यह मंत्र अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है और इसका संग्रह अथर्ववेद (९. ९. ५) में भी किया गया है। ब्राह्मण ग्रंथों में उक्त संध्याभाषा का प्रयोग ऐसे प्रसंगों में किया गया प्रतीत होता है जहाँ पर अनेक बातें निरर्थक जान पड़ती हैं। किन्तु उनके पीछे गुप्त रूप से विद्यमान रहने वाले रहस्य का उद्घाटन पूर्वमीमांसक लोग विविध रूपकों का सहारा लेकर किया करते हैं।

संधाभाषा वाले उपर्युक्त उद्देश्य को लेकर व्यवहृत की जाने वाली शैली सर्वप्रथम, कदाचित् तंत्रयुग में दीख पड़ी। तंत्रों के साधक अपनी साधनाओं को बहुधा गुप्त रखना चाहते थे। इसी कारण, उन्हें उनका वर्णन ऐसी रहस्यमयी भाषा में करना पड़ता था जिसमें प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक शब्द रूपकों पर आश्रित होने के कारण गूढ़ से गूढ़तर हो जाया करते थे। गौतम बुद्ध के पालि भाषा में उपलब्ध विचारों का जब वास्तविक मर्म समझने की परिपाटी चल निकली तो इस प्रकार की शैली में और भी दुरूहता आ गई। तंत्र-साहित्य में प्रयुक्त रूपकों का अभिप्राय समझना

---

१. "इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य यामस्य निहितं पदं वेः।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः ॥ ७ ॥"

अत्यंत कठिन हो गया। पिछले तंत्रों की संधाभाषा के अनुसार न केवल पारिभाषिक शब्दों की ही खोज की जाने लगी, अपितु कुछ ऐसे संकेतों का रहस्य जानने की भी आवश्यकता पड़ी जिनका प्रयोग उन्हें जान-बूझकर अज्ञेय बनाने की चेष्टा में किया जाता था। इस ढंग के प्रयोगों के कतिपय उदाहरण हमें सिद्धों के चर्यापदों में भी मिलते हैं। इन सिद्धों और पीछे के संत कवियों में कई बातों की समानता है जिनमें वर्णन-शैली का सादृश्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है।यह सादृश्य भी, अन्य अनेक बातों की भाँति, नाथ-पंथियों के माध्यम द्वारा संतों तक पहुँचा हुआ जान पड़ता है। 'गोरखबानी' में संगृहीत गुरु गोरखनाथ के पदों में से लगभग आधे दर्जन[1] ऐसे हैं जिनमें, संध्याभाषा शैली के अनुसार निर्मित उलटवाँसियाँ स्पष्ट रूप में दीख पड़ती हैं। 'कबीर ग्रंथावली' में संगृहीत कबीर साहब के पदों में से कम-से-कम डेढ़ दर्जन[2] में इनके उदाहरण पाये जाते हैं। गुरु गोरखनाथ ने उलटवाँसी के लिए 'उलटी चरचा'[3] शब्द का प्रयोग किया है, जहाँ कबीर साहब ने उसे एक प्रकार से 'उलटा वेद' ही कह डाला है।[4] संत सुन्दर-दास ने भी इसी प्रकार उसे 'उलटी' नाम दिया है और उसे कहीं-कहीं 'विपर्जय' या 'विपर्जय शब्द' का शीर्षक देकर अपनी रचनाएँ संगृहीत की है।[5] इन संतों के सिवाय दादूजी, रज्जबजी, शिवनारायण, तुलसी साहब, पलटू साहब, शिवदयाल आदि संतों ने भी उलटवाँसियाँ लिखी हैं।

संतों के लिए उलटवाँसियों का प्रयोग करना स्वाभाविक-सा हो गया था। क्योंकि एक तो वे अत्यंत गूढ़ तत्व और उसकी रहस्यमयी अनुभूति की चर्चा अस्फुट एवं रहस्यपूर्ण भाषा द्वारा किया करते थे, जिस कारण सभी कुछ रहस्यवादोचित हो जाता था। दूसरे, उन्हें अपनी बातें अधिकतर ऐसे सर्वसाधारण के बीच प्रकट करनी पड़ती थीं जो उनके अनुसार, सहज एवं सीधे मार्ग का त्याग कर हास्यास्पद विडंबनाओं के फेर में पड़े रहा करते थे और जिन्हें कुछ गहराई तक सोचने का अभ्यास डालना आवश्यक हो हो गया था। संत लोग उनका ध्यान अपनी उलटवाँसियों द्वारा आकृष्ट कर उन्हें पहले आश्चर्य में डाल देते थे और तब उन्हें समझाकर सचेत करते थे। उनकी उलटवाँसियों में इसीलिये हमें ऐसी बातें भी मिला करती हैं जो जनसाधारण वा पंडितों तक के आचरणों से संबंध रखती हैं। संतों की उलटवाँसियों में ऐसे प्रतीकों का प्रयोग अथवा रूपकों का व्यवहार बहुत अधिक मिलता है जिनमें प्रतिदिन के जीवन में दीख पड़ने वाली बातों का उलट-फेर दिखलाया गया रहता है। वे इसी कारण, श्रोताओं और पाठकों को एक वार स्तब्ध-सा कर देता है। फिर भी उनका उलटवाँसीपन उनके शब्दों के वाच्यार्थ तक ही सीमित रहा करता है। संतों के कथन का मार्मिक भाव जान लेने पर जब हम वास्तविकता से परिचित हो जाते हैं तो वैसे रूपकों तथा प्रतीकों का औचित्य भलीभाँति समझ में आ जाता है। उपयुक्त प्रतीकों के चुनाव में सभी संत सफल नहीं कहे जा सकते। इनके प्रयोगों के बहुधा फेरफार कर देने से वे कठिनाई भी उपस्थित कर

---

१. गोरखबानी (हिं० सा० स०), पद २०, ३४, ४७, ५१, ५६ आदि।
२. 'कबीर ग्रन्थावली', (ना० प्र० स०), पद ६, ११, १२, १३, ८०, १४५, १६०-२, १७६-७, २१२, २२६, २८०, ३४६ आदि साखियाँ भी हैं।
३. 'उलटी चरचा गोरष गावैं' (गो० बा०, पृ० १४२)।
४. है कोई जगत गुर ग्याँनी, उलटि वेद बूझै' (कि० ग्रंथा०, पृ० १४१)।
५. 'सुन्दर सब उलटी कहै समुझै संत सुजान', (सुं० ग्रं०, पृ० ७६१)।

देते हैं। एक ही आत्मा के लिए कहीं हंस, कहीं राजा, कहीं सुन्दरी, कहीं पारधी, कहीं खग और कहीं बेली जैसे शब्दों के प्रयोग किये गए हैं। एक ही इच्छा के लिए कहीं सुरही, कहीं माखी, कहीं डीवी, कहीं चील, कहीं गौरी और कहीं मालिन जैसे शब्द व्यवहृत हुए हैं। ऐसे प्रयोग संतों के साधारण रूपकों और अन्योक्तियों में भी मिला करते हैं, किन्तु वहाँ कठिनाई उतनी गंभीर नहीं हो पाती। इन उलटवाँसियों के कारण कभी-कभी संतों के मुख्य अभिप्राय दबे-से भी रह जाते हैं और लोग उनके शब्दों के आधार पर कुछ-का-कुछ मान लेते हैं।

कबीर साहब की उलटवाँसियों में से एक, अद्भुतरस के उदाहरणों में, इसके पहले ही दी जा चुकी है और उनका अभिप्राय भी बतलाया गया है। उनकी अन्य तथा दूसरे संतों की उलटवाँसियों में से कुछ के अवतरण इस प्रकार हैं—

(१) **जीवत जिनि मारै मूवा मति ल्यावै,**
मास बिहूंणां घरि मत आवै हो कंता ॥ टेक ॥
उर बिन षुर बिन चंच बिन, वपु बिहूंना सोई।
सो स्यावज जिनि मारै कंता, जाकै रगत मास न होई।
पैली पारके पारधी, ताकी धुनही पिनच नहीं रे।
ता बेली कौ ढूंक्यौ मृगलौ, ता मृग कै सीस नहीं रे।
कहै कबीर स्वामी तुम्हारे मिलन कौं, बेली है पर पात नहीं रे ॥२१२॥[1]

अर्थात् हे कंत (जीव)! यदि मृग (मन, ज्ञानसंपन्न होने के कारण) जीवितावस्था में हो तो उसे मत मारो (बाधित करो) और यदि वह (माया से प्रभावित होने के कारण) मृतकावस्था में हो तो उसे मत लाओ (लाभ उठाने की आशा रखो)। किन्तु फिर भी तुम बिना मांस (बुद्धिजन्य दृढ़भाव) लिये घर वापस भी न आओ। उस मृग (मन) का न तो छाती है, न पैर है और न मुख ही है (वह शून्य रूप होने के कारण) बिना शरीर का है। उस सावक को मारकर ही क्या होगा जिसमें रक्त और मांस का अभाव हो! उस मृग (मन) को मारने वाले पारधी या शिकारी (प्राण-शक्ति) के पास किसी धनुष या प्रत्यंचा के रखने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह परली कोटि की निपुणता वाला हुआ करता है। उसके द्वारा मारा गया मृग (मन) लताओं में प्रवेश कर जाता है। सुविस्तृत आत्मबेलि की ओर अंतर्मुख हो जाता है। उसे किसी प्रकार का शीश (आकार) नहीं रहता और वह मारे जाने पर भी सुरक्षित रहा करता है। यह गुरुप्रदेश द्वारा उपलब्ध ज्ञान के क्षेत्र का विषय है। कबीर का कहना है कि परमात्मन् जिस तुम्हारी बेलि (आत्मबेलि) के भीतर उस मृगरूपी मन को प्रविष्ट होना है, उसमें (प्रकृति के) पत्ते नहीं हैं।

यहाँ पर यह बात भी उल्लेखनीय है कि इस उलटवाँसी वाले ही मृग, पारधी जैसे कुछ प्रतीकों के प्रयोग गुरु गोरखनाथ ने भी अपने एक पद में किये हैं जो कई दृष्टियों से इसका आधार-सा प्रतीत होता है। उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"आई सौ भील पारधी हाथ नहीं, पाई प्यंगुलो मुख दाँत न काहीं।
हयों हयों मृघलौ धुणहीन नहीं, घण्टा सुरतिहाँ नाद नाहीं ॥ २ ॥

---

१. 'कबीर ग्रंथावली', पद २१२, पृ० १६०।

भीलड़ै तिहाँ ताणियौ बांण, मनहीं मृगलौ बेधियौ प्रमाण।
हयौं हयौं मृगलौ बेधियौं बांण, धुणही बांण न थी सरताणं ।। ३ ।।
भीलडी मातमी रांणी, मृघलौ आंणी ठांणी ।
चरणं बिहूणौं मृघलौ आण्यौं सीस सींग मुष जाहुन जाण्यौं ।। ४ ।।[1]

सिद्धाचार्य भुसुकुपा ने भी अपने एक चर्यापद में मन को 'हरिण' कहा है और 'तरसन्ते हरिणार खुर व दीसई' बतलाया है।[2]

(२) **समन्दर लागी आगि, नदियाँ जलि कोइला भई ।**
देखि कबीरा जागि, मंछी रूषां चढ़ि गई ।।[3]

अर्थात् समुद्र में आग लग गई (शरीर के भीतर ज्ञान-विरह की आग प्रज्ज्वलित हो उठी) और नदियाँ जलकर भस्म हो गईं (सभी सांसारिक सम्बन्ध नष्ट हो गए)। अरे कबीर, अब जागृत होकर देख ले, मछली वृक्ष पर चढ़ गई है (मन अब ऊँची दशा को प्राप्त कर चुका है)। गुरु गोरखनाथ के एक पद की भी दो पंक्तियाँ कबीर साहब की इस साखी से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। जैसे—

"**डूंगरि मंछा जलि सुसा पाणी मैं दौं लागा ।**
अरहट वहै तृसालवाँ, सूलै काँटा भागा ।। ३ ।।"[4]

(३) **कुंजर कौं कीरी गिलि बैठी, सिंघहि षाइ अघानौ स्याल ।**
मछरी अग्नि मांहि सुख पायौ, जलमैं हुती बहुत बेहाल ।।

पंगु चढ्यौ पर्वत कै ऊपर, मृतकहि देषि डरानौ काल ।
जाकौ अनुभव होई सुजानं, सुन्दर ऐसा उलटा ध्याल ।। ३ ।।[5]

अर्थात्, मस्त हाथी को एक कीड़ी ने निगल लिया (काम को बुद्धि ने जीत लिया), सिंह को खाकर शृंगाल पुष्ट हो गया (जीव ने संशय पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली), मछली को आग में ही सुख मिलने लगा (मनसा ब्रह्माग्नि में आनन्दमग्न हो गई), वह जल में दुखी रहती थी (काया में उसे सदा बेचैनी रहा करती थी), पंगु पुरुष पर्वत पर चढ़ गया (शांत मन चिदाकाश में पहुँच निश्चल हो गया) और मृतक को देखकर काल भयभीत हो गया (जीवन्मुक्त के समक्ष काल का प्रभाव जाता रहा), इन बातों को वही जानता है जिसे स्वानुभूति मिल चुकी है। दूसरों के लिए तो यह उलटा विचार ही कहा जायगा।

(४) **कमल मांहि पाणी भयौं, पाणी मांहे भान ।**
भान मांहि ससि मिलि गयौ, सुन्दर उलटौ ज्ञान ।। ६ ।।[6]

---

१. 'गोरखबानी', पद २६, पृ० ११६।
२. 'चर्या', पद ६ और पद सं० २३ भी।
३. 'कबीर ग्रंथावली', सा० १०, पृ० १२।
४. 'गोरखबानी', पद २०, पृ० ११२।
५. 'सुन्दर ग्रन्थावली', सा० ३, पृ० ५१०।
६. 'सुन्दर ग्रंथावली', सा० ६, पृ० ७४६।

अर्थात्, कमलरूपी हृदय में पानीरूपी प्रेम का आविर्भाव हुआ और वह सूर्य-रूपी आत्मज्ञान का आधार बन गया। फिर उसी सूर्य-रूपी ज्ञान में चंद्र-रूपी ब्रह्मानंद की भी शीतलता मिल गई जिस कारण अक्षय सुख मिलने लगा और यह उलटा ज्ञान कहलाया।

उलटवाँसियों के ये अवतरण अधिकतर साधना एवं अनुभूति की चर्चा से सम्बद्ध हैं। संतों ने, इसके सिवाय, कुछ उलटवाँसियाँ अपनी भीतरी कठिनाइयों के वर्णन तथा सांसारिक मनुष्यों की मायाजनित दुरावस्था के परिचय में भी लिखी हैं। इन रचनाओं में उन्होंने 'कोई विरला बूझै', 'जो बूझै सो गुरू हमारा', 'जो यहि पद का अर्थ लगावै ज्ञानी' जैसे वाक्यों के प्रयोग किये हैं। इनसे प्रकट होता है कि वे इन्हें जान-बूझ कर समस्यामूलक रूप दे रहे हैं। इसके लिए उन्हें कुछ गर्व का अनुभव भी होता है। परन्तु इस प्रकार की उक्तियों के प्रयोग, वस्तुतः, सिद्धों के युग से ही होते चले आ रहे हैं और ये एक प्रकार से, इस शैली के अंगरूप से हो गए हैं। सिद्ध ढेंढणपा के एक चर्यापद (स० ३३) में आए हुए वाक्य "ढेंढण पाएर गीन विरले बूझअ" से तो यह ज्ञान पड़ता है कि उन्होंने अत्यन्त गूढ़ बना दिया है। इसी प्रकार गुरु गोरखनाथ भी एक स्थल पर कहते हैं कि 'बूझौ पंडित ब्रह्म गियानं, गोरष बोलै जाण सुजानं।'[1] इससे प्रकट होता है कि वे न केवल अपने कथन को ब्रह्मज्ञान कहते है, अपितु स्वयं अपने को भी सुजान एवं ज्ञानवान् बतलाते है। इसलिए संतों को इस बात के लिए सहसा घमंडी अथवा रहस्यगोप्ता कह देना उचित नहीं प्रतीत होता। जान पड़ता है कि अपने भावों को व्यक्त करते समय उन्होंने अन्य अनेक शैलियों के अतिरिक्त उलटवाँसियों को भी प्रचलित समझ कर अपना लिया था। इनके कारण न तो उनमें कोई मौलिकता आ जाती है, न वे किसी प्रकार की निंदा के ही पात्र समझे जा सकते हैं।

प्रकृति-चित्रण

संतों की साधना अंतर्मुखी वृत्ति के आधार पर चलती थी और वे अधिकतर अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति में ही लगे रहते थे। बाह्य जगत् की चर्चा छेड़ते समय भी वे बहुधा अहमन्य व्यक्तियों या पाखंडियों आदि के विविध आचरणों के उल्लेख कर दिया करते थे। धार्मिक एवं सामाजिक भेदभावों के बाहुल्य पर वे अपनी टीका-टिप्पणी कर उनसे बचने का उपदेश देते रहते थे। प्राकृतिक दृश्यों के प्रसंग वे केवल ऐसे अवसरों पर ही लाते थे जहाँ उन्हें सर्वव्यापी परमात्मा के अस्तित्व एवं प्रभाव की ओर संकेत करना रहता था, अथवा अपनी विरह-दशा के वर्णन या अन्योक्तियों की रचना करते समय उनका ध्यान इधर चला जाता था। इसलिए प्राकृतिक वस्तुओं के स्वरूपादि के वर्णन-सम्बन्धी उल्लेख उनकी रचनाओं में बहुत कम देखने को मिलते हैं। उनके सांग-रूपकों में हमें इस प्रकार के उदाहरण कभी-कभी अवश्य मिल जाते हैं जिनमें उनके एकाग्र निरीक्षण की शक्ति दीख पड़ती है। परन्तु इस प्रकार की रचनाएँ भी सदा प्राकृतिक वस्तुओं से ही सम्बद्ध नहीं। ऐसी रचनाओं में भी परंपरा का ही पालन अधिक रहा करता है। संतों ने जहाँ सावन, बसंत आदि शीर्षक देकर कविता की है अथवा जहाँ बारहमासे आदि लिखे हैं वहाँ भी कुछ ऐसी प्रवृत्ति दीख पड़ती है। बहुत-से रीति-कालीन अथवा इधर के संतों ने तो ऐसी प्रचलित शैली का निरा अनुकरण करने में ही इसकी इतिश्री मान ली है।

---

१. 'गोरखबानी', पद १८, पृ० १०८।

फिर भी कुछ प्रतिभाशाली संतों की रचनाओं में हमें प्रकृति-चित्रण के बड़े सुन्दर उदाहरण मिल जाते हैं। ये विशेषकर उन अवसरों से सम्बद्ध हैं जिनके रचयिताओं की अनुभूति कुछ तीव्र रही होगी। उनके भीतर उल्लास की मात्रा अधिक हो जाने के कारण, भावावेश की दशा आ पहुँची होगी और वे बाह्य जगत् के साथ तल्लीनता स्वभावतः स्थापित करने लगे होंगे। ऐसी दशा में रूपकों का विधान आप-से-आप होने लगता है और जो-जो काल्पनिक चित्र कवि के मानस-पटल पर चित्रित हुए रहते हैं, वे ठीक-ठीक अपने मूल रंग एवं रेखा में ही पाठक या श्रोता के भी आगे प्रत्यक्ष हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, गुरु नानकदेव ने अपने एक पद के द्वारा परमात्मा के प्रति 'आरती' प्रस्तुत करने की आवश्यकता दिखलायी है। उसका कारण बतलाते समय उन्होंने स्पष्ट एवं सजीव चित्र अंकित कर दिया है। इसमें उनके निजी अनुभव की भी झलक मिल जाती है और वह दूसरे को भी उसी प्रकार प्रभावित किये बिना नहीं रह पाती। जैसे—

(१)　**गगन मै थालु रविचन्दु दीपक बने,**
　　तारिका मण्डल जनक मोती।
धूपु मल आनलो पवण चँवरो करे,
　　सकल बनराइ फूलंत जोती॥ १॥
कैसी आरती होइ भवषण्डना तेरी आरती।
　　अनहता सबद बाजंत भेरी॥ रहाउ॥[१]

इस पद्यांश में, आकाशमयी थाली में सूर्य एवं चन्द्रमा के दो दीपकों की कल्पना करते हुए अगणित तारिकाओं के समूह को उस पर जड़े हुए मोतियों का प्रतीक ठहराया गया है। सुगन्धि के लिए मलयपवन तथा चँवर के लिए वायु के साधन प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि वनों के अन्तर्गत जितने भी वृक्ष पुष्पित हैं, वे सभी हमारे इष्टदेव परमात्मा के ही उपचार में मग्न हैं। अनाहत शब्द सदा भेरी का काम करता है और इस प्रकार उसके लिए अन्य किसी ढंग की आरती की आवश्यकता कभी हो ही क्या सकती है? यहाँ पर कवि की कल्पना के अनुसार नभमंडल पर दृष्टिपात करते ही उसके भावगांभीर्य की भी कुछ-न-कुछ अनुभूति होने लगती है। इसके साथ ही प्रकृति का एक भव्य एवं मनोरम रूप भी हमारे सामने आ उपस्थित होता है।

कबीर साहब ने भी इसी प्रकार, आत्मविस्मृति के कारण इतस्ततः भटकने वाले जीव के मोहांधकार में पड़ कर भयभीत होने की अनुभूति की तीव्रता का वर्णन करते समय, भादों मास की भयावनी रात का एक चित्र अंकित किया है जो इस प्रकार है—

(२) **गहन ब्यंद कछू नहीं सूझै, आपन गोप भयौ आगम बूझै।**
भूलि परयौ जीव अधिक डराई, रजनी अंधकूप ह्वै जाई॥
माया मोह उनवैं भरपूरी, दादुर दामिनि पवनां पूरी।
तरियै बरिषै अखण्ड धारा, रैनि भामनीं भया अंधियारा॥[२]

---

१. 'आदि ग्रंथ' (गुरु खालसा प्रेस, अमृतसर), पृ० ६६२, (पद ६)।
२. 'कबीर ग्रन्थावली', पृ० २२६।

अर्थात्, घनी बूँदों के कारण कहीं पर कुछ सूझ नहीं पड़ता। अपने आप भूला हुआ मनुष्य ढूंढ़ने के लिए भटकता फिर रहा है और अत्यन्त भयभीत है। रात बहुत अँधेरी हो गई है, मेघ बरसने के लिए ऊपर से झुक आये हैं, मेंढक बोल रहे हैं, बिजली कौंध रही है और हवा वेग से बह रही है। बादलों की तड़प के साथ-साथ अनवरत वृष्टि भी होती जा रही है और अँधेरी रात भयावनी बन गई है।

संत सुन्दरदास ने इसके विपरीत सुहावने प्रातःकाल का वर्णन इस प्रकार किया है जो 'पूरबी भाषा बरवै' के अन्तर्गत आता है—

(३) **अंधकार मिटि गइले ऊगल भान,**
हंस चुगै मुक्ताफल सरवर मान।
सहज फूल फर लागत बारह मास,
भँवर करत गुंजारनि विविध विलास।
अंब डला पर बैसल कोकिल कीर,
मधुर मधुर धुनि बोलइ सुखकर सीर।
सबकेहु मन भावत सरस बसंत,
करत सदा कौतूहल कामिनि कन्त।[1]

संत दरियादास (बिहार वाले) ने भी वसंत का वर्णन करते समय कुछ इसी ढंग का चित्र खींचा है। जैसे—

(४) **सोइ बसंत खेलहिं हंसराज, जहाँ नभ कौतुक सुर समाज।**
अछै बिरछ तहाँ द्रुम पात, साखा सघन लपटि जात।।
बेलि चमेली विविध फूल, सोधा अग्र गुलाब मूल।
भंवर कंवल में भाव भोग, इत्यादि।[2]

अर्थात्, उस वसंत-काल में हंसराज क्रीड़ा कर रहा है और आकाश में देवता लोग चकित हो रहे हैं। वहाँ पर पत्तों एवं टहनियों से सुसज्जित सुन्दर वृक्षों की घनी शाखाएँ एक-दूसरे के साथ आलिंगन कर रही हैं। बेला, चमेली जैसे अनेक प्रकार के फूल, फूल रहे हैं और श्रेष्ठ गुलाबों की जड़ें तक सुगन्धित हो उठी हैं। भँवरा कमल में लगा हुआ उसका उपभोग कर रहा है।

संत गुलाल साहब ने अपने पति के साथ सावन की रात में क्रीड़ा करने वाली नायिका के रूपक द्वारा, स्वानुभूति का चित्र यों खींचा है—

(५) **हरि संग लागत बूंद सोहावन।। टेक।।**
चहुँ दिसि तें घन घेरि घटा आई, सुन्न भवन डरपावन।
बोलत मोर सिखर के ऊपर, नाना भाँति सुहावन।। २ ।।
आनन्द घट चहुँ ओर दीप बरै, मानिक जोति जगावन।
रीझ पिया के रंगराते, पलकन चंवर डोलावन।। ३ ।।[3]

---

१. 'सुन्दर ग्रन्थावली', बरवै, ७, ८, १० एवं १२, पृ० ३७८।
२. 'दरिया साहब' (बिहार वाले) के चुने हुए शब्द, पृ० २४-२५।
३. 'गुलाल साहब की बानी', सबद ६, पृ० १३२।

यहाँ पर सावन की कष्टदायक बूंदें भी सुहावनी लगती है, चारों ओर से घिर कर आयी हुई, शून्य भवन को डरपाने वाली घटाओं का कुछ भी प्रभाव नहीं और शिखर के ऊपर से बोलने वाले मोरों की पुकारें भी भली जान पड़ रही हैं। जब मिलन के समय चारों ओर घर के भीतर मणियों के दीपक जगमगा रहे हैं और प्रियतम के संयोग में आह्लादित बने रहने के कारण, अपनी पलकें तक उसकी सेवा में लगी हुई हैं, तब सावन की भयावनी रात का भी सुहावनी बन जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

इस प्रकार संतों की रचनाओं में जो कुछ प्रकृति-चित्रण की झलक मिलती है, वह अधिकतर प्रतीकों के आलंबन पर ही प्रस्तुत की गई है। नग्न एवं निरावृत प्राकृतिक दृश्यों के सौन्दर्य का प्रभाव उन पर पूर्ण रूप से पड़ा हुआ नहीं जान पड़ता। वे अपने सर्वात्मवाद की दृष्टि से सब कुछ को एकमात्र परमात्मतत्व से ओतप्रोत माना करते हैं और उससे भिन्न कोई वस्तु वस्तुतः उन्हें दीख नहीं पड़ती। उनके अनुसार तो यह सारा दृश्य समूह केवल माया का पसारा है और हमारे भ्रांत मन की निरी काल्पनिक सर्जना के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। अतएव, जब सुन्दरदास के शब्दों में उन्हें—

मनही के भ्रम तें जगत सब देषियत,
मनही कौ भ्रम गये जगत बिलात है।[१]

के सिद्धान्त में विश्वास करना है तो फिर उनके लिए प्राकृतिक सौन्दर्य की अनुभूति का महत्व प्रायः कुछ भी नहीं रह जाता। वे जब कभी उस पर दृष्टिपात करते हैं तो उसे अपने रंग में रँगी हुई ही पाया करते हैं।

संगीत-प्रेम

संतों ने जो कुछ अनुभव किया, उसमें उन्होंने अपने आपको घुला-मिला-सा दिया और उसमें वे सदा तल्लीन बने रहे। उनकी अनुभूति की अभिव्यक्ति इसी कारण, उनके अंतस्तल से हुआ करती थी। उसमें भावगांभीर्य के साथ-साथ एक प्रकार की स्वच्छंदता और मस्ती भी बनी रहती थी जो किसी जन्मजात गायक में पायी जाती है। संत लोगों का किसी-न-किसी रूप में गायक या भजनीक होना जनश्रुतियों और उल्लेखों द्वारा भी सिद्ध है। संत नामदेव के लिए कहा जाता है कि वे पंढरपुर में तथा अपनी यात्राओं में भी सदा भजन गाते रहा करते थे। गुरु नानकदेव का भी अपने साथी मर्दाना के साथ किसी वाद्ययंत्र के सहारे अनेक स्थलों में गाते फिरना उनकी जीवनियों में लिखा पाया जाता है। दादू पंथ के गरीबदास एवं बषनाजी की गणना अच्छे संगीतज्ञों में की जाती है और बावरी पंथ के प्रायः सभी प्रमुख संतों के चित्र गायकों के ही रूप में अंकित किये गए दीख पड़ते हैं। इसके सिवाय संत जयदेव एवं नामदेव से लेकर इधर के संतों तक के पदों के संग्रह सदा विविध रागों में विभक्त होकर ही प्रकाशित होते आए हैं। इसकी परंपरा सिद्ध-युग से ही चली आ रही है। सिद्धों के पदों को चर्यागीति कहा जाना और उनका कभी-कभी उनमें 'गाइउ' जैसे शब्दों का प्रयोग का होना भी यही सूचित करता है कि उस प्रकार की रचनाएँ बहुधा गायी जाया करती थीं। इस कारण, उनके संग्रह भी रागों के अनुसार ही किये जाते थे।

---

१. 'सुन्दर ग्रन्थावली', स० २५, पृ० ४५३।

परन्तु केवल इतने से ही संतों की सभी रचनाओं का संगीतशास्त्रानुसार निर्मित होना भी प्रमाणित नहीं हो जाता। उनके पदों की रचना का आदर्श मूलतः चाहे जो भी रहा हो, इन सभी को स्वर, लय, ताल आदि के अनुसार सिद्ध नहीं किया जा सकता। संगीतशास्त्र के नियमानुसार जो गीत निर्मित होते हैं, उनके रूप कतिपय बाह्य बंधनों द्वारा जकड़े हुए से जान पड़ते हैं। उनमें भावों की अपेक्षा उनके गेयत्व की ओर ही अधिक ध्यान दिया गया प्रतीत होता है, किन्तु संतों के पदों के सम्बन्ध में यह भी बात नहीं है। संतों ने जितना प्रयास अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए किया है, उतनी दूर तक वे उसकी भाषा या गेयत्व के लिये नहीं गये हैं। अतएव संतों के पदों का गेय गीतों की अपेक्षा गीत काव्यों की श्रेणी में गिना जाना कदाचित् अधिक उचित होगा। संत लोग अधिकतर अशिक्षित रहे और शास्त्रीय बंधनों की उन्होंने सभी प्रकार से उपेक्षा भी की थी। पदों की रचना उन्होंने इसी कारण, किन्हीं पिंगलशास्त्र वा संगीतशास्त्र के नियमों का ठीक-ठीक अनुसरण कर के नहीं की। उनके लिए तो सब कहीं प्रचलित उन्मुक्त लोकगीतों का ही संकेत पर्याप्त था। सिद्धों एवं नाथों की पद-रचना के आदर्श में उन्हें एक स्थूल आधार भी मिल गया। तदनुसार संत कबीर से लेकर बहुत पीछे तक के संतों ने अपनी रचनाएँ अधिकतर स्वच्छंद रूप से ही कीं और काव्य एवं संगीत के कठोर नियमों के पालन की ओर उनका ध्यान बहुत कुछ रीतिकाल के समय से आकृष्ट होने लगा।

संतों की रचनाएँ लगभग सभी प्रसिद्ध रागों के अंतर्गत संगृहीत पायी जाती हैं। फिर भी उनकी अधिकांश रचनाएँ राग गौड़ी, राग बिलावल, राग सोरठ, राग बसंत, राग सारंग तथा राग धनाश्री के अंतर्गत दीख पड़ती हैं। इनके अनन्तर राग मारू, राग भैरव, राग टोड़ी, राग असावरी, राग रामकली तथा राग मलार के नाम आते हैं। अन्य प्रमुख रागों में राग कल्याण, राग कान्हड़ा, राग केदार तथा राग नट वा नटनारायण के भी नाम लिये जा सकते हैं। संग्रहों में राग सावन, राग होली, राग हिंडोला, राग रेखता जैसे कुछ नाम भी आते हैं जो कदाचित् उक्त ढर्रे के अनुसार ही आ गए हैं। कुछ संतों ने एराकी और बैत जैसे एकाध नामों के भी प्रयोग किए हैं जो विदेशी जान पड़ते हैं और तुलसी साहब की रचनाओं के अंतर्गत ख्याल, तिल्लाना, ध्रुपद, टप्पा, ठुमरी, लावनी आदि के भी उदाहरण संगृहीत किये गए हैं। इस प्रकार के गीतों एवं गजलों तक की रचना आधुनिक संतों ने आरंभ की और गंभीर पदों की रचना का महत्व उस समय से क्रमशः घटता चला गया। रागों के शीर्षकों में किया गया पदों का संग्रह सत्तनामियों तथा सत्संगियों की पुस्तकों में नहीं दीख पड़ता। वे, तथा अन्य अनेक संत भी पदों को 'शब्द' कह कर ही पुकारना, कदाचित् अधिक अच्छा समझते हैं। फिर भी वे शब्द भजन के रूप में बराबर गाये जाते हैं। साधुओं के सम्बन्ध में कहा जाता है, "साँझ को राग सकारे गावै। सो साधु मोरे मन भावै" अर्थात् साधुओं-संतों का अपने पदों वा भजनों का अनियमित रूप से गान करना उनकी एक विशेषता ही समझी जाती है। गाये जाने वाले पद या भजन अपने रचयिताओं की अनुभूतियों अथवा उपदेशों के भाव व्यक्त करते हैं। उन्हें गाने वाले उनमें तल्लीन होने की अपनी मस्ती प्रकट करते हुए जान पड़ते हैं। पदों के शुद्ध रूप, उनको गाते समय महत्वपूर्ण समझे जाने वाले सांगीतिक नियमों का यथावत् पालन अथवा अन्य ऐसी बातों की ओर ध्यान देना वे बहुत आवश्यक नहीं समझते। संतों के ऐसे अनेक पदों की रचना के समय भी किसी प्रकार के बंधनों का विचार करने की परंपरा कभी नहीं रही है। गेय पदों के बहुधा पाँच अंग माने

जाते हैं जो क्रमशः उद्‌गह, मेलापक, ध्रुव, अंतरा और आभोग के नाम से प्रसिद्ध हैं।[1] इन्हें कभी-कभी केवल स्थायी, अंतरा, संचारी और आभोग नाम के चार अवयवों द्वारा भी प्रकट किया जाता है तथा जो किसी-किसी गाने में (जैसे प्रायः ख्याल और टप्पे में) केवल प्रथम दो तक ही दीख पड़ते हैं। किन्तु संतों की पद-रचना के लिए कोई इस प्रकार का नियम लागू नहीं। उनके कोई-कोई पद एक से अधिक पृष्ठों तक में छपे हुए पाये जाते हैं। उनमें किसी एक ही भाव-विशेष की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति की जगह साधनाओं के विवरण, रूपकों के विस्तार तथा आदर्शों के दृष्टांत इतनी प्रचुर मात्रा में आ जाते हैं कि उनका रूप दोहे, चौपाइयों वाले साधारण वर्णनों से भिन्न नहीं जान पड़ता।

संतों की रचनाओं में पाये जाने वाले उक्त प्रकार के दोष उनके रूप एवं शैली से कहीं अधिक उनके विषय पर ही ध्यान देने के कारण आ गए हैं। इनमें कई संतों के बहुधा अशिक्षित रहने के कारण कुछ और भी सहायता मिल गई है। शिक्षित एवं अभ्यस्त संतों ने जब कभी इस ओर ध्यान दिया है, तब उनके पद अथवा अन्य रचनाएँ भी बहुत शुद्ध एवं सुथरी दशा में बन पड़ी हैं। संतों की रचनाओं के सभी प्रामाणिक संस्करण भी बहुत नहीं मिलते और इसके कारण हमारे सामने उन्हें परखते समय दोहरी कठिनाई भी आ जाती है। सिद्धहस्त एवं प्रतिभाशाली संतों की जो कुछ शुद्ध रचनाएँ प्रकाश में आ चुकी हैं, उनमें उनके संगीत-ज्ञान का भी अच्छा परिचय मिलता है। केवल पदों अथवा अन्य ऐसे गानों में ही नहीं, अपितु उनके सवैयों, अष्टकों, रेखतों आदि तक में भी एक ऐसा प्रवाह एवं माधुर्य दीख पड़ता है जो सुनिर्मित और सुव्यवस्थित पदों में ही संभव है। इसके कारण, ऐसी रचनाएँ गायी भी जा सकती हैं। संतों के लिए संगीत वस्तुतः प्रारम्भिक काल से ही अपना आवश्यक एवं प्रिय साधन रहता आया है। उसके महत्त्व को वे सदा पहचानते भी रहे हैं। उसे किसी शास्त्रीय ढंग से अपना न सकने पर भी उसका प्रयोग वे स्वच्छन्द रूप से करते आए हैं और इसमें वे सफल भी कहे जा सकते हैं। इसके सिवाय उनकी अनेक रचनाएँ गीत-काव्य की कोटि में भी आती हैं और इस दृष्टि से भी उनकी संगीतप्रियता पर विचार किया जा सकता है।

छंद-प्रयोग

संतों की रचनाएँ पहले पद्यात्मक रूप में ही होती रहीं। उनके साधारण-से-साधारण उपदेश, और कदाचित् उनके पत्र-व्यवहार तक, सदा उसी प्रकार चलते रहे। गद्य-लेखन की प्रथा का अनुसरण उन्होंने बहुत पीछे आकर किया जब हिन्दी में गद्यमयी टीकाएँ लिखी जाने लगीं और वार्ताओं जैसी विवरणात्मक रचनाओं का भी आरंभ हो गया। अब तक उपलब्ध संत-साहित्य के आधार पर केवल इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि यह समय विक्रम की १९वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध या उत्तरार्द्ध रहा होगा। जो हो, पहले के संतों के समक्ष अपनी रचना करते समय पद्य के प्रचलित आदर्श ही रहा करते थे। वे छंद आदि की सूक्ष्म बातों पर विचार किये बिना भी अपना काम चला लेते थे। उनके पदों की रचना कभी-कभी एक से अधिक छंदों के सम्मिश्रण से हो जाया करती थी और उनकी साखियों में भी दोहों के अतिरिक्त अन्य छंद प्रयुक्त होते थे।[1] परन्तु इन बातों की न तो वे छानबीन करना आवश्यक मानते थे, न पिंगल के ज्ञान को वे यथेष्ट महत्व देते थे। परंतु कवि केशवदास (सं० १६१२-१६७४) जैसे

---

१. दे० पृ० ३४-३५ भी।

हिन्दी कवियों ने इस ओर ध्यान देना आरंभ किया और विविध छंदों के प्रयोग की पद्धति चल निकली। 'रामचन्द्रिका' जैसी एकाध पुस्तकें केवल पिंगल-ज्ञान के प्रदर्शनार्थ ही लिखी जाने लगीं तो इसका प्रभाव उन पर भी पड़े बिना नहीं रह सका। रीतिकालीन संतों ने इस ओर प्रवृत्त होना अपना कर्त्तव्य-सा मान लिया। तदनुसार गुरु अर्जुनदेव (सं० १६२०-१६६३) एवं मलूकदास (स० १६३१-१७३६) के समय के लगभग पदों, साखियों एवं रमैनियों के अतिरिक्त अन्य प्रयोग भी चल पड़े।

यह समय मुगल सम्राट् अकबर के शासनकाल का था, जबकि देश में शांति एवं समृद्धि थी और महाराजों एवं नवाबों के यहाँ भी दरबारों की व्यवस्था चल रही थी जिनमें कवियों और गुणियों का आदर-सम्मान होता था। अतएव मनोरंजन तथा कला-प्रदर्शन के लिए काव्य-रचना में प्रवृत्त होना, साधारणतः शिक्षित लोगों के लिए भी स्वाभाविक-सा हो गया था। फलतः काव्य-कला में योग्यता प्राप्त करने के लिए पुराने संस्कृत काव्यशास्त्रों का अध्ययन भी होने लगा। इस प्रकार हिन्दी में भी साहित्य-शास्त्र को उन्नत एवं समृद्ध करने की ओर बहुत-से पंडित कवियों का ध्यान आकृष्ट हुआ। रस, अलंकार, छंद जैसे साहित्य-शास्त्र के अंगों का जैसे-जैसे अनुशीलन एवं विवेचन होता गया, वैसे-वैसे उनके उचित प्रयोगों में भी वे लोग दत्तचित्त होते गए। इस प्रकार के प्रयोग कभी-कभी इस उद्देश्य से भी किये जाने लगे कि उक्त अंगों के साधारण-से-साधारण रूपों के भी विवरण सबके सामने उपस्थित कर दिये जायें। रस-संबंधी भाव-विभावादि एवं नायक-नायिका भेद, अलंकार-सम्बंधी नामों का विस्तार तथा भेद-प्रभेद और छंद-संबंधी गुण, मात्रा एवं यति को प्रदर्शित करने के लिए उनके उदाहरणों की संख्या में अधिकाधिक वृद्धि की जाने लगी। इस प्रकार हिन्दी के साहित्यशास्त्र की समृद्धि के साथ-साथ उसकी कलात्मक रचनाओं का भी निर्माण एवं प्रचार बड़े वेग के साथ आरंभ हो गया।

संत कवि सुंदरदास, रज्जबजी जैसे पंडित एवं निपुण कलाकारों का आविर्भाव उपर्युक्त वातावरण के ही प्रभाव में हुआ था। वे अपने गुरु अथवा गुरु-भाइयों के संपर्क में रहा करते थे और उनके साथ साधना एवं सत्संग में निरत रहते थे, परन्तु अन्य सभी संतों की भाँति पद्य-रचना में प्रवृत्त होते समय वे अपने समय की नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियों से अपने को बचा नहीं पाते थे। संत सुन्दरदास ने दर्शन और साहित्य का विशेष अध्ययन काशीपुरी में जाकर किया था और काव्य-कला में भी भली-भाँति निपुण हो गए थे। इस कारण उनकी पद्य-रचना का आदर्श न केवल अपने भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति तक ही सीमित रहा, अपितु वे अपने कथन को सभी प्रकार से आकर्षक, चमत्कार-पूर्ण एवं शुद्ध तथा शास्त्रीय ढंग से प्रकट किया हुआ भी सिद्ध करना चाहते थे। उन्होंने काव्य का प्राण 'हरिजस' को अवश्य बतलाया था, किन्तु इसके साथ ही उसका 'नख-शिख शुद्ध' होना भी वे बहुत आवश्यक समझते थे। अक्षर, मात्रा अथवा दोषपूर्ण अर्थ वाली कविता, उनके अनुसार, कभी अच्छी नहीं लगा करती। उसे सुनते ही काव्य-रसिक लोग उठकर चल देते हैं।[1] अतएव काव्य को सर्वप्रिय बनाने के लिए उसे सर्वांगतः शुद्ध, तथा दोषरहित रूप देना भी अनिवार्य है। संत सुन्दरदास ने इसीलिए गणागण विचार

१. दे० 'नखशिख शुद्ध कवित्त' आदि जो इसके पूर्व पृ० ५१ पर उद्धृत किया जा चुका है।

दग्धाक्षर विचार, काव्य-दोष, संख्यावाची शब्दादि के विषय में भी अपने सिद्धान्त प्रकट किये हैं और अपनी रचनाओं के अंतर्गत लगभग पचास-साठ प्रकार के छोटे-बड़े छंदों का उदाहरण भी प्रस्तुत किया है।

इसमें संदेह नहीं कि संत सुन्दरदास संतों में सबसे अधिक निपुण एवं काव्य-कला-मर्मज्ञ थे। उनके छंदों में त्रुटियों का प्रायः अभाव दीख पड़ता है और उनकी भाषा भी व्याकरण के अनुसार शुद्ध और सुधरी हुई पायी जाती है। उन्होंने रस एवं अलंकार के प्रयोगों में भी निपुणता दिखलायी है, जैसा कि इसके पहले उद्धृत किये गए उनके अनेक उदाहरणों द्वारा प्रमाणित होता है। रज्जबजी संत सुन्दरदास के ही गुरु-भाई थे और इनसे वय में बड़े भी थे। रीतिकालीन परंपरा का प्रभाव इनकी रचनाओं पर भी पाया जाता है और सांसारिक नीति-रीति के सम्बन्ध में ये सुन्दरदास से भी अधिक सफल जान पड़ते हैं। परन्तु रज्जबजी की रचनाओं में अभी प्राचीन परम्परा के प्रति मोह की मात्रा कुछ अधिक दीख पड़ती है। उन्होंने साखियाँ बहुत बड़ी संख्या में लिखी हैं। इस विषय में वे सिवाय कबीर साहब के अन्य सभी संतों से बढ़-चढ़कर हैं। सुन्दरदास के सवैये और कवित्त उसी प्रकार बहुत अच्छे उतरे हैं और इनकी रचना में कदाचित् वे भी बेजोड़ कहे जा सकते हैं। इन छंदों के अतिरिक्त कुछ और भी ऐसे हैं जिनमें भिन्न-भिन्न संतों ने अपनी विशेष योग्यता प्रदर्शित की है। उदाहरण के लिए, कुंडलियाँ में पलटू साहब और दीनदरवेश, झूलना में यारी, छप्पय में भीषजन, अरिल्ल में वाजिद तथा रेखते में गरीबदास अधिक सफल जान पड़ते हैं। यों तो अरिल्ल, झूलने एवं रेखते में हम पलटू साहब को भी किसी से कम योग्य कहना उचित नहीं समझते। इसके सिवाय कवित्त एवं सवैये का सफल प्रयोग करने वाले संतों में संत रज्जबजी तथा गुरु गोविन्दसिंह के नाम भी बड़े सम्मान के साथ लिये जा सकते हैं।

पदों, साखियों एवं रमैनियों के पीछे जिन छंदों का अधिकतर प्रचार संत-काव्य में पहले-पहल आरंभ हुआ, वे सवैया, कवित, छप्पय, अरिल्ल, कुंडलियाँ और त्रिभंगी थे। इनके अतिरिक्त बरवै जैसे एकाध छंदों के भी प्रयोग संत सुन्दरदास जैसे कवि करने लगे। सुन्दरदास ने सवैया छंद के किरीट, वीर, केतकी आदि कई रूपों के प्रयोग किये हैं जिनमें एक प्रकार से इन्दव एवं हंसाल की भी गणना की जा सकती है। इनके 'सवैया' अथवा 'सुन्दरविलास' नामक ग्रन्थ के अंतर्गत मनहर (कवित्त) और कुंडलियाँ छंदों के भी अनेक प्रयोग मिलते हैं और उनकी संख्या कम नहीं कही जा सकती। किंतु सवैयों का महत्व अधिक होने के कारण रचना का नाम उन्हीं के अनुसार दिया गया जान पड़ता है। त्रिभंगी छंद के प्रयोग रज्जबजी एवं सुन्दरदास ने सफलतापूर्वक किये हैं। सुन्दरदास ने बरवै छंद को पूरबी भाषा में लिखने की चेष्टा की है और उसमें शृंगार रस के भाव भी भरे हैं। किंतु उसमें तुलसीदास या रहीम की सरसता नहीं ला सके हैं। संत भीषजन ने छप्पय छंद में अपनी पूरी 'बावनी' की रचना कर डाली है। इसी प्रकार वाजिद एवं पलटू साहब ने भी अपने अरिल्ल एवं कुंडलियाँ लिखी हैं। इन सभी ने अपनी इन रचनाओं में इतनी सुन्दर सूक्तियाँ कही हैं कि वे लोकप्रिय हो गई हैं। गुरु रामदास एवं गुरु अर्जुनदेव ने रीतिकाल के प्रारंभिक दिनों में एक प्रकार के 'छंत' नामक छंद के प्रयोग किये थे, किन्तु उसके विषय में पूरा परिचय नहीं मिल सका है।

विक्रम की १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में किसी समय से रेखता नामक छंद

का प्रयोग संत-काव्य में होने लगा। 'रेखता' शब्द फारसी भाषा का है और इसका अर्थ कदाचित् एक प्रकार के गाने से सम्बद्ध है। यह नाम पीछे इतना लोकप्रिय हो गया कि इसे कई उर्दू कवियों ने उर्दू भाषा अथवा उर्दू काव्य का पर्याय-सा मान लिया जैसा कि,

> **"रेखती के तुम्हीं उस्ताद नहीं हो गालिब,**
> **कहते हैं अपने जमाने में कोई मीर भी था।।"**[1]

जैसी पंक्तियों से प्रकट होता है। इस नाम का एक उर्दू छंद भी प्रचलित हो गया जिसे दूसरे शब्दों में कभी-कभी गज़ल भी कह दिया जाता है। परन्तु उर्दू का उक्त रेखता छंद, बाहर के अनुसार, 'मफ़लऊ फ़ायलातुन मफ़ऊल फ़ायलातुन' के आधार पर चौबीस मात्राओं का होता था। वह हिन्दी के 'दिग्पाल' नामक छंद का ही एक अन्य रूप था, जहाँ संतों वाले उस रेखता छंद में ३७ मात्राएँ हुआ करती थीं। यह रेखता छंद हिन्दी के छंदों में से 'हसाल' के साथ बहुत मिलता-जुलता है। यह एक प्रकार से उसका ही उर्दू रूप भी कहा जा सकता है। इस छंद में २० एवं १७ मात्राओं पर विराम हुआ करता है। इसे सवैया छंद का ही एक भेद कभी-कभी मान लिया जाता है जो उचित नहीं जान पड़ता। रेखता को संत-काव्य के अंतर्गत कहीं-कहीं 'रेखता राग' के नाम से भी अभिहित किया गया है जो उपर्युक्त 'गाने' का ही बोधक प्रतीत होता है।

इधर के अधिक प्रयुक्त होने वाले अन्य छंदों में झूलना का भी नाम लिया जा सकता है जिसके उदाहरण संत सुन्दरदास के समय से ही मिलते आ रहे हैं। इस छंद में भी ३७ मात्राएँ होती हैं जिस कारण इसकी भी गणना मात्रिक दंडकों में की जाती है। परन्तु इस छंद के शुद्ध प्रयोग संतों की कविताओं में बहुत कम देखने को मिलते हैं। पलटू साहब एवं तुलसी साहब को छोड़कर अन्य लोगों ने इसकी अधिक रचना भी नहीं की है। कुछ इस छंद को भी सवैये का ही एक भेद मानते हैं, किन्तु इस बात को और बहुत से साहित्यज्ञ स्वीकार नहीं करते। यह छंद उपदेश तथा चेतावनी के लिए बहुत उपयुक्त होता है, जहाँ रेखते का उपयोग अधिकतर उद्बोधन के लिए किया जाता है। अरिल्ल छंद का नाम तुलसी साहब के रचना-संग्रहों में 'अरियल' दिया गया है। यह छंद भी संतों में बहुत लोकप्रिय रहता आया है। इसका विशेष उपयोग उन्होंने वस्तुस्थिति के दर्शनों में समझा है। संतों की साखियों में अनेक छोटे-छोटे छंदों का प्रयोग बहुत पहले से ही होता आ रहा था। ध्यानपूर्वक देखने पर कबीर साहब तक की साखियों में दोहों और सोरठों के अतिरिक्त, हरिपद, श्याम, उल्लास, दोही, छप्पय चौपाई जैसे अन्य छंदों के प्रयोग मिल जाते हैं। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने न तो इन्हें जान-बूझ कर छंदों की विविधता दिखलाने के लिए प्रयुक्त किया था, न वे इनके भेदों-उपभेदों से भलीभाँति परिचित ही थे।

भाषा

संतों की भाषा के विषय में चर्चा करते समय अनेक बातों पर विचार करने की आवश्यकता पड़ जाती है। एक तो वे सुदूर एवं विभिन्न क्षेत्रों के निवासी थे जहाँ पर

---

१. 'दीवाने ग़ालिब' (रामनारायण लाल, प्रयाग), पृ० १७।

विविध बोलियों के कारण उनकी भाषा के स्वरूप में अंतर का पड़ जाना स्वाभाविक था। दूसरे, उनके अधिकतर अशिक्षित अथवा अर्द्ध शिक्षित रहने के कारण उनकी भाषा का सुव्यवस्थित रूप में प्रयुक्त होना भी संभव न था। इसके सिवाय संत लोग अपनी भाषा से अधिक उसमें व्यक्त किये जाने वाले भाव को ही महत्त्व दिया करते थे। इस कारण, उनके विभिन्न प्रयोगों में असावधानतावश कई प्रकार की त्रुटियाँ भी आ जाया करती थीं। फिर, संत लोग भ्रमणशील होने के कारण जहाँ कहीं भी जाते थे, वहाँ की जनता के प्रति कुछ उपदेश देते समय अथवा कम-से-कम वहाँ के अन्य संतों के साथ सत्संग करने के अवसरों पर उन्हें स्थानीय भाषा का भी कुछ-न-कुछ व्यवहार करना पड़ जाता था। कई संतों की भाषा में विविधता के आ जाने का एक यह भी कारण जान पड़ता है कि उन्होंने कभी-कभी जान-बूझ कर ऐसा किया है। उदाहरण के लिए संत सुन्दरदास ने अपनी रचनाओं को कभी-कभी पंजाबी, गुजराती अथवा पूरबी भाषाओं में भी लिखने की चेष्टा की है। इन संतों की भाषा के शुद्ध रूप ठहराने में भी एक कठिनाई इस कारण पड़ जाती है कि इनमें जितने लोग बहुत प्रसिद्ध हो गए हैं, उनके भिन्न भाषा-भाषी अनुयायियों ने उनकी रचनाओं के स्वरूप को मनमाने ढंग से बदल भी दिया है। इससे उनकी प्रामाणिकता में कभी-कभी पूरा संदेह तक होने लगता है तथा उनके मौलिक रूप का निश्चय करना नितांत कठिन प्रतीत होने लगता है। यह कठिनाई उन संत कवियों की रचनाओं के विषय में और भी अधिक बढ़ जाती है जिनका सम्बन्ध केवल मौखिक परंपरा से रहा है।

संतों की रचनाओं में प्रयुक्त भाषा को, इसी कारण, बहुत-से लोग एक प्रकार की खिचड़ी या सधुक्कड़ी भाषा का नाम दे दिया करते हैं। उनके व्याकरण, पिंगल वा परंपरा के बन्धनों से प्रायः मुक्त रहने के कारण, उन्हें उचित महत्त्व देते नहीं जान पड़ते। परन्तु संतों की भाषा पर गंभीरतापूर्वक मनन करने के विचार का केवल इसी-लिए परित्याग कर देना कि उसमें बहुत कुछ संमिश्रण हो गया है और वह किन्हीं निश्चित और प्रचलित नियमों का अनुसरण नहीं करती, किसी उर्वर क्षेत्र के लाभों से वंचित रह जाने के समान है। भाषाविज्ञान-सम्बन्धी ज्ञान के अन्वेषकों के लिए तो यह विषय मनोरंजक होने के साथ ही महत्त्वपूर्ण भी हो सकता है। संतों का जीवन सदा निष्कपट तथा छलहीन रहा और उनकी विचारधारा का मूल स्रोत उनकी गहरी स्वानुभूति से संलग्न था। अतएव जो कुछ भी भाव उन्होंने व्यक्त किये, वे प्राकृतिक निर्झर-धारा की भाँति फूटकर स्वाभाविक साधनों द्वारा ही प्रकट होते दीख पड़े। संतों ने सर्वप्रथम स्वभावतः उसी माध्यम को स्वीकार किया जिसमें वे बचपन से अभ्यस्त थे अथवा जिससे उनके अनुयायी पूर्णतः परिचित जान पड़े। उसका भी प्रयोग उन्होंने भरसक किसी अकृत्रिम एवं उपयुक्त रूप में ही करने की चेष्टा की। उन्होंने साधारण-से-साधारण कोटि के प्रतीकों के प्रयोग किये, अति प्रचलित मुहावरों और लोकोक्तियों से काम लिया। अपने अत्यन्त गम्भीर नियम का प्रतिपादन करते समय भी अपनी उसी भाषा का व्यवहार किया जिस पर उनका कुछ अधिकार रहा। आवश्यकता के अनुसार उनके कथनों में अपरिचित शब्दों के भी प्रयोग हो जाते थे जिन्हें वे अपने रंग में रँग लेते थे। गम्भीर भावों की अभिव्यक्ति बहुधा अपूर्ण वाक्यों वा वाक्यांशों में ही हो जाया करती थी जिन्हें वे पर्याप्त समझते थे। फिर भी उन्होंने उन्हें जान-बूझ कर न तो विकृत या अंगहीन बनाया, न किसी तुक या यति की मर्यादा-रक्षा के फेर में पड़कर, अथवा किसी शब्द के अर्थ में दुरूहता लाने के लिए उसे गढ़-छोल कर उन्होंने कोई अपूर्व रूप ही

प्रदान किया । संतों की अभिव्यक्तियों के पीछे जैसे आनन्द का कोई उत्स काम करता हुआ प्रतीत होता है। इस कारण उनके अल्हड़ प्रयत्न भी कुछ अनोखे परिणाम प्रकट करते दीख पड़ते हैं। इस प्रकार उनके टूटे-फूटे शब्दों तथा अटपटी बानियों में भी हमें स्वाभाविकता की शक्ति और अकृत्रिमता के सौन्दर्य का आभास होने लगता है जिनका अन्यत्र सुलभ होना किसी संयोग की ही बात हो सकती है।

संत-काव्य के रचयिताओं की भाषा पर विचार करना हमें पहले कतिपय भाषा-क्षेत्रों के ही आधार पर अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होता है। ऐसी प्रवृत्ति होती है कि कबीर साहब, रैदास, बुल्ला, गुलाल, भीखा, धरनी, शिवनारायण, कमाल, दरिया, किनाराम आदि को भोजपुरी क्षेत्र में रख कर मलूकदास, जगजीवन, दूलन, भीषन, पलटू आदि को अवधी क्षेत्र का मान कर, गुरु नानक, गुरु अंगद, गुरु अमरदास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुन, गुरु तेगबहादुर, गुरु गोविन्द, बुल्लेशाह, फरीद, बाबालाल, गरीबदास आदि को पंजाबी क्षेत्र का निवासी समझकर, दादू, रज्जब, सुन्दर-दास, रामचरण, पीपा, आनन्दघन, भीषजन, वाजिद, धन्ना, वषना, दीनदरवेश आदि को राजस्थानी क्षेत्र में उत्पन्न जानकर तथा इसी प्रकार तुलसी साहब, शिवदयाल, साल-ग्राम, यारी, बावरी आदि को ब्रजभाषा और खड़ीबोली के क्षेत्र से सम्बद्ध मानकर चलें और शेष में से भी चरणदास और उनकी शिष्याओं को मेवाती क्षेत्र तथा सिंगाजी को नीमाड़ी क्षेत्र का समझ कर उसकी भाषाओं में अन्तर ढूँढ़ निकालें। परन्तु यह कार्य उतना सरल नहीं है जितना ऊपर से दीख पड़ता है। जितनी ही दूर हम इस गहन वन में प्रवेश करते जाते हैं, उतनी ही अधिक कठिनाइयाँ हमारे सामने आती जाती हैं। अन्त में हमें जान पड़ता है कि संतों की भाषा कम-से-कम शब्द-भंडार एवं वर्णन-शैली के अनुसार मूलतः एक है। क्रियापद, संयोजक वा कारक-चिह्न संबंधी जो कुछ अन्तर दीख पड़ते हैं, वे वस्तुतः उतने स्पष्ट एवं निश्चित नहीं हैं जिनके आधार पर हम उसे भिन्न-भिन्न वर्गों में विभाजित कर सकें। इसके सिवाय एक ही कबीर साहब की रच-नाओं को कभी हम 'आदिग्रन्थ' के पंजाबी रूप में पाते हैं तो 'कबीर ग्रंथावली' के अन्त-र्गत राजस्थानी वेशभूषा में देखते हैं। एक तीसरे संग्रह में वे ही रचनाएँ अवधी अथवा भोजपुरी तक के क्रियापदों से संयुक्त होकर सामने आती हैं। इसी प्रकार एक ओर जहाँ अवधी क्षेत्र के पलटू साहब तथा बघेली क्षेत्र के धर्मदास की कुछ रचनाओं को हम भोज-पुरी में पाते हैं, वहाँ भोजपुरी क्षेत्र के कमाल के कुछ पदों को खड़ीबोली तथा दूसरों को मराठी से प्रभावित राजस्थानी में देखते हैं।

एक बात जो कई प्रसिद्ध संतों की रचनाओं में विशेष रूप से लक्षित होती है, वह फ़ारसी भाषा के शब्दों एवं क्रियापदों तक के प्रयोग हैं जो कभी-कभी स्वतंत्र रूप से, किन्तु अधिकतर उर्दू भाषा के साथ मिश्रित रूप से मिलते है। कबीरदास की रचनाओं के संग्रह-ग्रंथ 'कबीर ग्रंथावली' का २५७वाँ पद तथा उसी का २५८वाँ पद भी जो 'आदिग्रंथ' में भी रागुतिलंग के शीर्षक से उनका प्रथम पद होकर आया है, फ़ारसी भाषा में रचित ऐसे पदों के उदाहरण में दिये जा सकते हैं। इसी प्रकार दादूदयाल के पदों के संग्रह में से उसका ६१वाँ पद तथा उसमें संगृहीत कम-से-कम १६ साखियाँ, 'मलूकदास की बानी' का २१वाँ सबद, धरनीदास का 'अलिफ़नामा', पलटू साहब की कुंडलियाँ (सं० २१५ और २५८) तथा 'रैदास जी की बानी' का ६०वाँ पद भी ऐसे ही उदाहरणों में दिये जा सकते हैं। पता नहीं ये सभी संत फ़ारसी भाषा से अभिज्ञ भी

थे या नहीं और यदि उससे उन्हें कुछ परिचय भी था तो क्या वे पद्य-रचना भी कर सकते थे ? उर्दू भाषा के क्रियापदों के साथ-साथ फारसी, अरबी एवं तुर्की भाषा के शब्दों के प्रयोग कर ले जाना और बात है, पर फारसी भाषा के क्रियापदों के भी शुद्ध प्रयोग जहाँ-जहाँ पर उक्त उदाहरणों में मिलते हैं, वहाँ इस विषय का प्रश्न एक समस्या का रूप ग्रहण कर लेता है। संतों में बहुत कम ऐसे थे जो फारसी भाषा का पूर्ण ज्ञान रखते थे और जो इसके माध्यम से कविता करने में भी सिद्धहस्त थे।

संतों की बहुत-सी रचनाएँ फारसी के अतिरिक्त गुजराती, मराठी, सिंधी, संस्कृत आदि में भी लिखी गई पायी जाती हैं। ऐसे संतों में दादूदयाल का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि उन्होंने इस प्रकार की पूरी-पूरी रचना को ही कभी-कभी वैसा रूप दे दिया है। उनकी कुछ गुजराती, पंजाबी एवं सिंधी भाषा की रचनाएँ सुन्दर हुई हैं, किन्तु उनकी संस्कृत रचनाओं में कोरी सधुक्कड़ी संस्कृत ही दीखती है। संस्कृत रचनाएँ केवल सुन्दरदास की ही शुद्ध कही जा सकती हैं, किन्तु वे संख्या में आधे दर्जन से भी अधिक न होंगी। संस्कृत में लिखने का अभ्यास कुछ अन्य संतों ने भी थोड़ा-बहुत किया, किन्तु उनके समान कोई भी सफल नहीं हुआ है। पंजाबी भाषा वाले क्षेत्र के संत कवियों ने जो रचनाएँ की हैं, उन पर अरबी, फारसी, तुर्की, लहँदा एवं पश्तो तक का प्रभाव प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। उसी प्रकार ब्रजभाषा एवं भोजपुरी क्षेत्र के संतों की रचनाओं में संस्कृत के तत्सम एवं तद्भव शब्दों की भरमार है। संत नामदेव एवं त्रिलोचन की रचनाओं पर मराठी की छाप उतनी अधिक नहीं है जितनी सिंगाजी की नीमाड़ी रचनाओं पर लक्षित होती है। इसका कारण कदाचित् यही हो सकता है कि पहली रचनाओं का प्रचार उत्तरी भारत की ओर अधिक रहता आया है। संत जयदेव के एक उपलब्ध पद में जो संस्कृत-प्रभावित शैली दीख पड़ती है, वह उनके कवि जयदेव होने का भी समर्थन करती है।

संतों में से लगभग ८० प्रतिशत की भाषा व्याकरण के नियमानुसार अशुद्ध ठहरती है। जिन लगभग २० प्रतिशत वालों की भाषा अधिक शुद्ध एवं सुधरी पायी जाती है, उनकी रचनाओं के भी पाठभेद में बहुधा शंका उत्पन्न हो जाती है। वास्तव में एकाध को छोड़कर किसी भी संत की पूरी-पूरी रचनाओं का प्रामाणिक संस्करण अभी तक नहीं निकला है। प्रकाशित संस्करणों के सम्पादकों ने अब तक न तो अधिक हस्त-लिखित प्रतियों के विषय में पूरी खोज की है, न ऐसी प्रतियों की परस्पर तुलना कर उसके आधार पर उचित निर्णय तक पहुँचने का कष्ट ही उठाया है। हस्तलिखित प्रतियाँ भी बहुधा ऐसे व्यक्तियों द्वारा लिखी पायी गई हैं जिन्हें या तो आवश्यक ज्ञान न था अथवा जिन्होंने मूल रचयिता के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने अथवा पांडित्य-प्रदर्शन करने के लिए ही पाठों में मनमाने परिवर्तन तक कर दिये हैं। किसी संत की रचना के मूल एवं प्रामाणिक पाठ का निर्णय तभी सम्भव है जब कि इसके लिए प्रयास करने वाले व्यक्तियों को भाषा-विषयक ज्ञान के अतिरिक्त उसके वास्तविक मत एवं विचारधारा का भी पूरा परिचय मिल चुका हो। उसमें सहृदयता हो तथा जिसकी कल्पना वा अनुमान करने की शक्ति उसकी कुशाग्र बुद्धि के कारण कहीं उससे औचित्य का उल्लंघन न करा दे। संत लोग रूढ़ संस्कारमुक्त स्वतन्त्र विचारों के पोषक और निर्भीक अवश्य थे, किन्तु वस्तुस्थिति से वे कभी दूर भी नहीं जाना चाहते थे। उन्होंने अपने भावों को यथावत् और उपयुक्त शब्दों में व्यक्त करते रहने की निरन्तर चेष्टा की है। यदि वे कहीं-कहीं इसमें असफल जान पड़ते हैं और उनकी भाषा एवं शैली कहीं-

कहीं सदोष दीख पड़ती है तो इसका कारण सम्भवतः यही हो सकता है कि वे कभी-कभी भावावेश में रहा करते थे और अपनी भाषा से कहीं अधिक अपने भावों पर ही ध्यान केन्द्रित रखते थे। उनमें अधिक संख्या ऐसे लोगों की ही थी जो प्रायः अशिक्षित या अर्द्ध शिक्षित कहलाते हैं और जो इसी कारण, साहित्यशास्त्रीय काव्य-रचना-पद्धति में कभी दक्ष या कुशल कहलाने योग्य नहीं होते।

उपसंहार

संतों ने कवि-कर्म को कभी अधिक महत्त्व नहीं दिया। पद्य-रचना को उन्होंने अपनी भावाभिव्यक्ति अथवा अपने मतप्रचार के लिए उपयोगी माध्यम के रूप में अपनाया था। अतः साधन से अधिक उसके साध्य की ओर ध्यान देना उनके लिए स्वाभाविक भी रहा। उनमें जो लोग निसर्गतः प्रतिभाशाली व्यक्ति थे, उन्होंने बिना काव्य-कौशल में निपुण हुए भी अच्छी कविताओं की रचना कर डाली। जो लोग उस कला में सिद्धहस्त थे, उन्होंने वैसी योग्यता के आधार पर अपने चमत्कार भी दिखलाये। परन्तु संतों में बहुत बड़ी संख्या ऐसे लोगों की ही थी जिनमें उक्त दोनों में से कोई भी विशेषता नहीं थी। उनकी पद्य-रचना में इसी कारण, टकसाली काव्य-सौंदर्य अथवा भाषा की सरसता का पता लगाना उचित नहीं कहा जा सकता। संतों में से कबीर साहब को हिन्दी के प्रतिभाशाली कवियों में स्थान दिया जाता है। सुन्दरदास की गणना काव्य-कला के मर्मज्ञ कवियों में की जाती है। इनमें से भी, प्रथम की योग्यता पर विचार करते समय अधिकतर उनकी रचनाओं की लोकप्रियता पर ही विशेष ध्यान दिया जाता है। दूसरे की प्रशंसा उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा की शुद्धता एवं छन्दों की नियमानुकूलता पर ही निर्भर समझी जाती है। सन्तों में ये दोनों एक प्रकार से अपवाद-स्वरूप माने जाते हैं। इन्हें छोड़ शेष की इस विषय में बहुत कम चर्चा की जाती है।

ऐसे निर्णय का एक प्रमुख कारण यह भी हो सकता है कि काव्य के बहु-स्वीकृत लक्षणों में जो बातें विशेष रूप से आवश्यक समझी जाती हैं, वे उसकी रचनाओं में बहुत कम देखने को मिलती हैं। काव्य-सौंदर्य बहुधा उसकी भाषा की सजावट और वर्णन-शैली के आकर्षण में ही ढूंढ़ा जाता है। जिस रस की अभिव्यक्ति को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है, वह शृंगाररस है और जिसे 'रसराज' तक की उपाधि दे दी जाती है। इस रस का महत्त्व हमारे हिन्दी साहित्य के इतिहास द्वारा भी सिद्ध किया जा सकता है। उसके 'वीरगाथाकाल' में जिस समय वीररस की कविताओं की रचना हो रही थी, इस रस को उसकी बराबरी का स्थान मिल जाया करता था। भक्तिकालीन सगुणोपासक या मधुरोपासक कवियों के आने पर भी उनके इष्टदेव राधा-कृष्ण एवं सीता-राम के प्रेम-भाव को इतनी प्रधानता मिली कि इसका महत्त्व एक बार और भी बढ़ गया तथा शांतरस उसके सामने बहुत कुछ फीका-सा पड़ गया। फलतः रीतिकाल तक आते-आते प्रायः शृंगार-ही-शृंगार दीख पड़ने लगा और वही सच्चे काव्य का निर्णायक अंग-सा बन बैठा। इसी प्रकार हमारे साहित्य-मर्मज्ञों की मनोवृत्ति को शृंगारिक रूप देने में मध्य-कालीन संस्कृत-काव्य का भी हाथ समझा जा सकता है। हमारे साहित्यिक बहुत अंशों तक उन तत्कालीन संस्कृत ग्रन्थों के भी ऋणी कहला सकते हैं जो साहित्यशास्त्र के नाम द्वारा अभिहित किये जाते हैं। शांतरस का समुचित आस्वादन आध्यात्मिक मनोवृत्ति वाले ही सहृदय व्यक्ति कर सकते हैं जो उन साहित्यिकों में बहुत कम पाये जाते हैं। ऐसे

लोगों की दृष्टि में कुछ अन्य संत भी कवि कहलाने योग्य हैं। कबीर साहब की भाँति प्रतिभाशाली अथवा सुन्दरदास के समान कलाकार न समझे जाने पर भी नामदेव, रैदास, नानक, दादू, रामदास, हरिदास, जगजीवन, रज्जब, धर्मदास, धरनी, मलूक, अर्जुन, गुलाल और पलटू जैसे एक दर्जन से अधिक संत इस प्रकार के मिलेंगे जिनके हृदयों की कोमलता, भावों की गम्भीरता एवं भाषा की सरसता उपेक्षणीय नहीं कही जा सकती। किन्तु जिनकी न्यूनाधिक चर्चा कदाचित् उनके परम्परागत मानदण्ड के अनुसार योग्य न पाये जाने के ही कारण नहीं की जाती। उनकी भली लगने वाली पंक्तियों को बहुधा हृदयोद्‌गार अथवा सूक्ति कहकर ही टाल दिया जाता है जिसे उपर्युक्त दूसरी मनोवृत्ति वाले उतना न्यायसंगत नहीं समझते।

परन्तु आधुनिक युग में परम्परागत रीतिकालीन कविता के प्रति इधर कुछ उदासीनता भी प्रकट की जाने लगी है। भाषा की कोरी सजावट एवं छन्दोनियम के परिपालन को विशेष महत्त्व देने की परिपाटी प्रायः लुप्त-सी होती जा रही है। गत कई वर्षों के छायावादी वातावरण में निजी आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति को पूरा प्रश्रय मिला था। अब उसकी प्रतिक्रिया में उठने वाली प्रगतिवादी लहर ने काव्य-कला का वास्तविक उद्देश्य जनकल्याण को ठहराकर शृंगारिकता को एक प्रकार से उपेक्षित बना डाला है। प्रगतिवादी कवि यथार्थवाद, साम्यवाद तथा उपयोगितावाद का पोषक है। वह रूढ़िवादिता का विरोधी एवं विचार-स्वातंत्र्य का प्रबल समर्थक भी है। जनता में वह आत्म-विश्वास एवं आशावादिता का भाव भरना चाहता है। उसे अपनी वर्तमान दशा को पूर्ण रूप से परिवर्तित कर सच्चा मानव बन जाने के लिए आमन्त्रित भी करता है। संत लोग इन बातों में उससे कुछ भी कम नहीं रहे हैं और जो कुछ भी अन्तर समझ पड़ता है, वह केवल दोनों के दृष्टि-भेद का परिणाम है। प्रगतिवादी कवि जहाँ उक्त सभी बातों पर आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टियों से विचार करता है, वहाँ सन्त कवि उन्हें किसी आध्यात्मिक दृष्टिकोण तथा आत्मनिरीक्षण से ही देखते आये हैं। आजकल के कवि जहाँ वर्ग-संघर्ष के उपयुक्त भावों को प्रदर्शित करना चाहते हैं, वहाँ वे लोग सदा अभिन्नतामूलक निर्वैर भाव को ही प्रश्रय देते आये हैं। प्रतिकूल परिस्थिति में जहाँ प्रगतिवादी कवि समाज-विश्लेषण का सहारा लेता है, वहाँ सन्त कवि आत्म-निरीक्षण का आश्रय लेता है। वास्तव में प्रगतिवादी कवि सामाजिक क्रान्ति में विश्वास करता है और वह राजनीतिक उथल-पुथल के आधार पर ही व्यक्ति को भी अपने विकास का अवसर देना चाहता है। परन्तु संत कवि इसके विपरीत केवल व्यक्तिगत कायापलट में आस्थावान है। उसी के आधार पर महामानव की प्रतिष्ठा कर कल्याणकारी उच्च सामाजिक स्तर के निर्माण द्वारा भूतल पर स्वर्ग ला देने का स्वप्न देखता है।

प्रगतिवादी कवि अपने जिस उद्देश्य की पूर्ति सामाजिक प्रभुत्व के बल पर करना चाहता है, उसी की सिद्धि सन्त कवि व्यक्तित्व के पूर्ण विकास द्वारा देखना चाहता है। इसीलिए वह अपने ढंग का उपदेश भी दिया करता है। उदाहरण के लिए कबीर साहब का कहना है, "मैंने विवेक अर्थात् किसी बात के भले या बुरेपन अथवा सत् या असत् का स्वयं निर्णय कर लेने की शक्ति को अपना गुरु बनाया है।"[१] वे इसी कारण उपदेश भी देते हैं, "परमात्मा के नियमों का अन्तिम ज्ञान हो जाना सम्भव नहीं,

१. 'कहु कबीर मैं सो गुरु पाया जाका नाउ विवेको (आदिग्रंथ, सूही ५)।

अतएव तुम अपने अनुमान के ही बल पर अपने जीवन का कार्यक्रम निर्धारित करो।"[१] संत दूलनदास ने भी इसी प्रकार अपने निजी मन की शक्ति पर ही निर्भर रहने का उपदेश दिया है और कहा है, "सत्य के विषय में वेदों एवं पुराणों ने क्या कहा है, कुरान की किताब में क्या लिखा है अथवा पंडित और काजी क्या कहते हैं, इनका कुछ भी महत्त्व नहीं है, यह बात निजी अनुभूति द्वारा प्रतीति बँधा देने की है।"[२] अपने जीवन-सिद्धान्त को अपने आप स्थिर करने तथा उसकी अनुभूति के बल पर सदा दृढ़ रहने वाले चरित्रवान व्यक्ति को मलूकदास ने सर्वश्रेष्ठ ठहराया है और कहा है, "हिंदू और मुसलमान सभी परमेश्वर की वंदना किया करते हैं, किन्तु परमेश्वर स्वयं उस महापुरुष की वंदना करता है जिसका ईमान दुरुस्त है, **अर्थात्** जिसके चित्त की सद्वृत्ति में किसी प्रकार का विकार नहीं आ पाता।"[३]

आत्म-निर्भरता एवं चरित्रवत्ता की महत्ता की ही भाँति संतों ने समानता के भाव का भी वर्णन उसी प्रकार के दृष्टिकोण से किया है। कबीर साहब का कहना है, "जिस समय मैंने अपने और पराये सभी को एकसमान जान लिया तभी मुझे निर्वाण की प्राप्ति हुई।"[४] वे इसी कारण वेदों और कुरानादि किताबों, दीन (धर्म) तथा दुनिया (सांसारिकता) एवं पुरुष-स्त्री के बीच दीख पड़ने वाले अंतर को एक बहुत बड़ी अड़चन उपस्थित कर देने वाले भेदभाव का कारण बतलाते हैं। वे कहते हैं, "जब एक ही बूंद, एक ही मलमूत्र और एक ही चाम तथा गूदे (अथवा यों कहिए कि जब) एक ही ज्योति से सभी कोई उत्पन्न हुए हैं तो ब्राह्मण एवं शूद्र का यह विचित्र भेद कहाँ से आ जाता है?"[५] दादूदयाल ने इस प्रकार के भेदभाव की दार्शनिक व्याख्या करते हुए बतलाया है, "जब पूर्ण ब्रह्म की दृष्टि से विचार किया जाता है तो सर्वात्म-भाव की सिद्धि होती है, किन्तु जब काया अर्थात् प्रत्येक इकाई के विचार से देखते हैं, उसी वस्तु

---

१. 'करता की गति अगम है तू चलि अपणै उनमान' (क० ग्रं०, सा० ४, पृ० १८)।

२. 'वेद पुरान कहा कहेउ, कहा किताब कुरान।
पंडित काजी सत कहु, दूलन मन परबान।' दूलनदास की बानी, सा० १३, पृ० ३६।

३. 'सब कोउ साहब बन्दते, हिन्दू मूसलमान।
'साहेब तिनको बन्दता, जाका ठौर इमान।' मलूकदास की बानी, सा० ५६, पृ० ३७।

४. 'आपा पर सब एक समान, तब हम पाया पद निरबान', क० ग्रं०, पद, १६७, पृ० १४४।

५. 'ऐसा भेद विगूचन भारी।
वेद कतेब दीन अरु दुनिया, कौन पुरिष कौन नारी॥ टेक॥
एक बूंद एकै मल मूतर, एक चाम एक गूदा।
एक जोति थैं सब उतपनां, कौन बम्हन कौन सूदा।' क० ग्रं०, पद ५७, पृ० १०६।

में अनेकता का भी भास होने लगता है।" रज्जबजी ने इसीलिए "समता-ज्ञान के विचार से सभी कुछ को पाँचों तत्त्वों का विस्तार मात्र ही"[२] मान लिया है। वे सबको एक भाव से ही देखना चाहते हैं और उनका कहना है कि इसी कारण, हमें चाहिए, "सभी प्राणियों की सेवा हम ठीक उसी निष्काम भाव के साथ किया करें जिस प्रकार धरती, आकाश, सूर्य, चंद्र और वायु किया करते हैं।"[३]

जो हो, ये संत कवि कम-से-कम गत पाँच सौ वर्षों से भी अधिक समय से एक विशिष्ट विचारधारा एवं निश्चित कार्यक्रम के पोषक और समर्थक बने रहते आये हैं। अपने जीवन में उनका प्रतिनिधित्व करने की भी इन्होंने चेष्टा की है। इनकी बातें नितान्त नवीन नहीं हैं और इनका अन्य व्यक्तियों द्वारा पथप्रदर्शन किया जाना भी सिद्ध हो सकता है। फिर भी इनकी कुछ अपनी भी महत्त्वपूर्ण देन है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इनकी एक अपनी संत-परंपरा है जो आज तक किसी-न-किसी रूप में वर्तमान है और जिसमें गिने जाने वाले योग्य संतों की बानियाँ सर्वथा संग्रहणीय हैं। इस परंपरा के सुदीर्घ काल को यदि हम चाहें तो कतिपय विशेषताओं के अनुसार निम्नलिखित चार युगों में विभाजित कर सकते हैं। उसी के अनुसार उनकी रचनाओं का समुचित मूल्यांकन भी कर सकते है। ऐसी दशा में प्रत्येक संत अपने मौलिक सिद्धांतों का प्रतिनिधित्व करता हुआ अपने-अपने समय की विशेषताओं का भी परिचायक जान पड़ेगा और 'प्रकृति एवं परिस्थिति' के तुलनात्मक अध्ययन का वह, इस प्रकार, एक अवसर भी उपस्थित कर सकेगा।

(१) **प्रारम्भिक युग** (सं० १२००-१५५०) जिसके जयदेव से लेकर धन्ना भगत तक के संतों ने अपने उपदेशों का प्रचार स्वतंत्र एवं व्यक्तिगत रूप में ही किया और जिनकी रचनाएँ एक विशेष ढंग की ही होती रहीं।

(२) **मध्ययुग** (पूर्वार्द्ध सं० १५५०-१७००) जिसके जंभनाथ से लेकर मलूकदास तक के संतों ने संतमत का प्रचार अधिकतर पंथों के संगठन द्वारा किया और जिनकी रचना-शैली पर क्रमशः बाहरी प्रभाव भी पड़ने लगे।

(३) **मध्ययुग** (उत्तरार्द्ध सं० १७००-१८५०) जिसके बाबा लाल से लेकर रामचरन तक के संतों में साम्प्रदायिकता की प्रवृत्ति अधिक उग्र हो गई थी तथा जिनकी रचनाएँ रीतिकालीन शैलियों द्वारा भी प्रभावित हुई थीं।

(४) **आधुनिक युग** (सं० १८५० से आगे) जिसके रामरहसदास से लेकर स्वामी रामतीर्थ तक के संतों में संतमत के पुनरुद्धार की प्रवृत्ति जगी और जिन्होंने विश्व-कल्याण के उद्देश्य से भी अपने विचार प्रकट किये।

---

१. 'जब पूरण ब्रह्म विचारिये, तब सकल आतमा एक।
काया के गुण देषिये, तो नाना वरण अनेक ॥' दादूदयाल की बानी, सा० १३०, पृ० २०२-३।

२. 'रज्जब समता ज्ञान विचारा। पंचतत्व का सकल पसारा।' रज्जबजी की बानी, सा० २१, पृ० २०१।

३. 'निहकामी सेवा करै, ज्यूं धरती आकास ॥'
चंद सूर पाणी पवन, ज्यूं रज्जब निजदास ॥' वही, सा० २२, पृ० ३५३।

१. प्रारम्भिक युग

(सं० १२००—सं० १५५०)

सामान्य परिचय

संत-परम्परा का प्रथम युग, वस्तुतः, संत जयदेव से आरम्भ होता है और उनके पीछे दो सौ वर्षों तक के संत अधिकतर पथ-प्रदर्शको के ही रूप में आते हुए दीख पड़ते हैं। विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी में कबीर साहब का आविर्भाव हुआ जिन्होंने सर्वप्रथम संतमत के निश्चित सिद्धान्तों का प्रचार विस्तार के साथ एवं स्पष्ट शब्दों में आरम्भ किया। उनके समसामयिक संतों द्वारा उनके उक्त कार्य में प्रोत्साहन भी मिलने लगा, किन्तु उनके कार्यक्रम में कोई व्यवस्था नहीं थी। संतमत का सगठित एवं सुव्यवस्थित प्रचार उस समय से आरम्भ हुआ जब गुरु नानकदेव (सं० १५२६-१५९६) जैसे कुछ संतों ने इसके लिये आगे चलकर पृथक् वर्गों का निर्माण भी आरम्भ कर दिया। इस प्रकार यह युग सं० १५५० के लगभग समाप्त हो गया और आगे का समय मध्ययुग के रूप में दीख पड़ने लगा।

प्रारम्भिक युग के प्रथम दो सौ वर्षों के अन्तर्गत केवल थोड़े से ही संत हुए। संत जयदेव के समय तक महायानी बौद्ध धर्म के वज्रयान, कालचक्रयान एवं सहजयान जैसे सम्प्रदायों का आरम्भ हो चुका था और कम-से-कम पूर्वी भारत में उनकी अनेक विशिष्ट बातों का समावेश क्रमशः स्थानीय वैष्णव धर्म में होता जा रहा था। भारत के पश्चिमी एवं दक्षिणी भागों में भी उनका स्थान तब तक नाथ सम्प्रदाय ने ले लिया था और उधर के अन्य सम्प्रदायों को भी वह धीरे-धीरे प्रभावित करता जा रहा था। संत जयदेव वैष्णव धर्म के अनुयायी थे और उनका सम्बन्ध विशेषतः उड़ीसा एवं बंगाल प्रान्तों से ही था। फिर भी जनश्रुति के अनुसार उन्होंने ब्रजमण्डल से लेकर जयपुर की ओर तक पर्यटन भी किया था जहाँ से लौटते समय मार्ग में उन्हें डाकुओं ने लूटा था। इस प्रकार, हो सकता है कि ब्रजमण्डल के तत्कालीन निम्बार्क सम्प्रदायी वातावरण का भी उन पर कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ा हो तथा उक्त सहजयान के प्रमुख केन्द्र उत्कल क्षेत्र से सम्बद्ध रहने के कारण, उनकी वैष्णवी भक्ति ने बौद्धमत-गर्भित रूप भी धारण कर लिया हो। पश्चिमी प्रान्तों के निवासी सत बेनी का तथा दक्षिणी भारत के संत नामदेव का भी, इसी प्रकार, नाथ-सम्प्रदाय की कई बातों द्वारा प्रभावित हो जाना कोई असंभव बात नहीं थी। गोरखनाथ के साथ वारकरी सम्प्रदाय के संतों का सम्बन्ध तो उसके प्रमुख अनुयायियों द्वारा भी स्वीकृत किया जा चुका है।

जान पड़ता है कि वारकरी सम्प्रदाय का प्रचार अधिक बढ़ जाने के साथ-साथ उसका प्रधान केन्द्र पंढरपुर का भी महत्त्व बढ़ता गया। जिस प्रकार उड़ीसा की पुरुषोत्तमपुरी तथा उत्तर प्रदेश के ब्रजमण्डल की ओर भगवद्‌भक्तों की तीर्थयात्रा होती आ रही थी, उसी प्रकार उनका एक लक्ष्य उस काल से पंढरपुर भी हो गया। अतएव, किनकेड एवं पारसनिस जैसे इतिहासज्ञों का अनुमान है, "मुस्लिम संत कबीर साहब भी पंढरपुर की ख्याति के कारण उसकी ओर आकृष्ट हुए थे।" हो सकता है कि उन्होंने

उसकी तीर्थयात्रा की थी। जो हो, संतमत को कबीर साहब द्वारा सबसे अधिक जीवन-शक्ति मिली और उनके हाथों ही सर्वाधिक बल ग्रहण करने के कारण वह भविष्य में भी प्रचलित हो सका। कबीर साहब एवं उनके समसामयिकों की उपलब्ध रचनाओं के अन्तर्गत हम प्रायः उन सभी बातों का समावेश पाते हैं जो संतमत का आधार-स्वरूप समझी जाती हैं। इनको उनके पीछे आने वाले संतों ने अधिकतर पुष्पित एवं पल्लवित भर किया है। इसी कारण कबीर साहब के प्रति उनके परवर्ती लगभग सभी संतों ने अपनी आस्था एवं श्रद्धा प्रकट की है और उन्हें आज तक 'आदि संत' कहने तक की परिपाटी चली आती है। उनके पूर्ववर्ती संतों की गणना भी, इसी आधार पर, केवल पथ-प्रदर्शकों के रूप में ही की जाती है और उन्हें उतना महत्त्व नहीं दिया जाता।

प्रारम्भिक युग के उपर्युक्त प्रथम दो सौ वर्षों वाले संतों की उपलब्ध रचनाओं में जहाँ सगुणोपासना की प्रेरणा, बौद्ध एवं नाथ-पंथीय साधनाओं का प्रभाव अथवा संत-मत की मूल बातों का केवल प्रसंगवत् उल्लेख-सा ही दीख पड़ता है, वहाँ उसके पिछले डेढ़ सौ वर्षों वाले संतों की कृतियों मे सगुण एव निर्गुण से परे समझे जाने वाले परम-तत्त्व की मान्यता है। मानसिक साधना की ओर विशेष झुकाव है तथा कोरी भक्ति के साथ-साथ सदाचरण एवं लोक-व्यवहार के प्रति ध्यान देने की प्रवृत्ति भी विशेष रूप से लक्षित होती है। इसके सिवाय, उक्त प्रथम काल के संत जहाँ अधिकतर छिटपुट रूप में ही दीख पड़ते हैं वहाँ पिछले काल के स्वामी रामानन्द आदि संतों का, काशी जैसे केन्द्र में एक पृथक् वर्ग-सा भी बना दृष्टि-पथ में आने लगता है। उसके भीतर अपने मत के प्रचार की अभिलाषा भी प्रतीत होने लगती है। इस दूसरे काल की रचनाएँ पूर्वकालीन संतों की उपलब्ध पंक्तियों से कहीं अधिक स्पष्ट, सरस, सुव्यवस्थित एवं प्रभावपूर्ण हैं। प्रथम काल में प्रचुर सुन्दर पदों के रचयिता जहाँ केवल संत नामदेव ही दीख पड़ते हैं, वहाँ दूसरे के मध्य में ही, कबीर साहब एवं रैदासजी जैसे कम-से-कम दो संत आ जाते हैं जिनकी कृतियाँ उच्चकोटि की कही जा सकती हैं। इनमें से प्रथम अर्थात् कबीर साहब की गणना हिन्दी के प्रथम श्रेणी के कवियों तक में की जाती है।

संत जयदेव

संत जयदेव को प्रायः सभी लोग प्रसिद्ध काव्य 'गीतगोविन्द' का रचयिता कवि जयदेव मानते आए हैं जो सम्भवतः 'पीयूष लहरी' नामक एकांकी नाटक के भी प्रणेता थे। इन्हें सेन-वंशी राजा लक्ष्मणसेन (सं० १२३६-१२६२) का दरबारी कवि मानने की भी परम्परा चली आती है। इस मत वाले विद्वानों में उनकी जन्मभूमि को वीर-भूम जिले (बंगाल प्रान्त) का केंदुली गाँव माना है जो गंगा नदी से २८ कोस की दूरी पर बसा हुआ है। किन्तु कुछ अन्य लेखकों के अनुसार यह स्थान वास्तव में 'केंदुली सासन' गाँव है जो उड़ीसा प्रान्त में पुरी के निकट किसी 'प्राची' नदी पर अवस्थित है। उनके उड़िया होने का प्रमाण इस बात में भी दिखलाया जाता है कि वहाँ के लोग इस कवि से बहुत अधिक परिचित जान पड़ते हैं। इस मत के अनुसार कवि जयदेव राजा कार्माणव (सं० ११९९-१२१३) तथा राजा पुरुषोत्तम देव (सं० १२२७-१२३७) के समकालीन थे। इस प्रकार इन दोनों ही मतों के आधार पर हम इस कवि का जीवन-काल विक्रम की १३वीं शताब्दी में ठहरा सकते हैं। जयदेव के वंशज अपने पूर्वजों को पंजाब से सम्बद्ध बतलाते हैं। उनके अनुसार ये पंजाब से ही उड़ीसा और बंगाल में आये थे। उड़ीसा का प्रान्त वैष्णव सम्प्रदाय की ही भाँति बौद्धों के वज्रयान एवं सहजयान

सम्प्रदाय का भी एक प्रसिद्ध केन्द्र रह चुका है। जयदेव को सहजयान द्वारा प्रभावित भी कहते हैं। अतएव सम्भव है कि जयदेव उड़ीसा प्रान्त के ही मूल निवासी हों, किन्तु पीछे उनका कोई-न-कोई सम्बन्ध बंगाल प्रान्त के साथ भी हो गया हो।

फिर भी शृंगाररस-प्रधान 'गीतगोविन्द' काव्य तथा उसमें किये गए कला-प्रदर्शन के कारण कवि जयदेव एवं संत जयदेव के एक ही व्यक्ति होने में संदेह भी किया जा सकता है जब तक इसके लिए कोई स्पष्ट प्रमाण न उपलब्ध हो जाय। कुछ टीकाकारों ने उक्त काव्य में आध्यात्मिक रहस्य खोज निकालने के यत्न अवश्य किये हैं, किन्तु उस भक्ति का उद्रेक जिसे संत कबीर साहब ने अपनी कुछ पंक्तियों द्वारा संत जयदेव की विशेषता बतलायी है, 'गीतगोविन्द' का प्रधान विषय सिद्ध नहीं होता। कवि जयदेव तथा संत जयदेव दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति प्रतीत होने लगते हैं जिस कारण दोनों का दो भिन्न-भिन्न स्थानों तथा भिन्न-भिन्न कालों में रहना भी सम्भव है।

सिखों के 'आदिग्रंथ' में संत जयदेव के दो पद संगृहीत हैं जिनमें से एक में पंडिताऊ भाषा द्वारा भक्ति की प्रशंसा की गई है और दूसरे का विषय कतिपय योग-सम्बन्धी बातें हैं जो नाथपंथियों अथवा अन्य संतों की भाषा में लिखी गई हैं। विषय की दृष्टि से दोनों ही पद संतमतानुकूल कहे जा सकते हैं और वर्णन-शैली के अनुसार पहला पद कवि जयदेव की भी कृतियों से मेल खाता है। पदों के पाठ, उक्त ग्रंथ के अंतर्गत, पूर्णतः शुद्ध नहीं जान पड़ते और उनके कई शब्द बहुत कुछ विकृत एवं अस्पष्ट हो गए हैं।

पद

परमात्म भक्ति का उपदेश (१)

परमादि पुरष मनोपिमं, सत्ति आदि भावरतं।
परमदभुतं परक्रिति परं, जदिचिंति सरबगतं ॥१॥
केवल रामनाम मनोरमं, बदि अंम्रित तत मइअं।
न दनोति जसमरणेन, जनम जराधि मरण भइअं ॥ रहाउ ॥
इछसि जमादि पराभयं, जसु स्वसति सुक्रित क्रितं।
भवभूतभाव समब्यिअं, परमं प्रसंनमिदं ॥ २ ॥
लोभादि द्रिसटि परग्रिहं, जदि बिधि आचरणं।
तजि सकल दुहक्रित दुरमती, भजु चक्रधर सरणं ॥ ३ ॥
हरिभगत निज निहकेवला, रिद करमणा बचसा।
जोगेन किं जगेन किं, दानेन किं, तपसा ॥ ४ ॥
गोबिंद गोबिंदेति जपि नर, सकल सिधिपदं।
जैदेव आइउ तमसफुटं, भवभूत सरबगतं ॥ ५ ॥

मनोपिमं=अनुपम, अद्वितीय। सति....रतं=सत्यादिभावों से युक्त है। परक्रिति परं=प्रकृति वा मायादि से सर्वथा भिन्न है। जदि....सरबगतं=जो अचिंत्य है और सबमें व्याप्त भी है। बदि....मइअं=अमृत तत्त्वमय (जो रामनाम है उसे) स्मरण करो। न दनोति जसमरणेन=जिसके स्मरण से जन्म, जरा, कष्ट तथा मरण के भय नहीं सता पाते। इछसि....क्रितं=यदि यमादि के ऊपर विजय की इच्छा रखते हो और यदि यश, कुशल (स्वसति=स्वस्ति) एवं सत्कर्म भी तुम्हारा अभीष्ट है। भव....मिदं=यदि भूत,

भविष्य एवं वर्तमान अर्थात् सर्वकाल में समान रूप से रहने वाले (समव्यिअं=समा-व्ययं) अविनाशी परम प्रसन्न उस (परमात्मा) का पा लेना तुम्हारा ध्येय है। लोभादि....दुरमती हे दुर्मति, जो लोभादि की दृष्टि है, जो परिग्रह (धन-संचय) का स्वभाव है और जो (जदि विधि=जो अविहित) आचरण है तथा जो दुष्कर्म है; उन सबका त्याग कर दो। हरिभगत...वचसा=मन, वचन एवं कर्म द्वारा हरि की निष्केवला अर्थात् अनन्य भक्ति को अपनाओ। जोगेन...तपसा=योग, यज्ञ, दान अथवा तपश्चर्या सभी व्यर्थ हैं। सिधिपदं=सभी सिद्धियों का अंतिम आधार (अथवा यदि 'पदं=प्रदं' हो तो 'देने वाला')। आइउ=कथन किया है। तस=उसको। सफुटं=स्पष्ट शब्दों में। अथवा (यदि आइउ+आया है हो तो)। तस+उसकी शरण में। सफुटं—पूर्ण रूप या प्रत्यक्ष रूप में। भव...गतं=जो वर्तमान एवं भूत में सर्वत्र व्याप्त है।

भीतरी साधना

> चंदसत भेदिआ, नादसत पूरिआ, सूरसत षोडसादतु कीआ।
> अवलबलु तोडिआ, अचल चलु थपिआ,
> अघडु घड़िआ तहा अपिउ पीआ ॥१॥
> मन आदि गुण आदि वषाणिआ।
> तेरी दुविधा द्रिसटि संमानिआ ॥रहाउ॥
> अरधिकउ अरधिआ, सरधिकउ सरधिआ,
> सललिकउ सललि संमानि आइआ ॥
> वदति जैदेउ जैदेवकउ रंमिआ,
> ब्रह्म निरबाणु लिवलीण पाइया ॥२॥

चंदसत भेदिया चंद्र अथवा इड़ा नाड़ी अर्थात् बायीं नाक द्वारा प्राणायाम करके कुंभक की क्रिया की। नादसत पूरिया नाद से, अर्थात् संभवतः कुंभक से भीतर लाये गये श्वास द्वारा पूरक प्राणायाम की क्रिया की। सूर सतषोडसादतु कीआ=सूर्य अथवा पिंगला नाड़ी अर्थात् दाहिनी नाक द्वारा प्राणायाम करके रेचक की क्रिया की। (यहाँ पर 'षोडसा'= छोड़िया और 'दतु' दीक्षित अभ्यास के अर्थ में प्रयुक्त समझे जा सकते हैं)। अवल···तोडिया=इंद्रियादि का बल तोड़कर मैं उनकी दृष्टि से निर्बल हो गया। अचल··थापिआ=चंचल चित्त को अचल एवं स्थिर कर दिया। अघडु घड़िआ शरीरादि को अभूतपूर्व रूप में परिवर्तित कर कायापलट कर दिया। अपिउ पीआ=जो कभी पिया न जा सका था, उस (अमृत) का पान किया। मन······वषा-णिआ=मन आदि के व्यापारों एवं गुण अर्थात् प्राकृतिक स्वभावादि के रहस्य का परिचय पाकर उनके कथन में प्रवृत्त हुआ। तेरी...संमानिया=इस प्रकार तुम्हारी दुविधा वा भेदभाव भरी दृष्टि को एकत्व के भाव में लीन करने के प्रयत्न किये। अरधिकउ अरधिआ=मैंने आराध्य अर्थात् वस्तुतः आराधना-योग्य परमात्मा की आराधना की। सरधिकउ सरधिया=मैंने श्रद्धेय अर्थात् वस्तुतः श्रद्धा के अधिकारी परमात्मा के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की। सललिकउ...आइआ=जल का प्रवेश जल में करा दिया अर्थात् मेरा जीवात्मा परमात्मा में लीन हो गया। (दे० 'ज्यूं जल मैं जल पैसि न निकसै यूं ढुरि मिल्या जुलाहा'——कबीर)। जैदेवकउ...पाइआ=जैदेव अर्थात् परमात्मा में प्रवेश कर ब्रह्म पर्यन्त निर्वाण के भीतर विलीन हो गया।

संत सधना

संत सधना, संभवतः विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में, किसी पश्चिमी प्रदेश में उत्पन्न हुए थे और ये नामदेव के समकालीन थे। इनकी जाति कसाई की बतलायी जाती है और यह भी प्रसिद्ध है कि ये स्वयं मारे हुए जीवों का मांस नहीं बेचते थे। इन्हें जीवहिंसा से घृणा थी, किंतु अपने पैतृक व्यवसाय का इन्होंने त्याग भी नहीं किया था। इन्हें शालग्राम की मूर्त्ति का पूजने वाला तथा साधु-सेवक भी कहा जाता है। यह भी प्रसिद्ध है कि जगन्नाथपुरी की यात्रा इन्होंने अनेक कष्टों को झेलते हुए की थी। इनका केवल एक पद 'आदिग्रंथ' में मिलता है जो इनके सरल हृदय का परिचायक है तथा केवल इसी के आधार पर इन्हें उच्चकोटि के संतों में गिनने की परंपरा बहुत दिनों से चली आती है। कुछ लोग इन्हें सेहवान (सिंध) का निवासी भी बतलाते हैं, परन्तु इसके लिए कोई पुष्ट प्रमाण देते नहीं जान पड़ते।

पद

विनय

त्रिपकनिआ कै कारनै, इकु भइआ भेषधारी।
कामारथी सुआरथी वाकी पैज सँवारी ॥१॥
तव गुन कहा जगत गुरा, जउ करमु न नासै।
सिंघ सरन कत जाईऐ, जउ जंबुक ग्रासै ॥रहाउ॥
एक बूंदु जल कारनै, चात्रिक दुखु पावै।
प्रान गए सागरु मिलै, फुनि कामि न आवै ॥२॥
प्रान जु थाके थिरु नहीं, कैसे बिरमावउ।
बूड़ि मूए नउका मिलै, कहु काहि चढ़ावउ ॥३॥
मैं नाहीं कछु हउ नाहीं, किछ आहि न मोरा।
अउसर लजा राखि लेहु, सधना जनु तोरा ॥४॥

त्रिपकंनिआ...सवारी=राजकुमारी के साथ विवाह करने की इच्छा से जिस युवक बढ़ई ने उसके अभीष्ट वर विष्णु भगवान् की भाँति चतुर्भुजी रूप धारण कर लिया था और शत्रु द्वारा भयभीत हो जाने पर फिर उन्हीं भगवान् की शरण भी ली थी तथा उसे उन्होंने (भगवान् ने) पूरी सहायता प्रदान की थी। तव...नासै=वैसे तुम्हारे शरणागत वत्सल के गुण अब क्या हो गए? प्रान...बिरमावउ=अपने हार मानकर थके हुए प्राणों को किस प्रकार रोक रखूं। मैं...मोरा=न तो मैं ही, तुमसे पृथक् कुछ हूँ, न मेरे पास ही कुछ है और न जो कुछ मेरा कहा जा सकता है, वही वस्तुतः मेरा है! अउसर...लेहु=ऐसे विषम अवसर पर मैं अपनी लाज बचाने के लिए तुम्हारी ही प्रार्थना करता हूँ।

संत वेणी

संत वेणी के समय अथवा जीवन-घटनाओं का प्रायः कुछ भी पता नहीं चलता। सिखों के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने अपने एक पद में इनका नाम लिया है जिस कारण ये उनके पीछे अर्थात् सं० १६२०-१६६३ के इधर के नहीं कहे जा सकते। उक्त गुरु ने संत वेणी के तीन पदों को भी 'आदिग्रंथ' में संगृहीत किया था जिनकी भाषा वा विचारधारा के अनुसार ये पुराने ही ठहरते हैं। ये संभवतः किसी पश्चिमी प्रांत के ही

निवासी थे और नाथ-संप्रदाय के सिद्धांतों वा कम-से-कम उसकी शब्दावली से भली-भाँति परिचित थे। इनके विषय में उपलब्ध सामग्री के आधार पर इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि ये विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में वर्तमान थे और नाथ-मत द्वारा अधिक प्रभावित थे।

पद

साधना-स्वरूप　　(१)

इड़ा पिंगुला अउर सुषुमना, बसहि इक ठाई।
वेणी संगमु तंह पिरागु, मनु भजनु करे तिथाई ॥१॥

संतहु तहाँ निरंजनु रामु है, गुरगमि चीन्है बिरला कोइ।
तहा निरंजनु रमईआ होइ ॥रहाउ॥
देवसथानै किआ नीसाणी, तहँ बाजे सबद अनाहद वाणी।
तहँ चंदु न सूरज पउण न पाणी, साषी जागी गुरमुषि जाणी ॥२॥

उपजै गिआनु दुरमति छीजै, अंम्रित रस गगनंतरि भीजै।
एसु कला जो जाणै भेउ, भेटै तासु परम गुरदेउ ॥३॥

दसम दुआरा अगम अपारा, परम पुरष की घाटी।
ऊपरि हाटु हाट परि आला, आले भीतरि थाती ॥४॥

जागतु रहै सु कबहु न सोवै, तीन तिलोक समाधि पलोवै।
बीज मंत्र लै हिरदै रहै, मनूआ उलटि सुन महि गहै ॥५॥

जागतु रहै न अलीआ भाषै, पाँचउ इंद्री बसि करि राषै।
गुरकी माषी राषै चीति, मनु तनु अरपे क्रिसन परीति ॥६॥

कर पलव माषा वीचारे, अपना जनमु न जूऐ हारे।
असुर नदी का बंधै मूलु, पछिम फेरि चडावै सूरु।
अजरु जरे सु निझरु झरै, जगंनाथ सिउ गोसटि करै ॥७॥

चउ मुष दीवा जोति दुआर, पलू अनत मूलु विचकार।
सरब कला ले आये रहै, मनु माणकु रतना महि गुहै ॥८॥

ममतकि पदमु दुआलै मणी, माहि निरंजनु त्रिभवण धणी।
पंच सबद निरमाइल बाजे, ढुलके चवर संष घन गाजे।
दलि मलि दैतहु गुरमुषि गिआनु, बेणी जाचै तेरा नामु ॥९॥

पिरागु=प्रयाग तीर्थ। तिथाई=वहीं। साषी जागी=परिचय प्राप्त किया। एसु...भेउ=इस युक्ति का जो रहस्य जान लेता है। घाटी=प्रदेश। हाट=बाजार, विशिष्ट स्थान। आला=ताखा। थाती=वास्तविक पूँजी। पलोवै=पिरो देवे। मनूआ...गहै=मन को उलट कर शून्य में स्थिर कर देवे। अलीआ=असत्य। क्रिसन परीति=ईश्वर प्रीत्यर्थ। ढुलके=ढुरता रहे।

विडंबना (३)

तनि चंदनु मसतकि पाती, रिद अंतरि करतल काती।
ठग दिसटि बगा लिव लागा, देषि वैसिनो प्रान मुष भागा ॥१॥
कलि भगवत बन्द चिरामं, क्रूर दिसटि रता निसि बादं ॥रहाउ॥
नित प्रति इसनानु सरीरं, दुइ धोती करम मुषि पीरं।
रिदै छुरी संधिआनी, पर दरबु हिरन की बानी ॥२॥
सिल पूजसि चक्र गणेसं, निसि जागसि भगति प्रवेसं।
पग नाचसि चितु अकरमं, ए लंपट नाच अधरमं ॥३॥
म्रिग आसण तुलसी माला, कर ऊजल तिलकु कपाला।
रिदै कूडु कंठि रुद्राषं, रे लंपट क्रिसनु अभाषं ॥४॥
जिनि आतम ततु न चीन्हिआ, सभ फोकट धरम अबीनिया।
कहु बेणी गुरमुषि धिआवै, विनु सतिगुर बाट न पावै ॥५॥

करतल=हथेली वा हाथ में। हिरन=हिरण। बानी=स्वभाव।

संत त्रिलोचन

संत त्रिलोचन का जन्म सं० १३२४ मे हुआ था और वे वैश्य कुल के थे। वे साधुओं के बड़े भक्त थे और उनकी पत्नी का भी वही स्वभाव था। कहा जाता है कि उनके यहाँ स्वयं भगवान् ने ही 'अंतर्यामी' के नाम से कुछ दिनों तक नौकरी की थी। त्रिलोचन जी एवं संत नामदेव की परस्पर मैत्री का भी उल्लेख मिलता है। यह भी प्रसिद्ध है कि 'त्रिलोचन' नाम उनके भूत, भविष्य एवं वर्तमान के साथ जानकार होने के कारण पड़ा था। त्रिलोचन तथा नामदेव के संवाद से सम्बद्ध कुछ दोहे उपलब्ध हैं। उनकी अपनी केवल चार रचनाएँ 'आदिग्रंथ' में संग्रहीत पायी जाती हैं और चारों ही पदों की भाषा पर मराठी का प्रभाव लक्षित होता है। त्रिलोचन मूलतः कदाचित् उत्तर प्रदेश के निवासी थे, किन्तु दक्षिण के महाराष्ट्र में बहुत काल तक रहे थे। उनके मरण-काल का पता नहीं चलता।

पद

भेषनिंदा (१)

अंतरु मलि निरमलु नहीं कीना, बाहरि भेष उदासी।
हिरदै कमलु घटि ब्रह्मु न चीन्हा, काहे भइआ संनिआसी ॥१॥
भरमे भूली रे जैचंदा। नहीं नहीं चीन्हिआ परमानंदा ॥रहाउ॥
घरि घरि षाइआ पिंडु बधाइआ, षिंथा मुंदा माइआ।
भूमि मसाण की भसम लगाई, गुर बिनु ततु न पाइआ ॥२॥
काइ जपहु रे काइ तपहु रे, काइ बिलोवहु पाणी।
लष चउरासीह जिनि उपाई, सो सिमरहु निरबाणी ॥३॥
काइ कमंडलु कापड़ी आरे, अठसठ काइ फिराही।
बदति त्रिलोचनु सुनु रे प्राणी, कण बिनु गाहु कि पाही ॥४॥

जैचंदा=सम्भवतः किसी इस नाम के व्यक्ति को सम्बोधित कर के कहते हैं। पिंडु बधाइआ=अपना शरीर पुष्ट किया। अठसठ...फिराही=तीर्थाटन क्यों करते फिरते हो। कण...पाही=बिना अन्न का डंठल झाड़ते रहने से क्या लाभ।

अंतिम मनोवृत्ति (२)

अंति कालि जो लछमी सिमरै, ऐसी चिंता महि जे मरै ।
सरप जोनि वलि वलि अउतरै ॥१॥
अरी बाई गोबिंद नामु मति बीसरै ॥रहाउ॥
अंति कालि जो इसत्री सिमरै, ऐसी चिंता महि जे मरै ।
बेसवा जोनि वलि वलि अउतरै ॥२॥
अंति कालि जो लड़िके सिमरै, ऐसी चिंता महि जे मरै ।
सूकर जोनि वलि वलि अउतरै ॥३॥
अंति कालि जो मंदर सिमरै, ऐसी चिंता महि जे मरै ।
प्रेत जोनि वलि वलि अउतरै ॥४॥
अंति कालि नाराइण सिमरै, ऐसी चिंता महि जे मरै ।
बदति तिलोचनु ते नर मुकता, पीतंबर वाके रिदै बसै ॥५॥

वलि वलि = बारबार । पीतंबर = पीतांबरधारी नारायण ।

संत नामदेव

संत नामदेव जाति के छीपी थे और उनका जन्म कार्तिक सुदी ११, सं० १३२६ को सतारा जिले के नरसी वमनी (बहमनी) गाँव में हुआ था । अपने पैतृक व्यवसाय की ओर कदाचित् कभी भी आकृष्ट नहीं हुए और बचपन से ही साधुसेवा एवं सत्संग में ही अपना समय बिताते रहे । संत बिसोवा खेचर को उन्होंने अपना गुरु स्वीकार किया था और प्रसिद्ध संत ज्ञानेश्वर के प्रति भी वे गहरी निष्ठा रखते थे । ज्ञानेश्वर के साथ उन्होंने देश-भ्रमण किया था और कई अन्य सन्तों से परिचय प्राप्त किया था । कहा जाता है कि ज्ञानेश्वर के मरणोपरांत वे उत्तरी भारत के पंजाब प्रांत में रहने लगे थे और वहीं पर उन्होंने अपने मत का प्रचार-केन्द्र बना लिया था । इनके अनेक चमत्कारों की कथाएँ प्रसिद्ध हैं और कुछ की चर्चा इनकी रचनाओं में भी की गई मिलती है । इनकी मृत्यु का समय सं० १४०७ कहा गया है ।

संत नामदेव सरल हृदय के व्यक्ति थे । उनकी भावुकता का परिचय उनकी पंक्तियों में भी सर्वत्र मिलता है । परमात्मा ही एकमात्र सब कुछ है, वही सबके बाहर तथा भीतर सब कहीं व्याप्त है । उसी के प्रति एकांतनिष्ठ होकर रहना चाहिए, इसी व्यवस्था को ये अपना परम धर्म मानते हैं । इसी प्रकार के भावों से इनका हृदय सदा भरा रहा है । इसी कारण सारे जगत् को एक उदार-चेता प्रेमी की दृष्टि से देखा करते हैं । संत नामदेव अपनी विचारधारा के अनुसार वस्तुतः निर्गुणोपासक थे, किन्तु सगुणोपासना को भी उन्होंने अपना रखा था । वे पंढरपुर के विट्ठल भगवान को ही अपना इष्टदेव घोषित करते थे और कीर्तन करते समय भी अधिकतर उन्हीं का नाम लिया करते थे । उनके लिए जगत् के सभी प्राणी अथवा पदार्थ भगवत्स्वरूप थे । विट्ठलनाथ को उन्होंने केवल परंपरा-पालन के लिए स्वीकार किया था ।

सन्त नामदेव को कबीर साहब ने आदर्श भक्त के रूप में माना है और उनकी कई बार प्रशंसा की है । उनके महत्व और प्रसिद्धि के ही कारण उनके अनेक नामधारी अन्य नामदेवों से उन्हें पृथक् कर लेना कभी-कभी कठिन हो जाता है । उसकी बहुत-सी रचनाएँ भी कदाचित् अन्य ऐसे व्यक्तियों की रचनाओं में मिल गई हैं । उनके सम्बन्ध

में ये भिन्न-भिन्न प्रकार के भ्रम उत्पन्न करती हैं। उनकी अधिकांश कृतियाँ मराठी भाषा में उनके अभंगों के रूप में पायी जाती हैं और उनकी शेष रचनाएँ हिन्दी भाषा में उपलब्ध हैं। 'आदिग्रंथ' के अन्तर्गत उनके ६० से भी अधिक पद संग्रहीत हैं जिनकी भाषा हिन्दी है और जो भिन्न-भिन्न रागों के अंतर्गत प्रकाशित किये गये हैं। इनकी भाषा पर पंजाबीपन का भी कुछ प्रभाव आ गया है, किन्तु इनसे अधिक शुद्ध एवं प्रामाणिक पाठों का संस्करण अभी तक उपलब्ध नहीं है। सन्त नामदेव की कथन-शैली की विशेषता उनके छलहीन हृदय, निर्द्वन्द्व जीवन एवं आध्यात्मिक उल्लास द्वारा अनुप्राणित है और वह बिना सुझाये ही उजागर हो जाती है।

पद

सर्वव्यापी गोविंद (१)

एक अनेक बिआपक पूरक, जत देखउ तत सोई।
माइआ चित्र बिचित्र बिमोहित, बिरला बूझै कोई ॥१॥
सभु गोविंदु है सभु गोविंदु है, गोविंदु बिनु नहिं कोई।
सूतु एकु मणि सत सहंस जैसे, ओति पोति प्रभु सोई ॥रहाउ॥
जल तरंग अरु फेन बुदबुदा, जलते भिन न होई।
इहु परपंचु पारब्रह्म की लीला, बिचरत आन न होई ॥२॥
मिथिआ भरमु अरु सुपन मनोरथ, सति पदारथु जानिआ।
सुक्रित मनसा गुर उपदेसी, जागत ही मनु मानिआ ॥३॥
कहत नामदेउ हरि की रचना देखहु रिदै बीचारी।
घट घट अंतरि सरब निरन्तरि, केवल एक मुरारी ॥४॥

ओति पोति = ओतप्रोत (दे० 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणि-गणा इव' ॥ गीता, ७, ७)। बिचरत...होई = विचार कर लेने पर भिन्न नहीं सिद्ध होता।

वही एक है (२)

आनीले कुंभ भराईले ऊदक, ठाकुर कउ इसनान करउ।
बइआलीस लख जी जल महि होते, बीठलु भैला काइ करउ ॥१॥
जत जाउ तत बीठलु भैला। महा अनन्द करे सदकेला ॥रहाउ॥
आनीले फूल परोईले माला, ठाकुर की हउ पूज करउ।
पहिले बासु लई है भवरह, बीठलु भैला काइ करउ ॥२॥
आनीले दूधु रीधाईले खीरं, ठाकुर कउ नैवेद करउ।
पहिले दूधु बिटारिउ बछरै, बीठलु भैला काइ करउ ॥३॥
ईभै बीठलु ऊभै बीठलु, बीठल बिनु संसार नहीं।
थान थनंतरि नामा प्रणवै, पूरि रहिउ तूं सरब मही ॥४॥

बीठलु.....करउ = जब सर्वत्र विट्ठल ही विट्ठल है तो फिर क्या किया जाय। महा...सदकेला = वह सत्स्वरूप परमात्मा सर्वत्र अपनी लीला में निरत है। परोईले = गूँथता हूँ। रीधाईले = राँधता हूँ। बिटारिउ = अपवित्र कर दिया। (दे० 'बुगुली नीर बिटालिया'—कबीर)। ईभै ऊभै = इधर भी उधर भी, सर्वत्र ही। थान थनंतरि = सब कहीं।

सब में वही (३)

सभै घट रामु बोलै रामा बोलै, राम बिना को बोलै रे ।।रहाउ।।
एकल माटी कुंजर चीटी, भाजन है बहु नान्हा रे ।
असथावर जंगम कीट पतंगम, घटि घटि रामु समाना रे ।।१।।
एकल चिंता राखु अनंता, अउर तजहु सभ आसा रे ।
प्रणवै नामा भए निहकामा, को ठाकुर को दासा रे ।।२।।

एकल = एक ही । भाजन = वस्तु । भए निहकामा = निष्काम की अथवा अनासक्त की दशा उपलब्ध कर लेने पर साम्य-भाव आ जाता है ।

अंतर्यामी (४)

मनकी बरिथा मनुही जानै, कै बूझल आगै कहीअै ।
अंतरजामी रामु रवांई, में डरु कैसो चहीअै ।।१।।
बेधी अले गोपाल गोसांई । मेरा प्रभु रविया सरबे ठाई ।।रहाउ।।
मानै हाटु मानै पाटु, मानै है पसारी ।
मानै बासै नाना भेदी, भरमतु है संसारी ।।२।।
गुरकै सबदि एहु मनु राता, दुविधा सहजि समाणी ।
सभी हुकमु हुकमु है आपे निरभउ समतु बीचारी ।।३।।
जो जन जानि भजहि पुरखोतमु, ताची अविगत वाणी ।
नामा कहै जगजीवनु पाइआ, हिरदै अलख विणाणी ।।४।।

मन की ····कहीअै = मनोव्यथा का वास्तविक जानकार या तो मन ही होता है अथवा वह जो कभी का भुक्तभोगी हो और उससे कहा जाय । अन्तरजामी·····चहीअै सर्वव्यापक अन्तरयामी के सामने संकोच कैसा । मानै = मन द्वारा कल्पित कर लेने पर ही । पाटु = राज्यासन । हुकमु = ईश्वरीय नियम । ताची = उसकी । विणाणी = ज्ञानस्वरूप । बासै नानाभेदी विभिन्न वेषों में । विणाणी = विचित्र ।

मन का कपट (५)

सापु कुंच छोडै विषु नहीं छाडै । उदक माहि जैसे बगु धिआनु माडै ।।१।।
काहे कउ कीजै धिआनु जपंना । जबते सुधु नाही मनु अपना ।।रहाउ।।
सिंघच भोजनु जो नर जानै । अैसे ही ठग देउ बखानै ।।२।।
नामे के सुआमी लाहिले झगरा । राम रसाइन पीउ रे दगरा ।।३।।

कुंच = केंचुल । लाहिले = मिटा देता है । दगरा = दगादार, छली । सिंघच भोजनु...बखानै = सिंहादि हिंस्र पशुओं का-सा भोजन करने वाला भगवान की बातें बकता है ।

अज्ञेय तत्व (६)

कोई बोलै निरवा कोई बोलै दूरि । जल की माछुली चरै खजूरि ।।१।।
कांइरे बकवादु लाइउ । जिनि हरि पाइउ तिनहि छपाइउ ।।रहाउ।।
पंडित होइकै वेदु बखानै । मूरखु नामदेउ रामहि जानै ।।२।।

निरवा = निकट । जल की...खजूरि = अज्ञेय के जानने की असंभव बात करते हैं ।

मेरे प्रियतम राम (७)

मारवाड़ी जैसे नीरु बालहा, बेलि बालहा करहला।
जिउ कुरंक निसि नादु बालहा, तिउ मेरै मनि रामईआ ॥१॥
तेरा नामु रूड़ो रूपु रूड़ो अति रंग रूड़ो मेरो रामईआ ॥ रहाउ ॥
जिउ धरणी कउ इंद्र बालहा, कुसुम बासु जैसे भंवरला।
जिउ कोकिल कउ अंबु बालहा, तिउ मेरै मनि रामईआ ॥२॥
चकवी कउ जैसे सूरु बालहा, मानसरोवर हंसुला।
जिउ तरुणीकउ कंतु बालहा, तिउ मेरै मनि रामईआ ॥३॥
बारिक कउ जैसे षीरु बालहा, चात्रिक मुष जैसे जलधारा।
मछली कउ जैसे नीरु बालहा, तिउ मेरै मनि रामईआ ॥४॥
साधिक सिध सगल मुनि चाहहि, बिरले काहू डीठुला।
सगल भवन तेरो नामु बालहा, तिउ नामे मनि बीठुला ॥५॥

बालहा—प्रिय। करहला—ऊँट। कुरंक—मृग। रूड़ो—सुन्दर। अंबु—आम। बारिक—बालक। इन्द्र—इन्द्र की वृष्टि। सूरु—सूर्य।

एकांत निष्ठा (८)

नाद भ्रमे जैसे मिरगाए प्रान तजे वाको धिआनु न जाए ॥१॥
ऐसे रामा ऐसे हेरउ। राम छोड़ि चितु अनत न फेरउ ॥ रहाउ ॥
जिउ मीना हेरै पसूआरा। सोना गढ़ते हिरै सुनारा ॥२॥
जिउ बिषई टेरै पर नारी। कउड़ा डारत हिरै जुआरी ॥३॥
जह जह देषउ तह तह रामा। हरिके चरन नित धिआवै नामा ॥४॥

हेरउ—देखो। कउड़ा—पासा।

मनोवृति का केंद्र (९)

आनीले कागदु काटीले गुड़ी, आकास मधे भरमीअले।
पंच जनासिउ बात बतऊआ, चीतु सुडोरी राषीअले ॥१॥
मनु राम नामा बेधीअले, जैसे कनिक कला चितु मांडीअलै ॥ रहाउ ॥
आनीलो कुंभु भराइले उदक, राज कुआरि पुरंदरीए।
हसत बिनोद बीचार करती है, चीतु सुगागरि राषीअले ॥२॥
मंदरु एकु दुआर दस जाके, गऊ चरावन छाड़ीअले।
पाँच कोस पर गऊ चरावत, चीतु सु बछरा राषीअले ॥३॥
कहत नामदेउ सुनहु तिलोचन, बालकु पालन पउढीअले।
अंतरि बाहरि काज बिरूधी, चीतु सुबारिक राषीअले ॥४॥

भरमीअले—उड़ाता है। पुरंदरीए—दासियों द्वारा।

मेरा भगवत्प्रेम (१०)

जैसी भूषे प्रीति अनाज, त्रिषावंत जलसेती काज।
जैसी मूढ़ कुटंब पराइण; ऐसी नामे प्रीति नराइण ॥१॥

नामे प्रीति नराइण लागी, सहज सुभाइ भइउ बैरागी ।। रहाउ ।।
जैसी पर पुरषारत नारी, लोभी नरु धन का हितकारी ।
कामी पुरुष कामनी पिआरी, ऐसी प्रीति मुरारी ।।२।।
साई प्रीति जिआपे लाए, गुर परसादी दुविधा जाए ।
कबहु न तूटसि रहिआ समाइ, नामे चितु लाइआ सचिनाइ ।।३।।
जैसी प्रीति बारिक अरु माता, ऐसा हरि सेती मनुराता ।
प्रणवै नामदेउ लागी प्रीति, गोबिंद बसै हमारे चीति ।।४।।

सचिनाइ=सच्चे भाव के साथ ।

मेरा वही एक (११)

मैं बउरी मेरा राम भतारु । रचि रचि ताकउ करउ सिंगारु ।।१।।
भले निंदउ, भले निंदउ, भले निंदउ लोगु ।
तनु मनु राम पिआरे जोगु ।। रहाउ ।।
बादु बिबादु काहू सिउ न कीजै । रसना राम रसाइनु पीजै ।।२।।
अब जीअ जानि ऐसी बनि आई । मिलउ गुपाल नीसानु बजाई ।।३।।
असतुति निंदा करै नरु कोई । नामे स्रीरंगु भेटल सोई ।।४।।

नीसानु बजाई=डंके की चोट के साथ (दे० 'तिरौं कंतले तूर बजाई'—कबीर।)

एकमात्र स्वामी (१२)

बदहु किन होड़ माधउ मोसिउ ।
ठाकुर ते जनु जन ते ठाकुरु, खेलु परिउ है तोसिउ ।। रहाउ ।।
आपन देउ देहुरा आपन, आप लगावै पूजा ।
जलते तरंग तरंगते है जलु, कहन सुनन कउ दूजा ।।१।।
आपहि गावै आपही नाचै, आप बजावै तूरा ।
कहत नामदेउ तूं मेरो ठाकुरु, जनु ऊरा तूं पूरा ।।२।।

खेलु...बाजी लगी है । तूरा = नगाड़ा वा तुरही बाजा । ऊरा = अधूरा; कम ।

उसका अंतर्यामित्व (१३)

ऐसो रामराइ अंतरजामी । जैसे दरपन माहि बदन परवानी ।। रहाउ ।।
बसै घटाघट लीपन छीपै । बंधान मुकता जात न दीसै ।।१।।
पानी माहि देखु मुखु जैसा । नामे को सुआमी बीठलु ऐसा ।।२।।

परवानी = प्रमाणित होती है । बदन = मुखाकृति । बसै...छीपै = प्रत्येक घट में वर्तमान है, किन्तु प्रत्यक्ष होता नहीं जान पड़ता ।

प्रार्थना (१४)

लोभ लहरि अति नीझर बाजै, काइआ डूबै केसवा ।।१।।
संसारु समुंदे तारि गोबिंदे । तारिलै बाप बीठला ।। रहाउ ।।

अनिल बेड़ा हउ षेवि न साकउ। तेरा पारु न पाइआ बीठुला ॥२॥
होहु दइआलु मति गुरु मेलि तू। मोकउ पारि उतारे केसवा ॥३॥
नामा कहै हउं तरिभी न जानउ। मोकउ बाह देहि बाह देहि बीठुला ॥४॥

वाजै -बहती है। अनिल...साकउ - तूफान में बेड़े का खेल जाना संभव नहीं। तीर, तैरना। बाह देहि - सहायता दो।

कृतज्ञता (१५)

मोकउ तू न बिसारि तू न बिसारि। तू न बिसारे रामईआ ॥ रहाउ ॥
आलावंती इहु भ्रमु जोहै, मुझ ऊपरि सभ कोपिला।
सूदु सूदु करि मारि उठाइउ, कहा करउ बाप बीठुला ॥१॥
मूए हूए जउ मुकति देहुगे, मुकति न जानै कोइला।
एपंडीआ मोकउ ढेढ कहत, तेरी पैज पिछंउडी होइला ॥२॥
तूजु दइआलु क्रिपालु कहीअउ है, अतिभुज भइउ अपावला।
फेरि दीआ देहुरा नामेकउ, पंडीअन कउ पिछवारला ॥३॥

आलावंती स्थान विशेष जहाँ के मंदिर के सामने कीर्तन करते समय निकाल दिये जाने पर शूद्र नामदेव को उसके पिछवाड़े चला जाना पड़ा और उनकी भक्ति के कारण मंदिर का द्वार भी घूम गया। ए...होइला पंडितों द्वारा मुझे अछूत ढेढ कहे जाते ही तुम्हारी प्रतिज्ञा या मर्यादा को चोट लग गई। अतिभुज...अपावला = अत्याचार तुम्हारी दृष्टि में अपनी सीमा तक पहुँच गया। पिछवारला पीछे की ओर डाल दिया।

वही घटना (१६)

हंसत खेलत तेरे देहुरे आइया। भगति करत नामा पकरि उठाइआ ॥१॥
हीनड़ी जात मेरी जादम राइआ। छीपे के जनमि काहेकउ आइआ ॥ रहाउ ॥
लै कमली चलिउ पलटाइ। देहुरै पाछै बैठा जाइ ॥२॥
जिउ जिउ नामा हरिगुण उचरै। भगत जनांकउ देहुरा फिरै ॥३॥

जादम राइआ = यदुनाथ, भगवान्। जनमि - योनि में। पलटाइ - लौट कर।

वही एक दाता (१७)

जै राजु देहि त कवन बड़ाई। जै भीप मंगावहि त किया घटि जाई ॥१॥
तूं हरि भजु मन मेरे पट निरवानु। बहुरि न होइ तेरा आवन जानु ॥ रहाउ ॥
सभतै उपाई भरम भुलाई। जिसतू देवहि तिसहि बुझाई ॥२॥
सतिगुरु मिलैत सहसा जाई। किस इउ पूजउ दूजा नदरि न आई ॥३॥
एकै पाथर कीजै भाउ। दूजै पाथर धरीऐ पाउ।
जे ओहु देउ त ओहु भी देवा। कहि नामदेउ हम हरि की सेवा ॥४॥

सभतै उपाई = तुम्हारी सारी सृष्टि। सहसा = एकदम से। पाथर - पत्थर।

ज्ञानोदय (१८)

अणमडिआ मंदलु बाजै, बिनु सावण घनहरु गाजै।
बादल बिनु बरषा होई, जउ ततु बिचारै कोई ॥१॥
मोकउ मिलाओ रामु सनेही। जिह मिलिऐ देह सुदेही ॥ रहाउ ॥

मिलि पारस कंचनु होइआ, मुष मनषा रतनु परोइआ।
निज भाउ भइया भ्रमु भागा, गुर पूछे मनु पतिआगा ॥२॥
जल भीतरि कुंभ समानिआ, सम रामु एकु करि जानिआ।
गुरु चेले हैं मनु मानिआ, जन नामै ततु पछानिआ ॥३॥

अणमडिआ=अकृत्रिम। मंदलु=वाद्य विशेष, ढोल। निज...भइआ आप अपने को जान लिया।

नित्य तत्व (१९)

माइ न हती बापु न हता, करमु न हती काइआ।
हम नहीं हते तुम नहीं हते, कवनु कहां ते आइआ ॥१॥
राम कोई न किसही केरा। जैसे तरवर पंषि बसेरा ॥रहाउ॥
चंदु न हता सूरु न हता, पानी पवण मिलाइआ।
सासतु न हता वेदु न हता, करमु कहाँ ते आइआ ॥२॥
षेचर भूचर तुलसी माला, गुर परसादी पाइआ।
नामा प्रणवै परम ततु है, सति गुरु होइ लपाइआ ॥३॥

हती=थी। हता=था। सासतु शास्त्र।

भ्रम का परिणाम (२०)

काएं रे मन विपिआ वन जाइ। लै भूरे ठगमूरी षाइ ॥रहाउ॥
जैसे मीनु पानी महि रहै, काल जाल की सुधि नहीं लहै।
जिहवा सुआदी लीलत लोह, अैसे कनिक कामनी बाँधिउ मोह ॥१॥
जिउ मधु माषी संचै अपार, मधु लीनो मुषि दीनी छारु।
गऊ बाछकंउ संचै षीरु, गला बाँधि दुहि लेइ अहीरु ॥२॥
माइआ कारन स्रमु अति करै, सो माइया लै गाडै धरै।
अति संचै समझै नही मूड़, धनु धरती तनु होइ गइउ धूड़ि ॥३॥
काम क्रोध त्रिसना अति जरै, साध संगति कबहूँ नहि करै।
कहत नामदेउ ताची आणि, निरभै होइ भजीअै भगवान ॥४॥

काएं=क्यों। ठगमूरी षाइ ठगौरी लगकर, चकित हो कर। लोह=चारे से युक्त वंशी का काँटा। बाछकउ बछड़े के लिए। ताची आणि=उसकी वास्तविक स्थिति को समझ-बूझ कर।

दयालु गुरु (२१)

सफल जनमु मोकउ गुर कीना। दुष बिसारि सुष अंतरि लीना ॥१॥
गिआन अंजनु मोकउ गुरि दीना। राम नाम बिनु जीवनु मनहीना ॥रहाउ॥
नामदेउ सिमरनु करि जानाँ। जगजीवन सिउ जीउ समाना ॥२॥

सिमरनु करि नाम स्मरण की साधना।

विरह की बेचैनी (२२)

मोहि लागती तालावेली। बछरे बिनु गाइ अकेली ॥१॥
पानीआ बिनु मीनु तलफै। अैसे राम नामा बिन बापुरो नामा ॥रहाउ॥

जैसे गाइ का बाछा छूटला। थन चोषता माषनु घूटला ॥२॥
नामदेउ नाराइनु पाइआ। गुरु भेटत अलष लषाइआ ॥३॥
जैसे विषै हेत परनारी। ऐसे नामे प्रीति मुरारी ॥४॥
जैसे तापते निरमल घामा। तैसे रामनाम बिनु बापुरो नामा ॥५॥

तालावेली=विरहजनित उद्वेग। घूटला=पी गया।

सर्वप्रधान वस्तु (२३)

परधन परदारा परहरी। ताकै निकटि बसै नरहरी ॥१॥
जो न भजते नाराइणा तिनका। मैं न करउं दरसना ॥रहाउ॥
जिनकै भीतरि है अंतरा। जैसे पसु तैसे उइ नरा ॥२॥
प्रणवति नामदेउ नाकहि बिना। नासो है बत्तीस लषना ॥३॥

परहरी=परित्याग कर दिया है। अंतरा=भेदभाव। नाकहि···लषना=बिना नाक वाला व्यक्ति जैसे सभी शृंगारों से युक्त रहने पर भी नही शोभता।

राम ही पर निर्भरता (२४)

कबहूँ षीरि षांड़ घीउ न भावै। कबहूं घर घर टूक मंगावै ॥
कबहूँ कूरनु चने बिनावै ॥१॥
जिउ रामु राषै तिउ रहीऐ रे भाई।
हरि की महिमा किछु कथनु न जाई ॥रहाउ॥
कबहूं तुरे तुरंग नचावै। कबहूं पाइ पनहीउ न पावै ॥२॥
कबहूं षाट सुपेदी सुवावै। कबहूं भूमि पैआरु न पावै ॥३॥
भनति नामदेउ इकु नामु निसतारै। जिह गुरु मिलै तिह पारि उतारै ॥४॥

कूरनु=कूड़े वा घूर पर। तुरे=शीघ्रगामी। सुपेदी=स्वच्छ श्वेत चादर से आच्छादित। पैआरु पयाल, तिनकों का बिछौना।

स्वामी रामानंद

स्वामी रामानंद के जन्म का सं० १३५६ में होना और उनका सं० १४६७ में मर जाना प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकार कर लिया है। उनका जन्म-स्थान प्रयाग था और वे ब्राह्मणों के कान्यकुब्ज कुल में उत्पन्न हुए थे। वे पढ़ने के लिए काशी गये थे, जहाँ पर शंकराद्वैत मत के प्रभाव में शिक्षा प्राप्त कर अन्त में प्रसिद्ध विशिष्टाद्वैती स्वामी राघवानंद के शिष्य हो गए। परन्तु कहीं से तीर्थयात्रा करके लौटने पर आचार-सम्बन्धी कुछ मतभेदों के उत्पन्न हो जाने के कारण उन्होंने अपने गुरु से अलग होकर एक नवीन मत का प्रतिपादन किया जो 'रामावत् संप्रदाय' का निर्देशक सिद्धांत बन गया। स्वामी रामानन्द स्वाधीनचेता महापुरुष थे। इनके चरित्र-बल एवं असाधारण व्यक्तित्व के कारण एक नवीन जागृति दीख पड़ने लगी। प्रसिद्ध है कि उनके शिष्यों में त्रिशुद्ध रामावती, अनंतानंद, सुखानंद के अतिरिक्त कबीर, पीपा तथा रैदास जैसे व्यक्ति भी सम्मिलित हो गए। उन्होंने उनके अनंतर, उनके मत के प्रचार में पूरा यत्न कर उनके महत्त्व को और भी बढ़ा दिया। स्वामी रामानंद का स्थान उत्तरी भारत की संत-परंपरा के

इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से प्रायः सभी तत्कालीन भक्तों तथा संतों को प्रभावित किया है।

उनकी रचनाओं में कुछ संस्कृत की भी बतलायी जाती हैं। केवल दो का अभी तक हिन्दी पदों के रूप में होना स्वीकार किया जाता है। इनमें से सिखों के 'आदिग्रंथ' में केवल एक ही संग्रहीत है जिसकी प्रामाणिकता में कोई सन्देह नहीं किया जाता। यह दूसरा पद वास्तव में एक सुन्दर रचना है और इसमें उनके विचार स्वातंत्र्य एवं हृदय की सचाई के भाव बड़े अच्छे ढंग से व्यक्त किये गए हैं। इधर कई अन्य रचनाएँ भी मिली हैं।

पद

सच्ची उपासना

कत जाइऔ रे घर लागो रंगु। मेरा चितु न चलै मनु भइउ पंगु ॥रहाउ॥
एक दिवस मन भई उमंग, घसि चोआ चंदन बहु सुगंध।
पूजन चाली ब्रह्म ठाइं, सो ब्रह्म बताइउ गुर मन ही माहि ॥१॥
जहाँ जाईऔ तहं जल पषान, तू पूरि रहिउ है सभ समान।
बेद पुरान सभ देषे जोइ, उहाँ तउ जाईऔ जउ ईहां न होई ॥२॥
सति गुर मैं बलिहारी तोर, जिनि सकल बिकल भ्रम काटे मोर।
रामानंद सुआमी रमत ब्रह्म, गुर का सबदु काटै कोटि करम ॥३॥

रंगु—वास्तविक स्थिति का आनंद। लागो - प्रभावित कर दिया, प्राप्त हो गया। घर=बिना कहीं गये ही। ब्रह्म ठाइं—ब्रह्म या परमात्मा के किसी बाहरी निवास-स्थान पर। जोइ=विचारपूर्वक देखकर। बिकल—अनैसर्गिक अथवा बेचैन कर देने वाला। गुरका सबदु...करम—सतगुरु के उपदेश द्वारा सारे कर्मों का नष्ट हो जाना संभव है।

संत सेन नाई

सेन नाई के सम्बन्ध में दो भिन्न-भिन्न मत प्रचलित हैं। इनमें से एक के अनुसार, वे बीदर के राजा के यहाँ नियुक्त थे तथा प्रसिद्ध संत ज्ञानेश्वर की शिष्य-मंडली के थे। दूसरे के अनुसार, वे बांधवगढ़ के राजा के सेवक थे और स्वामी रामानंद के शिष्यों में से एक थे। उनकी प्राप्त मराठी रचनाओं द्वारा पहली बात पुष्ट होती जान पड़ती है; किंतु उनके हिंदी में रचे गये पदों से उसमें कुछ संदेह भी होने लगता है। प्रो० रानडे ने उनका समय सं० १५०५ के आसपास माना है जिससे उनका ज्ञानेश्वर का समसामयिक होना सिद्ध नहीं होता। इधर 'आदिग्रंथ' में संग्रहीत उनके एक हिन्दी पद से जान पड़ता है कि वे स्वामी रामानंद के समकालीन कहे जा सकते हैं। अतएव संभव है कि उनका सम्बन्ध पहले दक्षिण के वारकरी सम्प्रदाय के साथ ज्ञानेश्वर के अनंतर हुआ हो। वे अन्त में, संत नामदेव की भाँति उत्तर की ओर आकर कुछ दिनों तक स्वामी रामानन्द के सम्पर्क में भी आ गये हों। उनकी बानियों में उनके किसी का शिष्य होने की बात नहीं मिलती। राजाओं के सम्बन्ध की बात भी बहुत कुछ चमत्कारपूर्ण होने के कारण केवल एक काल्पनिक घटना ही हो सकती है जो संदिग्ध है। उनका समय विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध एवं पंद्रहवीं के पूर्वार्द्ध में समझा जा सकता है, किन्तु जन्मभूमि का निर्णय करना फिर भी कठिन है।

सेन नाई की फुटकर बानियाँ कई मराठी तथा हिन्दी-संग्रहों में पायी जाती है, किन्तु उनकी संख्या अधिक नहीं है। 'आदिग्रथ' में केवल एक पद आया है जिसे सेन की 'आरती' कह सकते हैं और जिसमें उन्होंने गोविंद से अपने मुक्त होने के लिये प्रार्थना की है। छंद मराठी अभंगों का अनुसरण करता है।

पद

आरती

धूप दीप घ्रित साजि आरती। वारने जाउ कमलापती ॥१॥
मंगला हरि मंगला। नित मगलु राजाराम राइ को ॥रहाउ॥
ऊतम दीअरा निरमल बाती। तूही निरंजनु कमलापाती ॥२॥
रामा भगति रामानदु जानै। पूरन परमानंदु बखानै ॥३॥
मदन मूरति भैतारि गोविंदे। सैण भणै भजु परमानंदे ॥४॥

घ्रित=घृत, घी। वारने जाउं=बलि, बलि जाता हूं, न्योछावर होता हूँ। तूही...कमलापति—हे कमलापति, तुही निरंजन भी है। पूरन...बखानै वे रामानंद उस भक्ति की व्याख्या पूरे आनंद के साथ किया करते हैं। भैतारि—भवसागर के पार कर दो। (हि० 'पूरन परमानंदु' से अभिप्राय पूर्ण परमानंदमय परमात्मा भी हो सकता है।)

संत कबीर साहब

कबीर साहब के सर्वप्रसिद्ध संत होते हुये भी उनके जीवन-काल, जन्म-मरण-स्थान एवं जीवन की प्रमुख घटनाओं के सम्बन्ध में अभी तक विद्वानों में बहुत कुछ मत-भेद दीख पड़ता है। यही बात कुछ अंशों तक उनके मत के विषय में भी कही जा सकती है। उन्होंने स्वयं अपना ऐतिहासिक आत्मचरित प्रायः कुछ भी नहीं दिया है। उनके समसामयिक भी उनकी ओर केवल संकेत करके ही रह गये हैं। उनके पीछे आने वाले लेखकों अथवा आधुनिक विद्वानों के कथन अधिकतर अनुमानों पर ही आश्रित हैं जिन पर अन्तिम निर्णय देना कठिन है। फिर भी सारी उपलब्ध सामग्रियों की छानबीन करने पर जो निष्कर्ष निकलता है, उसके अनुसार उनका संक्षिप्त परिचय दिया जा सकता है।

इसके अनुसार कबीर साहब की मृत्यु संभवतः विक्रम संवत् की सोलहवी शताब्दी के प्रथम चरण में किसी समय हुई होगी। ऐसा मान लेने पर उनकी जन्म-तिथि को हमें परंपरागत सं० १४५५ से कुछ-न-कुछ पहले अर्थात् पंद्रहवीं के द्वितीय वा प्रथम चरण तक भी ले जाना होगा। इसी प्रकार कबीर साहब की जाति, सभी बातों पर विचार कर लेने पर, जुलाहे की ठहरती है। उनका निवास-स्थान का भी काशी होना विवादग्रस्त समझ पड़ता है। कबीर साहब के दीक्षागुरु स्वामी रामानंद समझे जाते हैं और उनके गुरुभाई सेन, पीपा, रैदास और धन्ना संत माने जाते हैं, किन्तु इस बात के लिए प्रत्यक्ष प्रमाणों का अभाव दीखता है। स्वामी रामानन्द तथा सेन कबीर साहब के बड़े समकालीन, पीपा तथा रैदास छोटे समकालीन तथा धन्ना कुछ पीछे के जान पड़ते हैं और प्रायः सभी समान मत के हैं। इन संतों का स्वामी रामानंद द्वारा किसी-न-किसी रूप में प्रभावित होना असंभव नहीं। शेख तकी वा पीताम्बर का उनका पीर होना बहुत कुछ काल्पनिक ही है। कबीर साहब का सत्य की खोज या सत्संग के योजना-क्रम में दूर-दूर तक पर्यटन करना और कहीं-कहीं कुछ समय तक ठहर जाना भी सिद्ध होता है।

कबीर साहब का पारिवारिक जीवन साधारण गृहस्थ के परिवार का जीवन था। वह इसी कारण सीधा-सादा तथा आडंबरहीन था। उनका प्रधान उद्देश्य अपने शरीर को स्वस्थ रखते हुए आध्यात्मिक जीवन का आनंद उठाना था। वे इसी के उपदेश भी देते रहे। उनके तथा उनके परिवार का भरण-पोषण अधिकतर उनकी पैतृक जीविका, अर्थात् कपड़े बुनने से ही चलता रहा। अंत में, उन्होंने कदाचित् इसे भी छोड़ दिया था। उनके परिवार में उनकी स्त्री एवं पुत्र का होना प्रायः सभी मानते हैं और उनके साथ उनके माता-पिता का भी कुछ दिनों तक रहना स्वीकार करते हैं। फिर भी इनमें से किसी का भी न तो पूरा विवरण मिलता है, न उनके परस्पर सम्बन्ध पर ही वैसा स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। कबीर साहब की बाहरी लोगों और विशेषकर सांप्रदायिक प्रवृत्ति वाले हिन्दुओं तथा मुसलमानों से कभी नहीं पटी। अन्त में उन्हें अपना स्थान छोड़ना पड़ा। प्रसिद्ध है कि अन्त में वे काशी छोड़ कर मगहर चले गए थे, जहाँ उनकी मृत्यु हो गई। वहाँ पर उनकी समाधि आज तक वर्तमान है। उपलब्ध चित्रों तथा कतिपय पदों के आधार पर उनकी अन्तिम अवस्था का अनुमान लगभग सौ वर्षों का किया जाता है जो असंभव नहीं है।

कबीर साहब के शिक्षित होने में सन्देह किया जाता है और समझा जाता है कि अधिक-से-अधिक उन्हें केवल अक्षर-ज्ञान तक रहा होगा। परन्तु इस बात को स्वीकार करने में कभी किसी को भी आपत्ति नहीं होती कि सत्संग एवं आत्म-चिंतन के द्वारा उन्होंने बहुत-कुछ जान लिया था। फलतः अपने अनुभवों के आधार पर वे अपने विचार कभी-कभी पद्य-रचना द्वारा भी व्यक्त किया करते थे और लोगों को उपदेश देते थे। उनकी ये रचनाएँ इस समय विविध संग्रहों में पायी जाती हैं और इनकी संख्या कम नहीं जान पड़ती। फिर भी इस प्रकार के संग्रहों के सम्बन्ध में बहुधा मतभेद प्रकट किया जाता है और उनमें आये हुए पद्यों के पाठभेद भी अभी तक प्रचलित हैं।

कबीर-पंथ के अनुयायियों ने 'बीजक' नामक संग्रह को सबसे अधिक महत्व दिया है। उनका कहना है कि कबीर-शिष्य धर्मदास ने इसे सं० १५२१ में पूरा कर कबीर-वचनों को सुरक्षित किया था। परन्तु 'बीजक' की अभी तक न तो कोई प्राचीन प्रमाणिक हस्तलिखित प्रति मिली है, न धर्मदास का ही जीवन-काल निश्चित रूप से आज तक जाना जा सका है। इसके सिवाय, इसमें संग्रहीत कई पद्यों के भाव एवं भाषा पर ध्यानपूर्वक विचार करने से भी प्रतीत होने लगता है कि यह पूर्णतः प्रामाणिक नहीं हो सकता। इसमें संग्रहीत कुछ रचनाओं पर परवर्ती कवियों की कृति होने का भी संदेह किया जा सकता है। इसके अनेक पद्यों में लक्षित होने वाली भाषा की कृत्रिमता एवं भावों की दुरूहता तथा सांप्रदायिक आग्रह की प्रवृत्ति भी इसके कबीर-रचित होने में बाधा पहुँचाती हैं। फिर भी इसकी रचनाओं के अन्तर्गत कबीर-बानियों का एक बहुत बड़ा अंश किसी-न-किसी रूप में पाया जा सकता है। कबीर साहब की प्रामाणिक रचनाओं का संग्रह न कहे जा सकने पर भी कबीर-पंथ का यह सबसे प्रामाणिक ग्रंथ है और उसके अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकता है।

सिखों के 'आदिग्रंथ' में भी कबीर साहब के लगभग सवा दो सौ पद एवं ढाई सौ साखियाँ संग्रहीत हैं जिनका पाठ प्राचीन है। उनमें दीख पड़ने वाली भाषा की प्राचीनता तथा भावों की सादगी एवं स्वाभाविकता उनके कबीर-कृत कहे जाने में सहायता पहुँचाती हैं। परन्तु इस संग्रह में आये हुए सभी पद्यों की प्रामाणिकता में भी हमें तब

संदेह होने लगता है जब हम देखते हैं कि उनमें से कुछ अवश्य दूसरों की रचनाएँ होंगी, जिन्हें संग्रह-कर्त्ताओं ने भ्रमवश कबीर-कृत मानकर इसमें स्थान दे दिया होगा। ऐसे पद्यों की संख्या अधिक नहीं है और यदि ये सावधानतापूर्वक निकाले जा सकें तो शेष रचनाओं की प्रामाणिकता असंदिग्ध हो सकती है।

'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित 'कबीर-ग्रंथावली' एक तीसरा ऐसा संग्रह है जो पुराने हस्तलेखों के आधार पर तैयार किया हुआ बतलाया जाता है और जिसकी लगभग ५० साखियाँ एवं १५ पद 'आदिग्रन्थ' की वैसी ही रचनाओं के समान हैं। शेष में से भी कई ऐसी हैं जिनकी असमानता का आधार केवल पाठभेद ही कहा जा सकता है। इस संग्रह का पाठ दो पुरानी हस्तलिखित प्रतियों पर आश्रित कहा जाता है जिनमें से एक सं० १८८१ और दूसरी सं० १५६१ की है, किन्तु दूसरी के अन्त में 'सं० १५६१' आदि कुछ बातें अन्य लेखनी से लिखी जान पड़ती हैं, जिस कारण उसकी प्रामाणिकता में सन्देह किया जा सकता है। फिर भी उसमें संग्रहीत पद्यों की प्राचीनता तथा उनकी भाषा उनके अपरिमार्जित रूपों की सहायता द्वारा सिद्ध की जा सकती है। उक्त सभा को एक अन्य संग्रह भी मिला है जिसका लिपिकाल सं० १८५५ जान पड़ता है। इसमें संग्रहीत कबीर साहब की रचनाओं की उक्त ग्रन्थावली में आये हुए पद्यों से समानता है तथा इसमें कुछ टिप्पणियाँ भी दी हुई हैं। इस संग्रह में कबीर-कृत पद्यों की संख्या अधिक नहीं है, किन्तु इसके दो-तीन पद ऐसे भी हैं जो उक्त ग्रन्थावली में नहीं दीख पड़ते। कबीर साहब की रचनाओं के ऐसे संग्रह दादू-पंथ द्वारा सुरक्षित कुछ प्राचीन हस्तलिखित गुटकों में भी पाये जाते हैं और उनकी प्रामाणिकता में बहुत कम सन्देह किया जाता है। फिर भी इस प्रकार के सभी संग्रहों को एकत्र कर न तो उनका तुलनात्मक अध्ययन अभी तक किया जा सका है, न इसी कारण कबीर साहब की सभी उपलब्ध रचनाओं का कोई ऐसा शुद्ध संस्करण ही निकाला जा सका है जो पूर्णत: प्रामाणिक माना जाय। प्राचीनता का विचार छोड़ कर किये गए ऐसे रचना-संग्रहों में 'बेलवेडियर प्रेस' प्रयाग की पुस्तकें सबसे अधिक प्रसिद्ध हुई हैं। किन्तु इन संग्रहों में अन्य सन्तों वा कवियों की भी अनेक रचनाएँ भूल के कारण भर दी गई हैं जिनका पृथक् किया जाना आवश्यक है। पाठशोध की दृष्टि से इधर 'कबीर ग्रन्थावली' के डॉ० माताप्रसाद गुप्त और डॉ० पारसनाथ तिवारी के भी दो उल्लेखनीय संस्करण आये हैं।

कबीर साहब की उक्त प्रकार से संग्रहीत रचनाओं में प्रधानता पदों तथा साखियों की है। पदों को शब्द, बानी, बचन वा उपदेश भी कहा गया है और इसी प्रकार साखियों को 'आदिग्रन्थ' में सलोक नाम दिया गया है। पदों का रूप, वास्तव में, गेय रचनाओं का है और वे अधिकतर भिन्न-भिन्न रागों के अन्तर्गत संग्रहीत भी पाये जाते हैं, किन्तु साखियों में दोहे, सोरठे अथवा छप्पय जैसे पद्य भी आ गए हैं। पदों में कबीर साहब के सिद्धान्त, उनके हृदयोद्‌गार तथा साधना-सम्बन्धी कतिपय संकेतों की प्रचुरता है। इसी प्रकार उनकी साखियों में अधिकतर ऐसी बातें पायी जाती हैं जो उनके आध्यात्मिक अनुभव तथा सामाजिक जीवन की प्रमुख बातों को सारांशत: प्रकट करती हैं। कबीर साहब की अन्य प्रामाणिक रचनाओं में 'बावनअखरी' तथा 'रमैनियों' की चर्चा की गई है जिनके विषय भी प्राय: वे ही हैं जो उपर्युक्त पद्यों में पाये जाते हैं; किन्तु जिनकी रचना चौपाई जैसे साधारण छन्दों के प्रयोग द्वारा की गई है।

कबीर साहब विचार-स्वातन्त्र्य तथा सात्विक जीवन के प्रबल समर्थक थे और उनकी साधना स्वानुभूति, सद्विचार तथा सदाचरण से सम्बद्ध थी। उनके मत में, इसी कारण, न तो किसी धर्म-ग्रन्थ का महत्व था, न किसी विधि-निषेध अथवा बाह्य पूजन की ही प्रधानता थी। वे वस्तुतः केवल शुद्ध सत्य के पुजारी थे और उसी की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति उनके आध्यात्मिक जीवन का सर्वप्रथम उद्देश्य था। उनकी कथन शैली में कतिपय प्रचलित शब्दों के प्रयोग का विशेष रूप से होता रहना न तो उनका किसी मत-विशेष का अनुयायी होना सिद्ध करता है, न केवल इसी एक बात के आधार पर हम उन्हें किसी प्रचलित धर्म वा सम्प्रदाय की सीमा के अन्तर्गत आबद्ध कर सकते हैं। उन्हें किसी भी मत के मौलिक सिद्धान्तों से कोई विरोध नहीं और वे उनके अनुयायियों को केवल उन्हीं बातों की ओर उन्मुख होने का परामर्श भी देते हैं। सत्य एक, नित्य तथा सर्वव्यापी है। उसकी अनुभूति के लिए शुद्ध हृदय एवं सदाचरण की आवश्यकता है। उसकी ओर सदा उन्मुख रहने पर हमें शान्ति, एकता एवं आनन्द का अनुभव होता है और तभी हम स्वार्थ एवं परमार्थ के सामंजस्य द्वारा विश्व-कल्याण कर सकते हैं। इन बातों को उन्होंने स्पष्ट शब्दों में और निर्भीकता के साथ कहा है और इनके अनुसार न चलने वालों को उन्होंने खरी-खोटी भी सुनायी है।

कबीर साहब की रचनाओं में कई भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्द आते हैं और उनकी पंक्तियों में प्रायः व्याकरण तथा पिंगल की अशुद्धियाँ भी मिलती हैं। उनके अनेक पदों में एक से अधिक भाव बिना किसी क्रम के रखे गए दीख पड़ते हैं जिनके कारण कभी अस्पष्टता का दोष भी आ जाता है, परन्तु सब कुछ के होते हुए भी उसके अधिकांश पद तथा साखियाँ अपने भाव-गांभीर्य, ऊँची उड़ान, स्पष्ट चित्रण तथा चुटीलेपन में अद्वितीय दीखती हैं। उनके रूपक, उनकी अन्योक्तियाँ, उनके दृष्टांत, उनकी अतिशयोक्ति एवं विभावना द्वारा निर्दिष्ट अनोखी सूझें और साधारण क्षेत्र के आधार पर भी कल्पित की गई विविध उल्टबासियाँ उनकी अपनी विशेषताएँ हैं। कबीर साहब की रचनाओं में काव्य-कला का प्रदर्शन कहीं नहीं मिलता। उनमें एक अपना निराला सौन्दर्य है जो उनकी प्रतिभा के कारण बिना किसी प्रयास के भी आपसे-आप फूट पड़ा है।

पद

अनस्थिर संसार (१)

का मागूँ कुछ थिर न रहाई, देखत नैन चल्या जग जाई ॥टेक॥
इक लष पूत सवा लष नाती, ता रावन घरि दीवा न बाती ॥१॥
लंका सा कोट समंद सी खाई, ता रावन की खबरि न पाई ॥२॥
आवत संग न जात संगाती, कहा भयो दरि बाँधै हाथी ॥३॥
कहै कबीर अंत की बारी, हाथ झाड़ि जैसे चले जुवारी ॥४॥

देखत नैन=आँखों के सामने। (दे० गुरु नानक देव—"मैं किआ मांगउ किछु थिरु न रहाई, हरि दीजै नाम पिआरी जीउ," 'आदिग्रन्थ', सोरठि ८ तथा "अैजी किआ मांगउ किछु रहै न दीसै, इसु जगमहि आइआ जाई", 'आदिग्रन्थ', गूजरी ३।) संगाती=साथी। हाथ...जुवारी = हारे जुआरी की भाँति नंगे हाथ चला जाना है। (दे० जायसी—"हाथ झारि जस चलै जुवारी। तजा राज, होइ चला भिखारी", 'जायसी ग्रन्थावली', पृ० ३२६।)

मायिक बंधन (२)

माया तजूं तजी नहीं जाइ, फिर फिर माया मोहि लपटाइ ।।टेक।।
माया आदर माया मान, माया नहीं तहां ब्रह्म गियांन ।।१।।
माया रस माया कर जांन, माया कारनि तजै परांन ।।२।।
माया जप तप माया जोग, माया बांधे सबही लोग ।।३।।
माया जल-थलि माया आकासि, माया व्यापित रही चहूं पासि ।।४।।
माया माता माया पिता, अति माया अस्तरी सुता ।।५।।
माया मारि करै व्यौहार, कहै कबीर मेरे राम अधार ।।६।।

अस्तरी—स्त्री ।

मन का दोष (३)

मन थिर रहै न घर ह्वै मेरा, इन मन घर जारे बहुतेरा ।।टेक।।
घर तजि बन बाहरि कियो बास, घर बन देखौं दोऊ निरास ।।१।।
जहां जाऊँ तहां सोग संताप, जरा मरण कौ अधिक वियाप ।।२।।
कहै कबीर चरन तोहि बंदा, घर मैं घर दे परमानंदा ।।३।।

मन...मेरा=मेरा मन मेरे लिए शांति का आश्रय-स्थान बन कर नहीं रहता, व्यग्र तथा चंचल हो उठता है। (दे० काण्हपा—"कान्हु कहिगइ करिब निवास। जो मन गोअर सो उआस", चर्यापद ७।)

भक्ति का भ्रम (४)

भूली मालनी है, गोव्यंद जागतो जगदेव, तू करै किसकी सेव ।।टेक।।
भूली मालनि पाती तोड़ै, पाती पाती जीव ।
जा मूरति कौं पाती तोड़ै, सो पाती नरजीव ।।१।।
टांचणहारै टांचिया, दे छाती ऊपर पांव ।
जे तूं मूरति सकल है, तौ घडणहारे कौं खाव ।।२।।
लाडू लावण लापसी, पूजा चढ़ै अपार ।
पूजि पुजारी ले गया, दे मूरति के मुँह छार ।।३।।
पाती ब्रह्मा पुहपे विष्ण, फूल फल महादेव ।
तीनि देवौ एक मूरति, करै किसकी सेव ।।४।।
एक न भूला दोइ न भूला, भूला सब संसारा ।
एक न भूला दास कबीरा, जाकै राम अधारा ।।५।।

भूली...है=अरी मालिन, तू भ्रम में पड़ी है। नरजीव=निर्जीव। टांचणहारा=मूर्ति गढ़ने वाले ने। टांचिया=उसे गढ़ा। सकल=शक्ल, वास्तविक आकृति की। लावण=नमकीन पदार्थ। लापसी=लपसी नामक मीठा गीला पदार्थ। छार=धूल, राख। (दे० "मूलं ब्रह्मा त्वचा विष्णु: शाखा शंकर एव च" आदि।)

भ्रांत जन (५)

हरि बिन भरमि बिगूचे[1] अंधा[2] ।
जापै जाँउँ आपु[3] छुटकावनि, ते बाँधे[4] बहु फंधा ।।टेक।।

जोगी कहैं जोग सिधि नीकी, और न दूजी भाई।
चुंडित[४] मुंडित मौनि जटाधर, ऐजु कहैं सिधि पाई ॥१॥
जहाँ का उपज्या वहाँ बिलानाँ, हरिपद बिसर्‌या जबहीं।
पंडित गुनी सूर कवि दाता, ऐजु कहैं बड़ हमहीं ॥२॥
वार पार की खबरि न जानी, फिर्‌यौ सकल बन ऐसैं।
यहु मन बोहिथ के कउआज्यूं, रह्यौ ठग्यौ सौ बैसैं ॥३॥
तजि बाँवैं दाहिणैं बिकारा, हरिपद दिढ़ करि रहिये।
कहै कबीर गूंगै गुड़ खाया, बूझै तौ का कहिये ॥४॥

बिगूचे=विकुंचित वा दबोचे हुए हैं। चुंडित=शिखाधारी। यहू...ज्यों=यह मन, समुद्र पर चलते हुए जहाज के काग पक्षी की भाँति सब कहीं से चल कर फिर वहीं आकृष्ट होकर बैठ गया है। तजि...विकारा इधर-उधर की बातों में न पड़कर। (दे० सरहपा—"उड्डी वोहिअ काउ जिम पलुहिअ तहँवि पडेइ"—'दोहाकोष' ७०।) बूझै...कहिये पूछने पर क्या कहेगा।

पाठभेद—१. बिगुरवैं (बीजक), भुलाने (आदिग्रंथ); २. गंदा (बीजक तथा क० ग्रंथ०); ३. आपनपौ खोयौ (बीजक) आपन पौ छुडावण (क० ग्रं०); ४ फंदे (बीजक) बीधे (क० ग्रं०); ५. रुंडित (आ० ग्रं०) लुंचित (क० ग्रं०)।

समस्या (६)

संतौ धागा टूटा गगन विनसि गया, सबद[१] जु कहाँ समाई ॥
ए संसा मोहि निसदिन व्यापै, कोइ न कहै समझाई ॥टेक॥
नहीं ब्रह्मांड प्यंड पुनि नाहीं, पंच तत भी नाहीं।
इला प्यंगुला सुषमन नाहीं, ए अवगन[२] कत जाहीं ॥१॥
नहीं ग्रिह द्वार कछू नहीं तहियाँ, रचनहार पुनि नाहीं।
जो उनहार अतीत सदा संगि, इह कहीए किसु[३] माहीं ॥२॥
तूटै बंधै बंधै पुनि तूटै, जब लग[४] होइ बिनासी।
काको[५] ठाकुरु काको सेवकु, को काहूकै जासी ॥३॥
कहै कबीर यहु गगन न बिनसै, जौ धागा उनमांना।
सीखें सुनें पढ़े का होई, जौ नहीं पदहि समाना ॥४॥

धागा....समाई जब श्वास बन्द होकर आकाश में लीन हो जाता है तो ये शब्द कहाँ रहते हैं। संसा संशय। अवगन=आवागमन के समय। रचनहार सृष्टिकर्त्ता, ब्रह्मा। काको....जासी फिर कौन किसका स्वामी है और कौन किसका सेवक है तथा कौन किसके निकट जाया करता है। गगन घट। उन्माना=उन्मन अथवा परमात्मा की ओर उन्मुख रहता है।

पाठभेद—१. बोलतु (आ० ग्रं०); २. ए गुण (क० ग्रं०); ३. ये गुण तहाँ समाहीं (क० ग्रं०); ४. तव (क० ग्रं०); ५. तब को ठाकुर अब को सेवग को काकै विसवासा (क० ग्रं० ।)

मगन रहस्य (७)

कहौ भईया अंबर कासूं लागा, कोई जाणैंगा[1] जाननहार सभागा ।।टेक।।
अंबरि दीसै केता तारा, कौन चतुर ऐसा चितरनहारा ।।१।।
जे तुम देखौ सो यह नाहीं, यहु पद[2] अगम अगोचर माहीं ।।२।।
तीन हाथ एक अरधाई, ऐसा अंबर चीन्हौ रे भाई ।।३।।
कहै कबीर जे अंबर जांनैं, तांहीं सूं मेरा मन मांनैं ।।४।।

अंबर =आकाश। कोई...सुभागा=कोई भाग्यशाली समझदार व्यक्ति ही इसका रहस्य जानता है। तीनि....अरधाई=साढ़े तीन हाथ का शरीर। अंबर=घट।

पाठभेद—१. चेतनहारे चेतु सुभागा (बीजक), बूझै बूझण हारु सभाग (आ० ग्रं०), २. सो तो आहि अमरपद मांही (बीजक)।

चेतने का अवसर (८)

बाती सूकी तेलु निखूटा, मंदलु न बाजै नटु पै सूता ।।टेक।।
बूझि गई अगनि न निकसिउ धूंआ। रमि रहिआ एकु अवरु नहीं दूजा ।।१।।
टूटी तंतु न बजै रबाबु। भूलि बिगारिआ अपना काजु ।।२।।
कथनी बदनी कहनु कहावनु। समझि परी तउ बिसरिओ गावनु ।।३।।
कहत कबीर पंच जो चूरे। तिन्ह ते नाहि परमपद दूरे ।।४।।

बाती=जीवन की बत्ती। सूकी=सूख गई। निखूटा=समाप्त हो गया। मंदलु=श्वास-प्रश्वास का बाजा, ढोल। नट=जीवात्मा। रमि रहिया=रम गया। तंतु=तार। भूलि=परमात्मा को भुलाकर। समझि परी=मिथ्यापन जान पड़ा। गावनु=गुणगान करना। पंच जो चूरे=जो अपनी इंद्रियों पर अधिकार कर लेते हैं।

उपालंभ (९)

गोव्यंदे तुम्हथैं डरपौं भारी।
सरणाई आयौ क्यूं गहिये, यहु कौन बात तुम्हारी ।।टेक।।
धूप दाझतैं छांह तकाई, मति तरवर सच पाऊं।
तरवर माहैं ज्वाला निकसै, तौ क्या लेइ बुझाऊं ।।१।।
जे बन जले त जलकूं धावै, मति जल सीतल होई।
जलही मांहि अगनिजे निकसै, और न दूजा कोई ।।२।।
तारण तिरण तिरण तूं तारण, और न दूजा जानौं।
कहै कबीर सरनाई आयौं, आन देव नहिं मानौं ।।३।।

सरणाई......गहिये=मुझ शरणागत को किस प्रकार अपनाओगे। यहु...... तुम्हारी=वह कौन सी बात है जिस पर भरोसा किया जाय। धूप .....सचपाऊँ= यदि धूप के ताप से बचने के लिए, छाया की खोज में, इस उद्देश्य से वृक्ष के निकट जायें कि वहाँ पर सुख की प्राप्ति होगी। तरवर......बुझाउँ=किन्तु उस वृक्ष से भी ज्वाला ही फूट निकले तो मैं फिर उसे कैसे शांत कर सकता हूँ। (सारांश यह कि यदि ८४ योनि के चक्कर से बचने के लिए तुम्हारी शरण में जाऊँ, किंतु तुम्हारे यहाँ भी

मुझे विविध विडंबनाओं के ही जाल में फँस जाना पड़े और अपना छुटकारा संभव न दीख पड़े तो मैं अब कौन-सा अन्य उपाय ग्रहण करूँ। तारण तिरण=तारने वाला अथवा तरने वाला।

आत्म-समर्पण (१०)

मैं गुलाम मोहि बेचि गुसांईं। तन मन धन मेरा रामजी कै तांईं ।।टेक।।
आंनि कबीरा हाट उतारा। सोई गाहक सोइ बेंचण हारा ।।१।।
वेचै राम तौ राखै कौन। राखै राम तो बेंचै कौन ।।२।।
कहै कबीर मैं तन मन जार्‌या। साहिब अपना छिन न बिसार्‌या ।।३।।

तांईं=लिए।

अपना सम्बन्ध (११)

हरि [१]मेरा पीव माई, हरि मेरा पीव। हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव ।।टेक।।
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया। राम बड़े मैं छुटक लहुरिया ।।१।।
किया सिंगार मिलनकै तांईं। काहे न मिलौ राजाराम गुसांईं ।।२।।
अब की बेर मिलन जो पाउं। कहै कबीर भौजलि नहि आउं ।।३।।

छुटक लहुरिया=बहुत छोटी।

पाठभेद—१. 'बीजक' में इस पद का पाठ बहुत भिन्न है। 'आदिग्रंथ' में भी इसकी केवल तीसरी से लेकर छठीं पंक्तियाँ तक ही किसी-न-किसी रूप में आती हैं।

दैन्य प्रकाशन (१२)

कहा करौं कैसें तिरौं, भौजल [१]अति भारी।
[२]तुम्ह सरणागति केसवा, राखि राखि मुरारी ।।टेक।।
घर तजि बनखंडि जाईये, खनि[३] खइये कंदा।
[४]बिषै विकार न छूटई, ऐसा मन गंदा ।।१।।
[५]विष बिषिया की वासना, तजौं तजी नहीं जाई।
अनेक जतन करि सुरझिहौं[६], फुनि फुनि उरझाई ।।२।।
[७]जीव अछित जोवन गया, कछू कीया न नीका।
[८]यह हीरा निरमोलिका, कौड़ी पर बीका ।।३।।
कहै कबीर सुनि केसवा, तूं सकल वियापी।
[९]तुम्ह समांनि दाता नहीं, हमसे नहीं पापी ।।४।।

कंदा=कंद-मूल। विषविषिया=भिन्न-भिन्न विषयों की। जीव अछित=जीते जी। सकल वियापी=सर्वव्यापी।

पाठभेद—१. जलनिधि (आ० ग्रं०), २. राखु राखु मेरे बीठुला जनु सरनि तुम्हारी ३. चुनि खाइये, ४. अजहु विकार न छोड़ई पापी मनु मंदा ५. बिखै बिखै की वासना तजीअ नह जाई, ६. राखिहौं, ७. जरा जीवन जोवनु गइआ, ८. इहु जीअरा निरमोल को कउड़ी लगि मीका, ९. तुम समसरि नाहीं दइआलु, मोहि समसरि पापी (आ० ग्रं०।)

असमर्थता (१३)

परम गुर देखौ रिदै बिचारी। कछू करौ सहाइ हमारी ॥टेक॥
लवा नालि तंति एक संमि करि, जंत्र एक भलि साजा।
सति असति कछू नहिं जानूं, जैसैं बजावा तैसैं बाजा ॥१॥
चोर तुम्हारा तुम्हारी आग्या, मुसियत नगर तुम्हारा।
इनके गुनह हमह का पकरौ, का अपराध हमारा ॥२॥
सेई तुम्ह सेई हम एकै कहियत, जब आपा पर नहीं जांना।
ज्यूं जलमैं जल पैसि न निकसै, कहै कबीर मन मांना ॥३॥

रिदै हृदय में। लवा·····साजा = उदर नालिका के लउआ पर जिह्वा की तांत लगा कर काया का वाद्य-यंत्र निर्मित है। जैसे·····बाजा = जैसा चाहते हो कहला लेते हो। चोर·····तुम्हारा = गुणादिक भी तुम्हारे ही नियमानुसार कार्यकर तेरे वासस्थान (पिंड) को हानि पहुँचाया करते हैं। सेई·····कहियत = उसी एक को तुम और हम कहा जाता है।

अपनी दशा (१४)

माधव जल की पियास न जाइ। जल महिं अगनि उठी अधिकाइ ॥टेक॥
तूं जलनिधि हंउ जल का मीनु। जलमहिं रहंउ जलहि बिनु खीनु ॥१॥
तूं पिंजरु हंउ सूअटा तोर। जमु मंजारु कहा करै मोर ॥२॥
तूं तरवरु हंउ पंखी आहि। मंदभागी तेरो दरसनु नाहिं ॥३॥
तूं सतिगुर हंउ नउतनु चेला। कहि कबीर मिलु अंतकी बेला ॥४॥

नउतनु=नूतन, नौसिखिया।

विनय (१५)

राखि लेहु हमते बिगरी।
सीलु धरमु जपु भगति न कीनी, हउ अभिमान टेढ़ पगरी ॥टेक॥
अमर जानि संची इह काइआ, इह मिथिआ काची गगरी॥
जिनहिं निवाजि साजि हम कीए, तिनहिं बिसारि अवर लगरी ॥१॥
संधिक ओहि साध नहीं कहीअहु, सरनि परे तुमरी पगरी।
कहि कबीर इह बिनती सुनीअहु, मत घालहु जमकी खबरी ॥२॥

बिगरी = भूल हो गई, अपराध हो गया। हउ...पगरी अभिमान के कारण मैं टेढ़ी पाग बाँधने लगा हूँ अथवा अपने को असाधारण समझने लगा हूँ। इह...गहरी = यह अंत में कच्चे घड़े की भाँति विनश्वर जान पड़ा। जिनहिं...लगरी = जिन पुत्र-कलत्रादि को मैंने अनुग्रहपूर्वक सँभाला, वे ही अब मुझे भुलाकर अन्य मार्ग पकड़ रहे हैं। संधिक...पगरी संधिक वा सन्निपात के प्रभाव में पड़ कर बकने वाले के समान मेरे कहने पर ही मुझे साधु न मान लो, मैं अब तुम्हारे चरणों की शरण में आ पड़ा हूँ। खबरी = संदेशवाहक, अर्थात् दूत यहाँ पर यमदूतों के हाथों में। घालहु = डालो।

आत्मनिवेदन (१६)

मेरौ हार हिरानौ मैं लजाऊं, सास दुरासनि पीव डराऊं ॥टेक॥
हार गुह्यौ मेरौ राम ताग, बिचि बिचि मान्यक एक लाग।

रतन प्रवालै परम जोति, ता अंतरि अंतरि लागे मोति ।।१।।
पंच सखी मिलि हैं सुजान, चलहु त जईये त्रिवेणी न्हान ।
न्हाइ धोइ कै तिलक दीन्ह, ना जानूं हार किनहूं लीन्ह ।।२।।
हार हिरानौं जन विमल कीन्ह, मेरौ आहि परोसनि हार लीन्ह ।
तीनि लोक की जानैं पीर, सब देव सिरोमनि कहै कबीर ।।३।।

हार =काया । हिरानौं=मेरी भूल से दूसरों के हाथ पड़ गई । लजाऊं = विवश हो लज्जा का अनुभव कर रहा हूँ । सास दुरागनि =अपने खोटे श्वास-प्रश्वास पर मैं निर्भर नहीं रह सकता अथवा मेरी सास कठोर शासन चलाने वाली है । पीव डराऊँ=उधर परमात्मा का भय लगता है । पंच...न्हान=चतुर पंचेन्द्रियों ने त्रिगुणात्मिक बुद्धि के भ्रमात्मक प्रवाह में डाल दिया । न्हाइ...लीन्ह= उसका प्रभाव दूर होने के समय तक जान पड़ा कि अब काया ही मेरे वश में नहीं । परोसनि =कुबुद्धि ने उस पर अधिकार जमा लिया है ।

मन का महत्व (१७)

मनका सुभाउ मनहिं बिआपी । मनहिं मारि कवन सिधि थापी ।।टेक।।
कवन मुमुनि जो मनु को मारै । मनु को मारि कहहु किसु तारै ।।१।।
मन अंतरि बोलै सभु कोई । मन मारे बिनु भगति न होई ।।२।।
कहु कबीर जो जानै भेउ । मनु मधुसूदन त्रिभुवण देउ ।।३।।

मनका...बिआपी= मन का स्वभाव मन में ही व्याप्त है । कवन...तारै= मन के मारने से तात्पर्य उसे नष्ट करना नहीं है, क्योंकि मुक्ति भी वस्तुतः उसी की होनी है । मन...होई= मन की ही प्रेरणा से सभी बोला करते हैं, इस कारण भक्ति के लिए उसका निःस्वभावीकरण (जो मनोमारण के ही तुल्य है) आवश्यक है । जो... भेउ =जो इस रहस्य से परिचित है, वही मन को परमात्मा के प्रति उन्मुख कर सकता है ।

प्रार्थना (१८)

बीनती एक राम सुनि थोरी, अब न नचाइ राखि पति मोरी ।।टेक।।
जैसे मंदला तुमहिं बजावा, तैसैं नाचत मैं दुख पावा ।।१।।
जे मसि लागी सबै छुड़ावौ, अब मोहिं जिनि बहु रूपक छावौ ।।२।।
कहै कबीर मेरी नाच उठावौ, तुम्हारे चरन कंवल दिखलावौ ।।३।।

थोरी=छोटी-सी । मंदला=शरीर के वाद्य-यंत्र, ढोल । मसि=पाप, कलंक । अब...छावौ =अब मुझसे अधिक अभिनय न कराओ । नाच= आवागमन का चक्कर । तुम्हारे=अपने ।

अपनी कठिनाई (१९)

राम राइ सो गति भई हमारी, मोपै छूटत नहीं संसारी ।।टेक।।
ज्यूं पंखी उड़ि जाइ अकासां, आस रही मन मांही ।
छूटी न आस टूट्यो नहीं फंधा, उड़िबौ लागै कांहीं ।।१।।
जो सुख करत होत दुख तेई, कहत न कछू बनि आवै ।

कुंजर ज्यूं कस्तूरी का मृग, आपै आप बंधावै ।।२।।
कहै कबीर नहीं बस मेरा, सुनियें देव मुरारी ।
इत भैभीत डरौं जमदूतनि, आये सरनि तुम्हारी ।।३।।

सो =ऐसी । उडिबो......काही = तो उड़ना किस काम का । इत......दूतनि = इधर से भयभीत होकर यमदूतों के डर से भी डरने लगा हूँ, इस कारण ।

विरह-निवेदन (२०)

तुम्ह बिन राम कवन सौं कहिये । लागी चोट बहुत दुख सहिये ।।टेक।।
बेध्यौ जीव बिरह के भालै, राति दिवस मेरे उर सालै ।।१।।
को जानैं मेरे तनकी पीरा, सतगुर सबद बहि गयो सरीरा ।।२।।
तुम्हसे बैद न हमसे रोगी, उपजी बिथा कैसैं जीवैं वियोगी ।।३।।
निसु बासर मोहिं चितवत जाई, अजहूँ न आइ मिले राम राई ।।४।।
कहत कबीर हमको दुख भारी, बिन दरसन क्यूं जीवहिं मुरारी ।।५।।

जीव=मेरे प्राण । बहि गयौ = पार कर गया है ।

जोग-जुगति (२१)

संतहु मन पवनै सुखु बनिआ । किछु जोग परापति गनिआ ।।टेक।।
गुरि दिखलाई मोरी । जितु मिरग पड़त हैं चोरी ।
मूंदि लिए दरवाजे । बाजीअले अनहद बाजे ।।१।।
कुंभ कमलु जलि भरिआ । जलु मेटिया ऊभा करिआ ।
कहु कबीर जन जानिआ । जउ जानिआ तउ मनु मनिआ ।।२।।

मन=मन को । पवनै=पवन-साधन वा प्राणायाम द्वारा ही । सुख बनिया=सुख का अवसर मिला है । किछु गनिया=मैंने इसे योग-प्राप्ति का ही कुछ न कुछ परिणाम समझा है । मोरी=तंग रास्ता वा सूक्ष्म मार्ग (योग का) । जितु. . .चोरी=जिधर इंद्रिय-मृग चोरी से चर आया करते हैं । दरवाजे=शरीर के मार्ग । बाजिले...बाजे = मृगों को रोकने के लिए अनाहत की ध्वनि खोल दी । कुम्भ......करिआ = कुंभक द्वारा सहस्रदल कमल को वायु जल से भर दिया और उसे सीधा करके पुनः रेचक द्वारा उक्त जल को बाहर कर दिया ।

मन की साधना (२२)

नरदेही बहुरि न पाईये, ताथैं हरषि हरषि गुंण गाईये ।।टेक।।
जे मन नहीं तजै विकारा, तौ क्या तिरियै भौ पारा ।
जब मन नहीं छाड़ै कुटिलाई, तब आइ मिलै राम राई ।।१।।
ज्यूं जांमण त्यूं मरणां, पछितावा कछू न करणां ।
जांणि मरै जे कोई, तो बहुरि न मरणां होई ।।२।।
गुर बचना मंझि समावै, तब राम नाम ल्यौ लावै ।
जब रांम नाम ल्यौ लागा, तब भ्रम गया भौ भागा ।।३।।

ससिहर सूर मिलावा, तब अनहद बेन बजावा।
जब अनहद बाजा बाजै, तब सांई संगि बिराजै ॥४॥
होह संत जनन के संगी, मन राचि रह्यो हरि रंगी।
धरौ चरन कमल बिसवासा, ज्यूं होइ निरभै पद बासा ॥५॥
यहु काचा खेल न होई, जन षरतर खेलै कोई।
जब षरतर खेल मचावा, तब गगन मंडल मठ छावा ॥६॥
चित चंचल निहचल कीजै, तब राम रसांइन पीजै।
जब राम रसाइन पीया, तब काल मिटया जन जीया ॥७॥
यूं दास कबीरा गावै, तार्थं मन कौं मन समझावै।
मनही मन समझाया, तब सतगुर मिलि सचुपाया ॥८॥

ज्यूं...मरणा=जन्म एवं मरण में वस्तुत: कोई भी अन्तर नहीं। जाँणि...कोई =जो जीते जी मुक्त होने के लिए मरता है। गुर...समावै=गुरु के संकेतों को भली-भाँति समझकर। भौ=सांसारिक आवागमन। ससिहर...बजावा=चंद्र (इडा नाड़ी) तथा सूर्य (पिंगला नाड़ी) को सुषुम्ना नाड़ी में मिला कर अनाहत नाद की अभिव्यक्ति की जाती है और ऐसा होने पर परमात्मा की उपलब्धि हो जाती है। होह=हो जाओ। काचा खेल=साधारण प्रकार की क्रिया नहीं है। जन...कोई=इसका अभ्यास कोई असाधारण शक्ति का पुरुष ही कर सकता है। गगन...छावा=इस कड़े अभ्यास को सम्पन्न कर लेने पर साधक की गति सहस्रार के निकट हो जाती है। चित...कीजै=मन की चंचलता को उसके नि:स्वभावीकरण द्वारा दूर कर देना आवश्यक है। राम...पीया =तभी परमात्मा की अनुभूति का आनन्द मिल पाता है। मनको...समझावै=मन इस रहस्य को हृदयंगम करता है।

स्वागत (२३)

अब तोहिं जान न दैहूं राम पियारे। ज्यूं भावै त्यूं होह हमारे ॥टेक॥
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाये, भाग बड़े घरि बैठे आये ॥१॥
चरननि लागि करौं बरियाई, प्रेम प्रीति राखौं उरझाई ॥२॥
इत मन मंदिर रहो नित चोषै, कहै कबीर परहु मति धोषै ॥३॥

भावै=भला जान पड़े। चोषै=उत्तम ढंग के साथ। परहु...धोषे=मुझे पुन: त्याग देने के धोखे में न आ जाना।

अभीष्ट सिद्धि (२४)

अब हरि हूँ अपनौं करि लीनौं। प्रेम भगति मेरौ मन भीनौं ॥टेक॥
जरै सरीर अंग नहीं मोरौं, प्रान जाइ तौ नेह न तोरौं ॥१॥
च्यंतामणि क्यूं पाइये ठोली, मनदे राम लियौ निरमोली ॥२॥
ब्रह्मा खोजत जनम गँवायौ, सोई राम घट भीतर पायौ ॥३॥

कहै कबीर छूटी सब आसा, मिल्यौ राम उपज्यौ बिसवासा ।।४।।

ठोली=बिना मूल्य । निरमोली=अनमोल ।

प्रेम रहस्य (२५)

अकथ कहाणी प्रेम की, कछू कही न जाई ।
गूंगे केरी सरकरा, बैठै मुसकाई ।।टेक।।
भोमि बिना अरु बीज बिन, तरवर एक भाई ।
अनन्त फल प्रकासिया, गुर दीया बताई ।।१।।
मन थिर बैसि बिचारिया, रामहिं ल्यौ लाई ।
झूठी अनभै बिस्तरी, सब थोथी वाई ।।२।।
कहै कबीर सकति कछु नाहीं, गुर भया सहाई ।
आवण जाणी मिटि गई, मन मनहिं समाई ।।३।।

गूंगे...मुसकाई=शर्करा खाकर मन ही मन स्वाद लेने वाले तथा ऊपर से केवल मुसका भर देने वाले गूंगे की दशा के तुल्य है । भोमि...बताई=गुरु ने एक ऐसी युक्ति बतला दी जिसके द्वारा बिना किसी क्षेत्र के आधार पर (बिना काया की सहायता लिये ही) और बिना बीज के (बिना किसी वासना के) उगे हुए वृक्ष (प्राणों) में अनन्त फल (परमात्मा) प्रकट हो गया । मन...वाई=राम में लीन होकर स्थिर मन से जब विचार किया तो समझ पड़ा कि इसके पहले केवल मिथ्यानुभूति का प्रसार था और सब कुछ विडंबना मात्र था ।

आत्म विचार (२६)

जब थै आतम तत बिचारा ।
तब निरबैर भया सबहिन भैं, काम क्रोध गहि डारा ।।टेक।।
व्यापक ब्रह्म सबनि मैं एकै, को पंडित को जोगी ।
राणा राव कवन सूं कहिये, कवन वैद को रोगी ।।१।।
इनमैं आप आप सबहिन मैं, आप आपहसूं खेलै ।
नाना भांति घड़े सब भांड़े, रूप धरे धरि मेलै ।।२।।
सोचि विचारि सबै जग देख्या, निरगुण कोइ न बतावै ।
कहै कबीर गुणी अरु पंडित, मिलि लीला जस गावै ।।३।।

इनमें...मैं=इनमें तो आत्मा अनुस्यूत ही वह सभी कुछ में उसी प्रकार वर्तमान है । रूप...मेलै=कभी रूप धारण करता और कभी तिरोहित हो जाया करता है । निरगुण......बतावै=निर्गुण का भेद कोई भी प्रकट नहीं कर पाता । मिलि...गावै=उसके केवल गुणों तथा व्यापारों का वर्णन करना ही सबको आता है ।

मन का भ्रम नाश (२७)

मन का भ्रम मन ही थैं भागा । सहज रूप हरि खेलण लागा ।।टेक।।
मैं तैं तैं मैं ए द्वै नाहीं । आपै अकल सकल घट मांही ।।१।।

जब थैं इन मन उन मन जाना । तब रूप न रेष तहां ले बाना ।।२।।
तन मन मन तन एक समांन्ा । इन अनभै मांहैं मन माना ।।३।।
आतमलीन अषंडित रामा । कहै कबीर हरि मांहि समांनां ।।४।।

सहज...लागा = हरि के सहज रूप का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगा। इन मन...... बाना = जब इस मन को हरि के प्रति उन्मुख हुए रहने का अभ्यास हो गया तो रूपादि बाह्य बातों का प्रश्न ही दूर हो गया। इन...माना = ऐसी अनुभूति हो जाने पर ही मन को पूरा सन्तोष हुआ। आतम...रामा = पूर्ण परमात्मा में लीन हो गया।

स्थिर मन (२८)

रे मन जाहि जहां तोहि भावै । अब न कोई तेरै अंकुस लावै ।।टेक।।
जहां जहां जाइ तहां तहां रामा । हरि पद चीन्हि कियौ विश्रांमा ।।१।।
तन रंजित तव देखियत दोई । प्रगट्यौ ग्यांन जहां जहां सोई ।।२।।
लीन निरंतर बपु बिसराया । कहै कबीर सुख सागर पाया ।।३।।

रंजित = गुणों द्वारा प्रभावित। बपु बिसराया = शरीर का भान जाता रहा।

अपना रंग (२९)

अपनै मैं रंगि आपनपौ जानूं । जिहि रंगि जांनि, ताहीं कूं मानूं ।।टेक।।
अभिअन्तरि मन रंग समाना, लोग कहैं कबिरा बौराना ।।१।।
रंग न चीन्हैं मूरखि लोई, जिहि रंगि रंग रह्या सब कोई ।।२।।
जे रंग कबहूं न आवै न जाई, कहै कबीर तिहि रह्या समाई ।।३।।

जिहि...मानूं = उस रंग में ही जो कुछ मुझे जान पड़ता है उसे मानता हूं। अभिअन्तरि मन रंग समाना = वह रंग मेरे मन के भीतर पूर्णतः व्याप्त हो गया है। रंग इत्यादि = मूर्ख लोग अपने रंग की पहचान नहीं कर पाते। जे...जाई = जो रङ्ग स्थायी है।

उन्माद की दशा (३०)

सब [1]दुनी सयानी मैं बौरा । हम बिगरे बिगरौ जिनि औरा ।।टेक।।
मैं[2] नहिं बौरा राम कियौ बौरा, सत गुर जारि गयौ भ्रम मोरा ।।१।।
विद्या न पढूं वाद नहीं जानूं, हरिगुन कथत सुनत बौरानूं ।।२।।
[3]काम क्रोध दोऊ भये विकारा, आपहिं आप जरैं संसारा ।।३।।
मीठो कहा जाहि जो भावै, दास कबीर राम गुन गावै ।।४।।

हम बिगरे...औरा = मैं तो बिगड़ ही चुका हूं, मेरे बिगड़ने के कारण दूसरे न बिगड़ें। बाद नहीं जानूं = वाद-विवाद करना वा शास्त्रों का रहस्य नहीं जानता हूं। मीठो...भावै = जो बात जिसे पसन्द है वह उसी को भला कहता है।

पाठभेद—१. खलक (आ० ग्रं०) ; २. आपिन (आ० ग्रं०); ३. अंत की इन दो पंक्तियों से स्थान पर 'आदिग्रंथ' में तीन अन्य पंक्तियां आती हैं।

ज्ञान की आंधी (३१)

सन्तौ भाई आई ग्यान की आँधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उड़ाणी, माया[१] रहै न बांधी ।।टेक।।
दुचिते[२] की द्वै थूंनी गिरांनी, मोह वलींडा टूटा।
तिसना छांनि परी धर ऊपरि, कुबधि[३] का भांडा फूटा ।।१।।
[४]जोग जुगति करि सन्तौ बांधी, निरचू चुवै न पांणी।
कूड़ कपट काया का निकस्या, हरि की गति जब जांणी ।।२।।
आंधी पीछै जो जल वूठा[५], प्रेम[६] हरी जन भीनां।
कहै कबीर भान[७] के प्रगटे, उदित भया तम पीनां ।।३।।

माया...बांधी=अब माया से बँधी नहीं रह सकती। दुचिते=दुविधा। थूंनी=छोटे-छोटे खंभे। वलींडा=म्याल वा बँडेरी। धर ऊपरि धरती पर। निरचू=न चूने वाली। कूड़=निकृष्ट। भांन के प्रगटे=ज्ञानोदय के होते ही। उदित भया=मन प्रकाशित हो गया।

पाठभेद—१. 'रहै न माया बाँधी' (आ० ग्रं०); २. हिति चत (क० ग्रं०); ३. दुरमति; ४. ये दो पंक्तियाँ 'आदिग्रन्थ' में नहीं आतीं। ५. बरखै (आ० ग्रं०); ६. तिहि तेरा जन भीना। ७. मनि भइया प्रगासा उदै भानु जब चीना (आ० ग्रं०)।

काया-शुद्धि (३२)

अब घटि प्रगट भये राम राई। सोधि सरीर कनक की नाई ।।टेक।।
कनक कसौटी जैसें कसि लेइ सुनारा। सोधि सरीर भयो तन सारा ।।१।।
उपजत उपजत बहुत उपाई। मन थिर भयो तबै थिति पाई ।।२।।
बाहरि षोजत जनम गंवाया। उनमनी ध्यान घट भीतरि पाया ।।३।।
बिन परचै तन कांच कथीरा। परचै कंचन भयो कबीरा ।।४।।

सोधि...विशुद्ध कर के। सारा=विशुद्ध, निखालिस, उत्तम। उपजत...उपाई=अनेक उपायों के प्रयोग करते-करते। उनमनी ध्यान=मन को परमात्मा की ओर उन्मुख करने के अभ्यास द्वारा। कथीरा=राँगा के समान था।

ब्रह्मज्ञान की स्थिति (३३)

अब मैं पाइबौ रे पाइबौ रे ब्रह्म गियान।
सहज समाधें सुख मैं रहिबौ, कोटि कलप विश्राम ।।टेक।।
गुरु कृपाल कृपा जब कीन्हीं, हिरदै कंवल बिगासा।
भागा भ्रम दसौं दिस सूझ्या, परम जोति प्रकासा ।।१।।
मृतक उठ्या धनक कर लीयें, काल अहेड़ी भागा।
उदया सूर निस किया पयाना, सोवत थैं जब जागा ।।२।।
अविगत अकल अनूपम देख्या, कहतां कह्या न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूंगै जानि मिठाई ।।३।।
पहुप बिना एक तरवर फलिया, बिन कर तूर बजाया।

नारी बिना नीर घट भरिया, सहज रूप सो पाया ॥४॥
देखत कांच भया तन कंचन, बिन बानी मन मानां ।
उड़्या विहंगम खोज न पाया, ज्यूं जल जलहिं समानां ॥५॥
पूज्या देव बहुरि नहिं पूजौं, न्हाये उदिक न नांउं ।
भागा भ्रम ये कही कहंता, आये बहुरि न आंउं ॥६॥
आपैं मैं तब आपा निरष्या, अपन पैं आपा सूझ्या ।
आपैं कहत सुनत पुनि अपनां, अपनपैं आपन बूझ्या ॥७॥
अपनैं परचैं लागी तारी, अपन पैं आप समांनां ।
कहै कबीर जे आप बिचारैं, मिटि गया आवन जानां ॥८॥

भागा भ्रम = भ्रम दूर हो गया, संशय जाता रहा। दसौं...सूझा = सभी बातें अपने वास्तविक रूप में दीख पड़ने लगीं। मृतक...लीयैं = मरे हुए, अर्थात् चंचलता से रहित मन में अपूर्व शक्ति आ गई। काल...भागा = शिकार करने को प्रस्तुत काल भाग खड़ा हुआ, उसका प्रभाव जाता रहा। उदया...जागा = सचेत होते ही ज्ञान का उदय हो आया और अज्ञान का विनाश हो गया। अविगत...मिठाई = उस अज्ञात, किंतु पूर्ण एवं अनुपम परम तत्व का प्रत्यक्ष अनुभव किया, जिसका वर्णन उसी प्रकार असंभव है जैसे गूँगे का मिठाई के स्वाद का। उसी की भाँति मन में प्रसन्न होते हुए भी मेरा केवल संकेत मात्र करना अब रह गया है। पहुप...फलिया = प्राणों के वृक्ष में बिना फूल के ही फल लग गया, उन्हें बिना पूर्व संकेत के ही सिद्धि की प्राप्ति हो गई। बिन... बजाया = बिना प्रयास के ही अनाहत शब्द होने लगा। नारी...भरिया = काया के घड़े में बिना किसी भरने वाले के ही प्रकाश का जल भरपूर हो गया। देखत... कंचन = काया देखते ही देखते निखर कर काँच से कंचन हो गई। बिन...माना = बिना किसी के कहने-सुनने से ही मन में सन्तोष आ गया। उड्या...समाना = सुरति इस प्रकार शब्द में जाकर लीन हो गई कि उसका पता लगाना आकाश में उड़ने वाले पक्षी के मार्ग को निश्चित करने की भाँति अथवा जल में जल के मिल जाने की भाँति असंभव हो गया। पूज्या...नाउं = अब ऐसी पूजा कर ली कि किसी देवता के पूजने की आवश्यकता नहीं रह गई और ऐसा स्नान कर लिया कि तीर्थ के पानी में डुबकी लगाने से कोई लाभ नहीं। अपने...तारी = आत्मानुभूति होते ही एकतानता की स्थिति आ गई।

काया-पलट (३४)

अब हम सकल कुसल करि मानां ।
स्वांति भई तब गोव्यंद जानां ॥टेक॥
तन मैं होती कोटि उपाधि । उलटि भई सुख सहज समाधि ॥१॥
जमतैं उलटि भया है राम । दुख बिसर्‌या सुख कीया विश्राम ॥२॥
बैरी उलटि भया है मीता । साषत उलटि सजन भये चीता ॥३॥
आपा जांनि उलटि ले आप । तौ नहीं ब्यापैं तीन्यूं ताप ॥४॥
अब मन उलटि सनातन हूवा । तब हम जाना जीवन मूवा ॥५॥
कहै कबीर सुख सहज समाऊँ । आप न डरौं न और डराऊँ ॥६॥

अब...मानां = अब मुझे सभी ने हितकारक मान लिया अथवा सब कुछ सिद्ध होता जान पड़ा। स्वांति = शांति अथवा अपनी अहंता का अंत। चीता = हितचिंतक।

आपा...आप=अपने आपको जान लेने पर आत्मा का परिवर्तन परमात्मा में हो जाता है। सनातन=नित्य शाश्वत परमात्मा। तब...मूवा—मुझे जीवन्मुक्ति का अनुभव हुआ।

बैकुंठ-रहस्य (३५)

चलन चलन सब को कहत हैं, नां जानौं बैकुंठ कहां है ॥टेक॥
जोजन[1] परमिति, परमनु जांनै। बातनि ही बैकुंठ बषानै ॥१॥
जब लग है बैकुंठ की आसा। तब लग नहीं हरि चरन निवासा ॥२॥
कहे सुने कैसे पतिअइये। जब लग तहाँ आप नहीं जइये ॥३॥
कहै कबीर यहु कहिये काहि। साध संगति बैकुंठहि आहि ॥४॥

जो...बषानै=जो व्यक्ति परमात्मा की इयत्ता और उसके परिणाम की भावना रखता है वह बातों में ही बैकुंठ का वर्णन कर देना चाहता है।

पाठभेद—१. एक प्रमिति नहीं (क० ग्रं०)।

मुक्ति-रहस्य (३६)

राम मोहि तारि कहाँ लै जैहो।
सो बैकुंठ कहौ धूं कैसा, करि पसावै मोहि दैहो ॥टेक॥
जो मेरे जीव दोइ जानत हौ, तो मोहि मुकति बताओ।
एकमेक रमि रह्या सबनिमैं, तौ काहे भरमाओ ॥१॥
तारण तिरण जबै लग कहिये, तब लग तत न जानां।
एक राम देख्या सबहिन मैं, कहै कबीर मनमानां ॥२॥

पसाव=अनुग्रह। जै हौ=यदि जीवात्मा को अपने से भिन्न मानते हो।

अंत:साधना (३७)

बनहि बसे क्यूं पाइये, जौलौं मनहुं न तजै बिकार।
जिह घर बन समसरि किया, ते पूरे संसार ॥१॥
सार सुख पाइये रामा। रंगि रवहु आतमै रामा ॥टेक॥
जटा भसम लेपन किया, कहा गुफा महि वास।
मन जीते जग जीतिया, जाते विषया ते होइ उदास ॥२॥
अंजन देह सभैं कोई, टुकु चाहन माँहि विडान।
ग्यान अंजन जिह पाइया, ते लोइन परवान ॥३॥
कहि कबीर अब जानिया, गुरि ग्यांन दिया समझाइ।
अंतरिगति हरि भेंटिया, अब मेरा मन कतहुँ न जाइ ॥४॥

समसरि=एक समान। सार सुख=वास्तविक आनंद। रंगि...रामा=अपनी अंतरात्मा के ही रंग में रँग जाओ। टुकु...विडान=केवल देखने मात्र के ही कारण विपथ हो गए। परवान=प्रामाणिक, आदर्श। अंतरगति=आभ्यंतरिक प्रयत्नों द्वारा।

अनुभूति का महत्व (३८)

पंडित वाद बदंते झूठा।
राम कह्या दुनिया गति पावै, षांड कह्या मुख मीठा ॥टेक॥
पावक कह्यां पाव जे दाझै, जल कहि त्रिषा बुझाई।
भोजन कह्यां भूष जे भाजै, तौ सब कोई तिरि जाई ॥१॥
नर कै साथि सूवा हरि बोलै, हरि परताप न जानै।
जो कबहूँ उड़ि जाय जंगल मैं, बहुरि न सुरतैं आनै ॥२॥
साची प्रीति विषै माया सूं, हरि भगतनि सूं हासी।
कहै कबीर प्रेम नहीं उपज्यौ, बांध्यौ जमपुरि जासी ॥३॥

वाद बदंते=व्यर्थ की कथनी में लगे रहते हैं। राम.. मीठा=राम कहने मात्र से उसी प्रकार मुक्ति होती है जिस प्रकार खांड कहने मात्र से मुँह मीठा हो जाता है। सुरतैं आनै=स्मरण कर पाता है।

मरण का भाव (३९)

जे को मरै मरन है मीठा, गुर परसादि जिनहीं मरि दीठा ॥टेक॥
मूवा करता मुई जन करनीं, मुई नारि सुरति बहु धरनीं ॥१॥
मूवा आपा मूवा मांन, परपंच लेइ मूवा अभिमांन ॥२॥
राम रमे जे जन मूवा, कहै कबीर अविनासी हूवा ॥३॥

जे...दीठा=जो कोई भी (संसार की ओर से) मर जाय और गुरु की कृपा से वैसे मरण का अनुभव कर ले, उसके लिए वह मृत्यु सदा सुखकर होती है। मूवा...धरनी=इस मृत्यु की दशा में अपने कर्त्तव्य एवं कार्य की भावना नष्ट हो जाती है। वह माया भी कोई प्रभाव नहीं डाल पाती जो इसके पूर्व विविध रूप धारण करके सुन्दर पत्नी की भाँति लुभाया करती थी। परपंच लेइ=प्रपंचों के साथ-साथ।

मरण में अमरत्व (४०)

हम न मरैं मरिहैं संसारा। हमकूं मिल्या जियावन हारा ॥टेक॥
अब न मरौं मरनैं मन मांना। तेई मुए जिनि राम न जांना ॥१॥
साकत मरै संत जन जीवै। भरि भरि राम रसाइन पीवै ॥२॥
हरि मरिहैं तौ हमहूँ मरिहैं। हरि न मरैं हम काहे कूं मरिहैं ॥३॥
कहै कबीर मन मनहिं मिलावा। अमर भये सुखसागर पावा ॥४॥

हम.. संसारा=जीवन-मुक्ति की स्थिति में हम अमर होकर रहेंगे और संसार के प्राणी अपने आवागमन में लगे रहेंगे। अब...मांना=अब मेरे जरा-मरण का धंधा बंद हो गया और उससे मुझे पूरा संतोष भी हो चुका। भरि...पीवै=परमात्मा की उपलब्धि का भरपूर आनंद लिया करते हैं। हरि...है=हरि के साथ तदाकारता वा तद्रूपता ग्रहण कर मैं उन्हीं की भाँति नित्य शाश्वत बन गया।

वास्तविक परिचय (४१)

दास रांमहि जानिहैं रे, और न जानै कोई ॥टेक॥
काजल देइ सबै कोई, चषि चाहन माहिं बिनान।

जिनि लोइनि मन मोहिया, ते लोइन परवान ॥१॥
बहुत भगति भौसागरा, नाना विधि नाना भाव।
जिहि हिरदै श्रीहरि भेटिया, सो भेद कहूँ कहूँ ठांव ॥२॥
दरसन संमि का कीजिये, जौ गुन नहीं होत समान।
सींधव नीर कबीर मिल्यौ है, फटक न मिलै परवान ॥३॥

काजल...परवान किसी के नेत्रों का सौंदर्य उनमें दिये गए काजल पर निर्भर न होकर उनकी अनोखी चितवन में ही रहा करता है। इस कारण वास्तविक नेत्र वे ही कहे जा सकते हैं जिनमें मोहने की शक्ति हो। सो...ठांव=वैसा रहस्यमय हृदय बहुत कम पाया जाता है। दरसन...कीजिये=केवल बाहरी साम्य निरर्थक है। सींधव...है =नमक तथा जल मिल कर एक हो जाते हैं। फटक...परवान=स्फटिक शिलाखंड जो देखने में नमक-सा ही होता है, जल में नहीं मिल पाता (दे० सींधव.. अंग=दादू—साध कौ अंग ६५)।

पक्षाग्रह (४२)

पषा पषी कै पेषणैं सब जगत भुलाना।
निरपष होइ हरि भजै, सों साध सयांना ॥टेक॥
ज्यूं पर सूं पर बंधिया, यूं बंधै सब लोई।
जाकै आतम द्रिष्टि है, सांचा जन सोई ॥१॥
एक एक जिनि जाणियां, तिनही सच पाया।
प्रेम प्रीति ल्यौ लीन मन, ते बहुरि न आया ॥२॥
पूरे की पूरी दृष्टि, पूरा करि देखै।
कहै कबीर कछू समझि न परई, या कछू बात अलेखै ॥३॥

पषा...पेषणैं=अधूरी सांप्रदायिक दृष्टि से देखने के ही कारण। पर=गधा जो अधिकतर दूसरों के ही संकेतों चला करता है। एक...सच पाया=उस एकमात्र परमात्म तत्व की अद्वैतता का जिसे पूरा अनुभव हो गया, उसे ही सत्य की उपलब्धि हुई। पूरे...देखै=उस पूर्ण तत्व को, उसकी पूर्णता के भाव के साथ पूर्ण रूप से देखना ही सच्चा देखना है। या...अलेखै यह बात अपनी अनुभूति पर निर्भर है, कुछ लेखबद्ध संकेतों का इसमें काम नहीं।

अपनी साधना (४३)

उलटि जाति कुल दोउ बिसारी। सुन्न सहज महि बुनत हमारी ॥टेक॥
हमरा झगरा रहा न कोऊ। पंडित मुल्ला छाड़े दोऊ ॥१॥
बुनि बुनि आप आपु पहिरावौं, जहँ नहीं आप तहाँ ह्वै गावौं ॥२॥
पण्डित मुल्ला जो लिखि दीया। छाड़ि चले हम कछू न लीया ॥३॥
रिदै इ षलासु निरषि ले मीरा। आपु षोजि षोजि मिले कबीरा ॥४॥

उलटि... हमारी=सहज शून्य की साधना में निरत हो मैंने अपनी जाति तथा कुल को नष्ट कर दिया और [illegible]। बुनि...गावौं=मैं स्वयं अपने को वस्त्रवत् [illegible] कर लेता हूँ अर्थात् मैं सदा

आत्मचिंतन में निरत रहता हूँ और उसके परिणाम का आत्मज्ञान भी करता चलता हूँ। फिर भी अहंभाव से परे होकर ही गाया करता हूँ। रिदै...मीरा = परमात्मा को वास्तविक प्रेम के साथ हृदय में देखो। आपु = निज रूप में।

विषय-वासना (४४)

बिषिया अजहूँ सुरति सुख आसा। हूंण न देइ हरि के चरन निवासा ।।टेक।।
सुख मांगत दुख पहली आवै, तार्थं सुख मांग्या नहीं भावै ।।१।।
जा सुख थै सिव विरंचि डराना, सो सुख हमहू साच करि जाना ।।२।।
सुखि छांड्या तब सब दुख भागा, गुरके सबंद मेरा मन लागा ।।३।।
निस बासुरि विषै तना उपगार, विषई नरकि न जातां वार ।।४।।
कहै कबीर चंचल मति त्यागी, तब केवल रामनाम ल्यौ लागी ।।५।।

बिषिया...निवासा = आज भी विषयों की स्मृति (वासना) बनी हुई है जो सुख की आशा में हरि के निकट ठहरने नहीं देती। सो...हम = उसी सुख को मैंने। सुखि सुइ छाडया = वैसी सुखाशा को त्यागने पर ही। विषै तना उपगार = विषयों द्वारा उपकृत वा प्रभावित होते रहते हैं।

हरि का जन (४५)

तेरा जन एक आध है कोई।
काम क्रोध अरु लोभ विवर्जित, हरिपद चीन्हे सोई ।।टेक।।
राजस तामस सातिग तीन्यूं, ये सब तेरी माया।
चौथे पदकौं जो जन चीन्हैं, तिनहि परम पद पाया ।।१।।
असतुति निंद्या आसा छांडै, तजै मान अभिमाना।
लोहा कंचन समि करि देखै ते मूरति भगवाना ।।२।।
च्यंते तौ माधौ च्यंतामणि, हरिपद रमै उदासा।
त्रिस्ना अरु अभिमान रहित है, कहै कबीर सो दासा ।।३।।

चौथे पद = परमात्मा के परात्पर रूप को। उदासा = संसार की ओर से अनासक्त होकर।

हरि का भक्त (४६)

राम भजै सो जानिये, जाकै आतुर नाहीं।
संत संतोष लीयैं रहै, धीरज मन माहीं ।।टेक।।
जनकौं काम क्रोध व्यापै नहीं, त्रिष्णा न जरावै।
प्रफुलित आनंद में, गोब्यंद गुण गावै ।।१।।
जनकौं परनिंद्या भावै नहीं, अरु असति न भाषै।
काल कलपना मेटि करि, चिरनूं चित राखै ।।२।।
जन सम द्रिष्टी सदा, दुबिधा नहि आनै।
कहै कबीर तो दास सूं, मेरा मन मानै ।।३।।

आतुर = आतुरता, उतावलापन, घबराहट। दुबिधा = द्वैतभाव।

भाव-भगति (४७)

कथणीं बदणी सब जंजाल। भाव भगति अरु राम निराल ॥टेक॥
कथै बदै सुणै सब कोई। कथें न होई कीयें होई ॥१॥
कूड़ी करणीं राम न पावै। साच टिकै निज रूप दिखावै ॥२॥
घट में अग्नि घर जल अवास। चेति बुझाइ कबीरादास ॥३॥

निराल=अनुपम, अद्वितीय। साच टिकै=सत्य पर आश्रित रहने पर ही। घट...कबीरदास=कबीर साहब का कहना है कि काया के भीतर जो पिपासाग्नि प्रज्वलित हो रही है, उसे शांत करने के लिए परमात्मा-रूपी जल भी वहीं वर्तमान है, इसे समझ कर उसे बुझा लो।

सृष्टि-लीला (४८)

दुइ दुइ लोचन पेखा। हौं हरि बिन और न देखा॥
नैन रहे रंग लाई। अब बेगल कहन न जाई।
हमरा भरमु गया भय भागा। जब रामनाम चित लागा ॥१॥
बाजीगर डंक बजाई। सभ खलक तमासे आई।
बाजीगर स्वांग सकेला। अपने रंग रवै अकेला ॥२॥
कथनी कहि भरमु न जाई। सभ कथि कथि रहि लुकाई॥
जाकौं गुर मुखि आपि बुझाई। ताने हिरदै रह्या समाई ॥३॥
गुर किंचत किरपा कीनी। सभु तन मन देह हरि लीनी।
कहि कबीर रंगि राता। मिलिओ जगजीवन दाता ॥४॥

हौं=मैंने। नैन...लाई=मेरे नेत्र उसी के अनुराग में रंजित हो रहे हैं। बेगल=उसके बिना दूसरा कुछ भी। बाजीगर=उस लीलामय ब्रह्म ने। खलक=संसार। स्वांग=दिखावा, तमाशा। सकेला=बटोर लिया, बंद कर दिया। रंग=स्वभाव में। सब...लुकाई सभी उपदेश दे-देकर अपना मुँह छिपा लेते हैं।

उस कोरी का अनुसरण (४९)

कोरी को काहू मरम न जानां। सभ जग आनि तनायो ताना॥
जब तुम सुनिले वेद पुराना। तब हम इतनकु पसरियो ताना॥
धरनि अकास की करगह बनाई। चंद सूरज दुइ साथ चलाई॥
पाई जोरि बात इक कीनी। तंह तांती मनमाना।
जोलाहे घर अपना चीन्हा, घटहीं राम पछाना॥
कहत कबीर करगह तोरी, सूतै सूत मिलाये कोरी॥

कोरी=सृष्टिकर्ता जुलाहे का। तब...ताना=तब तक मैंने अपने कुछ ताना फैलाया। चंद...चलाई=चन्द्र और सूर्य को ढरकी बना उन्हें साथ-साथ चला दिया। पाई...कीनी=टिकठियों को जोड़कर, उस पर ताने गए सूत को कूँची से माँजकर बरा-

बर किया । तहं...मनमाना=तब जुलाहे को संतोष हुआ। (कबीर के पक्ष में 'धरनि अकास की करगह' घट अर्थात् काया है, चन्द्र, सूर्य ईडा, पिंगला नाड़ियां हैं और 'पाई' आदि की क्रिया शरीर के ढाँचे के भीतर योग वा आध्यात्मिक ऐक्य का स्थापित करना है। जोलाहे=कबीर जोलाहे ने। तुलना के लिये दे० 'बीजक' रमैनी २८) ।

अज्ञेय विषयक भ्रम (५०)

जस तूं तस तोहि कोहि न जान, लोग कहैं सब आनहिं आन ।।टेक।।
चारि वेद चहुँ मन का बिचार, इहि भ्रम भूलि परयो संसार।
सुरति सुमृति दोइ को बिसवास, बाझि परयो सब आसापास ।।१।।
ब्रह्मादिक सनकादिक सुर नर, मैं बपुरो धूं का मैं काकर।
जिहि तुम तारी सोई पै तिरई, कहै कबीर नां तर बांध्यौ मरई ।।२।।

सुरति सुमृति श्रुति-स्मृति। ब्रह्मादिक...काकर=जब ब्रह्मादि देवता तक उस भ्रम में पड़े हैं तो मुझ बेचारे का क्या कहना।

वह सब से परे (५१)

संतौ धोखा कासूं कहिये।
गुणमैं निरगुण निरगुण मैं गुणहै, बाट छांड़ि क्यूं बहिये ।।टेक।।
अजरा अमर कथैं सब कोई, अलख न कथणां जाई।
ना तिस रूप वरण नहीं जाकैं, घटि घटि रह्यौ समाई ।।१।।
प्यंड ब्रह्मंड कथै सब कोई, बाकै आदि अरु अंत न होई।
प्यंड ब्रह्मंड छाड़ि जे कथिये, कहै कबीर हरि सोई ।।२।।

गुण में...बहिये=सगुण में निर्गुणत्व का आरोप एवं निर्गुण के लिए सगुणत्व की भावना स्वाभाविक है। इसे त्याग दोनों में से किसी भी एक ओर बहना ठीक नहीं। अजरा ..जाई=उस अलक्ष्य के लिए अजर अमर, आदि कहना भी उपयुक्त नहीं। प्यंड...सोई=उसे पिंड वा ब्रह्मांड की सीमा से परे कहना संगत हो सकता है।

सर्वत्र वही (५२)

हम तौ एक एक करि जाना।
दोइ कहै तिनही कौं [१] दोजग [२] जिन नाहिन पहिचाना ।।टेक।।
एकै पवन एकही पानी, एक जोति संसारा।
एकही खाक घड़े सब भांड़े, एकही सिरजनहारा ।।१।।
जैसे बाढ़ी काष्टही काटै, अगिनि न काटै कोई।
सब घटि अंतरि तूंही व्यापक, धरै सरूपै सोई ।।२।।
माया [३] मोहे अर्थ देखि करि, काहेकूं गरबाना।
नरभै भया कछू नहीं व्यापै, कहै कबीर दीवाना ।।३।।

हम...जाना=मैं तो उस एक को केवल (एक) मात्र ही जानता हूँ। दोजग= नरक। जैसे=कोई=जिस प्रकार किसी काष्ठ को काटते समय बढ़ई उसके भीतर की आग नहीं काटता।

पाठभेद—१. तिनको द्विविधा है; २. जिन सतनाम न जाना; ३. माया देखि के जगत भुलानो ('कबीर शब्दावली' भा० २, सबद २७, पृ० ७४)।

नाम-रहस्य (५३)

है कोई राम नाम बतावै, बस्तु अगोचर मोहि लखावै ।।टेक।।
राम नाम सब कोई बखानै। राम नाम का मरम न जानै ।।१।।
ऊपर की मोहि बात न भावै। देखै गावै तौ सुख पावै ।।२।।
कहै कबीर कछू कहत न आवै। परचै बिना मरम को पावै ।।३।।

राम नाम नाम का वास्तविक रहस्य। ऊपर......भावै ऊपर की कही-सुनी बातों में प्रतीति नहीं होती। देखै गावै स्वानुभूतिपूर्वक वर्णन करे तो।

राम-रंग (५४)

राम नाम रंग लागौ कुरंग न होई। हरि रंग सौ रंग और न कोई ।।टेक।।
और सबै रंग इहि रंग थैं छूटै, हरि रंग लागा कदे न खूटै ।।१।।
कहै कबीर मेरे रंग रामराई, और पतंग रंग उड़ि जाई ।।२।।

कुरंग बुरा रंग। और......छूटै इस रंग के चढ़ जाने पर फिर और कोई भी रंग नहीं ठहर पाता। और......जाई अन्य सभी रंग कच्चे एवं उड़ जाने वाले होते हैं।

युक्ति-महत्त्व (५५)

सरवर तट हंसणी तिसाई। जुगति बिना हरिजल पिया न जाई ।।टेक।।
पीया चाहै तौ लै खग सारी, उड़ि न सकै दोऊ पर भारी ।।१।।
कुंभ लीयें ठाढ़ी पनिहारी, गुन बिन नीर भरै कैसे नारी ।।२।।
कहै कबीर गुर एक बुधि बताई, सहज सुभाइ मिलै रामराई ।।३।।

सरवर......तिसाई आत्मा की हंसिनी हृदय सरोवर के रहते हुए भी तृषित, अर्थात् अतृप्त बनी है। जुगति सतगुरु की बतलायी युक्ति। पीया..... सारी हरिरस पीने की इच्छा से वह उड़ान भरने का प्रयत्न करती है, अर्थात् प्राणों को उधर उन्मुख किया जाता है। कुंभ......नारी आत्मा की पनिहारिन काया का कुंभ लिए नाम रस भरना चाहती है, किन्तु सुरति की डोरी के बिना वह कुछ कर नहीं पाती। बुधि युक्ति।

अज्ञान का प्रभाव (५६)

काहे री नलनी तूं कुमिलानी। तेरे ही नालि सरोवर पानी ।।टेक।।
जलमैं उतपति जलमैं बास, जलमैं नलनी तोर निवास ।।१।।
ना तलि तपति न ऊपरि आगि, तोर हेत कहु कासनि लागि ।।२।।
कहै कबीर जे उदिक समान, ते नहीं मूए हमारे जान ।।३।।

काहे री...पानी अरी आत्मा की कमलिनी तू क्यों सूखती जा रही है। सरोवर का जल तो तेरे पास ही विद्यमान है। तलि=नीचे। तपति गर्मी वा ज्वाला।

तोर......लागि - तेरा किसी के साथ प्रेम-सम्बन्ध तो नहीं हो गया है ? उदिक समान = जिन्होंने 'राम उदक' में प्रवेश पा लिया। (दे० 'राम उदकि मेरी तिखा बुझांगी', आदिग्रंथ, राग गउड़ी, १)।

गर्वजनित भ्रम (५७)

रंजसि मीन देखि बहु पानी। काल जाल की खबर न जानी ॥टेक॥
गारै गरब्यौ औघट घाट। सो जल छाड़ि बिकानी हाट ॥१॥
बंध्यौ न जानै जल उदमादि। कहै कबीर सब मोहै स्वादि ॥२॥

रंजसि = प्रसन्न हो रही है। गारै..... घाट = कम नीची जमीन के भी पानी में औघट घाट के कारण उसे गर्व हो गया। सो..... हाट = उस जल से पृथक् करके वह बाजार में बेंच दी गई। बंध्यौ......उदमादि = जल में रहने के कारण उसे घमंड था और वह अपने को बंधन में पड़ी हुई नहीं मानती थी। सब मोहै स्वादि = सभी स्वाद वा वासना के कारण भ्रम में पड़ जाते हैं वा पड़े हुए हैं।

नश्वरता (५८)

रे यामैं क्या मेरा क्या तेरा। लाज न मरहिं कहत घर मेरा ॥टेक॥
चारि पहर निस भोरा, जैसैं तरवर पंषि बसेरा ॥१॥
जैसैं बनिये हाट पसारा, सब जग का सो सिरजनहारा ॥२॥
ये ले जारे वैं ले गाड़े, इन दुखिइनि दोऊ घर छाड़े ॥३॥
कहत कबीर सुनहु रे लोई, हम तुम्ह बिनसि रहैगा सोई ॥४॥

मन का भ्रम (५९)

अंधे हरि बिन को तेरा। कवनसूं कहत मेरी मेरा ॥टेक॥
तजि कुलाक्रम अभिमाना, झूठे भरमि कहा भुलाना।
झूठे तनकी कहा बड़ाई, जे निमष मांहि जरि जाई ॥१॥
जब लग मनहि विकारा, तब लगि नहीं छूटै संसारा।
जब मन निरमल करि जाना, तब निरमल मांहि समाना ॥२॥
ब्रह्म अगनि ब्रह्म सोई, अब हरि बिन और न कोई।
जब पाप पुंनि भ्रम जारी, तब भयौ प्रकास मुरारी ॥३॥
कहै कबीर हरि ऐसा, जहां जैसा तहां तैसा।
भूलै भरमि मरै जिनि कोई, राजाराम करै सो होई ॥४॥

तजि......अभिमाना = कुल क्रमागत गर्व का परित्याग करो। निरमल = विशुद्ध। निरमल विशुद्ध तत्त्व, परम तत्त्व। ब्रह्म अगनि.. ...सोई- ब्रह्माग्नि तथा ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं, ब्रह्माग्नि द्वारा सभी मनोविकार जल जाते हैं और मन सब प्रकार से निर्मल तथा विशुद्ध होकर ब्रह्ममय हो जाता है। पाप......जारी = पाप एवं पुण्य की भावनाएँ भ्रमजन्य हैं और वे भी उक्त ब्रह्माग्नि के प्रकाश में पड़कर नष्ट हो जाती हैं। हरि......तैसा = हरि का स्वरूप, परिस्थिति सापेक्ष होकर, भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। भूलै......कोई = इसके भ्रम में (उसके सापेक्ष प्रतीत होने के कारण भ्रांति में) किसी को भूल कर भी नहीं पड़ना चाहिए।

एकांत निष्ठा (६०)

डगमग छाड़ि दे मन बौरा।
अब तौ जरें बरें बनि आवै, लीन्हो हाथ सिधौरा ।।टेक।।
होइ[1] निसंक मगन ह्वै नाचौ, लोभ मोह भ्रम छाड़ौं।
सूरौ कहा मरन थैं डरपै, सतीं न संचै भांड़ौ ।।१।।
लोक बेद कुलकी मरजादा, इहै गलै मैं पासी।
आधा चलि करि पीछा फिरिहै, ह्वै है जगमैं हासी ।।२।।
यहु संसार सकल है मैला, राम कहैं ते सूचा।
कहै कबीर नाव[2] नहीं छाड़ौं, गिरत परत चढ़ि ऊँचा ।।३।।

डगमग अनस्थिरता वा चंचलता, संशय की वृत्ति। अब......सिधौरा=जब तूने आत्मोपलब्धि का व्रत अंगीकार कर लिया तो तुझे अब अपने को जला कर समाप्त कर देने में ही अपना कुशल है। सतीं.....भांड़ौ सती स्त्री कभी संपत्ति का संचय नहीं करती।

पाठभेद—१. 'मन रे छाडहु भरमु प्रगटु होइ नाचहु या माया के डांडे'। २. राजा राम न छोडउ सगल ऊंच ते ऊंचा' (आदिग्रंथ। 'आदिग्रंथ' में ५वीं-छठी पंक्तियाँ नहीं हैं।

सच्ची आरती (६१)

ऐसी आरती त्रिभुवन तारै। तेजपुंज तहां प्रान उतारै ।।टेक।।
पाती पंच पहुप करि पूजा, देव निरंजन और न दूजा।
तन मन सीस समरपन कीन्हा, प्रगत जोति तहां आतम लीना ।।१।।
दीपग ग्यान सबद धुनि घंटा, परम पुरिख तहां देव अनंता।
परम प्रकास सकल उजियारा, कहै कबीर मैं दास तुम्हारा ।।२।।

तेज...उतारै अपने प्राणों को आत्मज्योति के संपर्क में ला देवे। पाती... पूजा पूजा की विधि में पंचेन्द्रियों को पत्तों तथा पुष्पों की जगह अर्पित कर देवे। दीपग...घंटा=ज्ञान के दीप और अनाहत नाद की ध्वनि को इस आरती के समय प्रयोग में लावे।

दैनिक आवश्यकता (६२)

भूखे भगति न कीजै, यह माला अपनी लीजै ।।
हौं मांगौं संतन रेना। मैं नाही किसी का देना ।।१।।
माधो, कैसी बनै तुम संगे। आपन देहु त लेवउ मंगे ।।टेक।।
दुइ सेर मांगउ चूना। पाउ घीउ संगि लूना।
अध सेर मांगउ दाले, मोको दोनउ बखत जिवाले ।।२।।
खाट मांगउ चउपाई। सिरहाना अवर तुलाई।
ऊपर कउ मांगउ खीधा। तेरी भगति करै जनु बीधा ।।३।।
मैं नाही कीता लबो। इकु नाउ तेरा मैं फबो।
कहि कबीर मनु मान्या। मन मान्या तौ हरि जान्या ।।४।।

न कीजै=नहीं की जा सकती। संतन रेना=संतों के चरणों की धूल चाहता हूँ। माधो...मंगे=माधव, तुम्हारे साथ मेरी इस प्रकार नहीं निभेगी, स्वयं न दोगे तो

माँग कर ही लूंगा । चूना = आटा । लूना = नमक । अध...दाले = आधा सेर दाल माँगता हूँ । मोको...जिवाले = इससे मुझे दोनों जून भोजन करा दो । खाट...तुलाई = चार पैर की खाट, तकिया तथा रूई भरी दुलाई माँगता हूँ । बिछाने के लिए खिथा, अर्थात् सिली सुजनी माँगता हूँ । बोधा = लीन होकर । मैं.. फबो = मैंने कुछ भी किसी से नहीं लिया है, केवल तेरे नाम से ही शोभित होना है ।

रमैणी

भया दयाल बिषहर जरि जागा । गहगहान प्रेम बहु लागा ।।
भया अनंद जीव भये उल्हासा । मिले राम मनि पूजी आसा ।।

मास असाढ़ रबि धरनि जरावै । जरत जरत जल आइ बुझावै ।।
रुति सुभाइ जिमीं सब जागी । अमृत धार होइ झर लागी ।।

जिमीं माहि उठी हरियाई । बिरहनि पीव मिले जन जाई ।।
मनिका मनिकै भये उछाहा । कारनि कौन बिसारी नाहा ।।

खेल तुम्हारा मरन भया मोरा । चौरासी लख कीन्हा फेरा ।।
सेवग सुत जे होइ अनिआई । गुन औगुन सब तुम्हि समाई ।।

अपने औगुन कहुं न पारा । इहै अभाग जे तुम्ह न संभारा ।।
दरबो नहीं कांइ तुम्ह नाहा । तुम्ह बिछुरैं मैं बहु दुख चाहा ।।

मेघ न बरिखै जांहि उदासा । तऊ न सारंग सागर आसा ।।
जलहर भर्‌यौ ताहि नहीं भावै । कै मरि जाइ कै उहै पियावै ।।
मै निरासी जब निध्य पाई । राम नाम जीव जाग्या जाई ।।
नलनी कै ज्यूं नीर अधारा । खिन बिछुर्‌यां थैं रबि प्रजारा ।।
राम बिना जीव बहुत दुख पावै । मन पतंग जगि अधिक जरावै ।।
माघ मास रुति कवनि तुसारा । भयौ बसंत तब बाग संभारा ।।
अपनै रंगि सबै कोइ राता । मधुकर वास लेहि मैंमंता ।।
बन कोकिला नाद गहगहाना । रुति बसंत सबकै मनि माना ।।
विरहन्य रजनी जुग प्रति भइया । बिन पीव मिलें कलप टलि गइया ।।
आतमा चेति समझि जीव जाई । बाजी झूठ राम निधि पाई ।।
भया दयाल निति बाजहि बाजा । सहजै राम नाम मन राजा ।।

जरत जरत जल पाइया, सुख सागर का मूल ।
गुरु प्रसादि कबीर कहि, भागी संसै सूल ।।

भया...जागा = परमात्मा की दया हुई है और मैं विरहाग्नि से जल चुकने पर विष (त्रिताप) नाशक (रामनाम) मंत्र से प्रभावित हो जग उठा । गहगहान...लागा = मैं प्रेम से प्रफुल्लित हो उठा । जीव...उल्हासा = मेरे मन में उल्लास भर गया । पूजी = पूरी हुई । जल = जल द्वारा । रुति सुभाइ = ऋतु प्रभाव से । झरलागी = वृष्टि होने लगी । मनिका मनिकै = प्रत्येक मन में । सेवग...अनिआई = सेवक वा पुत्र से अपराध हो जाय तो । अपने...पारा = मेरे अवगुणों का कहीं अंत नहीं । दरबो...नाहा = हे स्वामिन्, तुम क्यों नहीं पसीजते । चाहा = देखा, पाया । मेघ...पासा = मेघ के न बरसने पर पपीहा

उदास होकर रह जाता है, किंतु समुद्र के निकट नहीं जाता। उहै=स्वाती का मेघ ही। मैं...पाई=मुझ निराश को जब निधि मिल गई। पतंग=शलभ। कवलि तुसारा=कमल पर तुषारपात हो जाता है। बास...मैमंता=मत्त होकर गंध ग्रहण करता फिरता है। विरहन्य...भइया=विरहिणी के लिए प्रत्येक रात एक युग के समान लम्बी जान पड़ी। आतमा...जाई=आत्मा का परिचय पा लेने पर जीव रहस्य को समझ गया। त्राजी झूठ=भ्रमात्मक बातों का परित्याग कर दिया। राजा=सुशोभित हो गया।

साखी

सतगुर सवां न को सगा, सोधी सई न दाति।
हरिजी सवां न को हितू, हरिजन सई न दाति ॥१॥
सतगुर की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावणहार ॥२॥
पीछे लागा जाइ था, लोक बेद के साथि।
आगै थैं सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि ॥३॥
पासा पकड़्या प्रेम का, सारी किया सरीर।
सतगुर दांव बताइया, खेलै दास कबीर ॥४॥
भगति भजन हरिनांव है, दूजा दुक्ख अपार।
मनसा वाचा क्रमनां, कबीर सुमिरण सार ॥५॥
मेरा मन सुमिरै रामकूं, मेरा मन रामहि आहि।
अब मन रामहि ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि ॥६॥
तूं तूं करता तूं भया, मुझमैं रही न हूं।
बारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूं ॥७॥
बासुरि सुख ना रैंणि सुख, ना सुख सुपिनैं माहि।
कबीर बिछुट्या रामसूं, ना सुख धूप न छांह ॥ ८ ॥
बिरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागै कोइ।
राम वियोगी ना जिवै, जिवै त बौरा होइ ॥९॥
सब रग तंत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुणि सकै, कै साईं कै चित्त ॥१०॥
इस तनका दीवा करौं, बाती मेल्यूं जीव।
लोही सींचौं तेल ज्यूं, कब मुख देखौं पीव ॥११॥
सोई आंसू सजणां, सोई लोक बिडांहि।
जे लोइण लोही चुवै, जांणौं हेत हियांहि ॥१२॥

१. सवां, सइं=समान। सोधी=चित्त शुद्धि। (दे० "सतगुर थैं सोधी भई, तब पाया हरिका षोज" (क० ग्रं०, पृ० ३, टि०)। दाति=दीक्षा, उपदेश, देन। ३. दीपक=प्रातिभ ज्ञान। ४. पासा=पल्ला। सारी=चौसर की गोट। ५. क्रमना=कर्मों द्वारा। ६. (दे० 'मणु मिलियउ परमेसर हो, परमेसरु जिमणस्स। बिण्णिनि समरसि हुइ रहिय पुज्ज चडावउं कस्स'—मुनि रामसिंह, पा० दो० ४९)। ७. बारी फेरी=निछावर कर दिया। बलि गई=बलिहारी गई। ८. बासुरि=दिन में।

१०. रग=शरीर की नसें। तंत=तांत। रबाब= एक प्रकार का बाजा। (दे० जायसी, "हाड़ भए सब किंगरी नसैं भई सब तांति") (जा० ग्रं०, पृ० १७४)। ११. बाती... जीव=प्राणों की बत्ती डाल दूं। लोही=लोहू, रक्त। तेल ज्यूं=तेल की भाँति। १२. सजणां=अपने लोगों वा स्वजनों का। लोक बिडांहि= पराये लोगों का। जे... हियांहि= यदि आँखों से लहू टपकने लगे तो समझो कि हृदय में प्रेम है।

बिरह जलाई मैं जलौं, जलती जलहरि जाऊं।
मो देख्यां जलहरि जलै, संतौ कहां बुझाऊं ॥१३॥

हिरदा भीतरि दौं बलै, धूवां न प्रगट होइ।
जाकै लागी सो लखै, कै जिहि लाई सोइ ॥१४॥

कबीर तेज अनंत का, मानौ ऊगी सूरज सेणि।
पति संग जागी सुंदरी, कौतिग दीठा तेणि ॥१५॥

अंतरि कंवल प्रकासिया, ब्रह्मवास तहां होइ।
मन भंवरा तहां लुबधिया, जाणैंगा जन कोई ॥१६॥

मन लागा उनमन सौं, उनमन मनहि विलग।
लूंग विलगा पांणियां, पाणी लूण विलग ॥१७॥

पांणी ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया विलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछू कह्या न जाइ ॥१८॥

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
सब अंधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या मांहि ॥१९॥

सबै रसाइण मैं किया, हरिसा और न कोइ।
तिल इक घट मैं संचरै, तौ सब तन कंचन होइ ॥२०॥

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूंद समानी समंद मैं, सो कत हेरी जाइ ॥२१॥

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
समंद समाना बूंद मैं, सो कत हेर्‌या जाइ ॥२२॥

नेनां अंतरि आव तूं, ज्यूं हौं नैन झंपेउ।
नां हौं देखौं और कूं, ना तुझ देखन देउं ॥२३॥

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझकौं सौंपता, क्या लागै मेरा ॥२४॥

कबीर सीप समंद की, रटै पियास पियास।
समंदहि तिणका बरि गिणै, स्वाति बूंद की आस ॥२५॥

१३. जलहरि= जलाशय तक। १४. दौं=अग्नि, ज्ञान विरह। १५ सेणि=श्रेणी। तेणि=उसने। १७. उनमन=मनका अभीष्ट परमतत्त्व। विलग=मिल गया। (दे० "कंठ विलग्गी मारवी, करि कंचूवा दूर" ५५१ तथा "निसि भरि सूती सुंदरी, वालंभ कंठ विलग्गि" अथवा "खरी विलग्गी खंति—'ढोला मारूरा दूहा') और दे० "लवणो जिम पाणिहि विलिज्जइ"—सरह (दो० को० २३८)। २०. रसाइण=काया-कल्प की क्रिया। २१. हेरत-हेरत=ढूंढ़ता-ढूंढ़ता। हिराइ=खो गया। (दे० "बुंदहि

समद समान" इत्यादि जायसी (अखरावट)। २३. ज्यूं...झंपेउ=ताकि मैं अपनी आँखें बन्द कर दूं। २५. समंदहि...गिणै=समुद्र को भी तृणवत् तुच्छ मानता है।

जे वो एकै जांणियां, तौ जाण्यां सब जांण।
जे वो एक न जांणियाँ, तो सबही जांण अजांण ॥२६॥
उस सम्रथ का दास हौं, कदे न होइ अकाज।
पतिव्रता नांगी रहै, तौ उसही पुरिस कौं लाज ॥२७॥
कबीर धूलि सकेलि करि, पुड़ी ज बांधी एह।
दिवसि चारि का पेषणां, अंति षेह की षेह ॥२८॥
खंभा एक गइंद दुइ, क्यूं करि बंधिसि बारि।
मानि करै तौ पीव नहिं, पीव तौ मानि निवारि ॥२९॥
मै मैं बड़ी बलाइ है, सकै तौ निकसी भाजि।
कब लग राखौं हे सखी, रुई लपेटी आगि ॥३०॥
मन जाणै सब बात, जाणत ही औगुण करै।
काहे की कुललात, करद दीपक कूंवै पड़ै ॥३१॥
हिरदा भीतरि आरसी, मुख देषणां न जाइ।
मुख तौ तौपरि देखिए, जे मन की दुविधा जाइ ॥३२॥
मन गोरख मन गोविंदौ, मनही औघड़ होइ।
जें मन राखै जतन करि, तौ आपैं करता सोइ ॥३३॥
पाणी हीं तैं पातला, धूंवा ही तैं झींण।
पवना वेगि उतावला, सो दोसत कबीरै कीन्ह ॥३४॥
मृतक कूं धीजौं नहीं, मेरा मन बीहै।
बाजै बाव विकार की, भी मूवा जीवै ॥३५॥
काटी कूटी मछली, छींकै धरी चहोड़ि।
कोइ एक अपिर मन बस्या, दहै मैं पड़ी बहोड़ि ॥३६॥
चलौ चलौ सबको कहैं, सोहि अंदेसा और।
साहिब सूं पर्चा नहीं, ए जाहिंगे किस ठौर ॥३७॥

२६. जे...जांणियां=यदि उस एक को ही जान लिया। जांण=जानना। २७. कदे...अकाज=कभी मेरी हानि नहीं देख सकता। २८. सकेलि करि=एकत्र करके। पुड़ी...एह=यह शरीर की पुड़िया रची गई है। २९. बारि=द्वार पर। मानि...निवारि=प्रियतम तथा मान दोनों में से एक को छोड़ना पड़ेगा। ३०. मैं मैं=अहंभाव। रुई...आगि=रुई से ढकी हुई आग की भाँति भयंकर है। ३४. झींण=क्षीण, महीन। पवना...उतावला=वेग में पवन से भी अधिक तीव्र वा चंचल। सो...कीन्ह=उस मन को कबीर ने अपना साथी वा हितकारक बना लिया है। ३५. मृतक कूं=मरे वा मारे गए मन को। धीजौं नहीं विश्वास नहीं करता। (दे० "संसार धरम मेरो मन न धीजइ"—रैदासजी (बानी, पृ० ६)। बीहै=डरता है। (दे० "बोलि न सकूँ बीहतउ" ढोला मारूरा दूहा ४०४)। बाजै=लग जाय। भी=फिर से। ३६. छींकै...चहोड़ि=सँभालकर सिकहर पर रखी गई। कोइ...बस्या=मन में कोई आतंरिक प्रेरणा उत्पन्न हो गई। (दे० "तालि चरंतो कुंझड़ी, सर संधियउ

गंमार। कोइक आखर मनि बस्यउ, ऊड़ी पंख सँमार"—'ढोला मारूरा दूहा'।
३७. बहोड़ि = फिर।

माया तजी तौ का भया, मानि तजी नहीं वाइ।
मानि बड़े मुनियर गिले, मानि सबनि कौं खाइ।।३८।।
साषत ब्राह्मण जिनि मिलै, वैसनो मिलौ चंडाल।
अंक माल दै भेटिए, मानूं मिले गोपाल।।३९।।
जैसी मुखतैं नीकंसै, तैसी चालै चाल।
पार ब्रह्म नेड़ा रहै, पलमैं करै निहाल।।४०।।
काम काम सबको कहै, काम न चीन्है कोइ।
जेती मनमें कामना, काम कहीजै सोइ।।४१।।
सहज सहज सबको कहै, सहज न चीन्है कोइ।
पाँचूं राखै परसती, सहज कहीजै सोइ।।४२।।
जेती देषों आतमा, तेता सालिगराम।
साधू प्रतषि देव है, नहीं पाथरसूं काम।।४३।।
कबीर माला काठकी, कहि समझावै तोहि।
मन न फिरावै आपणां, कहा फिरावै मोहि।।४४।।
माला फेरत जुग भया, पाय न मनका फेर।
करका मनका छाडिदे, मनका मनका फेर।।४५।।
सांई सेती सांच चलि, औरां सूं सुधभाइ।
भावै लंबे केस करि, भावै घुरडि मुड़ाइ।।४६।।
चतुराई हरि ना मिलै, ए बातां की बात।
एक निस्प्रेही निरधार का, गाहक गोपीनाथ।।४७।।
निरमल बूंद अकास की, गई भोमि बिकार।
मूल विनंठा मानवी, बिन संगति भठछार।।४८।।
निरबैरी निहकामता, सांई सेंती नेह।
विषिया सूं न्यारा रहै, संतनि का अंग एह।।४९।।

३८. गिले = गिर गए। ३९. अंक माल = अँकवार, गले मिलाकर। ४०. नेड़ा = निकट। ४२. पाँचूं...परसती = पंचेंद्रियों को परमात्मा को स्पर्श करती हुई, अर्थात् उसका सदा अनुभव करती हुई रखे। (दे० "युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगत कल्मषः। सुखेन ब्रह्म संस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते"—गीता (६-२८)। ४३. प्रतषि = प्रत्यक्ष, मूर्तिमान्। ४५. मनका = माला के दाने। ४६. सांई सेंती = परमात्मा के साथ। औरांसूं सुधभाइ = अन्य सब के साथ शुद्ध व्यवहार रखो। घुरड़ि मुड़ाइ = सभी बात मुडालो। ४७. निस्प्रेही = अनासक्त (दे० "मन क्रम बचन छांडि चतुराई। भजतहिं कृपा करहिं रघुराई"—तुलसीदास)। ४८. भोमि बिकार = धरती की धूलादि में। मूल...मानवी = परमात्मा से पृथक् पड़ गया हुआ मनुष्य। भठछार = भट्ठे की जली हुई राख। ४९. विषिया सूं...रहै = विषयों से अनासक्त। अंग = लक्षण।

अणरता सुख सोवणां रातै नींद न आइ।
ज्यूं जल टूटै मंछली, बेलंत बिहाइ।।५०।।

जदि विषै पियारी प्रीतिसूं, तब अंतरि हरि नाहिं ।
जब अंतर हरिजी बसै, तब बिषिया सूं चित नाहिं ।।५१।।

षीर रूप हरि नांव है, नीर आंन व्यौहार ।
हंस रूप कोइ साध है, तत का जानणहार ।।५२।।

ग्रिही तौ च्यंता घणी, बैरागी तो भीष ।
दुहु कात्यां बिचि जीवहै, दोहूनैं संतौ सीष ।।५३।।

ऐसी वांणी बोलिये, मनका आपा खोय ।
अपना तन सीतल करै, औरन कौं सुख होय ।।५४।।

च्यंतामणि मनमैं बसै, सोई चित्तमैं आंणि ।
बिन च्यंता च्यंता करै, इहै प्रभू की बांणि ।।५५।।

मांगण मरण समान है, बिरला बंचै कोइ ।
कहै कबीर रघुनाथ सूं, मतिर मंगावै मोहि ।।५६।।

जाके मुंह माथा नहीं, नहीं रूप करूप ।
पुहुप बासथैं पतला, ऐसा तत्त अनूप ।।५७।।

नीर पिलावत क्या फिरै, सायर घर घर बारि ।
जो त्रिषावंत होइगा, पीवेगा झष मारि ।।५८।।

सत गंठी कोपीन है, साध न मानै संक ।
राम अमलि माता रहै, गिणै इंद्र कौं रंक ।।५९।।

दावै दाझण होत है, निरदावै निसंक ।
जो नर निरदावै रहैं, ते गिणै इंद्र कौं रंक ।।६०।।

[५]०. अणरता...आइ=जो अनुरक्त नहीं वह सुखपूर्वक सोता है; किंतु जो अनुरक्त [है] उसे नींद नहीं आती । बेलंत बिहाइ तड़पता हुआ विहान करता है। (दे० "ओछइ [प]ांणी मच्छ ज्यउँ, बेलत भयउ विहाण"—ढोला १९२) । ५१. अंतरि=भीतर, हृदय [म]ें। ५२. षीर=दूध । आंन अन्य सभी । ५३. च्यंता घणी=अनेक सांसारिक व्यवहार [क]ी चिंताएँ । कात्यां=कतरनियों के । दोहूनैं...सीष=संत दोनों को, अर्थात् गृह में [वै]राग्य को अपनाते हैं। ५५. बिनच्यंता=चिंता न करने वाले की । ५६. मतिर मंगावै [म]ोहि=अजी, (मैं प्रार्थना करता हूँ) मुझसे न मंगवावो । ५७. रूप करूप अच्छा एवं [बु]रा रूप । ५८. सायर=सागर वा जलाशय । बारि=द्वार पर । झष मारि=विवश [ह]ोकर । ५९. सतगंठी=सौ ग्रंथियाँ जिसमें लगी हों । कोपीन=लंगोटी । (दे० "गाँठी [स]त्त कुपीन में, सदा फिरै निःसंक । नाम अमल माता रहै, गिनै इंद्र को रंक"—मलूक[द]ास ('बानी', पृ० ३३) । ६०. दावै...है=सब कहीं अपना स्वत्व स्थापित करते फिरने [मे]ं ही जलन वा उद्वेग की आशंका रहती है । (यहाँ पर 'दावा' शब्द, दावाग्नि-बोधक [हो]ने के कारण श्लिष्ट भी कहा जायगा) ।

साईं सूं सब होत है, बंदे थैं कुछ नांहि ।
राई थैं परबत करै, परबत राई मांहि ।।६१।।
कबीर मन मृतक भया, दुरबल भया सरीर ।
तब पैंडे लागे हरि फिरै, कहत कबीर कबीर ।।६२।।

जीवन थैं मरिबो भलो, जौ मरि जानैं कोइ।
मरनैं पहली जे मरें, जौ कलि अजरावर होइ ।।६३।।

आपा मेटयां हरि मिलैं, हरि मेटयां सब जाइ।
अकथ कहाणी प्रेम की, कह्यां न को पतियाइ ।।६४।।

बुरा बुरा सबको कहै, बुरा न दीसै कोइ।
जे दिल षोजौं आपणीं, तौ मुझसा बुरा न कोइ ।।६५।।

ऐसा कोई ना मिलै, राम भगति का मीत।
तनमन सौंपै मृग ज्यूं, सुनें वधिक का गीत ।।६६।।

ऐसा कोई ना मिलै, जासौं रहिये लागि।
सब जग जलतां देखिए, अपणीं अपणीं आगि ।।६७।।

हम घर जाल्या आपणां, लिया मुराड़ा हाथि।
अब घर जालौं तासका, जे चलै हमारे साथि ।।६८।।

सूरा तबही परषिये, लडै धणी कै हेत।
पुरिजा पुरिजा ह्वै पड़ै, तऊ न छाडै खेत ।।६९।।

जिस मरनैं थैं जग डरै, सो मेरे आनंद।
कब मरिहूं कब देखिहूं, पूरन परमानंद ।।७०।।

कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध।
सीस उतारि पग तलि धरै, तब निकटि प्रेम का स्वाद ।।७१।।

जेते तारे रैणिके, तेतै बैरी मुझ।
धड़ सूली सिर कंगुरै, तऊ न बिसारौं तुझ ।।७२।।

६२. मन मृतक भया=मन का निःस्वभावीकरण हो गया और चंचलता दूर हो जाने के कारण एकनिष्ठ हो गया। ६३. मरनै...मरें=जो जीवन्मुक्त हो जाय। अजरावर= अजर तथा अमर। ६६. बधिक=शब्द का बाण मारने वाले सद्गुरु। ६७. आगि= प्रपंच की कठिनाइयों में। ६८. मुराड़ा जलती हुई लकड़ी वा लुआठा। ६९. धणी= स्वामी। खेत=संग्राम के क्षेत्र को। ७०. मरनै=संसार की ओर से पूर्णतः विरक्त हो जाने अथवा आँखें मूंद लेने। ७१. (दे० "ध्रुव तें ऊँच पेम ध्रुव ऊआ। सिर देइ पाँव देइ सो छूआ"—जायसी, ग्रंथावली, पृ० ५४)। ७२. जेते...मुझ=मेरे शत्रु संख्या में अनगिनत क्यों न हों। धड़...कंगुरै= मेरा धड़ सूली पर हो तथा मेरा सिर किसी दुर्ग के उच्चतम भाग पर क्यों न टाँग दिया गया हो। तऊ=फिर भी मैं दृढ़तापूर्वक कह रहा हूँ।

कबीर हरि सबकूं भजै, हरिकूं भजै न कोइ।
जब लग आस सरीर की, तब लग दास न होइ ।।७३।।

मालन आवत देखि करि, कलियां करी पुकार।
फूले फूले चुणि लिए, काल्हि हमारी बार ।।७४।।

बाढ़ी आवत देखि करि, तरवर डोलन लाग।
हंम कटे की कुछ नहीं, पंखेरू घर भाग ।।७५।।

फागुण आवत देखि करि, बन रूंना मन माहिं।
ऊँची डाली पातहै, दिन दिन पीले थांहि ॥७६॥

जो ऊग्या सो आंथवै, फूल्या सो कुमिलाइ।
जो चिणियां सो ढहि पड़ै, जो आया सो जाइ ॥७७॥

कबीर हरि सूं हेत करि, कूड़ै चित्त न लाव।
बाध्यां वार षटीक कै, ता पसु किती एक आव ॥७८॥

काची काया मन अथिर, थिर थिर काम करंत।
ज्यूं ज्यूं नर निधड़क फिरै, त्यूं त्यूं काल हसंत ॥७९॥

जिनि हम जाए ते मुए, हम भी चालण हार।
जे हमको आगैं मिले, तिन भी बंध्या भार ॥८०॥

यहु मन पटकि पछाड़ि लै, सब आपा मिटि जाइ।
पंगुल ह्वै पिव पिव करै, पीछै काल न खाइ ॥८१॥

कबीर सुपिनैं हरि मिल्या, सूतां लिया जगाइ।
आँखि न मीचौं डरपता, मति सुपिना ह्वै जाइ ॥८२॥

कबीर केसौ की दया, संसा घाल्या खोइ।
जे दिन गये भगति बिन, ते दिन सालैं मोहि ॥८३॥

कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूंढै बन मांहि।
ऐसैं घटि घटि राम हैं, दुनिया देखैं नांहि ॥८४॥

निंदक नेड़ा राखिये, आंगणि कुटी बंधाइ।
बिन सावण पाणी बिना, निरमल करै सुभाइ ॥८५॥

७३. भजै = स्मरण रखते हैं। भजैं = स्मरण करना। ७४. वार = बारी, अवसर। ७५. बाढ़ी = बढ़ई। डोलन लाग = कांपने लगा। पंखेरू...भाग = पक्षी तू अपने घर भाग जा। ७६. ऊँची...थांहि = जो ऊँची डाली की पत्तियाँ अभी तक हरी हैं, वे भी पीली पड़ जायेंगी। ७७. आंथवै = अस्त हो जाता है। चिणियां = चुन कर उठाया गया रहता है। ७८. वार पटीक कैं = बधिक के द्वार पर। आव = आयु। ८०. हम जाए = हमें उत्पन्न किया। बंध्या भार = गट्ठर बांध कर चलने को तैयार हैं। ८१. पंगुल = अशक्त। ८२. सूतां अज्ञानावस्था में ही, अचानक। मति = कहीं न। ८४. कुंडलि = नाभि में। ८५. आंगणि...बंधाइ = अपने यहाँ आदर के साथ। बिन...बिना = बिना किसी बाह्य साधन के ही। सुभाइ = स्वभाव।

कबीर आप ठगाइये, और न ठगिये कोइ।
आप ठग्यां सुख ऊपजै, और ठग्यां दुख होइ ॥८६॥

ज्यूं मन मेरा तुझसौं, यों जे तेरा होइ।
ताता लोहा यौं मिलै, संधि न लखई कोइ ॥८७॥

कबीर गरबु न कीजियै, रंकु न हंसियै कोइ।
अजहूं सु नाउ समंद महि, क्या जानै क्या होइ ॥८८॥

चरन कमल की मौज को, कहि कैसे उनमान।
कहिबे कौ सोभा नहीं, देखा ही परवान ॥८९॥

चुगै चितारै भी चुगै, चुगि चुगि चितारै।
जैसे बिचरहि कुंज मन, माया ममतारे ॥९०॥
कबीर जाको खोजते, पायो सोई ठौर।
सोई फिरि कै तूं भया, जाकौ कहता और ॥९१॥

मुहि मरने का चाउ है, मरौं तौ हरिके द्वार।
मत हरि पूछै कौन है, परा हमारै बार ॥९२॥
हरि है खांडु रेतु महि बिखरी, हाथी चुनी न जाइ।
कहि कबीर गुरु भली बुझाई, कीटी होइके खाइ ॥९३॥

८७. ताता=गर्म किया हुआ। संधि जोड़ का स्थान। ८८. रंकु...कोइ=किसी गरीब पर मत हँसो। अजहूं...होइ=अभी तो तुम्हारा जीवन संसार में व्यतीत ही हो रहा है, अभी क्या पता है कि इसका अंत कैसा होगा। ८९. चरन...उनमान=परम पद में लीन हुए व्यक्ति को जिस उल्लास का अनुभव होता है, उसका अनुमान ठीक-ठीक नहीं किया जा सकता। परवान=प्रमाण, यथार्थ। ९०. चुगै...रे जिस प्रकार कुंज पक्षी दाने चुगता है और बच्चों की चिन्ता भी करता रहता है, उसी प्रकार मन विषयों में लगा हुआ भी कभी-कभी चिंतन कर लेता है। (दे० "जुगइ चितारइ भी चुगइ, चुगि चुगि चितारेह। कुरझी बच्चा मेल्हिकइ, दूरि थकां पालेह"—ढोला०, २०२)। चितार=स्मरण करता है। भी=फिर। बिचरहि=विचरण करता है। ९१. और=भिन्न। ९२. मुहि= मुझे। चाउ अभिलाषा। मत=यह समझ कर कि कभी तो ऐसा होगा कि। पूछै=पूछ लेगा। बार=द्वार पर। ९३. खांडु=चीनी। रेतु= बालू, माया। हाथी=मतवाले मन से। कीटी...खाइ=युक्तिपूर्वक चींटी के समान छोटा होकर उन्हें प्राप्त करो।

मारे बहुत पुकारिया, पीर पुकारै और।
लागी चोट मरम्म की, रह्यो कबीरा ठौर ॥९४॥
मूरों कौं का रोइये, जो अपणे घर जाइ।
रोइए बंदीवान को, जो हाटै हाट बिकाइ ॥९५॥

९४. मारे मार पड़ने पर। बहुत बहुत लोग। पीर=दर्द के कारण। और अन्य लोग। मरम्म की=मर्म की गठरी। ठौर=जहाँ का तहाँ। ९५. मूरों= जीवन्मृतकों वा मुक्तों। बंदीवान को=संसार में बद्ध पुरुष को।

संत पीपाजी

पीपाजी भी सेन नाई की भाँति स्वामी रामानन्द के शिष्यों में समझे जाते हैं। प्रसिद्ध है कि ये उनके साथ कई तीर्थों में भी गये थे। परन्तु इस बात का न तो कोई ऐतिहासिक विवरण अभी तक उपलब्ध है, न पीपाजी ने ही इसे कहीं पर स्वीकार किया है। डॉ० फर्कुहर ने इनके जन्म का सं० १४८२ दिया है, किन्तु कनिंघम ने गागरौन राज की वंशावली के आधार पर इनका समय सं० १४१७-१४४२ ठहराया है। पीपाजी की अपनी उपलब्ध रचनाओं द्वारा अनुमान होता है कि ये कबीर साहब के बड़े प्रशंसक सम-सामयिक व्यक्ति थे। मेवाड़ के इतिहास द्वारा यही जान पड़ता है कि ये राणा कुंभा

सं० १४७५-१५२५) के समकालीन रहे होंगे। इस प्रकार भी ये कबीर साहब से छोटे होते हैं। पीपाजी गागरौनगढ़ के राजवंश के थे और ऐश्वर्य-सम्पन्न थे, किन्तु इन्हें साधु-सेवा की भी लगन थी। ये पहले भवानी के उपासक थे और कुछ वैष्णवों के सम्पर्क में आकर स्वामी रामानन्द के सिद्धांतों से भी प्रभावित हो गए थे। इनकी स्त्री का भी इनके साथ तीर्थयात्रा में द्वारका तक जाना और वहाँ पर दोनों का समुद्र में प्रवेश करना तथा वहाँ से लौटकर किसी मन्दिर में आमरण निवास करना प्रसिद्ध है।

इनकी रचनाओं के एकाध संग्रह 'पीपाजी की बानी' नाम से सुने जाते हैं, किन्तु वे प्रकाशित रूप में उपलब्ध नहीं हैं। इनका एक पद 'आदिग्रंथ' के अंतर्गत धनासरी राग के पदों में दिया गया है जिसमें 'जो पिंड में है वह ब्रह्मांड में' का विषय आया है। काया के महत्त्व का वर्णन इस पद में बड़े स्पष्ट शब्दों में किया गया है। इसमें साथ ही परमतत्व की अनुभूति के लिए सद्गुरु की सहायता का भी उल्लेख है। इनकी विचार-धारा का पूरा परिचय अधिक रचनाओं के प्राप्त होने पर मिल सकता है।

पद

पिंड-महत्व

> कायउ देवा काइअउ देवल, काइअउ जंगम जाती।
> काइअउ धूप दीप नइवेदा, काइअउ पूजउ पाती ॥१॥
> काइआ बहु षंड षोजते, नवनिधि पाई।
> ना कुछ आइबो न कुछ जाइबो, रामकी दुहाई ॥रहाउ॥
> जो ब्रह्मंडे सोई पिंडे, जो षोजै सो पावै।
> पीपा प्रणवै परम तत्तु है, सतगुरु होइ लषावै ॥२॥

जंगम जाती=चर कोटि के प्राणी। बहु षंड षोजते=अनेक भागों के भीतर पर्यवेक्षण करने पर। जो ब्रह्मंडे सोई पिंडे=पिंड एवं शरीर वस्तुतः पूरे ब्रह्मांड का ही लघु रूप है। पीपा...है=परमतत्व ही वास्तविक पदार्थ है जिसके समक्ष पीपा नतमस्तक हो रहा है। सतगुरु...लषावै=उसकी अनुभूति केवल सतगुरु की सहायता द्वारा ही संभव है।

संत रैदासजी

संत रविदास वा रैदासजी के जीवन-काल की तिथियाँ अभी तक निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हैं। परन्तु इतनी बात उनकी रचनाओं से भी स्पष्ट है कि वे जाति के चमार थे तथा उनके परिवार के लोग काशी के आसपास 'ढोरों के ढोने' का व्यवसाय किया करते थे। उनका कबीर साहब का समकालीन होना तथा उन्हीं की भाँति स्वामी रामानन्द का शिष्य भी होना अनुश्रुति के आधार पर माना जाता है। इन्होंने कबीर साहब का नाम सेन नाई, नामदेव एवं सधना के साथ-साथ प्रसिद्ध होकर तर जाने वालों में लिया है जिसके आधार पर इन्हें हम उनके पीछे तक जीवित रहने का अनुमान कर सकते हैं। इस प्रकार इनका जीवन-काल विक्रम की १५वीं से १६वीं शताब्दी तक पहुँचता है। रैदासजी काशी में रहकर अपना पैतृक व्यवसाय करते थे और एक निस्पृह,

उदार एवं संतोषी व्यक्ति थे। इनका भगवदानुराग इनके बचपन से ही सत्संगादि द्वारा प्रकट होता आया था। आगे चलकर ये एक बहुत बड़े महात्मा के रूप में प्रसिद्ध हो गए। कहा जाता है कि मेवाड़ की 'झाली-रानी' ने इनसे प्रभावित होकर इनकी शिष्यता स्वीकार कर ली थी। मीराँबाई ने भी इन्हें अपने गुरु के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु उनका इनके समय में होना प्रमाणित नहीं होता। इसी कारण, अनुमान किया जाता है कि उन्होंने इनका नाम अपनी रचनाओं में किसी अन्य रैदासी संत के लिए लिया होगा।

रैदासजी की रचनाएँ केवल फुटकर रूप में ही मिलती हैं और इनका कोई पूरा प्रामाणिक संग्रह अभी तक उपलब्ध नहीं है। 'आदिग्रंथ' में आये हुए उनके पदों की संख्या लगभग ४० है और 'बेलवेडियर' प्रेस के संग्रह में कुछ नये पद भी मिलते हैं। इन दो संग्रहों के पदों में पाठ-भेद बहुत अधिक दीख पड़ता है और इसका अंतिम निर्णय प्रामाणिक हस्तलेखों पर ही निर्भर है। इधर उनके छोटे-मोटे कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं। रैदासजी की रचनाओं की विशेषता उनमें लक्षित होने वाली सरल हृदयता एवं दैन्य तथा गहरे भगवत्प्रेम में पायी जाती है। उनका आत्मनिवेदन बहुत ही सुन्दर, स्पष्ट तथा हृदयग्राही है और उनकी भक्ति का रूप प्रेम के रंग में सराबोर दिखलायी देता है। उनकी उपलब्ध रचनाओं के अंतर्गत हमें अन्य संतों की 'जोग जुगति' का प्रायः अभाव-सा ही दीखता है। एकांत निष्ठा, सात्विक जीवन, विश्वप्रेम, दृढ़ विश्वास और आत्म समर्पण के भाव ही उनमें अधिक पाये जाते हैं। रैदासजी की कथन-शैली के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण उनकी उन आग्रहपूर्ण प्रार्थनाओं में मिलते हैं जो आत्मसंवेदन के साथ की गई हैं। उनकी भाषा पर कहीं कहीं फारसी का भी प्रभाव लक्षित होता है।

पद

स्वानुभूति महत्व (१)

बिनु देखे उपजै नहीं आसा, जो दीसै सो होइ बिनासा।
बरन सहित जो जापै नामु, सो जोगी केवल निहकामु ॥१॥
परचै रामु रवै जउ कोई, पारसु परसै दुबिधा न होई ॥रहाउ॥
सो मुनि मनकी दुबिधा पाइ, बिनु दुआरे त्रैलोक समाइ।
मनका सुभाउ सभु कोइ करै, करता होइ सु अनभै रहै ॥२॥
फल कारन फूली बनराइ, फल लागा तब फूलु बिल्हाइ।
गिआनै कारन करम अभिआस, गिआनु भइआ तब करमह नासु ॥३॥
घ्रित कारन दधि मथै सइआन, जीवत मुकत सदा निरबान।
कहि रविदास परम बैराग, रिदै रामु कीन जपिसि अभाग ॥४॥

परचै=स्वानुभूतिपूर्वक, जान तथा समझ कर। दुबिधा पाइ=संशयरहित होता जाता है। बिनु दुआरे=सहज ही। करता...रहै=स्वानुभूति वाला ही वास्तविक करने वाला है। बनराइ=वृक्षों का समूह। बिल्हाइ=लुप्त हो जाता है। सइआन=चतुर लोग। कीन=क्यों नहीं।

पाठभेद—'जे दीसे ते सकल बिनास, अनदीठे नाही बिसवास, बरन कहंत कंहै जे राम, सो भगता केवल नि:काम', 'या रस', 'सो मन कौन जो मन को खाइ, बिन छोरै तिरलोक समाइ', 'मन की महिमा सब कोई कहै, पंडित सो जो अनते रहै।'

वही (२)

पढ़ीऐ गुनीऐ नामु सभु सुनीऐ, अनभउ भाउ न दरसै।
लोहा कंचनु हिरन होइ कैसे, जउ पारसहि न परसै ॥१॥
देव संसै गांठि न छूटै।
काम क्रोध माइआ मद मतसर, इह पंचहु मिलि लूटै ॥रहाउ॥
हम बड़ कवि कुलीन हम पंडित, हम जोगी संनिआसी।
गिआनी गुनी सूर हम दाते, इह बुधि कबहि न नासी ॥२॥
कहु रविदास सभै नहीं समझसि, भूलि परे जैसे बउरे।
मोहि अधारु नामु नाराइन, जीवन प्रान धन मोरे ॥३॥

अनभउ भाउ=स्वानुभूति का भाव। कंचनु हिरन=खरा सोना। बउरे=बावला, पगला।

पाठभेद—'काम क्रिोध लोभ मद माया,' 'याहु कहे मतिनासी', 'चालि परे भ्रम भोरे'।

भ्रांति तथा परमतत्व (३)

माधो भरम कैसेहु न बिलाइ, ताते द्वैत दरसै आई ॥ टेक ॥
कनक कुंडल सूत पट जुदा, रजु भुअंग भ्रम जैसा।
जल तरंग पाहन प्रतिमा ज्यों, ब्रह्म जीव दुति ऐसा ॥१॥
बिमल एकरस उपजै न बिनसै, उदय अस्त दोउ नाहीं।
बिगता बिगत घटै नहिं कबहूँ, बसत बसै सब मांही ॥२॥
निश्चल निराकार अज अनुपम, निरभय गति गोविंदा।
अगम अगोचर अच्छर अतरक, निरगुन अंत अनंदा ॥३॥
सदा अतीत ज्ञानघन बर्जित, निरविकार अविनासी।
कह रैदास सहज सुन्न सत, जिवन मुकत निधि कासी ॥४॥

पट=वस्त्र। रजु=रस्सी। प्रतिमा=देवमूर्ति। दुति=द्वैतभाव। बसत=वस्तु। अच्छर=अविनाशी। अतरक=अतर्क्य, जो तर्क-वितर्क द्वारा समझ में न आ सके। ज्ञानघन बर्जित=अज्ञेय, न जाना जाने वाला। जिवन मुकत......कासी=जीवन्मुक्त महापुरुषों के लिए काशी सदृश आधारस्थल।

भेद ज्ञान (४)

ऐसे कछु अनुभौ कहत न आवै, साहिब मिलै तो को बिलगावै ॥टेक॥
सबमैं हरि है हरि में सबहै, हरि अपनो जिन जाना।
साखी नहीं और कोइ दूसर, जाननहार सयाना ॥१॥
बाजीगर सो राचि रहा, बाजी का मरम न जाना।
बाजी झूठ सांच बाजीगर, जाना मन पतियाना ॥२॥
मन थिर होइ त कोइ न सूझै, जानै जाननहारा।
कह रैदास बिमल विवेक सुख, सहज सरूप संभारा ॥३॥

बिलगावै=पृथक् होना चाहेगा।

आर्त्तगति (५)

ज्यों तुम कारन केसवे, अंतर लव लागी।
एक अनूपम अनुभवी, किमि होइ बिरागी ।।टेक।।
एक अभिमानी चातृगा, बिचरत जगमांही।
यद्यपि जल पूरन मही, कहूं वा रुचि नाहीं ।।१।।
जैसे कामी देखि कामनी, हृदय सूल उपजाई।
कोटि बेदविधि ऊचरै, बाकी बिथा न जाई ।।२।।
जो तेहि चाहै सो मिलै, आरतगति होई।
कह रैदास यह गोप नहिं, जानै सब कोई ।।३।।

लव ध्यान, अनुरक्ति। बिथा काम-व्यथा या काम की पीड़ा। आरत-गति अनन्य भाव के साथ।

अनन्य भक्ति (६)

संतो अनिन भगति यह नाहीं।
जब लग सिरजत मन पाँचों गुन ब्यापत है या माही ।।टेक।।
सोई आन अंतर करि हरि सों, अपमारग को आनै।
काम क्रोध मद लोभ मोह की, पल पल पूजा ठानै ।।१।।
सत्य सनेह इष्ट अंग लावै, अस्थल अस्थल खेलै।
जो कछु मिलै आन आखत सों, सुत दारा सिर मेलै ।।२।।
हरिजन हरिहि और न जानै, तजै आन तन त्यागी।
कह रैदास सोइ जन निर्मल, निसदिन जो अनुरागी ।।३।।

अनिन=अनन्य। जब......सिरजत=जब तक मन की प्रवृत्तियाँ चंचल रहा करती हैं। सोई......सों वही मन हरि मे विलग होकर। आन आखत=अन्न तथा अक्षत, अर्थात् चावल इत्यादि।

बाह्य पूजन (७)

दूधु बछरै थनहु बिटारिउ। फूलु भँवरि, जलु मीनि बिगारिउ ।।१।।
माई गोबिंद पुजा कहालै चरावउ। अवरु न फूलु अनूपुन पावउ ।।रहाउ।।
मैलागर बेर्हे है भुइअंगा। बिषु अंम्रितु बसहिं इक संगा ।।२।।
धूपदीपनई बेदहि बासा। कैसे पूज करहि तेरी दासा ।।३।।
तनु मनु अरपउ पूज चरावउ। गुर परसादि निरंजनु पावउ ।।४।।
पूजा अरचा आहि न तोरी। कहि रविदास कवन गति मोरी ।।५।।

बिटारिउ=जूठा कर दिया। भँवरि=भँवरे ने। चरावउ=चढ़ाऊँ। मैलागर=मलयागिरि बेर्हे लिपटे हैं। भुइअंगा भुजंग, सर्प। बासा=सूँघ लिया है। पूज पूजा।

पाठभेद—'थनहर दूध जो बछरू जुठारी', 'मलयागिर बेधियो भुअंगा', 'पूजा अरचा न जानूं तेरी', 'धूपदीप......दासा, की जगह 'मन ही पूजा मन ही धूप, 'मन ही लेउं सहज सरूप' पाठ भी आता है।'

ध्यान की साधना (८)

ऐसा ध्यान धरौं बरो बनवारी। मन पवन दै सुखमन नारी ।।टेक।।
सो जप जपौं जो बहुरि न जपना। सो तप तपौं जो बहुरि न तपना ।।१।।
सो गुरु करौं जो बहुरि न करना। ऐसो मरौं जो बहुरि न मरना ।।२।।
उलटी गंग जमुन में लावौं। बिनही जल मंजन द्वै पावौं ।।३।।
लोचन भरि भरि बिंब निहारौं। जोति बिचारि न और बिचारौं ।।४।।
पिंड परे जिव जिस घर जाता। सबद अतीत अनाहद राता ।।५।।
जापर कृपा सोई भल जानै। गूंगो साकर कहा बखानै ।।६।।
सुन्न महल में मेरा बासा। ताते जिव में रहौं उदासा ।।७।।
कह रैदास निरंजन ध्यावौं। जिस घर जावं सो बहुरि न आवौं ।।८।।

बरो=पूजन करता हूँ। मंजन द्वै=दो नदियों के स्नान का पुण्य। साकर=शर्करा, चीनी।

परमतत्वानुभूति (९)

गाइ गाइ अब का कहि गाऊँ। गावनहार को निकट बताऊँ ।।टेक।।
जब लग है या तनकी आसा, तब लग करै पुकारा।
जब मन मिल्यो आस नहिं तन की तबको गावनहारा ।।१।।
जब लग नदी न समुंद समावै, तब लग बढ़ै हंकारा।
जब मन मिल्यो रामसागर सों, तब यह मिटी पुकारा ।।२।।
जब लग भगति मुकति की आसा, परम तत्त्व सुनि गावै।
जहं जहं आस धरत है यह मन, तहं तहं कछु न पावै ।।३।।
छाड़ै आस निरास परम पद, तब सुख सति कर होई।
कह रैदास जासों और करत है, परम तत्त्व अब सोई ।।४।।

हंकारा=टेर, चिल्लाहट। सुनि=सुनता है।

आत्म-निवेदन (१०)

नरहरि चंचल है मति मेरी। कैसे भगति करूं मैं तेरी ।।टेक।।
तूं मोहिं देखै हौं तोहि देखूं, प्रीति परस्पर होई।
तूं मोहिं देखै तोहि न देखूं, यह मति सब बुधि खोई ।।१।।
सब घट अंतर रमसि निरंतर, मैं देखन नहिं जाना।
गुन सब तोर मोर सब औगुन, कृत उपकार न माना ।।२।।
मैं तैं तोरि मोरि असमझि सों, कैसे करि निस्तारा।
कह रैदास कृस्न करुनामय, जै जै जगत अधारा ।।३।।

यह...खोई=यह तो सभी प्रकार से गई गुजरी भावना है। असमझि सों=नासमझी से।

वही (११)

तोही मोही मोही तोही अंतर कैसा। कनिक कटिक जल तरंग जैसा ॥१॥
जउपै हमन पाप करंता, अहे अनंता। पतित पावन नाम कैसे हुंता ॥रहाउ॥
तुम जु नाइक आछहु अंतरजामी। प्रभते जनु जानीजै जनते सुआमी ॥२॥
सरीरु अराधै बीकउ बीचारु देहू। रविदास समदल समझावै कोऊ ॥३॥

कनि कटिक=सोने एवं सोने के कड़े में। हुंता=होता।

पाठभेद—'अंतर ऐसा', 'देवा हमन पाय करंत अनंता', 'मैं केई नर तुहि अंतर-जामी', 'तुम सबन में सब तुम माही, रैदास दास असमझि सी कहांही'।

वही (१२)

जउ हम बांधे मोह फांस, हम प्रेम बंधनि तुम बांधे।
अपने छूटनको जतनु करहु, हम छटे तुम अराधे ॥१॥
माधवे, जानत हहु जैसी तैसी, अब कहा करहुगे ऐसी ॥रहाउ॥
मीनु पकरि फांकिउ अरु काटिउ, रांधि कीउ बहुबानी।
षंड षंड करि भोजन कीनो, तऊ न बिसारिउ पानी ॥२॥
आपन बापै नाहीं किसी को, भावन को हरि राजा।
मोह पटलु सभु जगतु बिआपिउ, भगत नहीं संतापा ॥३॥
कहि रविदास भगति इक बाढ़ी, अब इह कासिउ कहीऐ।
जा कारनि हम तुम अराधे, सो दुषु अजहूं सहीऐ ॥४॥

जैसी तैसी =वास्तविक स्थिति। फांकिउ=चीरी गई। बहुबानी=अनेक प्रकार से।

पाठभेद—'तैं हमें बाधे मोह फाँसी से, हम तोको प्रेम जेवरिया बाँधे', 'राम-राय का कहिये यह ऐसी', बांटि कियो बहु घानी', 'अब काको डर डरिये', 'जा डर को हम तुमको सेवों'।

वही (१३)

जउ तुम गिरिवर तउ हम मोरा। जउ तुम चंद तउ हम भए हैं चकोरा ॥१॥
माधव तुम न तोरहु तउ हम नहीं तोरहिं।
तुमसिउ तोरि कवनसिउ जोरहिं ॥रहाउ॥
जउ तुम दीवरा तउ हम बाती। जउ तुम तीरथ तउ हम जाती ॥ २ ॥
साची प्रीति हम तुमसिउ जोरी। तुमसिउ जोरि अवरसंगि तोरी ॥ ३ ॥
जहं जहं जाउ तहां तेरी सेवा। तुमसों ठाकुरु अउरु न देवा ॥ ४ ॥
तुमरे भजन कटहि जम फांसा। भगति देत गावै रविदासा ॥ ५ ॥

दीवरा=दीपक। जाती=यात्री।

पाठभेद—'प्रभुजी तुम घन बन हम मोरा, जैसे चितवत चंद चकोरा', 'जाकी जोति बरै दिनराती।'

वही (१४)

जब हम होते तब तू नहीं, अब तूंही मैं नाहीं ।
अनल अगम जैसे लहरि मइओदधि, जल केवल जल मांही ।।१।।
माधवे, किआ कहीअै भ्रमु अैसा । जैसा मानीअै होइ न तैसा ।।रहाउ।।
नरपति एकु सिंघासनि सोइआ, सुपने भइआ भिषारी ।
अछत राज बिछुरत दुषु पाइआ, सो गति भई हमारी ।।२।।
राज भुइअंग प्रसंग जैसे हहि, अब कछु मरमु जनाइआ ।
अनिक कटक जैसे भूलि परे अब, कहते कहनु न आइआ ।।३।।
सरबे एकु अनेकै सुआमी, सभ घट भोगवै सोई ।
कहि रविदास हाथपै नेरै, सहजे होइ सु होई ।।४।।

होत=थे । अनल अगम=बड़वानल, समुद्र की आग । मइओदधि=महोदधि, समुद्र । अछत=रहते हुए भी । राज भुइअंग प्रसंग=सर्प तथा जेंवरी का दृष्टांत ।

पाठभेद—'जब हम हुते तबै तुम नाहीं, अब तुम हो हम नाहीं', 'सरिता गवन कियो लहर महोदधि', 'नरपति एक सेज सुख सूता', 'समुझि परी मोहि कनक अलंकृत', 'करता एक जाय जग भुगता', 'कह रैदास भगति एक उपजी' ।

वेदना-रहस्य (१५)

सहकी सार सुहागनि जानै, तजि अभिमानु सुष रलीआ मानै ।
तनु मनु देइ न अंतरु राषै, अवरा देषि न सुनै अभाषै ।।१।।
सो कत जानै पीर पराई । जाकै अंतरि दरदु न आई ।।रहाउ।।
दुषी दुहागनि दुइ पष हीनी । जिनि नाह निरंतरि भगति न कीनी ।
पुरष लात का पंथु दुहेला । संगि न साथी गवनु इकेला ।।२।।
दुषीआ दरदवंदु दरि आइआ । बहुतु पिआस जवाबु न पाइआ ।
कहि रविदास सरनि प्रभ तेरी । जिउ जानहु तिउ करु गति मोरी ।।३।।

सहकी सार=साथ रहने का आनंद । रलीआ=रमण में । पुरष लात=परमात्मा में रत ।

पाठभेद—'सुख की सार सुहागिन जानै', 'स्याम प्रेम का पंथ दुहेला', 'बहुत उमेद जवाब न पाया ।'

अपनी दशा (१६)

पावन जस माधो तेरा, तुम दारुन अघ मोचन मेरा ।।टेक।।
कीरति तेरी पाप बिनासे, लोक वेद यों गावे ।
जो हम पाप करत नहिं भूधर, तौ तूं कहा नसावे ।।१।।
जब लग अंग पंक नहिं परसै, तौ जल कहा पखारै ।
मन मलीन विषया रस लंपट, तौ हरि नाम संभारै ।।२।।

जो हम बिमल हृदय चित अंतर, दोष कवन पर धरिहौ।
कह रैदास प्रभु तुम दयाल हो, अबंध मुक्ति का करिहौ ॥३॥

अबंध=जो बंधन में नहीं है उसको।

कठिनाई (१७)

सब कछु करत कहौ कछु कैसे। गुन विधि बहुत रहत ससि जैसे ॥टेक॥
दरपन गगन अनिल अलेप जस। गंध जलधि प्रतिबिंब देखि तस ॥१॥
सब आरंभ अकाम अनेहा। विधि निषेध कीयो अनेकेहा ॥२॥
यह पद कहत सुनत जेहि आवै। कह रैदास सुकृत को पावै ॥३॥

अनिल = हवा। अनेकेहा=अनेक प्रकार के। सुकृति को पावै = सुकृती है।

अपनी समस्या (१८)

तेरे देव कमलापति सरन आया। मुझ जनम संदेह भ्रम छेदि माया ॥टेक॥
अति अपार संसार भवसागर, जामे जनम मरना संदेह भारी।
काम भ्रम क्रोध भ्रम लोभ भ्रम मोह भ्रम, अनत भ्रम छेदि मम करसि यारी ॥१॥
पंचसंगी मिलि पीड़ियो प्रान यों, जाय न सक्यों बैराग भागा।
पुत्र वरग कुल बंधु ते भारजा, भखै दसो दिसा सिर काल लागा ॥२॥
भगति चितऊं तो मोह दुख व्यापही, मोह चितऊं तो मेरी भगति जाई।
उभय संदेह मोहि रैन दिन व्यापही, दीन दाता करूँ कवन उपाई ॥३॥
चपल चेतो नहीं बहुत दुख देखियो, काम बस मोहिहो करम फंदा।
सक्ति सम्बंध कियो ज्ञान पद हरि लियो, हृदय विस्वरूप तजि भयो अंधा ॥४॥
परम प्रकास अविनासी अघ मोचना, निरखि निज रूप बिसराम पाया।
बदत रैदास वैराग पद चिंतना, जपौ जगदीस गोविंद राया ॥५॥

यारी=हे मेरे मित्र तथा सहायक। पंचसंगी = पाँच कर्मेन्द्रियाँ। चपल=चंचल, शीघ्र।

विनय (१९)

दरसन दीजै राम, दरसन दीजै। दरसन दीजै विलंब न कीजै ॥टेक॥
दरसन तोरा जीवन मोरा। बिन दरसन क्यों जिवै चकोरा ॥१॥
साधो सतगुरु सब जग चेला। अबके बिछुरे मिलन दुहेला ॥२॥
धन जोबन की झूठी आसा। सत सत भाषै जन रैदासा ॥३॥

दैन्य भाव (२०)

तुम चंदन हम इरंड बापुरे, संगि तुमारे बासा।
नीच रूप ते ऊँच भए हैं, गंध सुगंध निवासा ॥१॥
माधउ, सत संगति सरनि तुम्हारी। हम अउगन तुम उपकारी ॥रहाउ॥
तुम मखतूल सुपेद सपीअल, हम बपुरे जस कीरा।
सत संगति मिलि रहीअै माधउ जैसे मधुप मखीरा ॥२॥

जाती ओछा पाती ओछा, ओछा जनमु हमारा।
राजा राम की सेवन कीन्ही, कहि रविदास चमारा ॥३॥

इरंड =रेंड। अउगन =अवगुणों से भरा हुआ। मषतूल =रेशम। सुपेद सपी-अण =शुभ्रश्वेत। मधुपमषीरा =मधुमक्खी।

पाठभेद—'तुम मखतूल चतुरभुज'।

विनय (२१)

कूपु भरिओ जैसे दादिरा, कछु देस विदेस न बूझ।
असे मेरा मनु विषिआ विमोरिआ, कछु आरापार न सूझ ॥१॥
सगल भवन के नाइका, एक छिनु दरस दिषाइजी ॥रहाउ॥

मलिन भई मति माधवा, तेरी गति लषी न जाइ।
करहु क्रिया भ्रमु चूकई, मैं सुमति देहु समझाइ ॥२॥

जोगीसर पावहि नहीं, तुअ गुण कथन अपार।
प्रेम भगति के कारणे, कहु रविदास चमार ॥३॥

दादिरा = दादुर, मेढक। मैं=मुझे।

तेरा जन (२२)

कहा भइओ जउ तनु भइओ छिनु छिनु। प्रेम जाइ तउ डरपै तेरो जनु ॥१॥
तुझहि चरन अरविंद भवन मनु। पान करत पाइओ पाइयो रामईआ धनु ॥रहाउ॥
संपति विपत पटल माइआ धनु। तामहि मगन होत न तेरो जनु ॥२॥
प्रेम की जेवरी बाधिओ तेरो जन। कहि रविदास छूटिबो कवन गुन ॥३॥

भवन =भँवर। पटल =आवरण। गुन =योग्यता के द्वारा।

नाम-महत्व (२३)

सुष सागरु सुरतर चिंतामनि कामधेनु बसि जाके।
चारि पदारथ असट दसा सिधि, नवनिधि करतल ताके ॥१॥
हरि हरि हरि न जपहि रसना। अवर सभि तिआगि बचन रचना ॥रहाउ॥
नाना षिआन पुरान वेद विधि, चउतीस अषर मांही।
बिआस विचार कहिउ परमारथु, रामनाम सरि नाहीं ॥२॥
सहज समाधि उपाधि रहत फुनि, बडै भागि लिव लागी।
कहि रविदास प्रगासु रिदै धरि, जनम मरन मै भागी ॥३॥

षिआन =आख्यान। चउतीस...माही =वर्णमाला के ही अंतर्गत। बिआस= व्यासदेव। सरि =समान। रहत= रहित।

नश्वरता (२४)

जलकी भीति पवन का थंभा, रकत बुंद का गारा।
हाड मांस नाडी को पिंजरु, पंषी बसै बिचारा ।।१।।
प्रानी किया मेरा किआ तेरा। जैसा तरवर पंषि बसेरा ।।रहाउ।।
राषहु कंध उसारहु नीवां। साढ़े तीनि हाथ तेरी सीवां ।।२।।
बंके बाल पाग सिर डेरी। इक तनु होइगो भसम की ढेरी ।।३।।
ऊँचे मंदर सुंदर नारी। राम नाम बिनु बाजी हारी ।।४।।
मेरी जाति कमीनी, पांति कमीनी, ओछा जनमु हमारा।
तुम सरनागति राजा राम, कहि रविदास चमारा ।।५।।

पिंजरु=पंजर, शरीर। उसारहु=उठाते हो। डेरी=टेढ़ी।

अपनी अभिलाषा (२५)

चित सिमरनु करउ नैन अविलोकनो, स्रवन बानी सुजसु पूरि राषउ।
मनु सु मधुकरु करउ चरन हिरदे धरउ, रसन अंम्रित रामनाम भाषउ ।।१।।
मेरी प्रीति गोबिंद सिउ जिनि घटै, मैं तउ मोलि महँगी लई जीअ सटै ।।रहाउ।।
साध संगति बिना भाउ नहीं ऊपजै, भाव बिनु भगति नहीं होइ तेरी ।।२।।
कहै रविदास इक वेनती हरि सिउ, पैज राषहु राजा राम मेरी ।।३।।

अविलोकनो=अवलोकन करना, देखना। जीअ सटै=प्राणों के बदले में।

दैन्य भाव (२६)

नाथ कछूअ न जानउ। मनु माइआ कै हाथि बिकानउ ।।रहाउ।।
तुम कहीअत है जगतपुर सुआमी। हम कहीअत कलिजुग के कामी ।।१।।
इन पंचन मेरो मनु जु बिगारिउ। पलु पलु हरिजी ते अंतरु पारिउ ।।२।।
जत देषउ तत दुष की रासी। अजैं न पत्याइ निगम भए साषी ।।३।।
गोतम नारि उमापति स्वामी। सीसु धरनि सहस भगगामी ।।४।।
इन दूतन षलु बधु करि मारिउ। बडो निलाजु अजहूँ नहीं हारिउ ।।५।।
कहि रविदास कहा कैसे कीजै। बिनु रघुनाथ सरनि कांकी लीजै ।।६।।

पंचन=पाँचों शत्रुओं ने। गोतम नारि=अहल्या जिसके साथ इंद्र ने छल से भोग किया था।

चेतावनी (२७)

जो दिन आवहि सो दिन जाही, करना कूचु रहनु थिरु नाही।
संगु चलत है हम भी चलना, दूरि गवनु सिर ऊपरि मरना ।।१।।
किआ तू सोइआ जागु इआना। तै जीवनु जगि सचु करि जाना ।।रहाउ।।
जिनि जीउ दीआ सु रिजकु अंबरावै, सभ घट भीतरि हाटु चलावै।
करि बंदिगी छाडि मैं मेरा, हिरदै नामु संभारि सबेरा ।।२।।

जनमु सिराने पंथु न संवारा, सांझ परी दह दिसि अंधिआरा।
कहि रविदास निदानि दिवाने, चेतसि नाही दुनीआ फन षाने ।।३२।।

रिजकु अंबरावै=रोजी का इंतिजाम करता है। संवारा=सँभाला। कहि...... षाने=रैदासजी कहते हैं कि तू नितांत मूख है, तुझे सांसारिकता की हानि समझ में नहीं आती।

स्तुति (२८)

दारिदु देषि सभको हँसै, अैसी दसा हमारी।
असट दसा सिधि करतलै, सभ क्रिपा तुम्हारी ।।१।।
तू जानत मैं किछु नहीं भव षंडन राम।
सगल जीअ सरनागती प्रभ पूरन काम ।।रहाउ।।
जो तेरी सरनागता तिन नाही भारु। ऊँच नीच तुमते तरे आलजु संसारु ।।२।।
कहि रविदास अकथ कथा बहु काइ करीजै।
जैसा तू तैसा तुही किआ उपमा दीजै ।।३।।

साखी

हरि सा हीरा छाड़िकैं, करै आन की आस।
ते नर जमपुर जाहिंगे, सत भाषै रैदास ।। १ ।।
रैदास कहै जाके हृदै, रहै रैन दिन राम।
सो भगता भगवंत सम, क्रोध न व्यापै काम ।। २ ।।
जा देखे घिन ऊपजै, नरक-कुंड में वास।
प्रेम भगति सों ऊधरे, प्रगटत जन रैदास ।। ३ ।।

संत कमाल

संत कमाल कबीर साहब के औरस पुत्र एवं शिष्य थे। वे एक पहुँचे हुए फकी भी थे, किन्तु उनके जीवन की घटनाएँ अभी तक विदित नहीं हैं। प्रसिद्ध है कि कबी साहब ने इन्हें संतमत प्रचार के लिए अहमदाबाद की ओर भेजा था और दादूदयाल क गुरु-परम्परा में भी इनका नाम आता है। इनकी कुछ रचनाओं द्वारा इनके कबीर-पु होने एवं पंढरपुर के पुण्य-क्षेत्र से परिचित होने की बात भी सिद्ध होती है। ये उन अपने को मुस्लिम जाति का होना भी स्वीकार करते हैं और उधर के विट्ठलनाथ तथ वारकरी संप्रदाय के भक्तों के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करते हुए-से जान पड़ते हैं। कह जाता है कि ये सदा अविवाहित ही रह गए। इनका सारा जीवन एक शुद्ध सतोगुण विरक्त साधु का जीवन रहा जिसे इन्होंने अपने उच्च सिद्धांतों के ही अनुसार व्यती किया। कबीर साहब का देहांत हो जाने के अनंतर उनके नाम पर इन्होंने किसी पंथ क चलाना अस्वीकार कर दिया था। इस कारण, इनके लिए 'बूड़ा बंस कबीर का उपज पूत कमाल' जैसी उक्तियाँ तक प्रसिद्ध हो चलीं, किन्तु इन्होंने इस बात की रंचमात्र भ

परवा नहीं की। इनकी जीवनी के लिखने वालों ने इनके कई चमत्कारों का भी उल्लेख किया है। फिर भी इनके जन्म एवं मरण की तिथियाँ अभी तक अज्ञात हैं। इनकी एक समाधि मगहर में कबीर साहब की समाधि के ही निकट वर्तमान है।

संत कमाल की रचनाओं का अभी तक कोई प्रामाणिक संग्रह प्रकाशित नहीं है। इनकी फुटकर बानियों के देखने से प्रतीत होता है कि इनकी विचारधारा का भी मूलस्रोत कबीर साहब के ही निर्मल जलाशय से मिला हुआ था। ये बाह्य विडंबनाओं से सदा दूर रहते रहे और उन्हीं की भाँति, शुद्ध, निष्कपट तथा स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने का उपदेश भी देते रहे। ये उन्हीं की भाँति खरी-चुटीली बातों के कहने में भी निपुण हैं, किन्तु अपने आचरण में ये सदा नम्र भाव के व्यवहार करते जान पड़ते हैं। इनकी उपलब्ध रचनाओं में खड़ीबोली का व्यवहार अधिक दीख पड़ता है और उनमें फारसी तथा अरबी शब्द पाये जाते हैं।

पद

चेतावनी (१)

इतना जोग कमाय के साधू, क्या तूने फल पाया।
जंगल जाके खाक लगाये, फेर चौरासी आया ॥१॥
राम भजन है अच्छा रे, दिलमों रखो सच्चा रे ॥ध्रुव॥
जोग जुगत की गत है न्यारी, जोग जहर का प्याला।
जीने पावे उने छुपावे, वोही रहे मतवाला ॥२॥
जोग कमाय के बाबू होना, ये तो बड़ा मुष्कल है।
दोनों हात जब निकल गये, फेर सुधरन भी मुष्कल है ॥३॥
सुख से बैठो आपने मेहलमो, राम भजन अच्छा है।
कछु काया झीजे नहीं खरचे, ध्यान धरो सोइ सच्चा है ॥४॥
कहत कमाल सुनो भाई साधू, सब से पंथ न्यारा है।
वेद शास्तर की बात येही, जमके माथा फत्तर है ॥५॥

जीने...छुपावे = जिसने पाया है, उसी ने छिपा रखा है। झीजे = छीजे, नष्ट हो। फत्तर = पत्थर।

वही (२)

ये तनु किसोकी किसोकी। आखर बस्ती जंगलकी ॥ध्रु०॥
काहे कू दिवाने सोस करे, मेरी माता और पुती।
ये तो सब झुट पसारा, राम करो अपना साती ॥१॥
खाये पिये सुख से बैठे, फेर उठके चले जाती।
बरख की छाया सुख की मीठी, एक घड़ी का साती ॥२॥
कहतकमाल सुनो भाई साधू, सपन भया राती।
खिन मो राजा खिन मो रङ्क, ऐसी रहा चलाती ॥३॥

सोस = सोच। साती = साथी। राती = रत, मग्न। रहा = राह, मार्ग।

आदर्श आचरण (३)

पीर पैगम्बर की बानी, यारो बस्त भयो निर्बानी ।।ध्रु०।।
राजा रंक दोनों बराबर, जैसे गंगाजल पानी ।
मार करो कुई मूपर मारो, दोनों मीठा बानी ।।१।।

कांचन नारी जहर सम देखें, न पसरे ह्वा पानी ।
साधु संत से शीश नमावे, हात जोरकर निर्बानी ।।२।।

कहत कमाल सुनो भाई साधू, येही हमारी बानी ।
ये ही ग्यान मन मो राखो, और कछू न जानी ।।३।।

बस्त...निर्बानी=परमतत्त्व की वस्तु हो गई है। मूपर=मुँह पर। बानी=ढंग के। ह्वा=हवा। बानी=कथन।

उपदेश (४)

राम सुमरो, राम सुमरो, राम सुमरो भाई।
कनक कांता तजकर बाबा, आपनी बादशाही ।।१।।
देश बदेस तीरथ बरतमें, कछु नहीं काम ।
बैठे जगा सुख से ध्यावो, अखिल राजाराम ।।२।।

कहे कमाल इतना बचन, पुरानों का सार ।
झूठा सच्चा आपनो दिलमो, आपही आप पछानन हार ।।३।।

जगा=अपने स्थान पर। पछाननहार=पहचान करने वाला।

धन्ना भगत

धन्नाजी की कुछ पंक्तियों के अनुसार जान पड़ता है कि वे उनके पहले नामदेव, कबीर, रविदास एवं सेन नाई नामक संतों का आविर्भाव हो चुका था। उनके महत्त्व एवं त्याग की कथाओं से प्रभावित होकर ही, इन्होंने भी भक्ति-साधना के क्षेत्र में पदार्पण किया था। कबीर, सेन नाई, रविदास तथा पीपाजी की भाँति इनकी भी गणना स्वामी रामानन्द के शिष्यों में की जाती है। इनका जन्म-स्थान राजस्थान के टांक इलाके का धुअनगाँव समझा जाता है। इनकी जाति कृषि व्यवसायोपजीवी जाटों की कही जाती है। मेकालिफ साहब ने इनके जन्म का संवत् १४७२ ठहराया है जो कुछ पहले जाता हुआ जान पड़ता है। सभी बातों पर विचार कर लेने पर ये विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के प्रथम वा द्वितीय चरण से पहले के नहीं ठहरते। ये एक भोली बुद्धि के किसान समझ पड़ते हैं। इनके सम्बन्ध में अनेक चमत्कारपूर्ण कथाएँ प्रसिद्ध हैं जिनमें से एक के अनुसार इन्होंने भगवान की मूर्ति को हठात् भोजन कराया था। एक दूसरी के अनुसार इन्होंने, एक बार, खेत में डालने के लिए सुरक्षित गेहूँ के बीज को अपने घर आये हुए हरिभक्तों को खिला दिया था और अपने पिता के क्रुद्ध होने के भय से खेत में जाकर ये योंही हल चला आए थे। 'भक्तमाल' के रचयिता नाभादास का कहना है कि इनके भजन का प्रभाव ऐसा था कि उस खेत में बिना बोये ही बीज उग आये और उसकी फसल भी बहुत अच्छी हुई।

सिखों के 'आदिग्रन्थ' में इनके केवल चार पद संगृहीत हैं जो 'धनसारी' एवं 'आसा' नामक रागों के अंतर्गत दिये गए हैं। इन रचनाओं में इनके आध्यात्मिक जीवन एवं गार्हस्थ्य-जीवन के आदर्शों की अच्छी झलक मिलती है। इन्हें भगवान की दयालुता में पूर्ण विश्वास है और इनका हृदय अत्यन्त सरल, शुद्ध एवं छलरहित है। इनकी भाषा भी इनके भावों का ही अनुसरण करती है और इनकी कथन-शैली की विशेषता भी इसी कारण, उसके सीधे-सादे एवं स्पष्ट होने में दीख पड़ती है।

पद

भक्ति क्यों अपनायी (१)

गोबिंद गोबिंद गोबिंद संगि नामदेउ मनु लीणा।
आढ दाम को छीपरो होइउ लाषीणा ॥रहाउ॥

बुनना तनना तिआगिकै, प्रीति चरन कबीरा।
नीच कुला जोलाहरा भइउ गुनीय गहीरा ॥१॥

रबिदासु ढुवंता ढोरनी, तिन्हि तिआगी माइआ।
परगटु होआ साधसंगि, हरि दरसनु पाइआ ॥२॥

सैनु नाई बुतकारीआ, उहु घरिघरि सुनिआ।
हिरदे बसिआ पारब्रह्म भगता महि गनिआ ॥३॥

इह बिधि सुनिकै जाटरो, उठि भगती लागा।
मिले प्रतषि गुसाईआं, धंना बड़भागा ॥४॥

आढ़...लाषीणां=साधारण-सी आर्थिक स्थिति का छीपी लखपती की कोटि का हो गया। गुनीय गहीरा=गम्भीर गुणों से सम्पन्न हो गया। रबिदासु...माइआ=ढोरों का व्यवसायी रैदास चमार विरक्त बन गया। बुतकारीआ=प्रेमी हो गया।

अपनी बात (२)

भ्रमत फिरत बहुत जनम बिलाने, तनु मनु धनु नहीं धीरे।
लालच बिषु काम लुबध राता, मनि बिसरे प्रभही रे ॥रहाउ॥

बिषु फल मीठ लगे मन बउरे, चार बिचार न जानीआ।
गुन ते प्रीति बढ़ी अनभांती, जनम मरन फिरि तानिआ ॥१॥

जुगति जानि नही रिदै निवासी, जलत जाल जम फंध परै।
बिषु फल संचि भरे मन अैसे, परम पुरष प्रभ मन बिसरे ॥२॥

गिआन प्रवेस गुरहि धनु दीआ, धिआनु मानु मन एकमए।
प्रेम भगति मानी सुषु जानिआ, त्रिपति अघाने मुकति भए ॥३॥

जोति समाए समानी जाकै, अछली प्रभु पहिचानिआ।
धंनै धनु पाइआ धरणीधरु, मिलि जन संत समानिआ ॥४॥

गुनते...तानिआ=गुणादि में निरत रह कर आवागमन के फेर में पड़ गए। एकमए=एकमय। अछली=छल रहित भाव से।

चेतावनी (३)

रे चित चेतसि कीन दयाल, दमोदर विर्वाहित जानसि कोई ।
जे धावहि षंड ब्रहिमंड कउ, करता करै सु होई ।।रहाउ।।
जननी केरे उदर उदक महि, पिंडु कीआ दस दुआरा ।
देइ अहारु अगनि महि राषैं, अैसा षसमु हमारा ।।१।।

कुंभी जल माहि तन तिसु, बाहरि पंष षीरु तिन्ह नाही ।
पूरन परमानन्द मनोहर, समझि देषु मद माही ।।२।।
पाषणि कीटु गुपतु होइ रहता, ताचो मारगु नाही ।
कहे धंना पूरन ताहू को, मतरे जाअ डराही ।।३।।

कोन=क्यों नहीं। विवहित=छोड़ कर (?)। पाषणि कीटु=पत्थर का कीड़ा।

प्रार्थना (४)

गोपाल तेरा आरता। जो जन तुमरी भगति करंने,
तिनके कांज सँवारता ।।रहाउ।।

दालि सीधा माँगउ घीउ, हमरा षुसी करै नित जीउ ।
पन्ही आछादनु नीका, अनाज मंगउ सतसीका ।।१।।

गऊ भैस माँगउ लावेरी, इक ताजनि तुरी चंगेरी ।
घर की गीहनि चंगी, जनु धंना लेवै मंगी ।।२।।

पन्ही=जूते। आछादनु=वस्त्र। सतसीका=अच्छा। लावेरी=दुधार। ताजनि ...चंगेरी=अच्छी तेज घोड़ी। गीहनि चंगी= सुन्दर गृहिणी वा पत्नी।

(सं० १५५० सं० १७००)

सामान्य परिचय

कबीर साहब तथा उनके समसामयिक संतों के समय तक संतमत के किसी संगठित प्रचार-कार्य का पता नहीं चलता। प्रत्येक संत अपने अनुभव की बातों को देशाटन एवं सत्संग के ही द्वारा यत्र-तत्र प्रकट कर दिया करता था। उसकी बानियों से प्रभावित होकर बहुत-से व्यक्ति उसके सम्पर्क में रहने लगते थे और उसे गुरुवत् मानकर उससे उपदेश भी ग्रहण करते थे। ऐसे लोग उसकी बानियों को बहुधा लिख वा कंठस्थ भी कर लिया करते थे। इस प्रकार उनका संग्रह भी होता रहता। किसी संत के किसी व्यक्ति को विधिवत् दीक्षा प्रदान करने अथवा उसे अपने पीछे का उत्तराधिकारी बना कर अपने मत का प्रचार करने के लिए आदेश दे जाने आदि का कोई विवरण आज तक उपलब्ध नहीं। उस समय के संतों के नामों पर जो विविध पंथ वा सम्प्रदाय चलते हुए दीख पड़ते हैं, उनमें से किसी का भी इतिहास उस काल तक जाता नहीं जाना पड़ता।

कबीर साहब के समय संतमत का प्रधान केन्द्र काशी क्षेत्र हो रहा था और वहीं से प्रेरणा पाकर उसका प्रचार अन्यत्र होना भी सम्भव था। परन्तु गुरु नानकदेव (सं० १५२६-१५९५) के समय से उसका एक अन्य प्रमुख केन्द्र पंजाब प्रान्त भी हो गया। वहाँ से उसका प्रचार-कार्य सिखधर्म के अनुयायियों द्वारा सुव्यवस्थित रूप से चलने लगा। फिर तो गुरु नानकदेव की ही भाँति राजस्थान प्रान्त में दादूदयाल एवं हरिदास ने क्रमशः दादूपंथ और निरंजनी सम्प्रदाय को प्रवर्तित वा सुसंगठित किया। उसी प्रकार मध्यप्रदेश एवं उत्तरप्रदेश में भी क्रमशः कबीर पंथ और मलूक पंथ का भी सूत्रपात हो गया। जान पड़ता है कि राजस्थान के एक अन्य संत जंभनाथ ने भी गुरु नानकदेव के समय में अपना विश्नुई सम्प्रदाय चलाया था। हरिदास निरंजनी की समकालीन बाबरी साहिबा ने अपना बाबरी-पंथ दिल्ली के निकट प्रवर्तित किया था।

संत-परम्परा के इतिहास के इस मध्ययुग के संतों के उद्‌गारों तथा उपदेशों का लिखित रूप में रखा जाना भी आरम्भ हो गया। उनके श्रद्धालु शिष्यों के लिए उनकी विविध बानियों को संगृहीत कर उन्हें सुरक्षित रखना भी एक पुनीत कर्त्तव्य-सा हो गया। तदनुसार गुरु नानकदेव एवं दादूदयाल की शिष्य-परम्परा के लोगों ने इस ओर विशेष ध्यान देकर ऐसे रचना-संग्रहों के निर्माण की एक परिपाटी-सी चला दी। इस प्रकार संत-साहित्य की रचना के साथ-साथ उसकी सुरक्षा का भी प्रबन्ध हो गया। ऐसे संग्रहों में कभी-कभी अपने पंथों वा सम्प्रदायों के प्रवर्तकों और प्रचारकों के अतिरिक्त उन अन्य ऐसे संतों की भी रचनाएँ सम्मिलित कर ली जाती थीं जिनकी विचारधारा की उन नवसगठित संस्थाओं के मत से न्यूनाधिक समानता रहा करती थी। इस कारण उनके द्वारा कतिपय ऐसी कृतियाँ भी सुरक्षित हो गईं जो केवल कंठस्थ रहने के कारण, बहुत पहले ही खो गई होती अथवा जिनके लिखित रूप में रहने पर भी, हम उन्हें

कदाचित् प्राप्त नहीं कर पाते। इस काल से न केवल संतमत के प्रचार-क्षेत्र का ही विस्तार हुआ, अपितु उसके साधनों में भी वृद्धि हो चली।

प्रचार-क्षेत्र के विस्तार के साथ-साथ इस समय की रचनाओं पर उसके निवासियों की भाषा का भी प्रभाव कुछ-न-कुछ पड़ा। यद्यपि कबीर साहब तथा गुरु नानकदेव एवं दादूदयाल की कथन-शैलियाँ मूलतः एक ही प्रकार की थीं और ये दोनों संत भी उन्हीं की भाँति प्रधानतः पदों और साखियों के ही माध्यम से अपने उपदेश देते रहे, तथापि उनकी भाषा उनके स्थानानुसार बहुत कुछ भिन्न हो गई थी। इस दृष्टि से कुछ अन्तर भी लक्षित होने लगा। गुरु नानकदेव की रचनाओं पर जिस प्रकार पंजाबीपन का प्रभाव पड़ा, उसी प्रकार दादूदयाल की बानियों पर भी राजस्थानी भाषा की छाप स्पष्ट दीख पड़ी और यही नियम अन्यत्र सब कहीं भी प्रचलित हो गया। यह विशेषता पहले न तो प्रारम्भिक युग के उड़ियावासी संत जयदेव के पदों में लक्षित होती थी, न महाराष्ट्री नामदेव की ही बानियों में उतनी दूर तक प्रकट हुई थी। उस समय की रचनाओं में इस विचार से बहुत कम अन्तर जान पड़ता था। मध्ययुग के पिछले डेढ़ सौ वर्षों में कुछ अन्य प्रकार की विशेषताएँ भी आ गईं जैसे कि इसके उत्तरार्द्ध की रचनाओं में जान पड़ेगा।

संत जंभनाथ

संत जंभाजी, सं० १५०८ (विक्रमी) की भादों बदि ८ को, जोधपुर के अंतर्गत नागोर इलाके के पयासर गाँव में उत्पन्न हुए थे। इनका पितृकुल परमार राजपूतों का था और ये अपनी माता की एकमात्र सन्तान थे। प्रसिद्ध है कि ये अपनी प्रायः ३४ वर्षों की वय तक एक शब्द भी नहीं बोला करते थे और अपने चमत्कारों के ही कारण, ये 'अचंभा' शब्द से 'जंभाजी' कहलाये थे। इनकी शिक्षा-दीक्षा का कुछ पता नहीं चलता, किन्तु इनकी रचनाओं में इनकी गम्भीर साधना का प्रभाव लक्षित होता है। ये अपनी योग-सम्बन्धी पहुँच के कारण 'मुनीन्द्र जम्भ ऋषि' नाम से भी प्रसिद्ध हैं और इनकी अनेक बानियों पर नाथपंथ के हठयोग का भी प्रभाव है। इन्होंने कदाचित् राजस्थान से बाहर जाकर भी अपने उपदेश दिये थे और अपने मत का नाम 'बिश्नुई सम्प्रदाय' का सिद्धान्त रखा था। इनके अनुयायी, राजस्थान प्रान्त के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश के बिजनौर, बरेली तथा मुरादाबाद जिलों में भी पाये जाते हैं। इनकी मृत्यु ८४ वर्ष की अवस्था में हुई थी।

संत जंभाजी वा जंभनाथ की केवल फुटकर रचनाएँ ही मिलती हैं। उनमें वस्तुतः देहभेद, योगाभ्यास, कायासिद्धि जैसे विषय ही अधिकतर पाये जाते हैं तथा उनकी शब्दावली भी नाथ-साहित्य के ही पारिभाषिक शब्दों से अधिक मिलती-जुलती है। जान पड़ता है कि ये संतमत के अनुयायी होने पर भी अपने नाथपंथी पूर्वसंस्कारों का पूर्ण परित्याग नहीं कर पाये थे।

पद

साधना

अजपा जपोरो अवधू, अजपा जपो। पूजो देव निरंजन थानं ॥
गगन मंडल में जोति लखाऊं। देव धरो वा ध्यानं ॥

मोह न बंधन मन परबोधक। शिक्षा से ग्यान विचारं ।।
पंच सादत कर सकसो राख्या। तो यों उतर वा पारं ।। १ ।।

पंच...राख्या=पंचेंद्रियों को वश में लाकर उन्हें सबल तथा संयत रखा।

साखी

वही अपार सरूप तू, लहरी इंद्र धनेस।
मित्र वरुन और अरजमा, अदिती पुत्र दिनेस ।। १ ।।

तु सरवग्य अनादि अज, रवि सम करत प्रकास।
एक पाद में सकल जग, निसदिन करत निवास ।। २ ।।

इस अपार संसार में, किस बिध उतरूं पार।
अनन्य भगत मैं आपका, निश्चल लेहु उबार ।। ३ ।।

अरजमा=अर्यमा, सूर्य। लहरी=अपनी मौज वा लीला के अनुसार करने वाला।

गुरु नानकदेव

गुरु नानकदेव का जन्म सं० १५२६ के वैशाख मास (शुक्ल पक्ष) की तृतीया को राइमोई की तलबंडी नामक गाँव में हुआ था। यह गाँव वर्तमान लाहौर नगर के दक्षिण-पश्चिम, लगभग तीस मील की दूरी पर बसा हुआ है और 'नानकाना' के नाम से प्रसिद्ध है। कहते हैं कि इस भूभाग के इर्द-गिर्द पहले घना जंगल था और बालक नानक को इसमें घूमना बहुत पसन्द था। ये उसमें एकान्त पाकर बहुधा घंटों बैठे कुछ-न-कुछ सोचा करते थे और अपने चिंतन के फलस्वरूप शान्त-भाव से रहा करते थे। इन्हें बचपन में पंजाबी, हिन्दी, संस्कृत एवं फारसी की शिक्षा दी गई। किन्तु पुस्तकों से कहीं अधिक इन्हें एकांतवास और विचार करने का अभ्यास ही प्रिय रहा। कुछ लोगों का अनुमान है कि ऐसे ही किसी अवसर पर इन्हें कुछ उच्चकोटि के महात्मा भी मिल गए होंगे जिनके उपदेशों से प्रभावित होकर इन्होंने आध्यात्मिक बातों के मनन की ओर विशेष रूप के ध्यान दिया होगा। जो हो, इनकी इस प्रकार की प्रवृत्ति से आशंकित होकर इनके पिता ने इन्हें किसी कारोबार में लगाना चाहा, किन्तु कभी सफलता नहीं मिली और ये अपनी भैंसें तक भी नहीं चरा सके। फिर भी, अपनी बहन का विवाह हो जाने पर ये उसके घर चले गए और अपने बहनोई की सहायता से इन्होंने वहीं मोदीखाने में नौकरी कर ली। तब तक इनका विवाह भी हो गया था और कुछ दिनों में इन्हें दो पुत्र हो गए थे।

परन्तु मोदीखाने में, एक दिन आटा तोलते समय, ये अपने पूर्वसंस्कारानुसार तराजू का क्रम गिनते समय 'तेरह' को बड़ी देर तक 'तेरा' 'तेरा', कहते ही चले गए। इस प्रकार, भावावेश के कारण इन्होंने उचित से कहीं अधिक आटा दे डाला। फलतः इनके मालिकों ने रुष्ट होकर इन्हें नौकरी से बाहर कर दिया और ये विरक्त होकर देश-भ्रमण के लिए निकल पड़े। इन्होंने अपनी वेशभूषा में भी बहुत कुछ परिवर्तन कर लिया और अपने एक साथी मर्दाना नामक मुसलमान को अपने साथ ले लिया। ये पहले

पूर्व की ओर चले और सैयदपुर, कुरुक्षेत्र, हरिद्वार आदि तक हो आए। फिर क्रमशः दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर भी जाते रहे। ये घूमते समय मार्ग में पड़ने वाले संतों एवं फकीरों से भी भेंट किया करते थे। उनसे सत्संग कर मर्दाना के साथ एकांत में भजन गाया करते थे तथा मर्दाना अपना रबाब बजाया करता था। यात्रा करते-करते एक बार इनका दक्षिण की ओर सिंहलद्वीप तक चला जाना अनुमान किया जाता है। प्रसिद्ध है कि वहाँ के राजा के लिए इन्होंने 'प्राणसंगली' की रचना की थी। ऐसे भ्रमण के ही अवसर पर इन्होंने विख्यात फकीर शेख फरीद से भी दो बार भेंट की थी और ये उनके साथ में ठहरे थे। इनका मुसलमानों के पवित्र स्थान मक्के तक जाना और वहाँ के पुजारियों से सत्संग करना भी बतलाया जाता है। अपने अन्तिम दिनों में ये कर्तारपुर में रह कर भजन एवं सत्संग करने लगे थे जहाँ सं० १५९५ की आश्विन सुदि १० के दिन इनका देहान्त हो गया।

गुरु नानकदेव सिखधर्म के मूल प्रवर्तक थे। उनके अनन्तर उनके शिष्यों की परम्परा में क्रमशः नव गुरुओं ने उनका प्रचार किया। वे सभी अपने आदिगुरु द्वारा अनुप्राणित एवं उन्हीं के प्रतिनिधिस्वरूप भी समझे जाते रहे और उन्हें 'नानक' ही कहा जाता रहा। दसवें गुरु गोविन्दसिंह के अनन्तर इस परम्परा का रूप बदल गया और मानवीय गुरु का स्थान सदा के लिए 'गुरु ग्रंथ साहब' ने ले लिया। 'आदिग्रंथ' में उक्त गुरुओं तथा बहुत-से अन्य संतों की भी रचनाएँ संगृहीत हैं, किन्तु 'दसमग्रंथ' प्रधानतः गुरु गोविन्दसिंह की ही रचना है। गुरु नानक देव की बानियाँ 'आदिग्रंथ' के 'अन्तर्गत महला', अर्थात् सर्वप्रथम गुरु के नीचे दी गई पायी जाती हैं। इनमें 'शब्द' और 'सलोक' अर्थात् साखियाँ हैं तथा उनके अतिरिक्त, गुरु नानकदेव की रचना 'जपुजी', 'असादीवार', 'रहिरास' एवं 'सोहिला' का भी संग्रह है। फुटकर शब्दों वा पदों को विविध रागों के अन्तर्गत रखा गया है और 'सलोक' अधिकतर भिन्न-भिन्न 'बारों' में पाये जाते हैं। रचनाओं में गुरु नानकदेव के धार्मिक सिद्धान्त तथा उनकी प्रमुख साधना नाम-स्मरण का परिचय प्रायः सर्वत्र मिलता है। उनका एकेश्वरवाद, परमात्मा की सर्व-व्यापकता के प्रति एकांतनिष्ठा, विश्व-प्रेम, नाम की महत्ता में पूर्ण विश्वास आदि बातें विशेषतः उल्लेखनीय हैं। उनके शब्दों में भावगांभीर्य के साथ-साथ मस्ती की झलक भी दीख पड़ती है। उनका प्रत्येक उद्गार अनुभूति की गहराई से निकलता प्रतीत होता है। वे झूठी सांसारिक विडंबनाओं के प्रबल विरोधी हैं, नम्रता एवं सहृदयता के सच्चे समर्थक हैं। उनकी सर्वप्रसिद्ध रचना 'जपुजी' से यह भी प्रकट होता है कि उन्होंने वास्तविक मानवता के पूर्ण विकास के लिए अपना एक विशेष कार्यक्रम भी चला रखा था। गुरु नानकदेव की कथन-शैली में विस्तार की अपेक्षा समास-पद्धति का ही अनुसरण अधिक दीखता है। उनके पदों में पंजाबी शब्दों के प्रयोग भी बहुत से हैं।

पद

उत्प्रेरक परमात्मा

जा तिसु भावा तदही गावा। ता गावे का फलु पावा ॥
गावे का फलु होई। जा आपे देवै सोई ॥ १ ॥
मन मेरे गुर बचनी निधि पाई। ताते सच महि रहिआ समाई ॥ रहाउ ॥

गुर साखी अंतरि जागी। ता चंचल मति तिआगी।
गुर साखी का उजीआरा। ता मिटिआ सगल अंधिआरा ॥२॥
गुर बचनी मनु लागा। ता जम का मारगु भागा॥
भै विचि निरभउ पाइआ। ता सहजै कै थरि आइआ ॥३॥
भणति नानकु बूझै को बीचारी। इस जग महि करणी सारी॥
करणी कीरति होई। जा आपे मिलिआ सोई ॥४॥

जा...भावा = जो व्यक्ति उस परमात्मा को प्रिय है। तदही = वही। साखी = साक्षी, संकेत, उपदेश।

गुरु-महत्व (२)

गुर कै सबदि तरै मुनि केते, इंद्रादिक ब्रह्मादि तरे।
सनक सनंदन तपसी जन केते, गुर परसादी पारिपरे ॥१॥
भव जलु बिनु सबदै किउ तरीऐ। नाम बिना जगु रोगि॥
बिआपिआ दुबिधा डूबि डूबि मरीऐ ॥रहाउ॥
गुरु देवा गुरु अलख अभेवा, त्रिभवण सोझी गुरकी सेवा।
आपे दाति करी गुरि दातै, पाइआ अलख अभेवा ॥२॥
मनु राजा मनु मन ते मानिआ, मनसा मनहि समाई।
मनु जोगी मनु बिनसि बिओगी, मनु समझै गुण गाई ॥३॥
गुर ते मनु मारिआ सबदु बिचारिआ, ते बिरले संसारा।
नानक साहिबु भरिपुरि लीणा, साच सबदि निसतारा ॥४॥

पारिपरे = मुक्त हो गए। सोझी = सीधी-सादी, सरल, सहज। आपै...करी = स्वयं प्रदान कर दिया। दातै = दातव्य वस्तु, परमावश्यक पदार्थ को। गुरते = गुरु के संकेतानुसार।

तीर्थरूपी गुरु (३)

अंम्रितु नीरु गिआनि मन मजनु, अठसठि तीरथ संगि गहे।
गुर उपदेसि जवाहर माणक, सेवे सिखु सो खोजि लहे ॥१॥
गुर समानि तीरथ नहीं कोइ। सरु संतोखु तासु गुरु होइ ॥रहाउ॥
गुरु दरिआउ सदा जलु निरमलु, मिलिआ दुरमति मैलु हरै।
सतिगुरि पाइऐ पूरा नावण, पसू परेतहु देव करै ॥२॥
रता सचि नामितल हीअलु, सोगुरु परमलु कहीऐ।
जाकी वासु बनासपति सउरै, तासु चरण लिव रहीऐ ॥३॥
गुर मुखि जीअ प्राण उपजहि, गुरमुखि सिवघरि जाईऐ।
गुरु मुखि नाग सचि समाईऐ, गुरमुखि निजपद पाईऐ ॥४॥

अंम्रितु...लहै = शिष्य अपने गुरु की सेवा द्वारा मन को ज्ञान के अमृत में स्नान करा कर सारे तीर्थों का फल पा जाता है और उससे उपदेश रत्न भी पा लेता है।

अठसठि तीरथ = ६८ प्रधान तीर्थ। सरु = सर जलाशय। तासु = उसके लिए। पाइअै... नावणु = पूर्ण प्रवेश कर लेने पर। तलहीअलु = हृदय में। वनासपति = वह पौधा वा वृक्ष जिसका फूल प्रत्यक्ष न हो। सउरै = समान।

सतगुरु का कार्य (४)

सतिगुरु मिलै सु मरण दिखाए। मरण रहण रसु अंतरि भाए ॥
गरबु निवारि गगन पुरु पाए ॥१॥
मरण लिखाइआ एनहीं रहणा। हरि जपि जापि रहण हरि सरणा ॥रहाउ॥
सतिगुरु मिलै त दुबिधा भागै। कमलु बिगसि मनु हरि प्रभ लागै।
जीवनु मरै महारसु आगै ॥२॥
सतिगुरि मिलिअै सच संजमि सूचा। गुरकी पउड़ी ऊँचे ऊँचा ॥
करमि मिलै जमका भउ मूँचा ॥३॥
गुरि मिलिअै मिलि अंकि समाइआ। करि किरपा घरु महलु दिखाइआ।
नानक हउ मै मारि मिलाइआ ॥४॥

मरण रहण रसु = मर कर जीने का रहस्य। अंतरि भाए = भीतर पसंद आया। एनही = इधर ही, यही। जीवनु मरै = सांसारिक जीवन का अंत हो जाय। पउड़ी = पौरी, ड्योढ़ी। करमि = करम, कृपा। मूँचा = जाता रहा।

परमात्मा ही सब कुछ (५)

आपे रसीआ आपि रसु, आपे रावण हारु।
आपे होवै चोलड़ा, आपे सेज भतारु ॥१॥
रंगिरता मेरा साहिबु, रवि रहिआ भरपूरि ॥रहाउ॥
आपे माछी मछुली, आपे पाणी जालु।
आपे जाल मणकड़ा, आपे अंदरि लालु ॥२॥
आपे बहुबिधि रंगुला, सखी ए मेरा लालु।
नित रवै सोहागणी, देखु हमारा हालु ॥३॥
प्रणवै नानकु बेनती, तू सरवरु तू हंसु।
कउलु तूहै कवीआ तू है, आपे वेखि बिगंसु ॥४॥

रावण हारु = भोगने वाला। चोलड़ा = चोलीवाली स्त्री। मणकड़ा = चमकीला। लालु = चारा। रंगुला = रंगीला, खेलवाड़ी। कवीआ = कुमुदनी, केवड़ा, (दे० 'आपण ही मछ कछ आपण ही जाल, आपण ही धीवर आपण ही काल—गोरख-बानी, पद ४१, पृष्ठ १३५-६।)

एक (६)

आपे गुणै आपे कथै, आपे सुणि बीचारु।
आपे रतनु परखि तूं, आपे मोलु अपार।
साचउ मानु महतु तूं, आपे देवण हारु ॥१॥
हरि जीउ तूं करता करतारु, जिउ भावै तिउ राखु तूं हरिनामु

मिलै आचारु ॥रहाउ॥
आपे हीरा निरमला, आपे रंगु मजीठ।
आपे मोती ऊजलो, आपे भगत बसीठु।
गुरकै सबदि सलाहणा, घटि घटि डीठु अडीठु ॥२॥
आपे सागुरु बोहिथा, आपे पारु अपारु।
साची बाटु सुजाण तूं, सबदि लखावण हारु।
निडरिआ डरु जाणीऐ, बाझु गुरू गुबारु ॥३॥
असथिरु करता देखीऐ, होरु केती आवै जाइ।
आपे निरमल एकु तूं, होर बंधी धंधै पाइ।
गुरि राखे सो ऊबरे, सचि सिउ लिव लाइ ॥४॥
हरि जीउ सबदि पछाणीऐ, सचि रते गुर वाकि।
तितु तनि मैलु न लगई, सच घरि जिसु ताकु।
नदरि करे सचु पाईए, बिना नावै किआ साकु ॥५॥
जिनी सचु पछाणिआ, सो सुखीए जुग चारि।
हउ मैं त्रिसना मारिकै, सचु रखिआ उर धारि।
जगु महि लाहा एकु नामु पाइऐ गुर बीचारि ॥६॥
साचउ वखरु लादीऐ, लाभु सदा सचु रासि।
साची दरगह बैसई, भगति सची अरदासि।
पति सिउ लेखा निबड़ै, राम नामु परगासि ॥७॥
ऊँचा ऊँचउ आखिऐ, कहउ न देखिआ जाइ।
जहँ देखा तँह एक तूं, सति गुरि दीआ दिखाइ।
जोति निरंतरि जाणीऐ, नानक सहज सुभाइ ॥८॥

सागुरु = सागर, समुद्र। बोहिथा = बोहित, जहाज। बाझु = अतिरिक्त। गुबारु = धूल। होर = और, अन्य। वाकि = वचन में। नदरि = कृपादृष्टि। ताकु = स्थिर दृष्टि। नावै = नाम अर्थात् भक्ति, आत्मसमर्पण का भाव। साकु = महान् कार्य। अरदासि = विनय, प्रार्थना।

आत्म-चिंतन (७)

पउणै पाणी अगनी का मेलु। चंचल चपल बुधि का खेलु।
नउ दरवाजे दसवां दुआरु। बुझु रे गिआनी एहु बीचारु ॥१॥
कथता बकता सुनता सोई। आपु बीचारे सु गिआनी होई ॥रहाउ॥
देही माटी बोलै पवण। बुझु रे गिआनी मूआ है कउण।
मूई सुरति वादु अहंकारु। उह न मूआ जो देखणहारु ॥२॥
जै कारणि तटि तीरथ जाही। रतन पदारथ घटही माही।
पढ़ि पढ़ि पंडितु वादु बखाणै। भीतरि होदी बसतु न जाणै ॥३॥
हउ न मूआ मेरी मुई बलाइ। ओहू न मूआ जो रहिआ समाइ।
कहु नानक गुरि ब्रह्म दिखाइआ। मरता जाता नदरि न आइआ ॥४॥

यही पद कुछ पाठांतर के साथ (कबीर ग्रंथावली, पृ० १०२) में, पद ४२ के रूप में भी आया है। वादु = व्यर्थ। होदी = स्थित, वर्तमान। नदरि = दृष्टि में।

उमी का पसारा (८)

एको सरवरु कमल अनूप। सदा बिगासै परमल रूप।
ऊजल मोती चूगहि हंस। सरब कला जग दीसै अंस ॥१॥
जो दीसै सो उपजै बिनसै। बिनु जल सरवरि कमलु न दीसै ॥रहाउ॥
बिरला बूझै पावै भेदु। साखा तीनि कहै नित बेदु।
नाद बिंद की सुरति समाइ। सति गुरु सेवि परम पदु पाइ ॥२॥
मुकतो रातउ रंगि रवांतउ। राजन राजि सदा बिगसांतउ।
जिसु तूं राखहि किरपा धारि। बूडत पाहन तारहि तारि ॥३॥
त्रिभवण महि जोति त्रिभवण महि जाणिआ।
उलट भई घरु घरमहि आणिआ।
अहि निसि भगति करे लिव लाइ। नानकु तिनकै लागै पाइ ॥४॥

रवांतउ = रमा हुआ। बिगसांतउ = विकास पाता हुआ।

साधना (९)

उलटिउ कमलु ब्रह्म बीचारि। अंम्रित धार गगनि दस दुआरि।
त्रिभवण बेधिआ आपि मुरारि ॥१॥
रे मन मेरे भरमु न कीजै। मनि मानिऐ अंम्रित रसु पीजै ॥रहाउ॥
जनमु जीति मरणि मनु मानिआ।
आपि मूआ मनु मनते जानिआं। नजरि भई घरु घरते जानिआं ॥२॥
जतु सतु तीरथु मजनु नामि। अधिक बिथारु करउ किसु कामि।
नर नाराइण अंतर जामि ॥३॥
आन मनउ तउ परघर जाउ। किसु जाचउं नाही को थाउं।
नानक गुर मति सहजि समाउं ॥४॥

बिथारु = विस्तार। थाउं = स्थान।

सच्चा योग (१०)

जोगु न खिथा जोगु न डंडै, जोगु न भसम चड़ाईऐ।
जोगु न मुंदी मूंडि मुडाइऐ, जोगु न सिंगी वाइऐ।
अंजन माहि निरंजनि रहीऐ, जोग जुगति इव पाईऐ ॥१॥
गली जोगु न होई। एक द्रिस्टि करि समसरि जाणै जोगी कहीऐ सोई ॥रहाउ॥
जोगु न बाहरि मढ़ी मसाणी, जोगु न ताड़ी लाईऐ।
जोगु न देसि दिसंतरि भविऐ, जोगु न तीरथि नाईऐ।
अंजनि मारि निरंजनि रहीऐ, जोग जुगति इव पाईऐ ॥२॥
सतिगुरु भेटै ता सहसा तूटै, धावतु बरजि रहाईऐ।
निझरु झरै सहज धुनि लागै, घरही परचा पाईऐ।
अंजन माहि निरंजनि रहीऐ, जोग जुगति इव पाईऐ ॥३॥
नानक जीवतिआ मरि रहीऐ, ऐसा जोगु कमाईऐ।
बाजे बाझहु सिंगी बाजै, तउ निरभउ पदु पाईऐ।
अंजन माहि निरंजनि रहीऐ, जोगु जुगति तउ पाईऐ ॥४॥

मुंदी = मुद्रा। गली = साधारण स्थिति में। बाजे बाझहु = बिना बाजे के भी।

आत्मोपलब्धि (११)

हम घरि साजन आए। साचे मेलि मिलाए।
सहजि मिलाए हरि मनि भाए। पंच मिले सकु पाइआ।
साई बसतु परापति होई, जिसु सेती मनु लाइआ।
अनदिनु मेलु भइआ, मनु मानिआ घर मंदर सोहाए।
पंच सबद धुनि अनहद वाजे, हम घरि साजन आए ॥१॥
आवहु मीत पिआरे। मंगल गावहु नारे।
सचु मंगल गावहु, ता प्रभ भावहु सोहिलड़ा जुग चारे।
अपनै घरि आइआ, थानि सुहाइआ, कारज सबदि सवारे।
गिआन महारसु नेत्री अंजनु, त्रिभवण रूपु दिखाइआ।
सखी मिलहु रसि मंगल गावहु, हम घरि साजन आइआ ॥२॥
मनु तनु अंम्रिति भिना। अंतरि प्रेम रतना।
अंतरि रतनु पदारथु मेरे, परम ततु बीचारो।
जंत भेख तू सफलिउ दाता, सिरि सिरि देवण हारो।
तू जानु गिआनी अंतरजामी, आपे कारण कीना।
सुनहु सखी मन मोहन मोहिआ, तनु मनु अंम्रितु भीना ॥३॥
आतमा राम संसारा। साचा खेलु तुम्हारा।
सचु खेलु तुम्हारा अगम अपारा, सुधु बिनु कउण बुझाए।
सिध साधिक सिआणे केते, तुझ बिनु कवण कहाए।
कालु बिकालु भए देवाने, मनु राखिआ गुरि ठाए।
नानक अवगण सबदि जलाए, गुण संगमि प्रभ पाए ॥४॥

साई = वास्तविक। सोहिलड़ा = मांगलिक गीत। थानि = स्थान। सवारे = संपन्न किया।

चेतावनी (१२)

रैणि गवाई सोइकै, दिवसु गवाइआ खाइ।
हीरे जैसा जनमु है, कउड़ी बदले जाइ ॥१॥
नामु न जानिआ रामका।
मूढे फिरि पाछै पछुताहिरे ॥रहाउ॥
अनता धनु धरणी धरे, अनत न चाहिआ जाइ।
अनत कउ चाहन जो गए, से आये अनत गवाइ ॥२॥
आपण लीआ जे मिलै, ता सभु को भागनु होइ।
करमा ऊपरि निबड़ै, जे लोचै सभु कोइ ॥३॥
नानक करणा जिनि कीआ, सोई सार करेइ।
हुकमु न जापी खसम का, किसै वडाई देइ ॥४॥

लोचै = अभिलाषा करते हैं। सार = पूरा। जापी = पूरा किया।

उपदेश (१३)

अंतरि बसै न बाहरि जाइ। अंम्रितु छोड़ि काहे बिखु खाइ ।।१।।
ऐसा गिआनु जपहु मन मेरे। होवतु चाकर साचे केरे ।।रहाउ।।
गिआनु धिआनु सभु कोइ रवै। बांधनि बांधिआ सभु जगु भवै ।।२।।
सेवा करे सु चाकर होइ। जलिथलि मही अलि रवि रहिआ सोइ ।।३।।
हम नहीं चंगे बुरा नहिं कोइ। प्रणवरी नानकु पतारे सोइ ।।४।।

भवै = चक्कर काटता रहता है। रवि रहिया = रमा हुआ है।

चेतावनी (१४)

करणी कागदु मनु मसवाणी, बुरा भला दुइ लेख पए।
जिउ जिउ किरतु चलाए तिउ चलीऐ, तउ गुण नाही अंतु हरे ।।१।।
चित चेतसि की नही बावरिआ, हरि बिसरत तेरे गुण गलिआ ।।रहाउ।।
जाली रैनि जालु दिन हुआ, जेती घड़ी फाही तेती ।।
रसि रसि चोगचु गहि नित फासहि, छूटसि मूड़े कवन गुणी ।।२।।
काइआ आरण मनु बिचि लोहा, पंच अगनि तितु लागि रही।
कोइले पाप पड़ तिसु ऊपरि, मनु जलिआ संनीचिंत भई ।।३।।
भइआ मनूरु कंचनु फिरि होवै, जो गुरु मिलै तिनेहा।
एकु नामु अंम्रितु उहु देवै, तउ नानक त्रिसटसि देहा ।।४।।

मसवाणी = स्याही। जाली = बंधन। फाही = फँसाने वाली। चोगचु = चुगने का चारा। कवन गुणी = किस युक्ति से। आरणु = अरणी, अर्थात् अग्निमंथन के लिए काम में लाया जाने वाला लकड़ी का यंत्र। संनीचिंत = सुनिश्चित। तिनेहा = उसे। त्रिसटसि = चाहता है।

सदाचरण (१५)

परदारा परधनु पर लोभा, हउमै बिखै विकार।
दुस्ट भाउ तजि निंद पराई, कामु क्रोधु चंडार ।।१।
महल महि बैठे आगम अपार।
भीतरि अंम्रितु सोई जनु पावै, जिसु गुर का सब दुर तनु आचार ।।रहाउ।।
दुख सुख दोऊ सम करि जाणै, बुरा भला संसार।
सुधि बुधि सुरति नामि हरि पाईऐ, सतसंगति गुर पिआर ।।२।।
अहिनिसि लाहा हरि नामु परापति, गुरु दाता देवणहारु।
गुरु मुखि सिख सोई जनु पाए, जिसनो नदरि करे करतारु ।।३।।
काइआ महलु मंदरु घरु हेरि का, तिसु महि राखी जोति अपार।
नानक गुरु मुखि महलि बुलाईऐ, हरि मेले मेलणहार ।।४।।

राम-नाम (१६)

राम नाम मनु बेधिआ, अवरु कि करी बीचारु।
सबद सुरति सुख ऊपजै, प्रभ रातउ सुखसारु।
जिउ भावै तिउ राखु तूँ, मै हरि नामु अधारु ।।१।।

मनरे साची खसम रजाइ ।
जिनि तनु मनु साजि सीगारिआ, तिसु सेती लिव लाइ ।।रहाउ।।
तनु बैसंतरि होमीअै, इक रती तोलि कटाइ ।
तनु मनु सम धाजे करी, अनदिनु अगनि जलाइ ।
हरि नामै तुलि न पुजई, जे लख कोटि करम कमाइ ।।२।।
अरध सरीरु कटाईअै, सिरि करवतु धराइ ।
तनु हेमंचलि गालीअै भी, मन तेरो गुन जाइ ।
हरि नामै तुलि न पूजई, सभ फिठी ठोकि बजाइ ।।३।।
कंचन के कोट दतु करी बहु हैवर गैवर दानु ।
भूमि दानु गऊआ घणी भी अतरि गरवु गुमानु ।
राम नामि मनु बेधिआ गुरि दीआ सचु दानु ।।४।।
मन हठ बुधी केतीआ केते वेद बीचार ।
केते बंधन जीअ के गुर मुखि मोख दुआर ।
सचहु उरै सभु कोऊ परि सचु आचारु ।।५।।
सभु कोउ चा आखीअै नीचु न दीसै कोइ ।
एकनै भांडे साजिअै, इकु चनण तिहु लोइ ।
करमि मिलै सचु पाईअै, धुरि परबसन मेटै कोई ।।६।।
साधु मिलै साधू जनै, संतोखु बसै गुरभाइ ।
अकथ कथा बिचारीअै, जे सति गुर माहि समाइ ।
पी अम्रितु संतोखिआ दर राहिपै धाजाइ ।।७।।
घटि घटि बाजै किंगुरी, अनदिनु सबदि सुभाइ ।
बिरले कउ सोझी पई, गुरुमुखि मनु समझाइ ।
नानक नामु न बीसरै, छूटै सबदु कमाइ ।।८।।

बैसंतरि = अग्नि में । हेमंचलि = हिमालय में । फिठी = ठोंक-पीट कर जाँच लिया । दतु = दातव्य । उरै = उबरता है । भी = फिर भी ।

विनय (१७)

काची गागरि देह दुहेली, उपजै बिनसै दुखु पाई ।
इहु जगु सागरु दुतरु किउ तरीअै, बिनु हरिगुर पार न पाई ।।१।।
तुझ बिनु अवरु न कोई मेरे पिआरे, तुझ बिनु अवरु न कोइ हरे ।
सरबी रगी रूपी तूं है, तिसु बरवसे जिमु नदरि करे ।।रहाउ।।
सासु बुरी घरि वासु न देवै, पिरसिउ मिलण न देइ बुरी ।
सखी साजनी के हउ चरन सोवउ हरिगुर किरपाते नदरि धरी ।।२।।
आपु बीचारि मारि मनु देखिआ, तुमसा मीतु न अवरु कोई ।
जिउ तूं राखहि तिवही रहणा, दुखु सुखु देवहि करहि सोई ।।३।।
आसा मनसा दोऊ बिनासत, त्रिहु गुण आस निरास भई ।
तुरीआ वसथा गुर मुखि पाईअै, संत सभा की उट लही ।।४।।
गिआन धिआन सगले सभि जपतप, जिसु हरि हिरदै अलख अभेवा ।
नानक राम नामि मनु राता, गुरमति पाए सहज सेवा ।।५।।

दुतरु = दुस्तर । पिरसिउ = पियसे । सरेवउ = पड़ती हूँ । उट = ओट, आश्रय ।

वही (१८)

कवन कवन जाचहि प्रभदाते, ताके अंतन परहि सुमार।
जैसी भूख होइ अभअन्तरि, तूं समरथु सचु देवणहार ॥१॥
अैजी जपु तपु संजमु सचु अधार।
हरि हरि नामु देहि सुखु पाईअै, तेरी भगति भरे भंडार ॥रहाउ॥
सुन समाधि रहहि लिव लागे, एका एकी सबदु बीचार।
जलु थलु धरणि गगनु तह नाही, आपे आपु कीआ करतार ॥२॥
ना तदिमाइआ मगनु न छाइआ, ना सुरज चंद न जोति अपार।
सरब द्रिसटि लोचन अभअन्तरि, एका नदरि सु त्रिभवण सार ॥३॥
पवण पाणी अगनि तिनि कीआ, ब्रह्मा बिसनु महेस अकार।
सरबे जाचिक तूं प्रभु दाता, दाति करै अपुनै बीचार ॥४॥
कोटि तेतीस जाचहि प्रभ नाइक, देदे तोटि नाही भंडारु।
ऊंधै भांडै कछु न समावै, सीधै अंम्रित परै निहार ॥५॥
सिध समाधी अंतरि जाचहि, रिधि सिधि जाचि करहि जैकार।
जैसी पिआस होइ मन अंतरि, तैसो जलु देवहि परकार ॥६॥
बड़े भाग गुरु सेवहि अपुना, भेद नाही गुर देव मुरार।
ताकउ कालु नाही जमु जोहै, बूझहि अंतरि सबदु बीचार ॥७॥
अब तब अवरु न मागउ हरि पहि नामु निरंजन दीजै पिआरि।
नानक चात्रिकु अंम्रित जलु मागै हरि जसु दीजै किरपा धारि ॥८॥

कोटि तेतीस = देवगण। तोटि = त्रुटि, कमी।

आत्मस्वरूप (१९)

अलख अपार अगंम अगोचरि, ना तिसु कालु न करमा।
जाति अजाति अजोनी संभउ, ना तिसु भाउ न भरमा ॥१॥
साचे सचिआ रवि टहु कुर वाण।
ना तिसु रूप वरनु नहीं रेखिआ, साचै सबदि नीसाण ॥रहाउ॥
ना तिसु मात पिता सुत बंधप, ना तिसु कामु न नारी।
अकुल निरंजन अपरपरंपर, सगली जोति तुमारी ॥२॥
घट घट अंतरि ब्रह्म लुकाइआ, घटि घटि जोति सबाई।
बजर कपाट भुकेत गुरमती, निरभै ताड़ी लाई ॥३॥
जंत उपाइ कालु सिरि जंता, बसगति जुगति सबाई।
सति गुरु सेवि पदारथु पावहि, छूटहि सबदु कमाई ॥४॥
सूचै भांडै साचु समावै, विरले सूचा चारी।
तंतै कउ परम तंतु मिलाइआ, नानक सरण तुमारी ॥५॥

बंधप = बांधव, भाई-बंधु।

आरती (२०)

गगन मै थालु रवि चंदु दीपक बने, तारिका मंडल जनक मोती।
धपु मलआनलो पवण चवरो करे, सगल बनराइ फूलंत जोती ॥१॥

कैसी आरती होइ भव खंडना तेरी आरती ।
अनहता सबद बाजंत भेरी ।।रहाउ।।
सहस तव नैन नन नैन है तोहि कउ, सहस मूरति नन एक तोही ।
सहस पद विमल नन एक पद गंध बिन, सहस तव गंधइव चलत मोही ।।२ ।
सभ महि जोति जोति है सोई । तिसकै चानणि सभ महि चानण होइ ।
रसाखी जोति परगटु होइ । जो तिसु भावै सु आरती होइ ।।३।।
हरि चरण कमल मकरंद लोभित मनो, अनदिनो मोहिआ ही पिआसा ।
क्रिपा जलु देहि नानक सारिंग कउ । होइ जाते तेरै नामि वासा । ४।।

जनक = मानो । चवरो करे = चँवर डुलाता है । नन = बिना । चानणि = चाँदनी । महि = पृथ्वी पर । सारिंग = सारंग, पपीहा ।

साखी

मिटी मुसलमान की, पेड़ै पई कुम्हिआर ।
घड़ि भाडेइ टाकीआ, जलदी करे पुकार ।।१।।
जलि जलि रोवै वपुड़ी, झड़िझड़ि पवहि अंगिआर ।
नानक जिनि करतै कारण कीआ, सो जाणै करतार ।।२।।
सचु तापरु जाणीअै, जा रिदै सचा होइ ।
कूड़ की मलु उतरें तनु करे हछा धोइ ।।३।।
कुंभे बधा जलु रहै, जल बिनु कुंभ न होइ ।
गिआन का बधा मनु रहै, गुर बिनु गिआन न होइ ।।४।।
सभु को निवै आपकउ, परकउ निवै न कोइ ।
धरि ताराजू तोलीअै, निवै सु गउरा होइ ।।५।।
मनका सूतकु लोभु है, जिहवा सूतकु कूड़ ।
अखी सूतकु देखण, पर त्रिय परधन रूपु ।।६।।
भंडहु ही भंड उपजे, भंड बाझु न कोइ ।
नानक भंड बाहरा, एको सचा सोइ ।।७।
जिनी न पाइउ प्रेम रसु, कंत न पाइउ साउ ।
सूने घर का पाहुणा, जिउ आइआ तिउ जाउ ।।८।।
कमरि कटारी वंकुड़ा, बंके का असवारु ।
गरबु न कीजै नानका, मतु सिरि आवै भारु ।।९।।
जिनि कीआ तिनि देखिआ, आपे जाणै सोइ ।
किसनो कहीअै नानका, जाघरि वरतै सभु कोइ ।।१०।।
धनवंता इवही कहै, अवरी धनकउ जाउ ।
नानकु निरधनु तितु दिनि, जितु दिनि बिसरै नाउ ।।११।।
वैदु बुलाइआ वैदगी, पकड़ि ढंढोले बांह ।
भोला वैदु न जाणई, करक कलेजै मांहि ।।१२।।
नानक सावणि जे वसै, चहु उमाहा होइ ।
नागां मिरगां मछीआं, रसीआं घरि धनु होइ ।।१३।।
जिनकै पलै धनु वसै, तिनका नाउ फकीर ।
जिन्हकै हिरदै बसहि, ते नर गुणी गहीर ।।१४।।

मिर्टी = मिट्टी। पेड़ै = पाले। जलदी = जल के लिए। तापरु = उस दशा में। कूड़ = बुराई। निवै = झुकता है। गउरा = गरुवा, भारी। बाहरा = अतिरिक्त। साउ = उसने। बंके = तेज घोड़े। 'वैदु...मांहि' कुछ पाठांतर के साथ मीराबाई के पद-संग्रहों में भी आती है (दे० 'मीराँबाई की पदावली, हि० सा० सम्मेलन, प्रयाग, पद ७४, पृ० ३७)। बसै = बरस जाय। उमाहा = उमंग। पर्ल = पास।

शेख़ फ़रीद

शेख फ़रीद का एक अन्य नाम 'शाह ब्रह्म' था। वे अपने पूर्वज बाबा फ़रीद प्रसिद्धि के कारण, 'फ़रीद सानी' भी कहलाते थे। मेकालिफ़ साहब ने उनकी मृत्यु का समय, 'खोलासातुत्तवारीख़' के आधार पर २१वीं रज्जब हिजरी सन् ९६०, अर्थात् सं० १६०६ दिया है। यह भी कहा गया है कि उस काल तक वे अपनी गद्दी पर ४० वर्षों तक बैठ चुके थे। उनके शिष्यों में से शेख सलीम चिश्ती बहुत प्रसिद्ध हैं। लोचलिन साहब के अनुसार, उनका जन्म दीपालपुर के निकटवर्ती किसी कोठीवाल गाँव में हुआ था और सरहिंद में उनकी समाधि वर्तमान है। गुरु नानक ने अपनी पूर्ववाली यात्रा से लौटते समय उनसे भेंट की थी। जब वे 'शेख इब्राहिम' भी कहलाते थे और पाकपत्तन में इसके अनन्तर रहते थे। इन दोनों संतों की एक दूसरी भेंट हुई थी, गुरु नानक के दूसरी बार पाकपत्तन जाने पर।

उनकी रचनाओं में से 'आदिग्रंथ' के अन्तर्गत लगभग १३० सलोक एवं ४ पद संगृहीत है। उनके रूपक तथा दृष्टांत बड़े सुंदर उतरे हैं।

सलोक (साखी)

जिंदु बहूटी मरण वर, लै जासी परणाइ।
आपण हथी जोलिकै, कै गलि लगै धाइ ॥१॥
फरीदा जो तै मारनि मुकीआं, तिना न मारे घुंमि।
आपनड़ै घरि जाईऐ, पैरा तिन्हांदे चुंमि ॥२॥
फरीदा जिन लोइण जगु मोहिआ, सो लोइण मैं डिठु।
कजल रेख न सहदिआ, से पंषी सुइ बहिठु ॥३॥
फरीदा खाकु न निंदीऐ, खाकु जेडु न कोइ।
जीवदिआ पैरा तलै, मइआ ऊपरि होइ ॥४॥
रूषी सूषी षाइ कै, ठंढा पाणी पीउ।
फरीदा, देषि पराई चोपड़ी, ना तरसाए जीउ ॥५॥
फरीदा, बारि पराइऐ बैसणा, साईं मुझै न देहि।
जे तू एवै रषसी, जीउ सरीरहु लेहि ॥६॥
फरीदा काले मैडे कपड़े, काला मैडा वेसु।
गुनही भरिआ मैं फिरा, लोकु कहै दरवेसु ॥७॥
फरीदा षालक षलक महि, षलक बसै रब माहिं ॥
मंदा किसनो आषीऐ, जां तिसु बिण कोई नाहिं ॥८॥
फरीदा मैं जानिआ, दुषु मुझकु, दुषु सबाइऐ जगि।
ऊंचै चढ़िकै देषिआ, तो घरि घरि एहा अगि ॥९॥

कागा करंग ढंडोलिआ, सगला षाइआ मासु ।
ए दुइ नैना मति छुहउ, पिव देषन की आस ।।१०।।
आपु सवारहि मै मिलहि, मै मिलिआ सुषु होइ ।
फरीदा जे तू मेरा होइ रहहि, सभु जगु तेरा होइ ।।११।।
सरवर पंथी हेकड़े, फाहीवाल पचास ।
इहु तनु लहरी गडुथिआ, सचे तेरी आस ।।१२।।
विरहा विरहा आषीऐ, विरहा तू सुलतानु ।।
फरीदा जितु तनि विरहु न ऊपजै, सो तनु जाण मसानु ।।१३।।
बुढा होआ शेख फरीदु, कंबणि लगी देह ।
जे सउ वरिआ जीवणा, भी तनु होसी खेह ।।१४।।
फरीदा सिरु पलीआ, दाड़ी पली मूछा भी पलीआं ।
रे मन गहिले बावले, माणहि किआ रलीआं ।।१५।।

जिदु......परणाइ=जीवन-वधू को मरण-वर विवाह कर ले जाएगा । जो... घुमि=जो तुझ पर आघात करे, तू उस पर भी न कर बैठ । से...वहिठु =उनमें पक्षियों की चोंचे चुभाई जा रही हैं । मइआ...होइ=मरणोपरांत कब्र का अंग बन कर हमारे ऊपर आ जाती है । देषि...जीउ=दूसरे की घी में चुपड़ी गई रोटी, अर्थात् ऐश्वर्य को देखकर उसके लिए तरसना छोड़ दे । वारि=द्वार पर । एवं = इस प्रकार से । दुषु... जगि = दुःख सर्वत्र संसार भर में दीख पड़ता है । करंग = हड्डियों की ठठरी का ढाँचा । आपु...होइ = अपने को सभी के 'मैं' में लीन कर दो तभी सुख मिल सकेगा, स्वार्थ एवं परार्थ में भेद न रखो । सरवर...पचास = तालाब के इर्द-गिर्द बलिष्ट पक्षी ताक में हैं और इन मेरे शत्रुओं की संख्या कम नहीं है । इहु...आस = हे परमात्मन् ! मैंने तेरे ही भरोसे पर शरीर को लहरों में छिपा रखा है । जे...खेह = यदि सौ साल भी जीना हो फिर भी, अंत में, उसे मिट्टी में मिल जाना है । पलीआ = पक कर श्वेत हो गया । गहिले = नादान, गँवार, मूर्ख । माणहि...रलीआं = अहंकार वा गर्व में क्यों चूर हो रहा है ।

गुरु अंगद

गुरु अंगद का पूर्व नाम लहिना था और उनका जन्म सं० १५६१ की बैशाख बदी ११ को एक खत्री-परिवार में हुआ था । उनके पिता व्यापारी थे । अपना जन्म-स्थान 'मत्ते दी सराय' का परित्याग कर वे उस समय 'हरिके' में कारोबार कर रहे थे । लहिना के बड़े हो जाने पर वे फिर खडूर (जि० अमृतसर) चले आए और वहीं उनका स्थायी निवास-स्थान बन गया । लहिना पहले शक्ति की उपासना करते थे । एक बार उन्हें संयोगवश किसी के मुँह से 'असादी वार' की कुछ सुन्दर पंक्तियाँ सुन पड़ीं जिन पर ये मुग्ध हो गए । उनके रचयिता गुरु नानकदेव का गाने वाले से पता लगाकर उनसे मिलने के लिए परम आतुर हो उठे । इन्होंने करतारपुर जाकर गुरु नानकदेव से भेंट की और उनके सत्संग द्वारा प्रभावित होकर उनके प्रति आत्मसमर्पण कर दिया । बाबा नानक ने पहले इनकी कड़ी परीक्षा ली और कई बार इन्हें उसमें खरा उतरता देख कर उन्होंने इन्हें अपना शिष्य बना लिया । तब से ये उन्हीं के साथ रहने लगे । उनके लिए ये इतने योग्य एवं विश्वासनीय बन गए कि उन्होंने अपना देहांत होने के पहले इन्हें अपने दो पुत्रों की भी उपेक्षा कर अपना उत्तराधिकारी स्वीकार किया । इन्हें भी अपने

गुरु के प्रति बड़ी निष्ठा थी और ये कुछ दिनों तक उनके लिए विरहाकुल-से बने रहे। इनका स्वभाव अत्यन्त कोमल एवं बाल-सुलभ था और इन्हें दीन-दुखियों की सहायता तथा कोढ़ियों की सेवा-शुश्रूषा में बहुत संतोष मिलता था। प्रसिद्ध है कि शेरशाह द्वारा खदेड़ दिये जाने पर बादशाह हुमायूं इनसे मिलने आया था और वह इनसे प्रभावित भी हुआ था। इन्होंने अपने गुरु का पदानुसरण करने का पूरा यत्न किया और उनके दिये हुए अपने नाम 'अंगद' (अंग वा अर्थात् आत्मीय) की सार्थकता सिद्ध करते हुए उनके उपदेशों का प्रचार कर अंत में सं० १६०९ की चैत सुदी ३ को इन्होंने अपना चोला छोड़ा।

गुरु अंगद ने गुरु नानकदेव की रचनाओं को एकत्र कराया, उन्हें लिपिबद्ध करने के लिए गुरुमुखी अक्षरों का आविष्कार किया, लंगर द्वारा अतिथि-सत्कार करने की प्रथा चलायी और अपने गुरु की एक 'जन्म साखी' भी लिखवायी। उन्होंने स्वयं बहुत नहीं लिखा और 'आदिग्रंथ' में उनके रचे हुए केवल कुछ 'सलोक' ही दीख पड़ते हैं जिनसे उनकी गुरुभक्ति, ईश्वर-प्रेम, सदाचरण आदि का पूरा पता चलता है। गुरु अंगद के सच्चे हृदय तथा आध्यात्मिक जीवन को भी व्यक्त करने वाली ऐसी पंक्तियाँ कुछ और भी मिल पातीं तो क्या ही अच्छा होता।

साखी

जिसु पिआरेसिउ नेहु, तिसु आगै मरि चलीऐ।
ध्रिगु जीवणु संसारि, ताकै पाछै जीवणा ॥१॥
जो सिरु सांई ना निवै, सो सिरु दीजै डारि।
नानक जिसु पिंजर महि विरहा नहीं, तो पिंजरु लै जारि ॥२॥
अखी बाझहु वेखणा, विणु कंना सुनणा।
पैरा बाझहु चलणा, विणु हथा करणा॥
जीभै बाझहु बोलणा, इउ जीवत मरणा।
नानक हुकमु पछाणिकै, तउ खसमै मिलणा ॥३॥
नानक परखे आपकउ, ता पारखु जाणु।
रोगु दारू दोवै बुझै, ता वैदु सुजाणु ॥४॥
अगी पाला सिकरे, सूरज केही राति।
चंद अनेरा किकरे, पउण पाणी किआ जाति॥
धरती चीजी किकरे, जिसु विचि सभु किछु होइ।
नानक तापति जाणीऐ, जापति रखै सोइ ॥५॥
जे सउ चंदा उगवहि, सूरज चड़हि हजार।
एते चानण होंदिआं, गुरु बिनु घोर अंधारु ॥६॥
इहु जगु सचै की हैं कोठड़ी, सचे का विचि वासु।
इकन्हा हुकमि समाइलए, इकन्हा हुकमे करे विणासु ॥७॥
जपु तपु सभु किछु मंनिऐ, अवरि कारा सभि बादि।
नानक मंनिआ मंनिऐ, बुझीऐ गुर परसादि ॥८॥
नानक चिंता मति करहु, चिंता तिसही होइ।
जल महि जंत उपाइअनु, तिनाभि रोजी देइ ॥९॥

नानक तिन्हा वसंतु है, जिन घरि बसिआ कंतु।
जिन्ह के कंत दिसापुरी, से अहिनिसि फिरहि जलंत ॥१०॥

मिलिऐ मिलिआ न मिलै, मिलै मिलिआ जे होइ।
अंतर आतमै जो मिलै, मिलिआ कहीआ सोइ ॥११॥

सावणु लाइआ हे सखी, जलहरु बरसनहारु।
नानक सुखि सबनु सोहागणी, जिन्ह सह नालि पिआरु ॥१२॥

अखी...वेखणा = बिना आँखों के भी देखता है। नानक.. मिलणा = ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त कर उसमें लीन हो जाना। दारू = दवा। बुझै = जानता है। अनेरा = निकम्मा। जाति = शक्ति। बादि = व्यर्थ। दिसापुरी = दिसावर, विदेश में। जलहरु = मेघ, जलधर। नालि = निकट में।

गुरु अमरदास

गुरु अमरदास का पूर्व नाम 'अमरू' था। उनका जन्म बैशाख सुदि १४ सं० १५३६ को, अमृतसर के निकट वसरका गाँव में हुआ था। उनके पिता भल्ला शाखा के खत्री थे और उनकी जीविका खेती तथा व्यापार की थी। अमरू वैष्णव संप्रदाय के अनुयायी थे और नित्यशः इष्टदेव की पूजा किया करते थे। किन्तु उन्हें उससे पूर्ण शांति का अनुभव नहीं होता था। अतएव, एक दिन, जब वे इसी प्रकार की बातें सोच रहे थे कि उन्हें उन्हीं के भतीजे से ब्याही गुरु अंगद की लड़की के मुख से गुरु नानकदेव का एक पद सुन पड़ा। वे उससे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने उसे बार-बार दुहरवा कर सुना और वधू के पिता से भी जाकर भेंट की। गुरु अंगद ने उन्हें वैसे अन्य पद भी सुनाये और उनकी धार्मिक जिज्ञासा को पूर्ण कर उन्हें अपना शिष्य बना लिया। अमरू गुरु अंगद के बहुत बड़े भक्त हो गए। वे अपनी अवस्था अधिक होने पर भी नित्य प्रति पहर भर रात शेष रहे उठते, अपने निवास-स्थान गोइंदवाल से जाकर व्यास नदी का पानी लाते, फिर खड्र जाकर उस जल से अपने गुरु को स्नान कराते तथा रास्ते भर 'जपुजी' का पाठ करते जाते। खडूर में अपने गुरु के लिए पानी भरने, लकड़ी ला देने, बर्तन साफ कर देने तथा उनके पैर दबाने का काम भी वे किया करते थे और फिर पीठ की ओर से ही गोइंदवाल लौट जाते थे। अमरू की भक्ति से उनके गुरु इतने प्रसन्न थे कि एक बार उन्होंने अपने निकट बुलाकर इन्हें अपनी गद्दी पर बिठला दिया। गुरु अंगद की मृत्यु के समय अमरू की अवस्था ७३ वर्ष की थी, किन्तु वृद्ध होने पर भी सिखधर्म के लिए इन्होंने बहुत कुछ किया और लगभग २२ वर्षों तक गुरु-गद्दी पर बने रहकर सं० १६३१ की भादो सुदि १५ को इन्होंने अपना चोला छोड़ा।

गुरु अमरदास अपने स्वभाव से अत्यंत नम्र तथा क्षमाशील थे और शुद्ध संयत जीवन व्यतीत करते थे। उनके लंगर में जाकर कोई भी बिना भोजन किये नहीं लौट पाता था और सब किसी को एक ही पंक्ति में बैठकर एकसमान भोजन करना पड़ता था। वे परम आस्तिक थे और कहा करते थे कि जिस प्रकार कीचड़ में रहता हुआ भी कमल अपनी पंखुड़ियों को सूर्य की ओर विकसित किये रहता है, उसी प्रकार मनुष्य को भी चाहिए कि वह सांसारिक व्यवहार में रहता हुआ भी अपने हृदय को ईश्वरोन्मुख रखे। गुरु अमरदास की रचनाएँ 'आदिग्रंथ' के अंतर्गत महला ३ के नीचे मिलती हैं। उनकी सबसे प्रसिद्ध रचना 'आनंद' है जो विशेषकर उत्सवों के अवसर पर गायी जाती

है। अन्य रचनाओं में उनके कई पद हैं जिनमें ईश्वर-प्रेम, गुरुभक्ति तथा नम्रता के भाव विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

पद

अहंता का मैल (१)

जगि हउमै मैलु दुखु पाइआ, मैलु लागी दूजै भाइ।
मैलु हउमै धोती किवै न उतरै, जे सउ तीरथ नाइ।।
बहु विधि करम कमावदे, दूणी मैलु लागी आइ।
पड़िऐ मैलु न उतरै, पूछहु गिआनीआ जाइ।।१।।
मनु मेरे गुरु सरणि आवै, ताहि न मैलु होइ।
मनमुख हरि हरि करि थकै, मैलु न सकी धोइ।।रहाउ।।
मनि मैले भगति न होवई, नामु न पाइआ जाइ।
मनमुख मैले मैले मुए, जासनि पति गवाइ।।
गुर परसादी मनि वसै, मैलु हउमै जाइ समाइ।
जिउ अंधेरै दीपकु बालीऐ, तिउ गुर गिआनि अगिआनि तजाइ।।२।।
हम कीआ हम करहगे, हम मूरख गवार।
करणै वाला विसरिआ, दूजै भाइ पिआरु।।
माइआ जेवडु दुख नहीं, सभि भवि थके संसारु।
गुरमती सुखु पाइऐ, सचु नामु उरधारि।।३।।
जिसनो मेले सो मिलै, हउ तिसु बलिहारै जाउ।
ए मन भगती रतिया, सचु वाणी निज थाउ।।
मनि रते जिहवा रती, हरिगुण सचे गाउ।
नानक नामु न वीसरै, सचे माहि समाउ।।४।।

हउमै = अहंता की बुद्धि वा भाव। नाइ = स्नान करे। भवि = आवागमन के चक्कर में। थाउ = स्थान, पद।

गुरु के शब्द (२)

अंदरि हीरा लालु बणाइआ। गुर कै सबदि परखि परखाइआ।
जिन सचु पलै सचु बखाणहि, सचु कसवटी लावणिआ।।१।।
हउ वारी जीउ वारी गुरकी, वाणी मंनि बसावणिआ।
अंजन माहि निरंजनु पाइआ, जोती जोति मिलावणिआ।।रहाउ।।
इसु काइआ अंदरि बहुतु पसारा। नामु निरंजनु अति अगम अपारा।।
गुरमुखि होवै सोई पाए, आपे बखसि मिलावणिआ।।२।।
मेरा ठाकुरु सचु द्रिढाए। गुर परसादी सचु चिति लाए।
सचो सचु वरतै सभनी थाई, सचे सचि समावणिआ।।३।।
वे परवाहु सचु मेरा पिआरा। किलविख अवगण काटणहारा।।
प्रेम प्रीति सदा धिआइऐ, भाइ भगति द्रिढावणिआ।।४।।
तेरी भगति सची जे भावै। आपे देइ न पछोतावै।।
सभना जीआ का एको दाता, सबदे मारि जीवावणिआ।।५।।

हरि तुधु वाझहु मै कोई नाही। हरि तुधै सेवीतै तुधु सालाही ॥
आपे मेलि लैहु प्रभ साचे, पूरै करमि तू पावणिआ ॥६॥
मै होरु न कोई तुधै जेहा, तेरी नदरी सीझसि देहा।
अनदिनु सारि सभालि हरि राखहि, गुर मुखि सहजि समावणिआ ॥७॥
तुधु जे वडु मैं होरु न कोई, तुधु आपे सिरजी आपे गोई॥
तू आवेही घड़ि भंनि सवारहि, नानक नाम सुहावणिआ ॥८॥

पलै = अनुभव कर लिया, जान लिया। सचु = सत्य। बसावणिआ = जम कर घर कर लेने वाली। गुरमुखि = गुरुपदेशानुसार चलने वाला। द्रिढाए = आस्था करा दी। बरतै = व्याप्त है। किलविख = किल्विष, पाप। सभनी थाई = सर्वत्र। तेरी...भावै = तेरी भक्ति की उस सत्य की स्वीकृति पर ही निर्भर है। जीआ...दाता = कर्त्ता। वाझहु = बिना। सालाही = स्तुति करता हूँ। करमि = दया द्वारा। होरु = और। सीझसि = सिद्ध करने हो। घड़ि...सवारहि = बनाने-बिगाड़ते तथा सुधारते हो।

अशौच का भ्रम (३)

मनका सूतकु दूजाभाउ। भरमे भूले आवउ जाउ ॥१॥
मनमुखि सूतकु कबहि न जाइ। जिचरु सबदि न भीजै हरिकै नाइ ॥रहाउ॥
सभु सूतकु जेता मोहु आकारु। मरि मरि जंमै बारोबार ॥२॥
सूतकु अगनि पउणै पाणी माहि। सूतकु भोजनु जेता किछ खाहि ॥३॥
सूतकि करम न पूजा होइ। नामि रते मनु निरमलु होइ ॥४॥
सतिगुरु सेविऐ सूतकु जाइ। मरै न जनमै कालु न खाइ ॥५॥
सासत सिमृति सोधि देखहु कोइ। विणु नावै को मुकति न होइ ॥६॥
जुग चारे नामु उतमु सबदु बीचारि। कलिमहि गुरमुखि उतरसि पारि ॥७॥
साचा मरै न आवै जाइ। नानक गुरिमुखि रहै समाइ ॥८॥

मनमुखि = निगुरे का। सासत = शास्त्र।

अहंता का अनर्थ (४)

हउमै नावै नालि विरोधु है, दुइ न वसहि इकठाइ।
हउमै विचि सेवा न होवई, तामनु बिरथा जाइ ॥१॥
हरि चेति मन मेरे तू गुर का सबदु कमाइ।
हुकमि मंनहि ता हरि मिलै, ता बिचहु उहमै जाइ ॥रहाउ॥
हउमै सभु सरीरु है, हउमै उतपति होइ।
हउमै बड़ा गुबारु है, उहमै विचि बुझि न सकै कोइ ॥२॥
हउमै बिचि भगति न होवई, हुकमु न बूझिआ जाइ।
हउमै बिचि जीउ बंधु है, नामु न वसै मनि आइ ॥३॥
नानक सतगुरि मिलिऐ हउमै गई, ता सचु वसिआ मनि आइ।
सचु कमावै सचि रहै, सचे सेवि समाइ ॥४॥

नावै नालि = नाम के यहाँ। हुकमि मंनहि = ईश्वरेच्छा पर ही निर्भर रहने वाले को। बंधु है = बँधा हुआ है। कमाइ = साधना वा अभ्यास करो।

नाम-महत्त्व (५)

तिही गुणी त्रिभवण विआपिआ, भाई गुर मुखि बूझ बुझाइ ।
राम नामि लगि छटिअै, भाई पूछहु गिआनीआ जाइ ॥१॥
मनरे त्रैगुण छोडि चउथै चितु लाइ ।
हरि जीउ तेरै मनि बसै भाई, सदा हरि केरा गुण गाइ ॥रहाउ॥
नामै ते सभि ऊपजै भाई, नाम विसरिअै मरि जाइ ।
अगिआनी जगतु अंधु है भाई, सूते गए मुहाइ ॥२॥
गुरमुखि जागे से ऊबरे भाई, भवजलु पारि उतारि ।
जगमहि लाहा हरिनामु हे भाई, हिरदै रखिआ उरधारि ॥३॥
गुर सरणाई ऊबरे भाई, राम नामि लिव लाइ ।
नानक नाउ बेड़ा नाउ तुलहड़ा भाई, जितु लगि पारि जन पाइ ॥४॥

चउथै = चौथे पद, परमात्मा में । मुहाइ = भ्रांत, बेसुध हो जाता है । तुलहड़ा डाँड, खेने के लिए ।

अद्वितीय (६)

अतुलु किउ तोलिआ जाइ । दुजा होइ त सोझी पाइ ॥
तिसते दूजा नाही कोइ । तिसदी कीमति किकू होइ ॥१॥
गुर परसादि वसै मनि आइ । ताको जाणै दुविधा जाइ ॥रहाउ॥
आपि सराफु कसवटी लाए । आपे परखे आपि चलाए ॥
आपे तोले पूरा होइ । आपे जाणै एको सोइ ॥२॥
माइआ का रूपु सभ तिसते होइ । जिसनो मेले सु निरमलु होइ ॥
जिसनो लाए लगै तिसु आइ । सभु सचु दिखाले ता सचि समाइ ॥३॥
आपे लिव धातु है आपे । आपि बुझाए आपे जापे ॥४॥
आपे सतिगुरु सबदु है आपे । नानक आखि सुणाए आपे ॥५॥

अतुलु = अतुलनीय । सोझी पाइ = सामने रखा जा सके । किकू कितनी । जिसनो जिसमें । दिखाले जान लेने पर । लिव = लिपि, धातु पर लिखी लिपि, मंत्रादि के अक्षर ।

गुरुपदेश-परिणाम (७)

पूरे गुरते वडिआई पाई । अचिंत नामु वसिआ मनि आई ॥
हउमै माइआ सबदि जलाई । दरिसाचै गुर ते सोभा पाई ॥१॥
जगदीस सेवउ मै अवरु न काजा ।
अनदिनु अनदु होवै मनि मेरै, गुरमुखि मागउ तेरा नामु निवाजा ॥रहाउ॥
मन की परतीति मनते पाइ । पूरे गुर ते सबदि बुझाइ ॥
जीवण मरण को समसरि वेखै । बहुड़ि न मरै नाजमु पेखै ॥२॥
घर ही महि सभि कोट निधान । सतिगुरि दिखाए गइआ अभिमानु ॥
सदही लागा सहजि धिआन । अनदिनु गावै एको नाम ॥३॥
इसु जुग महि वडिआई पाई । पूरे गुर ते नामु धिआई ॥
जहँ देखा तहँ रहिआ समाई । सदा सुखदाता की मति नहिं पाई ॥४॥

पूरै भागि गुरु पूरा पाइआ। अंतरि नामु निधानु दिखाइआ॥
गुर का सबदु अति मीठा लाइआ। नानक त्रिसना बुझी मनि तनि सुखु
पाइआ ॥५॥

दरिसाचै = सत्य के सामने। निवाजा = अनुग्रह। समसरि वेखै = एकसमान जाने। सभि कोट निधान = सभी प्रकार के उत्तमोत्तम पदार्थ।

तू ही सब कुछ करता है (८)

जहं बैसालहि तह बैसा सुआमी, जह भेजहि तह जावा।
सभ नगरी महि एको राजा, सभे परि तुहहि थावा ॥१॥
बाबा देहि बसा सच गावा, जाते सहजे सहजि समावा ॥रहाउ॥
बुरा भला किछु आपसते जानिआ, एई सगल विकारा।
इहु फ़ुरमाइआ खसम का होआ, वरतै इहु संसारा ॥२॥
इंद्री धातु सबल कहीअतु है, इंद्री किसते होई।
आपे खेल करै सभि करता, ऐसा बूझै कोई ॥३॥
गुर परसादी एक लिव लागी, दुबिधा तदे बिनासी।
जो तिसु भाणा सु मति करि मानिआ, काटी जम की फांसी ॥४॥
भणति नानकु लेखा मागै, कवना जाचू का मनि अभिमाना।
तासु तासु धरमराइ जपतु है, पए सचे की सरना ॥५॥

जहं...सुआमी = हे स्वामिन् ! तूने जहाँ कहीं रख दिया, वहीं मैं रहा। थावा = स्थित हो। इहु...संसारा = इन सबको मालिक का ही मान कर व्यवहार किया जाता है।

समानता का भाव (९)

जाति का गरबु न करिअहु कोई। ब्रह्म बिंदे सो ब्राह्मण होई ॥१॥
जाति का गरबु न करि मूरख गंवारा।
इसु गरबते चलहि बहुतु बिकारा ॥ रहाउ ॥
चारे बरन आखै सभु कोई। ब्रह्म बिदु ते सभ उतपति होई ॥२॥
माटी एक सगल संसारा। बहु बिधि भांडै घड़ै कुम्हारा ॥३॥
पंच ततु मिलि देही का आकारा। घटि बधि को करै बीचारा ॥४॥
कहतु नानक इह जीउ करम बंधु होई। बिनु सतिगुर भेटे मुकति न होई ॥५॥

बिंदे = जानता है। घटि बधि = घट-बढ़ कर। इह...होई = यह जीव कर्मों के बंधन में पड़ा हुआ है।

वही सब कुछ है (१०)

निरंकारु आकारु है आपे, आपे भरमि भुलाए॥
करि करि करता आपे वेखै, जितु भावै तितु लाए॥
सेवक कउ एहा वडिआई, जा कउ हुकमु मनाए ॥१॥
आपणा भाणा आपे जाणै, गुर किरपा ते लहीऐ॥
ऐहा सकति सिवै घरि आवै, जीवदिआ मरि रहीऐ ॥ रहाउ ॥

वेद पढ़ै पढ़ि वादु बषाणै, ब्रह्म बिसनु महेसा।
एह त्रिगण माइआ जिनु जगतु भुलाइआ जनम, मरण का सहसा।
गुर परसादी एको जाणै, चूकै मनहु अंदेसा ॥२॥

हम दीन मूरख अविचारी, तुम चिंता करहु हमारी।
होहु दइआल करि दासु दासा का, सेवा करी तुमारी।
एकु निधान देहि तू अपणा, अहिनिसि नामु बषाणी ॥३॥

कहत नानकु गुर परसादी बूझहु, कोई असा करे बीचारा।
जितु जल ऊपरि फेनु बुदबुदा, तैसा इहु संसारा।
जिसते होआ तिसहि समाणा, चूकि गइआ पसारा ॥४॥

वेषै = देखा करता है। जाकउ...मनाए--उसकी आज्ञाओं का पालन करे। आपणा लगीअै = गुरूपदेश द्वारा अपने आपको जान ले। जीवदिआ...रहीअै = जीते जी मृतकवत् रहे। एको = इसे। विधान = रहस्य, भेद।

सच्चा नामस्मरण (११)

राम राम सभु को कहै, कहिअै रामु न होइ।
गुर परसादी रामु मनि वसै, ता फलु पावै कोइ ॥१॥
अन्तरि गोविंद जिसु लागै प्रीति।
हरि तिसु कदे न बीसरै, हरि हरि करहि सदा मनि चीति ॥रहाउ॥
हिरदै जिन्हकै कपटु वसै, बाहरहु संत कहाहि।
त्रिसना मूलि न चूकई, अंति गए पछुताहि ॥२॥
अनेक तीरथ जे जतन करै तो अंतरकी हउमै कदे न जाइ।
जिसु नर की दुबिधा न जाइ, धरमराइ तिसु देई सजाइ ॥३॥
करमु होवै सोई जनु पाए गुरमुखि बूझै कोई।
नानक बिचरहु हउमै मारे तां हरि भेटै सोई ॥४॥

हरि...चीति = निरन्तर हृदय से नामस्मरण होता रहता है। करमु = कृपा, अनुग्रह।

साखी

मनमुख मैली कामणी, कुलषणी कुनारि।
पिवु छोडिआ घरि आपणा, पर पुरषै नालि पिआरु ॥१॥
त्रिसना कदे न चुकई, जलदी करे पुकार।
नानक बिनु नावै कुरूपि कुसोहणी, परहरि छोडी भनारि ॥२॥
सबदि रती सोहागणी, सतिगुर कै भाइ पिआरि।
सदा रावे पिवु आपणा, सचै प्रेमि पिआरि ॥३॥

हंसा वेखि तरंदिआ, बगांभि आया चाउ।
डूबि मुए बग बपुड़े, सिरु तलि उपरि पाउ ॥४॥
भै बिचि सभु आकारु है, निरभउ हरिजीउ सोइ।
सतिगुरि सेविऐ हरि मनि वसै, तिथै भउ कदे न होइ ॥५॥
इसु जगमहि पुरखु एकु है, होर सगली नारि सवाई।
सभि घट भोगवै अलिपतु रहै, अलखु न लखणा जाई ॥६॥
हरि गुण तोटि न आवई, कीमति कहण न जाई।
नानक गुरमुखि हरिगुण रवहि, गुण महि रहै समाई ॥७॥
धन पिरु एहि न आखिअन्हि, बहन्हि इकठे होइ।
एक जोति दुइ मूरती, धन पिरु कहीऐ सोइ ॥८॥
आसा मनसा जगि मोहणी, जिनि मोहिआ संसारु।
सभु को जमके चीरे बिचि है, जेता सभु आकारु ॥९॥
सहजि वणसपति फुलु फलु, भवरु वसै भैखंडि।
नानक तरवरु एकु है, एको फुलु भिरंगु ॥१०॥
मनु माणकु जिनि परखिआ, गुर सबदी बीचारि।
से जन विरले जाणीअहि, कलजुग बिचि संसारि ॥११॥
आपै नो आपु मिली रहिआ, हउमै दुबिधा मारि।
नानक नामि रते दुतरु तरे, भउ जलु बिखमु संसारु ॥१२॥

पर...पिआरु = अन्य पुरुष के ही प्रति प्रेम दिखलाती है। जलदी जल के लिए। हंसा...तरंदिआ = हंस को तैरता हुआ देखकर। चाउ = इच्छा। तिथै = वहाँ। तोटि...त्रुटि, कमी। रवहि = गाया करता है। धन...होइ = पति और पत्नी नामों के साथ पृथक्-पृथक् वर्णन नहीं करना चाहिए, वे दोनों वस्तुतः एक ही हैं। सभु...है = सभी कोई नाशमान हैं। सहजि...भैखंडि = सहज-रूपी पौधे के फूलों पर भ्रमर निर्भय विचरा करता है। भिरंगु = भृंग, भ्रमर। दुतरु = दुस्तर, कठिनाई से तरा जाने वाला।

संत सिंगाजी

संत सिंगाजी का जन्म रियासत बड़वानी (मध्यभारत) के खूजरी वा खूजरगाँव में स० १५७६ की बैशाख सुदि ११ को हुआ था। इनके पिता-माता की जाति ग्वालों की थी। वे इनके जन्म के ५-६ वर्ष पीछे इन्हें तथा अपना सब सामान और ३०० गायें लेकर हरसूद गाँव में जाकर बस गए। सं० १५९८ में सिंगाजी अपनी २१ वर्ष की अवस्था में भामगढ़ (निमाड़) के राव साहब के यहाँ एक रुपया मासिक वेतन पर चिट्ठी-पत्री पहुँचाने के काम में नियुक्त हुए और क्रमशः अपने मालिक के विश्वासपात्र सेवक हो गए। परन्तु इनके मन का झुकाव बहुत पहले से ही कुछ विरक्ति की ओर भी रहा करता था। इसलिए, एक दिन जब ये चपरासी के वेश में घोड़े पर चढ़कर जा रहे थे कि इन्हें मार्ग में किसी मनरंगीर जी साधु का गाना सुन पड़ा जो वैसे ही भावों से भरा था। उससे प्रभावित होकर ये उनके शिष्य हो गए। इन्होंने राव साहब की नौकरी का परित्याग कर दिया और पीपल्या के जंगलों में जाकर निर्गुण ब्रह्म की उपासना में लीन रहने

लगे। यहीं पर रहते समय इन्होंने अपने अनुभवों की उमंग में आकर लगभग ८०० बानियों की रचना की। अंत में, अपने गुरु के रुष्ट हो जाने पर सं० १६१६ में जीवित समाधि ले ली। इनकी समाधि के चिह्न वहाँ की किकड़ नदी के किनारे आज भी वर्तमान हैं, जहाँ प्रतिवर्ष आश्विन में मेला लगता है।

संत सिंगाजी की रचनाओं का कोई संग्रह बहुत दिनों तक प्रकाशित नहीं रहा है। ये वहाँ की जनता द्वारा बड़े प्रेमभाव के साथ गायी जाती हैं। इनके कतिपय पदों का एक बहुत छोटा-सा संग्रह, इनके संक्षिप्त परिचय के साथ खंडवा से प्रकाशित हुआ है। इनकी विचारधारा का मूल स्रोत भी अन्य संतों के ही मत से लगा हुआ जान पड़ता है। इनकी बानियों में भी स्वानुभूति की ही मात्रा अधिक है। इनका हृदय नितांत स्वच्छ तथा सरल है और अपने इष्ट परमतत्त्व के प्रति प्रगाढ़ एवं अगाध निष्ठा है। इनके शब्दों में प्रेमभाव भरा हुआ है और ये एक उच्चकोटि की आत्मानुभूति में सदा लीन रहते हुए जान पड़ते हैं। इनकी भाषा निमाड़ी द्वारा प्रभावित हिन्दी है। इस कारण, इनके कई उद्गारों का भाव-गांभीर्य सबके लिए बहुधा स्पष्ट नहीं हो पाता।

पद

स्वामिन् (१)

मैं तो जाण साईं दूर है, तुझे पाया नेड़ा।
रहणी रही सामर्थ भई, मुझे पखवा तेरा ॥टेक॥

तुम सोना हम गहणा, मुझे लागा टांका।
तुम तो बोलो हम देह धरि, बोले कै रंग भाखा ॥१॥

तुम चंदा हम चांदणी, रहणी उजियाला।
तुमतो सूरज हम घामला, सोई चौजुग पुरिया ॥२॥

तुम तो दरियाव हम मीन हैं, विश्वास का रहणा।
देह गली मिट्टी भई, तेरा तूही में समाणा ॥३॥

तुम तरुवर हम पंछीड़ा, बैठे एक ही डाला।
चोंच मार फल भांजिया, फल अमृत सारा ॥४॥

तुम तो वृक्ष हम बेलड़ी, मूल से लपटाना।
कह सिंगा पहचाण ले पहचाण ठिकाणा ॥५॥

नेड़ा=निकट में ही। जाण=जान रहा था। रहणी...भई=वास्तविक आचरण से ही मुझमें शक्ति आई। पखवा=सहारा। टांका=गहनों में जोड़ते समय लगाया जाने वाला भिन्न धातु का अंश, यहाँ सांसारिकता का दोष। घामला=घाम, धूप। पंछीड़ा=साधारण-सा पक्षी। भांजिया=बिगाड़ दिया।

चेतावनी (२)

मन निर्भय कैसा सोवै, जग में तेरा को है ॥टेक॥
काम क्रोध में अतिबल योधा, हरे नर! बिख का बीज क्यों बोवे ॥१॥

पाँच रिपु तेरी संग चलत हैं, हरे वो ! जड़ा मूल से खोवे ।
मात पिता ने जनम दिया है, हरे वो ! त्रिया संग न जोवे ।।२।।
भरम भरम नर जनम गमांयो, हरे ! ये आई बाजू खोवे ।
कहे जन मिगा अगम की वाणी, हरे नर ! अंत काल को रोवे ।।३।।

जोवे=आसरा न देख । बाजू=बाजी, अवसर । अगम की वाणी=रहस्य की बात ।

अनस्थिरता (३)

संगी हमारा चंचला, कैसा हाथ जो आवे ।
काम क्रोध विख भरि रह्या, तासे दुख पावे ।।टेक।।
मट्टी केरा सीधड़ा, पवन रंग भरिया ।
पाव पलक घड़ी थिर नहीं, बहु फेरा फिरिया ।।१।।
आया था हरि नाम को, मो तो नहीं रे बिसाया ।
सौदा तो सच्चा नहीं, झूठा सँग कीया ।।२।।
घुरत नगारा शून्य में, ताको सुध्र लीजे ।
मोतियन की वर्षा वर्षे, कोइ हरिजन भीजे ।।३।।
राह हमारी बारीक है, हाथी नहीं समाय ।
मिगा जी चींटी हुई रह्या, निर्भय आवनो जाय ।।४।।

संगी=साथी, यहाँ पर मन । सीधड़ा=पात्र, बर्तन । पाव=चतुर्थांश, चौथाई । बिसाया=बेसाहा, ख़रीदा । घुरत=घहरा रहा है । बारीक=सूक्ष्म ।

अंतर्दृष्टि (४)

पाणी में मीन पियासी, मोहै सुन सुन आवै हांसी ।।टेक।।
जल बिच कमल कमल बिच कलियां, जँह वासुदेव अविनाशी ।
घट में गंगा घट में जमुना, वहीं द्वारका कासी ।।१।।
घर वस्तु बाहर क्यों ढूंढो, वन वन फिरो उदासी ।
कहै जन मिगा सुनो भाइ साधू, अमरापुर के वासी ।।२।।

यह पद, कुछ पाठभेद के साथ, कबीर की भी बानियों में संगृहीत पाया जाता है ।

अगम्य परमात्मा (५)

निर्गुण ब्रह्म है न्यारा, कोइ समझो समझण हारा ।।टेक।।
खोजत ब्रह्मा जनम सिराणा, मुनिजन पार न पाया ।
खोजत खोजत शिवजी थाके, वो ऐसा अपरंपारा ।।१।।
शेष सहस मुख रटे निरंतर, रैन दिवस एक सारा ।
ऋषि मुनि और सिद्ध चौरासी, वो तैंतीस कोटि पचिहारा ।।२।।

त्रिकुटी महल में अनहद बाजे, होत शब्द झनकारा।
सुकमणि सेज शून्य में झूले, वो सोंह पुरुष हमारा ॥३॥
वेद कथे अरु कहे निर्वाणी, श्रोता कहो बिचारा।
काम क्रोध मद मत्सर त्यागो, ये झूठा सकल पसारा ॥४॥
एक बूंद की रचना सारी, जाका सकल पसारा।
सिंगाजी जो भर नजरा देखा, वो वोही गुरु हमारा ॥५॥

सुकमणि=सुषुम्ना नाड़ी। भर नजरा=खुली आँखों से प्रत्यक्ष।

साखी

नर नारी में देखिले, सब घट में एकतार।
कहें सिंगा पहचान ले, एक ब्रह्म है सार ॥१॥
हम पंथी पारिब्रह्म का, जो अपरंपद दूर।
निराधार जहाँ मठ किया, जहँ चंदा नहिं सूर ॥२॥
वास श्वास दो बैल हैं, सुर्त रास लगाव।
प्रेम पिरहाणो करधरो, ज्ञान आर लगाव ॥३॥

पिरहाणो=लंबी लकड़ी। आर=लोहे की कील व नोक।

भीषनजी

संत भीषनजी को मेकालिफ साहब ने बदायूँनी के आधार पर काकोरी का निवासी शेख भीषम नामक सूफी समझा है। उन्होंने लिखा है कि वे इस्लाम धर्म में पक्की ग्रास्था रखने वाले सदाचारशील व्यक्ति थे जिनकी मृत्यु सं० १६३०-१ में किसी समय हुई थी। परन्तु 'आदिग्रंथ' में संगृहीत दो पदों के रचयिता संत भीषनजी का बदायूँनी के वर्णनानुसार फकीर होना कुछ नहीं जँचता। ये भीषन रामनाम के प्रति गहरी निष्ठा रखने वाले कोई सरल-हृदय हिन्दू ही जान पड़ते हैं। इनकी भाषा से इन्हें हम उत्तर प्रदेश का निवासी ठहरा सकते हैं। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि ये भी संभवतः रैदासजी की भाँति कोई सात्त्विक जीवनयापन करने वाले व्यक्ति थे। इनके एक पद में भगवत्कृपा एवं दूसरे में रामनाम के महत्त्व का वर्णन है। इनकी भाषा सीधी-सादी, किन्तु मुहावरेदार है। इनकी वर्णन-शैली भावपूर्ण होती हुई भी प्रसाद गुण के कारण अत्यन्त सुन्दर एवं आकर्षक है।

पद

अंतिम शरण (१)

नैनहु नीरु बहै तनु षीना, भए केस दुधावनी।
रूधा कंठु सबदु नहीं उचरै, अब किआ करहि परानी ॥१॥
राम राइ होहि बैद बनवारी। अपने संतह लेहु उबारी ॥रहाउ॥

माथे पीर सरीरि जलनि है, करक करेजे माही।
अैसी वेदन उपजि षरी भई, बाका औषधु नाही ॥२॥
हरिका नामु अंम्रित जलु निरमलु, इहु औषधु जगि सारा।
गुर परसादि कहै जनु भीषनु, पावउ मोष दुआरा ॥३॥

दुधावनी=दूध की भाँति श्वेत। अैसी.. भई= ऐसी तीव्र वेदना का अनुभव होने लगा। मोप दुआरा=मोक्ष की उपलब्धि।

नाम-महत्व (२)

अैसा नामु रतनु निरमोलकु, पुंनि पदारथु पाइआ।
अनिक जतन करि हिरदै राषिआ, रतनु न छपै छपाइआ ॥१॥
हरिगुन कहते कहनु न जाई। जैसे गुंगे की मिठिआई ॥रहाउ॥
रसना रमत सुनत सुषु स्रवना, चित चेते सुषु होई।
कहु भीषन दुइ नैन संतोषे, जहँ देषा तह सोई ॥२॥

निरमोलकु=अनमोल, अनुपम। रसना...होई जिह्वा रामनाम एवं हरि-गुण में लीन है, कान उसे ही सुन कर आनंदित होते है तथा उसी का चिंतन कर अपना चित्त भी प्रसन्न रहा करता है। संतोषे=संतुष्ट हो गए हैं।

गुरु रामदास

गुरु रामदास का जन्म सं० १५६१ की कार्तिक बदि २ को लाहौर नगर की चून्नी मंडी में हुआ। उनका परिवार खत्री का था और उनके माता-पिता ने उन्हें लड़कपन में चने उबाल कर छोले (घुंघनी) बेचने का काम सिपुर्द किया था। किन्तु उनका मन साधुओं की सत्संगति में अधिक लगा रहता था। इसलिए वे एक बार साधुओं के ही साथ-साथ किसी प्रकार गोइंदवाल तक पहुँच गए। वहाँ पर उनके सुन्दर शरीर और अच्छे स्वभाव को देखकर गुरु अमरदास ने अपनी पुत्री के साथ इनका विवाह कर दिया और ये उन्ही के शिष्य भी हो गए। ये गुरु अमरदास के मरने के बाद उनकी गद्दी पर चौथे गुरु के रूप में बैठे। इनके पीछे सिख गुरुओं की परंपरा एक ही कुटुम्ब के लोगों में चलने लगी। गुरु रामदास ने तालाब-निर्माण के अतिरिक्त, द्रव्य-संग्रह के लिए मंसदों की नियुक्ति की और धर्म-प्रचार के लिए अन्य कार्य भी किये। ये बहुत ही नम्र-स्वभाव के थे और ईश्वर-भक्तों के प्रति इनमें पूर्ण निष्ठा थी। इन्होंने गुरु नानकदेव के पुत्र उदासी श्रीचंदजी को एक बार उनसे मिलते समय कहा था कि मैंने अपनी लम्बी दाढ़ी आपके पूज्य चरणों को पोंछने के लिए बढ़ा रखी है।

गुरु रामदास की रचनाएँ भी 'आदिग्रंथ' में ही संगृहीत मिलती है और वे उसमें 'महला' ४ के अंतर्गत दी गई हैं। उनमें अनेक पद और सलोक (साखियाँ) हैं जिनकी संख्या कम नहीं जान पड़ती। इनकी रचनाओं में परमात्मा के प्रति पूर्ण अनुरक्ति, उसके सर्वव्यापक, सर्वांतर्यामी तथा सर्वोपरि होने की धारणा एवं उसकी उपलब्धि के लिए नाम-स्मरण की साधना के वर्णन अत्यंत सुन्दर हैं। इनकी सरलहृदयता के साथ-साथ इनका दृढ़ निश्चय भी प्रायः सर्वत्र दीख पड़ता है। इनके पद अधिकतर छोटे-छोटे ही

मिलते हैं, किन्तु उनमें प्रयुक्त इनके शब्दों तथा इनकी वर्णन-शैली से प्रतीत होता है कि इन्हें काव्य-रचना पर अच्छा अधिकार था।

गुरु रामदास का देहांत सं० १६३८ की भादों सुदि ३ को हुआ था।

पद

अपनी प्रवृत्ति (१)

कबको भालै घुंघरू ताला, कबको बजावै रबाबु।
आवत जात बार खिनु लागै, हउ तब लगु समारउ नामु ॥१॥
मेरे मन अैसी भगति बनि आई।
हउ हरि बिनु खिनु पलु रहि न सकउ, जैसे जल बिनु मीनु मरि जाई ॥रहाउ॥
कब कोउ मेलै पंचसत गाइण, कबको रागु धुनि उठावै।
मेलत चुनत खिनु पलु चसा लागै, तब लगु मेरा मनु राम गुन गावै ॥२॥
कबको नाचै पांव पसारै कबको हाथ पसारे।
हाथ पांव पसारत बिलमु तिलु लागै, तब लगु मेरा मन राम समारे ॥३॥
कब कोउ लोगन कउ पतिआवै, तौकि पतीणै ना पति होई।
जन नानक हरि हिरदै सधिआवहु, ता जै जै करै सभु कोई ॥४॥

कबको...रबाबु=कीर्तन के लिए कब तक कोई नाचने का सामान ढूंढ़ता फिरे अथवा कब तक बाजे बजावे। बार खिनु=विलंब। कब कोउ...उठावै=कब तक कोई भजनीकों में सम्मिलित होता फिरे और कब तक स्वर अलापा करे।

हरि का विरही (२)

माई मेरो प्रीतमु रामु बतावहु री माई।
हउ हरि बिनु खिनु पलु रहि न सकउ, जैसे करहलु बेलि रिझाई ॥रहाउ॥
हमरा मनु बैराग बिरकतु भइउ, हरि दरसन मीत कै भाई।
जैसे अलि कमला बिनु रहि न सकै, तैसे मोहि हरि बिनु रहन न जाई ॥१॥
राषु सरणि जगदीसुर पिआरे, मोहि सरधा पूरि हरि गुंसाई।
जन नानक कै मनु अँनदु होत है, हरि दरसनु निमष दिषाई ॥२॥

करहलु=ऊँट। हरि...भाई=हरि दर्शनों के लिए व्यग्र होकर केवल उसी के प्रति अनुराग व्यक्त करने के कारण। राषु...गुंसाई=हे जगदीश्वर! मुझे अपनी शरण लो और हे स्वामिन्! मेरी साध पूरी करो।

हरि की खोज (३)

मेरे सुंदरु कहहु मिलै कितु गली।
हरि के संत बतावहु मारगु, हम पीछे लागि चली ॥रहाउ॥
पिअके बचन सुषाने हीअरे, इह चाल बनी है भली।
लटुरी मधुरी ठाकुर भाई उह, सुंदरि हरि ढुलि मिली ॥१॥

एको पिउ सपीआ सभ पिअकी, जो भावै पिव सा भली।
नानकु गरीब किआ करै बिचारा, हरि भावै तितु राह चली ॥२॥

सुंदरु=प्रियतम। कितु गली=किस मार्ग से जाने पर। सुषाने=आनंदित कर दिया। लटुरी...उह=उस मालिक वा प्रियतम की सारी अटपटी बातें पसंद आ गईं। ढुलि=उधर पूर्णतः प्रवृत्त होकर।

आत्मसमर्पण (४)

अब हम चली ठाकुर पहि हारि।
जब हम सरणि प्रभु की आई, राषु-प्रभू भावै मारि ॥रहाउ॥
लोकन की चतुराई उपमाते, बैसंतरि जारि।
कोई भला कहउ भावै बुरा कहउ, हम तनु दीउहै ढारि ॥१॥
जो आवत सरणि प्रभु तुमरी, तिसु राषहु किरपा धारि।
जन नानक सरणि तुमारी हरिजीउ, राषहु लाजमुरारि ॥२॥

लोकन...जारि=लोगों के चातुर्यपूर्ण जवाबों को जला दिया है, अर्थात् उनकी उपेक्षा की है।

विरह-वेदना (५)

हरि दरसन कउ मेरा मनु बहु तपनै, जिहु त्रिषावंतु बिनु नीर ॥१॥
मेरै मनि प्रेमु लगो हरि तीर।
हमरी बेदन हरि प्रभु जानै, मेरे मन अंतर की पीर ॥रहाउ॥
मेरे हरि प्रीतम की कोई बात सुनावै, सोभाई सो मेरा बीर ॥२॥
मिलु मिलु सपी गुण कहु मेरे प्रभु के, सतिगुर मति की धीर ॥३॥
जन नानक की हरि आस पुजावहु, हरि दरसनि सांति सरीर ॥४॥

तीर=निकट। बीर=साथी।

सर्वव्यापक हरि (६)

जिउ पसरी सूरज किरणि जोति। तिउ घटि-घटि रमईआ उतिपोति ॥१॥
एको हरि रविआ सबु थाइ। गुर सबदी मिलीऐ मेरी माइ ॥रहाउ॥
घटि घटि अंतरि एको हरि सोइ। गुरि मिलिऐ इकु प्रगटु होइ ॥२॥
एको एकु रहिआ भरपूरि। साकत नर लोभी जाणहि दूरि ॥३॥
एको एकु बरतै हरि लोइ। नानक हरि एको करे सु होइ ॥४॥

उतिपोति=ओतप्रोत, व्याप्त। रविआ=रमा हुआ है। थाइ=स्थान। साकत=शाक्त, अज्ञानी।

चंचल मन (७)

कइआ नगरि इकु बालकु बसिआ, षिनु पलु थिरु न रहाई।
अनिक उपाव जतन करि थाके, बारंबार भरमाई ॥१॥

मेरे ठाकुर बालकु इकतु घरि आण ।
सतिगुरु मिलै ता पूरा पाइऐ, भजु राम नामु नीसाण ।।रहाउ।।

इहु मिरतकु मड़ा सरीरु है सभु जगु, जितु राम नाम नहि बसिआ ।
राम नामु गुरि उदकु चुआइआ, फिरि हरिआ होआ बसिआ ।।२।।

मैं निरखत निरखत सरीरु प्रभु षोजिआ, इकु गुर मुषि चलतु दिषाइआ ।
बाहरु पोजि मुए सभि साकत, हरि गुरमती घरि पाइआ ।।३।।
दीना दीन दइआल भए हैं, जिउ क्रिसनु बिदुर घरि आइआ ।
मिलिउ सुदामा भावनी धारि सभु किछु आगै, दालदु भंजि समाइआ ।।४।।
राम नाम की पैज वड़ेरी, मेरे ठाकुरि आपि रखाई ।
जे सभि साकत करहि बषीली, इक रती तिलु न घटाई ।।५।।

जन की उसतति है रामनामा, दह दिसि सोभा पाई ।
निंदकु साकतु खनि न सकै तिलु, अपणै घरि लूकी लाई ।।६।।

जनकउ जनु मिलि सोभा पावै, गुणै महि गुण परगासा ।
मेरे ठाकुर के जन प्रीतम पिआरे, जो होवहि दासनि दासा ।।७।।
आपे जलु अपरंपरु करता, आपे मेलि मिलावै ।।
नानक गुरमुषि सहजि मिलाए, जिउ जलु जलहि समावै ।।८।।

इक बालकु = चंचल मन । मड़ा = मरा हुआ । राम...चुआइआ = रामनाम का उपदेशामृत प्रदान किया । बषीली = कंजूसी वा मखौल । उसतति = स्तुति । षनि = कम करना । अपणै...लाई = चुगली की चिनगारी लगा देने पर भी ।

अपनी टेक (८)

पंडितु सासत सिम्रित पड़िआ । जोगी गोरषु गोरषु करिआ ।
मैं मूरष हरि हरि जपु पड़िआ ।।१।।
ना जाना किआ गति राम हमारी ।
हरि भजु मन मेरे तरु भउ जलु तू तारी ।।रहाउ।।
संनिआसी बिभूति लाइ देह सवारी । परत्रिय तिआगु करी ब्रह्मचारी ।
मैं मूरष हरि आस तुमारी ।।२।।
षत्री करम करे सूर तण पावै । सूदु बैसु परकिरति कमावै
मैं मूरष हरि नाम छड़ावै ।।३।।
सभ तेरी स्रिसटि तू आपि रहिआ समाई । गुरमुषि नानक देवड़ि आई ।
मैं अंधुले हरि टेक टिकाई ।।४।।

सूदु बैसु = शूद्र वैश्य । परकिरति कमावै = अपने स्वभावानुसार सफल होते हैं ।

प्रिय हरि नाम

हउ अनदिनु हरि नामु कीरतनु करउ ।
सतिगुरि मोकउ हरिनामु बताइआ, हउ हरि बिनु षिनु पलु रहि न सकउ ।।रहाउ।।

हमरै स्रवण सिमरनु हरि कीरतनु, हउ हरि बिनु रहि न सकउ हउ इकु खिनु।
जैसे हंसु सरवर बिनु रहि न सके, तैसे हरि जनु कि उर है हरि सेवा बिनु ।।१।।
किनहूं प्रीति लाई दूजा भाउ रिद धारि, किनहूं प्रीति लाई मोह अपमान ।
हरिजन प्रीति लाई हरि निरवाणपद, नानक सिमरत हरि हरि भगवान ।।२।।

खिनु = क्षण । रिद = हृदय में ।

साखी

आपे धरती साजीअण, आपे आकासु ।
बिचि आपे जंत उपाइअनु, मुखि आपे देइ गिरासु ।।१।।
हरि प्रभका सभू खेतु है, हरि आपि किरसाणी लाइआ ।
गुरमुखि वखसि जमाईअनु, मनमुखी मूलु गवाइआ ।।२।।
बड़ भागीआ सोहागणी, जिना गुरमुखि मिलिआ हरिराइ ।
अंतरजोति प्रगासीआ, नानक नाम समाइ ।।३।।
सा धरती भई हरिआवली, जिथै मेरा सतिगुरु बैठा जाइ ।
से जंत भए हरिआवले, जिनी मेरा सतिगुरु देखिआ जाइ ।।४।।
किआ सवणा किआ जागणा, गुरमुखि ते परवाण ।
जिना सासि गिरासि न विसरै, से पूरे पुरख परधान ।।५।।
करमी सतिगुरु पाईए, अनुदिन लगु धिआनु ।
तिनकी संगति मिलि रहा, दरगह पाई मानु ।।६।।
मनमुख प्राणी मुगधु है, नामहीण भरमाइ ।
बिनु गुर मनूआ न टिकै, फिरि फिरि जूनी पाइ ।।७।।
अंधे चानण ताथीऐ, जा सतिगुरु मिलै रजाइ ।
बंधन तोड़ै सचि बसै, अगिआनु अंधेरा जाइ ।।८।।
हरिदासन सिउ प्रीति है, हरिदासन को मितु ।
हरिदासन कै बसि है, जिउ जंती के बसि जंतु ।।९।।
सो हरिजनु नाम धिआइदा, हरि हरिजनु इक समानि ।
जन नानकु हरि का दासु है, हरि पैज रखहु भगवान ।।१०।।
गुरमुखि अंतरि सांति है, मनि तनि नामि समाइ ।
नामो चितवै नामु पड़ै, नामि रहै लिव लाइ ।।११।।
नामु पदारथु पाइआ, चिंता गई बिलाइ ।
सतिगुरि मिलिऐ नामु ऊपजै, तिसना भूख सभ जाइ ।।१२।।

साजीअण=तैयार किया । उपाइअनु=उत्पन्न किया । गिरासु=भोजन । किरसाणी=किसानी । हरिवाली=हरी-भरी । जिथै=जहाँ पर । जंत=जंतु, प्राणी । हरिआवले=सुखी । सवणा=सोना । सासि गिरासि=प्रत्येक श्वास-प्रश्वास । दरगह=दर्बार, परमात्मा के यहाँ । जूनी=८४ लाख योनि, आवागमन । चानण=प्रकाश, चाँदनी । ताथीऐ=वहीं पर । जंती...जंतु=जिस प्रकार, किसी बाजा वाले (यंत्री) के हाथ में उसका बाजा रहा करता है । पैज=प्रतिज्ञा । तिसना=तृष्णा, प्यास ।

संत धर्मदास

धर्मदास कबीर-पंथ की छत्तीसगढ़ी शाखा के मूल प्रवर्तक थे। उसे उन्होंने अपने निवास-स्थान बांधोगढ़ में सर्वप्रथम स्थापित की थी। उनके विषय में अनेक प्रकार की कथाएँ प्रसिद्ध हैं जो अधिकतर पौराणिक पद्धति पर ही रची गई हैं। वे कबीर साहब के गुरुमुख चेले कहे जाते हैं। किन्तु छत्तीसगढ़ी शाखा की गुरु-परंपरा की तालिका से ही जान पड़ता है कि उन दोनों के जीवन-काल में बहुत अंतर रहा होगा। धर्मदास की उपलब्ध रचनाओं में भी यत्र-तत्र यही दीखता है कि उन्होंने कबीर साहब के किसी अलौकिक रूप के ही दर्शन किये थे। कबीर साहब के प्रति उनकी श्रद्धा दैवी-भावना लिये हुई थी। उन्होंने उन्हें एक प्रकार का अवतारी महापुरुष मान रखा था। वे जाति के कसौंधन बनिया थे। उनका आविर्भाव, संभवतः विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ था।

धर्मदास की रचनाएँ भक्ति-रस द्वारा ओत-प्रोत हैं और उनमें इष्टदेव का स्थान प्रधानतः कबीर साहब ने ही ग्रहण किया है। उनका बनाया हुआ कोई ऐसा ग्रंथ नहीं मिलता जिसे असंदिग्ध रूप से उनकी कृति मान लिया जाय। फुटकर पद भी भिन्न-भिन्न संग्रहों में ही मिलते हैं। कतिपय छोटी-छोटी पुस्तकें उनके एवं कबीर साहब के संवाद-रूप में पायी जाती हैं। कबीर साहब का पौराणिक वृत्त तथा कबीर-पंथ की पूजन-प्रणाली ऐसी रचनाओं में प्रधानतः दीख पड़ती हैं और बहुत से पद्य स्तुति, प्रार्थनादि से भी सम्बद्ध हैं। धर्मदास की पंक्तियों में सगुणोपासक भक्तों का आर्त्तभाव विद्यमान है और उनकी दास्यवृत्ति के भी उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। उनकी भाषा पर कहीं-कहीं पूर्वीपन का प्रभाव लक्षित होता है जिसका कारण अस्पष्ट है।

पद

कबीर पिया (१)

मोरे पिया मिले सत ज्ञानी ।।टेक।।
ऐसन पिय हम कबहुँ न देखा, देखत सुरत लुभानी ।।१।।
आपन रूप जब चीन्हा बिरहिन, तब पिय के मनमानी ।।२।।
जब हंसा चले मानसरोवर, मुक्ति भरै जहँ पानी ।।३।।
कर्म जलाय के काजल कीन्हा, पढ़े प्रेम की बानी ।।४।।
धर्मदास कबीर पिय पाये, मिट गई आवाजानी ।।५।।

सत ज्ञानी = सत्स्वरूप की अनुभूति वाले। तब...मनमानी = तभी प्रियतम द्वारा अपनायी गई। मुक्ति...पानी = जहाँ पर मुक्ति का भी अपना महत्त्व नहीं रह जाता। आवाजानी = आवागमन, संसार में जन्म लेने एवं मरने का सिलसिला।

नामस्मरण-महत्व (२)

हम सतनाम के बैपारी ।।टेक।।
कोइ कोइ लादै कांसा पीतल, कोइ कोइ लौंग सुपारी।

हम तो लाद्यौ नाम धनी को, पूरन खेप हमारी ।।१।।
पूंजी न टूटै नफा चौगुना, बनिज किया हम भारी ।
हाट जगाती रोक न मकिहैं, निर्भय गैल हमारी ।।२।।
मोती बुंद घटही में उपजै, मुकिरत भरत कोठारी ।
नाम पदारथ लाद चला है, धर्मदास बैपारी ।।३।।

धनी = मालिक, परमात्मा । जगाती = जकाति या कर उगाहने वाले कर्मचारी । सुकिरत = संभवतः कबीर साहब का 'सुकृत' नाम या सत्कर्म ।

विषम स्थिति (३)

पिया बिना मोहि नीक न लागै गांव ।। टेक।।
चलत चलत मोरे चरन दुखित भे, आंखिन परिगे धूर ।।१।।
आगे चलूं पंथ नहिं सूझै, पाछे परै न पांव ।।२।।
ससुरे जाउं पिया नहिं चीन्है, नैहर जात लजाउं ।।३।।
इहां मोर गांव उहां मोर पाही, बीचे अमरपुर धाम । ४।।
धरमदास बिनवै करजोरी, तहां गांव न ठांव ।।५।।

नीक...गांव = संसार में अब ठहरना पसंद नहीं । आंखिन...धूर = बुद्धि कुंठित हो गई । चलत-चलत = आवागमन के कारण । आगे...सूझै = सब कुछ रहस्यमय ही प्रतीत होता है । पाछे...पांव = लौटना अब भला नहीं जान पड़ता । ससुर...चीन्है = विश्वास नहीं होता कि परमात्मा मुझे अंगीकार कर लेगा । नैहर...लजाउं = लौट कर त्यागे हुए स्थान को ही आ जाना लज्जास्पद है । पाही = दूर की खेती, अपरिचित स्थान में की गई चेष्टा । तहां = अमरत्व की दशा में ।

अंतःसाधना (४)

झरि लागै महलिया, गगन घहराय ।।टेक।।
खन गरजै खन बिजुली चमकै, लहर उठै सोभा बरनि न जाय ।।१।।
सुन्न महल से अंमृत बरसै, प्रेम अनंद होइ साध नहाय ।।२।।
खुली किवरिया मिटी अंधियरिया, धन सतगुरु जिन दिया है लखाय ।।३।।
धरमदास बिनवै कर जोरी, सतगुरु चरन में रहत समाय ।।४।।

खन = कभी-कभी । झरि...घहराय = अमृतस्राव एवं अनाहत शब्द । खुली... अंधियरिया = अनुभव होते ही भ्रांति दूर हो गई ।

संत दादू दयाल

संत दादू दयाल का जन्म फाल्गुन सुदि २, बृहस्पतिवार, सं० १६०१ को हुआ था । इनका देहांत ज्येष्ठ बदि ८, शनिवार, सं० १६६० को हुआ । इनका जन्म-स्थान गुजरात प्रदेश का अहमदाबाद नगर समझा जाता है और इनकी जाति धुनियाँ की मानी जाती है । इनका देहावहान राजस्थान प्रांत के नराणा गाँव में हुआ था, जहाँ पर इनके अनुयायियों का प्रधान मठ वा 'दादूद्वारा' आज भी वर्तमान है । वहाँ पर इनकी

दादू-गद्दी चलती है और उसके उपलक्ष में प्रतिवर्ष फाल्गुन की शुक्ल चतुर्थी से पूर्णिमा तक बहुत बड़ा मेला लगता है।

प्रसिद्ध है कि इन्हें अपनी आयु के ११वें वर्ष में ही किसी अज्ञात संत द्वारा दीक्षा मिली थी जिसे वृद्धानन्द वा बुड्ढन कहा जाता है। उन्होंने इन्हें उस समय अधिक प्रभावित नहीं किया, किन्तु १८वें वर्ष में, इन्हें फिर एक बार दर्शन देकर उन्होंने संत-पंथ की ओर प्रेरित कर दिया। तब से ये कुछ दिनों तक देशाटन, सत्संग, चिंतन, मनन एवं कतिपय साधनाओं में लगे रहे। लगभग ३० वर्ष की अवस्था में ये सांभर आकर रहने लगे। वहाँ पर अपने उपलब्ध अनुभवों के आधार पर इन्होंने 'ब्रह्म संप्रदाय' नाम की संस्था का सूत्रपात किया। यही संप्रदाय आगे चलकर, 'परब्रह्म संप्रदाय' कहा जाने लगा। फिर इसी का नाम 'दादू-पंथ' के रूप में भी विख्यात हुआ। जान पड़ता है कि उस समय तक इनका विवाह हो चुका था और ये गार्हस्थ्य-जीवन में भलीभाँति प्रवेश कर चुके थे। उक्त सांभर में रहते समय ही इन्हें दो पुत्र उत्पन्न हुए जिन्हें गरीबदास और मिस्कीनदास बतलाया जाता है। इनके परिवार का पालन-पोषण संभवतः इनकी पैतृक जीविका, अर्थात् धुनियागिरी से ही चलता था और ये साधारण गृहस्थ का जीवन व्यतीत करते थे। फिर भी इनका अधिक समय देशभ्रमण, सत्संग तथा सर्वसाधारण को उपदेश देने में ही बीता और ये कुछ ही दिनों में प्रसिद्ध हो चले। फलतः सांभर का परित्याग कर आमेर में रहते समय इन्हें अकबर बादशाह ने आध्यात्मिक चर्चा के लिए सिकरी में बुला भेजा और सं० १६४३ में किसी समय उसके साथ इनका सत्संग ४० दिनों तक चला।

संत दादू दयाल की पढ़ाई-लिखाई के सम्बन्ध में हमें कुछ भी विदित नहीं। परन्तु इस प्रकार का अनुमान करना कुछ अनुचित नहीं कहा जायगा कि इनकी आध्यात्मिक अनुभूति बड़ी गहरी और सच्ची थी तथा उसे व्यक्त करने की भाषा के प्रयोग में भी ये निपुण थे। इन्होंने अपनी बानियों की रचना का आरंभ कदाचित् सांभर में ही कर दिया था। पर आमेर में रहकर इन्होंने उस ओर और भी अधिक ध्यान दिया और वहीं से इनके शिष्यों द्वारा उनका प्रचार भी होने लगा। आमेर से आकर नराणे में रहते समय जब इनका देहांत हो गया तो इनके शिष्यों ने इनकी विविध रचनाओं को संगृहीत करना भी उचित समझा। तदनुसार संतदास तथा जगन्नाथ दास ने उनका एक संग्रह 'हरडेवाणी' के नाम से प्रस्तुत किया और उसमें पायी जाने वाली कतिपय त्रुटियों को दूर कर इनके प्रमुख शिष्य रज्जबजी ने एक अन्य संग्रह 'अंगबंधू' नाम से प्रचलित कर दिया। 'अंगबंधू' में इनकी सारी उपलब्ध रचनाओं को वर्गीकरण करके संगृहीत किया गया था और वही आगे के सभी संग्रहों का आदर्श बन गया। इस समय दादू दयाल की रचनाओं के प्रधान प्रकाशित संग्रहों में सुधाकर द्विवेदी, राय दलगंजन सिंह, चंद्रिका प्रसाद त्रिपाठी, बा० बालेश्वरी प्रसाद, स्वामी मंगलदास के संस्करण अधिक प्रसिद्ध हैं। उनमें भी त्रिपाठी जी का कदाचित् सबसे अधिक प्रामाणिक है। इसमें ३७ अंगों में विभाजित साखियों की संख्या २६५८ है और पदों की संख्या, २७ रागों के अनुसार, ४४५ है। इधर नागरी प्रचारिणी सभा से प्रस्तुत लेखक का भी एक प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित हुआ है।

पदों एवं साखियों के अतिरिक्त दादू दयाल की एक अन्य रचना 'काया बेलि' के नाम से भी प्रसिद्ध है जो संभवतः उनके पद संख्या ३५७ से लेकर ३६४ का ही एक

पृथक् संकलन मात्र है। इन रचनाओं में न केवल इनके सिद्धांतों एवं साधनाओं का ही परिचय मिलता है, प्रत्युत उनके एक-एक शब्द से इनके उस संत-हृदय का भी स्पष्ट पता चल जाता है जिसका क्रमिक विकास इनके शुद्ध सात्त्विक जीवन के सामान्य दैनिक व्यवहारों के बीच में ही हुआ होगा। अपनी नम्रता, क्षमाशीलता एवं कोमल-हृदयता के कारण ये केवल दादू से दादू 'दयाल' कहलाने लगे थे और सर्वव्यापक परमात्मतत्त्व के प्रति इनकी अविच्छिन्न विरहासक्ति ने इन्हें प्रेमोन्मत्त-सा बना दिया था। इनके असाधारण व्यक्तित्व का प्रभाव बहुत गहरा पड़ा करता था और जो कोई भी इनके संपर्क में आता था, वह इनका सदा के लिए हो जाता था। इनकी रचनाओं की भाषा मुख्यतः राजस्थानी है। परंतु उनमें गुजराती, सिंधी, पंजाबी, मराठी, फ़ारसी आदि के भी उदाहरण मिलते हैं। अनुमान होता है कि यह उनके देशाटन और सत्संग के कारण संभव हुआ होगा। संत दादू दयाल द्वारा प्रवर्त्तित दादू-पंथ के अनुयायी इस समय अच्छी संख्या में विद्यमान हैं और इनकी कृतियों का भी स्थान संत-साहित्य में बहुत ऊँचा है।

पद

सुमिरन (१)

राम नाम नहिं छांड़ौ भाई, प्रांण तजौं निकटि जिव जाई ॥टेक॥
रती रती करि डारै मोहि, सांई संग न छांडौं तोहि ॥१॥
भावै ले सिर करवत दे, जीवन-मूरी न छांडौं ते ॥२॥
पावक में ले डारै मोहि, जरै सरीर न छांडौं तोहि ॥३॥
इब दादू ऐसी बनि आई, मिलौ गोपाल निसान बजाई ॥४॥

निकटि...जाई = राम के पास ही मेरा जीव जायगा।

विरह (२)

क्यों बिसरै मेरा पीव पियारा, जीव की जीवनि प्रांण हमारा ॥टेक॥
क्यों करि जीवै मीन जल बिछुरै, तुम बिन प्रांण सनेही।
च्यंतामणि जब करथैं छूटै, तब दुप पावै देही ॥१॥
माता बालक दूध न देवै, सो कैसैं करि जीवै।
निर्धन का धन अनत भुलानां, सो कैसैं करि जीवै ॥२॥
बरसहु राम सदा सुष अंमृत, नीझर निर्मल धारा।
प्रेम पियाला भरि भरि दीजै, दादू दास तुम्हारा ॥३॥

कामना (३)

अवधू कामधेन गहि राषी।
बस कीन्हीं तब अमृत स्रवै, आगै चारि न नांषी ॥टेक॥
पोषंतां पहली उठि गरजै, पीछै हाथि न आवै।
भूषी भलैं दूध नित दूणां, यूं या धेंन दुहावै ॥१॥

ज्यूं ज्यूं षींण पड़ै त्यूं दूझै, मुकता मेल्यां मारै ।
घाटा रोकि घेरि घरि आणै, बांधी कारज सारै ।।२।।
सहजैं बांधी कदै न छूटै, कर्म बंधन छुटि जाई ।
काटै कर्म सहज सौं बांधे, सहजैं रहै समाई ।।३।।
छिन छिन मांहि मनोरथ पूरै, दिन दिन होइ अनंदा ।
दादू सोई देषतां पावै, कलि अजरावर कंदा ।।४।।

कामधेन=गायरूपिणी कामना को अपने वश में कर रखो। चारि=चारा, उनके भोजन की वस्तु। नांषी=फेंको, डालो। आगैं...नांषी=उसे खाने को न दो, विषयों से दूर रखो। पोषंतां=पोषण-पालन करने पर। भलैं=अच्छी भली रहती है। षींण=दुबली, क्षीण। मेल्यां=छोड़ देने पर। घाटा=हानिकारक विषयादि से। सहजै...समाई=सहज के साथ बँध जाने पर वह बंधन-मुक्त हो उसमें लीन हो जाती है, उसे अन्य कोई आधार नहीं रह जाता। छिन छिन...कंदा=जिसने इस प्रकार किया और उसे रोक रखा, उसकी अभीष्ट सिद्धि हो गई और उसे इस जीवन में ही अविनाशी मूलतत्त्व की अनुभूति हो गई।

व्यापक ब्रह्म (४)

निकटि निरंजन देषिहौं, छिन दूरि न जाई ।
बाहरि भीतरि येकसा, सब रह्या समाई ।।टेक।।
सतगुर भेद लषाइया, तब पूरा पाया ।
नैन नहीं निरषूं सदा, घरि सहजैं आया ।।१।।
पूरेसौं परचा भया, पूरी मति जागी ।
जीव जांनि जीवनि मिल्या, ऐसैं बड़भागी ।।२।।
रोम रोम मैं रमि रह्या, सो जीवनि मेरा ।
जीव पीव न्यारा नहीं, सब संगि बसेरा ।।३।।
सुंदर सो सहजैं रहै, घटि अंतरजामी ।
दादू सोई देषिहौं, सारौं संगि स्वामी ।।४।।

छिन=क्षण भर के लिए भी। जांनि=जानकर, अनुभव प्राप्त कर के। सारौं=सभी के।

मुक्ति (५)

निकटि निरंजन लागि रहै, तब हम जीवत मुकत भये ।।टेक।।
मरिकरि मुकति जहां लगि जाइ, तहां न मेरा मन पतिआइ ।।१।।
आगैं जन्म लहैं औतारा, तहां न मानैं मना हमारा ।।२।।
तन छूटे गति जो पद होइ, मृतक जीव मिलैं सब कोइ ।।३।।
जीवत जन्म सुफल करि जांना, दादू राम मिलै मन मांनां ।।४।।

जीवन्मुक्त (६)

ऐसैं गृह मैं क्यूं न रहै, मनसा बाचा रांम कहै ।।टेक।।
संपति बिपति नहीं मैं मेरा, हरषि सोक दोउ नांहीं ।
राग दोष रहित सुष दुष थैं, बैठा हरिपद मांहीं ।।१।।

तन धन माया मोह न बांधै, बैरी मीत न कोई ।
आपा पर समि रहै निरंतर, निज जन सेवग सोई ।।२।।
सरवर कवंल रहै जल जैसैं, दधि मथि घृत करि लीन्हां ।
जैसैं बनमैं रहै बटाऊ, काहू हेत न कीन्हां ।।३।।
भाव भगति रहै रसिमाता, प्रेम मगन गुन गावै ।
जीवन मुकत होइ जन दादू, अमर अभै पद पावै ।।४।।

अैसैं=ऐसे, इस ढंग से। रागदोष=रागद्वेष । समि=एकसमान, समान भाव के साथ। बटाउ=बटोही। काहू...कीन्हां=किसी से भी आसक्ति का भाव नहीं रखता।

साम्यभाव (७)

अलह रांम छूटा भ्रम मोरा ।
हिंदू तुरक भेद कछु नाहीं, देखौ दरसन तोरा ।।टेक।।
सोई प्रांण प्यंड पुनि सोई, सोई लोही मासा ।
सोई नैन नासिका सोई, सहजैं कीन्ह तमासा ।।१।।
श्रवणौ सबद बाजता सुणियें, जिभ्या मीठा लागै ।
सोई भूष सबन कौं व्यापै, एक जुगति सोइ जागै ।।२।।
सोई संधि बंध पुनि सोई, सोई सुष सोई पीरा ।
सोई हस्त पांव पुनि सोई, सोई एक सरीरा ।।३।।
यहु सब षेल षालिक हरि तेरा, तैंहि एक कर लीनां ।
दादू जुगति जांनि करि ऐसी, तब यहु प्रांन पतीना ।।४।।

संधि बंध=मार्मिक सम्बन्ध ।

सृष्टि-रहस्य (८)

क्यों करि यहु जग रच्यौ गुसाईं ।
तेरे कौंन विनोद बन्यौ मन मांहीं ।।टेक।।
कै तुम्ह आपा परगट करणां, कै यहु रचिले जीव उधरनां ।।१।।
कै यहु तुमकौं सेवग जांनैं, कै यहु रचिले मनके मांनें ।।२।।
कै यहु तुमकौं सेवग भावै, कै यहु रचिले षेल दिषावै ।।३।।
कै यहु तुमकौं षेल पियारा, कै यहु भावै कीन्ह पसारा ।।४।।
यहु सब दादू अकथ कहांनी, कहि समझावौं सारंग पानी ।।५।।

हैरान (९)

थकति भयौ मन कह्यौ न जाई, सहजि समाधि रह्यौ ल्यौ लाई ।।टेक।।
जे कुछ कहिये सोचि बिचारा, ग्यांन अगोचर अगम अपारा ।।१।।
साइर बूंद कैसैं करि तोलै, आप अबोल कहा कहि बोलै ।।२।।
अनल पंष परै परि दूरि, अैसैं राम रह्या भरपूरि ।।३।।
इन मन मेरा अैसै रे भाई, दादू कहिबा कहण न जाई ।।४।।

साइर =सागर, समुद्र । तोलै =किस प्रकार तुलना करे। अनल पंषि... दूरि =अलल पक्षी कितना भी उड़े, उसे आकाश का पूरा पता नहीं चल सकता।

सच्चा भक्त (१०)

तू राषै त्यूंहीं रहैं, नेई जन तेरा। तुम्ह बिन और न जांनहीं, मो सेवग तेरा ।।टेक।।
अंबर आपैंही धरचा, अजहूँ उपगारी। धरती धारी आपथैं, सबहीं सुषकारी ।।१।।
बचन पासि सब के चलैं, जैसैं तुम कीन्हां। पांनी परगट देषिहूँ, सब सौं रहैं भीनां ।।२।।
चंद चिराकी चहुँ दिसा सब सीतल जांनैं। सूरज भी सेवा करैं, जैसैं भल मांनैं ।।३।।
ये निज सेवग तेरड़े, सब आग्याकारी। मोकौं अैसैं कीजिये, दादू बलिहारी ।।४।।

चिराकी चिराग, प्रकाशमान।

अपना मत (११)

भाई रे ऐसा पंथ हमारा।
द्वै पष रहित पंथ गहि पूरा, अवरण एक अधारा ।।टेक।।
वादविवाद काहू सौं नांही, मांहि जगत थैं न्यारा।
समदृष्टि सुभाइ सहज मैं आपहि आप बिचारा ।।१।।
मैं तैं मेरी यहु मति नांहीं, निर्बैरी निरकारा।
पूरण सबै देषि आपा पर, निरालंब निर्धारा ।।२।।
काहू के संगि मोह न ममिता, संगी सिरजनहारा।
मनही मन सौं समझि सयांनां, आनंद एक अपारा ।।३।।
कांम कल्पनां कदे न कीजै, पूर्ण ब्रह्म पिआरा।
इहि पंथि पहुँचि पार गहि दादू, सो तत सहज संभारा ।।४।।

द्वै पष रहित = मध्य मार्ग का। मांहि = बीच में रहते हुए भी। अवरण = अवर्ण, निर्गुण।

साखी

सतगुरु

दादू सतगुर अंजन बाहि करि, नैन पटल सब पोले।
बहरे कानौं सुणने लागे, गूंगे मुख सो बोले ।।१।।
सतगुर कीया फेरि करि, मन का औरै रूप।
दादू पंचौ पलटि करि, कैसे भये अनूप ।।२।।
आत्मबोध बंझ कर बेटा, गुरमुषि उपजै आइ।
दादू पंगुल पंच बिन, जहां राम तहां जाइ ।।३।।
साचा समरथ गुर मिल्या, तिन तत दिया बताइ।
दादू मोट महाबली, घटि घृत मथि करि षाइ ।।४।।

वाहि करि = प्रयोग कर के। बंझ = वंध्या स्त्री, भक्ति। पंच बिन = पाँचों विषयों से न्यारा रह कर। मोट महाबली = हृष्टपुष्ट हो गया। घटि...षाइ = अपने भीतर ही ब्रह्मानंद-रूपी घृत खा लिया।

मन

दादू जिहि मन साधु धरै, सो मन लीया सोध।
मन लै मारग मूल गहि, यहु सतगुर का परमोध ॥५॥

दादू नैन न देष नैनकूं, अंतर भी कुछ नांहि।
सतगुर दर्पन करि दिया, अरस परस मिलि मांहि ॥६॥

दादू पंचौं ये परमोधिले, इनहीकौं उपदेस।
यहु मन अपणा हाथि कर, तौ चेला सब देस ॥७॥

दादू चम्बक देखि करि, लोहा लागै आइ।
यौं मन गुण इंद्री एक सौं, दादू लीजै लाइ ॥८॥

मन का आसण जे जिव जाणै, तौ ठौर ठौर सब सूझै।
पंचौं आणि एक घरि राषै, तब अगम निगम सब बूझै ॥९॥

कहै लपै सो मानवी, सैन लपै सो साध।
मन की लपै, सू देवता, दादू अगम अगाध ॥१०॥

परमोध = प्रबोध, ज्ञान। परमोधिले = समझा-बुझा कर संयत कर ले। चम्बक = चुम्बक। एक सौं = परमात्मा के साथ।

नाम-स्मरण

दादू नीका नांव है, हरि हिरदै न बिसारि।
मूरति मन मांहै बसै, सासैं सास संभारि ॥११॥

दादू राम अगाध है, परिमित नांही पार।
अवरण बरण न जांणिये, दादू नांउ अधार ॥१२॥

सर्गुण निर्गुण ह्वै रहै, जैसा है तैसा लीन।
हरि सुमिरण ल्यौं लाइये, का जाणौं का कीन ॥१३॥

नांव सपीड़ा लीजिये, प्रेम भगति गुण गाइ।
दादू सुमिरण प्रीतसौं, हेत सहित ल्यौं लाइ ॥१४॥

दादू रामनाम सबको कहै, कहिबे बहुत बमेक।
एक अनेकौं फिरि मिलै, एक समाना एक ॥१५॥

सुमिरण का संसा रह्या, पछितावा मन मांहि।
दादू मीठा राम रस, सगला पीया नांहि ॥१६॥

अगनि धोम ज्यौं नीकलै, देषत सबै बिलाइ।
त्यौं मन बिछुरया रामसौं, दह दिसि बीपरि जाइ ॥१७॥

जहां सुरति तहं जीव है, जहं नाही तहं नांहि।
गुण निर्गुण जहं राषिये, दादू घर बन मांहि ॥१८॥

सांसैं सांम = अनन्य गति से, निरंतर। अवरण...जांणिये = अज्ञेय है। सपीड़ा = गहरी अनुभूति के साथ।

विचार

दादू आपा ऊरझें उरझिया, दीसै सब संसार।
आपा सुरझें सुरझिया, यहु गुरज्ञान विचार ॥१९॥

जब समझ्या तब सुरझिया, उलटि समाना सोइ।
कछु कहावै जब लगै, तब लग समझि न होइ ॥२०॥

जे मति पीछैं उपजैं, सो मति पहिली होइ।
कबहुं न होवै जी दुखी, दादू सुखिया सोइ ॥२१॥

कछु...लगै = आपा के कारण पृथकत्व का भाव। पीछे...पहिली = कार्य के पूर्व तथा पश्चात्।

सारग्रहण

दादू गउ बच्छ का ज्ञान गहि, दूध रहै ल्यौ लाइ।
सींग पूंछ पग परहरै, अस्थन लागा धाइ ॥२२॥

दादू एक घोड़ै चढ़ि चलै, दूजा कोतिल होइ।
दुहु घोड़ौं चढ़ि बैसतां, पारि न पहुंता कोइ ॥२३॥

अस्थन = स्तन।

प्रेम तथा विरह

श्रवना राते नादसौं, नैंना राते रूप।
जिभ्या राती स्वाद सौं, त्यौं दादू एक अनूप ॥२४॥

दादू इसक अल्लाह का, जे कबहूँ प्रगटै आइ।
तौ तन मन दिल अरवाह का, सब पड़दा जलि जाइ ॥२५॥

साहिब सौं कुछ बल नहीं, जिनि हठ साधे कोइ।
दादू पीड़ पुकारिये, रोतां होइ सो होइ ॥२६॥

पहिली आगम विरह का, पीछें प्रीति प्रकास।
प्रेम मगन लैलीन मन, तहां मिलन की आस ॥२७॥

मनही मांहै झूरणां, रोवै मन ही मांहि।
मन ही मांहै धाह दे, दादू बाहरि नांहि ॥२८॥

दादू बिरह जगावै दरद कौं, दरद जगावै जीव।
जीव जगावै सुरति कौं, पंच पुकारै पीव ॥२९॥

प्रीति जु मेरे पीव की पैठी पिंजर मांहि।
रोम रोम पिव पिव करै, दादू दूसर नांहि ॥३०॥

बिरह अगनि मैं जलि गये, मनके विषै विकार।
तार्थें पंगुल ह्वै रह्या, दादू हरि दीदार ॥३१॥

जे हम छांडे रामकौं, तौ राम न छांडै ।
दादू अमली अमल थैं, मन क्यूं करि काढै ।।३२।।

राम विरहनी ह्वै रह्या, विरहनि ह्वै गई राम ।
दादू बिरहा वापुरा, अैसै करि गया काम ।।३३।।

दादू इसक अलह की जाति है, इसक अलह का अङ्ग ।
इसक अलह औजूद है, इसक अलह का रङ्ग ।।३४।।

एक=अद्वितीय परमात्मतत्त्व । अरवाह=आत्मा । धाह दे=पुकार करता है । प्रसिद्ध है कि इस साखी को संत दादू दयाल ने अकबर बादशाह के एक प्रश्न पर कहा था जो परमात्मा की जाति, रंग, अंग एवं अस्तित्व से सम्बद्ध था । औजूद= वजूद, अस्तित्व ।

अनुभव का रूप

ज्ञान लहर जहां थैं उठै, वाणी का परकास ।
अनभै जहां थैं ऊपजै, सबदैं किया निवास ।।३५।।

दादू आपा जब लगै, तब लग दूजा होइ ।
जब यहु आपा मिटि गया, तब दूजा नांहीं कोइ ।।३६।।

दादू है कौं भै घणां, नांहीं कौं कुछ नांहि ।
दादू नांही होइ रहु, अपणे साहिब मांहि ।।३७।।

सुन्य सरोवर मीन मन, नीर निरंजन देव ।
दादू यहु रस बिलसिये, ऐसा अलष अभेव ।।३८।।

चर्म दृष्टी देषै बहुत, आतम दृष्टी एक ।
ब्रह्म दृष्टि परचै भया, तब दादू बैठा देष ।।३९।।

येई नैनां देहके, येई आतम होइ ।
येई नैनां ब्रह्म के, दादू पलटे दोइ ।।४०।।

दादू सबद अनाहद हम सुन्या, नषसिष सकल सरीर ।
सब घटि हरि हरि होत है, सहजैं ही मन थीर ।।४१।।

जे कुछ बेद कुरांन थैं, अगम अगोचर बात ।
सो अनभै साचा कहै, यहु दादू अकह कहात ।।४२।।

प्रांण हमारा पीवसौं, यौं लागा सहियें ।
पुहप वास, घृत दूध मैं, अब कासौं कहियें ।।४३।।

दादू हरि रस पीवतां, कवहूं अरुचि न होइ ।
पीवत प्यासा नित नवा, पीवणहारा सोइ ।।४४।।

अनभै=अनुभव । भै=भय । चर्म दृष्टी = सामान्य दृष्टि । अकह = अनिर्वचनीय ।

तन्मयता

दादू लै लागी तब जाणिये, जे कबहूं छूटि न जाइ ।
जीवत यौं लागी रहै, मूवां मंझि समाइ ।।४५।।

सब तजि गुण आकार के, निहचल मन ल्यौ लाइ।
आतम चेतन प्रेम रस दादू रहै समाइ ॥४६॥
यौं मन तजै शरीर कौं, ज्यौं जागत सो जाइ।
दादू बिसरै देषतां, सहज सदा ल्यौ लाइ ॥४७॥
आदि अंति मधि एक रस, टूटै नहि धागा।
दादू एकै रहि गया, तब जाणी जागा ॥४८॥
भगति भगति सबको कहै, भगति न जाणै कोइ।
दादू भक्ति भगवंत की, देह निरन्तर होइ ॥४९॥
दादू नैन बिन देषिबा, अङ्ग बिन पेषिबा, रसन बिन बोलिबा, ब्रह्मसेती।
श्रवण बिन सुणिवा, चरण बिन चालिबा, चित्त बिन चिंत्यवा, सहज एती ॥५०॥
लै विचार लागा रहै, दादू जरता जाइ।
कबहूँ पेट न आफरे, भावे तेता पाइ ॥५१॥
सोई सेवग सब जरै, जेता रस पीया।
दादू गूझ गंभीर का, परकास न कीया ॥५२॥

पेषिबा=पेखना, प्रेक्षण करना, अवलोकन करना। ब्रह्मसेती=ब्रह्म के साथ, परमात्मा से। चिंत्यवा=चिंतन करना, विचारना। सहज एती=यही सहज की स्थिति वा सहजावस्था है। लै...जाइ=विचारपूर्वक भजन में लगा रहे और परमात्मतत्त्व को पचाता वह अपनाता चले। आफरै=अजीर्ण के कारण फूलता नहीं, उद्वेग का कारण नहीं बनता। गूझ=गुह्य वा गुप्त रखना।

एकांतनिष्ठा

प्रेम पियाला रामरस, हमकौं भावै येह।
रिधि सिधि मांगैं मुकति फल, चाहैं तिनकौं देह ॥५३॥
तन भी तेरा मन भी तेरा, तेरा प्यंड परान।
सब कुछ तेरा तूं है मेरा, यहु दादू का ज्ञान ॥५४॥

साधु

दादू निराकार मन सुरति सौं, प्रेम प्रीति सौं सेव।
जे पूजै आकार कौं, तौ साधू प्रतषि देव ॥५५॥
दादू फिरता चाक कुंभार का, यूं दीसे संसार।
साधू जन निहचल भये, जिनके राम अधार ॥५६॥
विष का अंमृत करि लिया, पावक का पाणी।
बांका सूधा करि लिया, सो साध बिनांणी ॥५७॥
दादू करणी हिंदू तुरक की, अपणी अपणी ठौर।
दुहुं बिच मारग साध का, यहु संतौं की रह और ॥५८॥
काचा उछलै ऊकणै, काया हांडी माहिं।
दादू पाका मिलि रहै, जीव ब्रह्म द्वै नाहिं ॥५९॥

प्रतषि=प्रत्यक्ष। बिनांणी=विज्ञानी, उत्तम।

आपा

मनसा के पकवान सौं, क्यौं पेट भरावै ।
ज्यौं कहिये त्यौं कीजि तबही बनि आवै ॥६०॥
दादू तौ तूं पावे पीव कौं, आपा कछू न जान ।
आपा जिसथैं ऊपजै, सोई सहज पिछान ॥६१॥
दादू सीष्यूं प्रेम न पाइये, सीष्यूं प्रीति न होइ ।
सीष्यूं दर्द न ऊपजै, जब लग आप न षोइ ॥६२॥
जहाँ राम तहं मैं नहीं, मैं तहं नांही राम ।
दादू महल बारीक है, द्वौं कूं नांही ठाम ॥६३॥

सीष्यूं = सीखने मात्र से ही ।

व्यापक ब्रह्म

दादू सबहीं गुर किये, पसु पंषी बनराइ ।
तीनि लोक गुण पंचसौं, सबहीं माँहि षुदाइ ॥६४॥
दादू देषों जिन पीवकौं, और न देषों कोइ ।
पूरा देषों पीव कौं, बाहरि भीतरि सोइ ॥६५॥
तन मन नाहीं मैं नहीं, नहिं माया नहिं जीव ।
दादू एकै देषिये, दह दिसि मेरा पीव ॥६६॥
दह दिसि दीपक तेज के, बिन बाती बिन तेल ।
चहुं दिसि सूरज देषिये, दादू अद्भुत षेल ॥६७॥

सबहीं गुर किये = सभी को गुरुवत् मान कर उनके अनुसार चलने का निश्चय किया है । पूरा = पूर्ण, व्याप्त । दह दिसि = दशों दिशाओं में, सर्वत्र ।

लीला

बाजी चिहर रचाइ करि, रह्या अपरछन होइ ।
माया पट पड़दा दिया, तार्थं लषै न कोइ ॥६८॥
जब पूरण ब्रह्म विचारिये, तब सकल आतमा एक ।
काया के गुण देषिये, तौ नाना बरण अनेक ॥६९॥
अंधे कौं दीपक दिया, तौभी तिमर न जाइ ।
सोधी नहीं सरीर की, तासनि का समझाइ ॥७०॥

बाजी = खेल, दृश्य । चिहर = चिड़ियों की जैसी चहल-पहल । अपरछन = अप्रत्यक्ष । सोधी = शुद्धि ।

सूक्ष्म जन्म

दादू चौरासी लष जीवकी, परकीरति घट माँहि ।
अनेक जन्म दिन के करै, कोई जाणै नाँहि ॥७१॥
जीव जन्म जाणै नहीं, पलक पलक मैं होइ ।
चौरासी लष भोगवै, दादू लषै न कोइ ॥७२॥

परकीरति = प्रकृति, स्वभाव । दिन के = प्रतिदिन निरंतर ।

अपना मत

आपा मेटै हरि भजै, तन मन तजै विकार।
निर्बैरी सब जीव सौं, दादू यहु मत सार ॥७३॥

तन...विकार = आत्म शुद्धि कर ले।

विनय

माया विषै विकार थैं, मेरा मन भागै।
सोई कीजै साँइयां, तू मीठा लागै ॥७४॥
जे साहिब कूं भावै नहीं, सो हमथैं जिनि होइ।
सतगुर लाजै आपणा, साध न मानै कोइ ॥७५॥

तू मीठा लागै = तेरे प्रति अनुरक्ति सदा बनी रहे।

गुरु अर्जुनदेव

गुरु अर्जुनदेव चौथे सिखगुरु रामदास के पुत्र थे। इनका जन्म बैशाख बदि ७, सं० १६२० को अपने नाना गुरु अमरदास के घर हुआ था। गुरु अमरदास इन्हें बहुत प्यार करते थे और ये पहले बचपन में सदा उन्हीं के यहाँ रहते रहे। उनकी मृत्यु के अनन्तर अपने पिता के साथ रहने लगे। गुरु अर्जुनदेव के दो भाइयों को इनका अपने पिता का उत्तराधिकारी बनना बहुत खला और वे इनकी उन्नति में सदा बाधाएँ डालते रहे। इनसे द्वेष-भाव रखने वाले अन्य व्यक्तियों में एक प्रसिद्ध राजा बीरबल थे और दूसरा चंदूशाह था जो अकबर बादशाह का अर्थमंत्री था। चंदू इनके पुत्र हरगोविन्द के साथ अपनी पुत्री का विवाह न कर सकने के कारण, अपने को अपमानित समझता रहा। उसने इनके भाई प्रिथिया से मिलकर इनके विरुद्ध अनेक प्रकार के षड्यंत्र रचे और जहाँगीर बादशाह के समय तक, इन्हें राजद्रोही तक घोषित करा दिया। फलतः ये राजबन्दी बनाये गए। इन्हें अनेक प्रकार के कष्ट दिये गए। अंत में, इन्हें शरीरत्याग तक करने के लिए विवश होना पड़ा। इनका देहान्त सं० १६६३ की जेठ सुदि ४ को, रावी नदी में जल-समाधि लेने के कारण हुआ, जबकि इनकी अवस्था केवल ४३ वर्ष की ही थी।

गुरु अर्जुनदेव बड़े ही योग्य व्यक्ति थे। सिखधर्म के लिए उन्होंने अपने अल्प जीवन-काल में ही बहुत से महत्त्वपूर्ण कार्य किये। उन्होंने अपने सिखों की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध किया, उनके वाणिज्य-व्यवसाय को प्रोत्साहन दिया। अमृतसर, तरन-तारन जैसे नगरों में कई एक तालाब खुदवाये तथा अपने मत के प्रचारार्थ उन्हें घोड़े का व्यापार करने के बहाने तुर्किस्तान आदि देशों तक भेजा। गुरु अर्जुनदेव के अन्य महत्त्व-पूर्ण कार्यों में 'आदिग्रंथ' का संग्रह तथा सम्पादन विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि वही आज तक सिखधर्म के आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक का काम करता आया है। गुरु अर्जुनदेव को उसमें संगृहीत पदों को एकत्र करने के लिए स्वयं भी घूमना पड़ा। अन्य प्रसिद्ध-प्रसिद्ध भक्तों के अनुयायियों को भी आमंत्रित कर उनसे अपने-अपने श्रेष्ठ भजनों को चुनवाना पड़ा। फिर सभी ऐसी संगृहीत रचनाओं के पाठ आदि पर उन्हें गम्भीरता के साथ विचार करना पड़ा। 'आदिग्रंथ' को उन्होंने गुरु अंगद द्वारा निर्मित गुरमुखी लिपि में भाई गुरुदास से लिखवा कर भादो वदि १, सं० १६६१ में तैयार किया था। गुरु

अर्जुनदेव की रचनाएँ उक्त ग्रंथ के अन्तर्गत, संख्या में सबसे अधिक हैं और वे 'महला' ५ के नीचे, भिन्न-भिन्न रागों, सलोकों, छंदों आदि में आयी हैं। उनमें इनकी सत्यनिष्ठा, निरभिमानिता, भगवद्भक्ति और विश्वप्रेम के भाव प्रायः सर्वत्र दृष्टिगोचर होते हैं। इनके भावों की अभिव्यक्ति में गुरु नानकदेव से कहीं अधिक स्पष्टता तथा सरलता है और उनकी अपेक्षा इनमें पंजाबीपन का भी प्रभाव बहुत कम दीख पड़ता है। इनकी 'सुखमनी' एक बहुत उच्चकोटि की रचना है और सिख लोग उसे प्रायः वही स्थान देते हैं जो गुरु नानकदेव के 'जपुजी' को दिया जाता है।

पद

वही सब कुछ (१)

आपे पेडु बिसथारी साथ। अपनी पेती आपे राष ।।१।।
जत कत पेषउ एकै ओही। घट घट अंतरि आपे सोइ ।।रहाउ।।
आपे सूरु किरणि बिसथारु। सोई गुपतु सोई अकारु ।।२।।
सरगुण निरगुण थापै नाउ। दुहू मिलि एक कीनो ठाउ ।।३।।
कहु नानक गुरि भ्रमु भउ षोइआ। अनंद रूपु सभु नैन अलोइआ ।।४।।

बिसथारी=फैलाया है। राष=रखवाली करता है। अलोइआ=अवलोकन कर लिया। भउ षोइआ=भय दूर कर दिया अथवा भवजनित भ्रम का निराकरण कर दिया।

सभी में व्याप्त (२)

सगल बनसपति महि बैसंतरु, सगल दूधु महि घीआ।
ऊँच नीच महि जोति समाणी, घटि घटि माधउ जीआ ।।१।।
संतहु घटि घटि रहिआ समाहिउ ;
पूरन पूरि रहिउ सरब महि, जलथल रमईआ आहिउ ।।रहाउ।।
गुणनिधान नानकु जसु गावै, सतिगुरि भरगु चुकाइउ।
सरब निवासी सदा अलेपा, सभि महि रहिआ समाइउ ।।२।।

बनसपति=वृक्ष, यहाँ काष्ठ। बैसंतरु=आग। आहिउ=है।

वही एक (३)

एक रूप सगलो पासारा। आपे बनजु आपि बिउहारा ।।१।।
ऐसी गिआनु बिरलोई पाए। जत जत जाईए, तत तत द्रिसटाए ।।रहाउ।।
अनिक रंग निरगुन इकरंगा। आपे जलु आपही तरंगा ।।२।।
आपही मंदरु आपही सेवा। आपही पुजारी आपही देवा ।।३।।
आपही जोग आपही जुगता। नानक के प्रभु सदही मुकता ।।४।।

पासारा=विस्तृत सृष्टि। जत...द्रिसटाए=जैसे-जैसे जानते हैं, वैसे-वैसे स्पष्ट होता जाता है। अनिक...इकरंगा=सभी विभिन्नताओं में भी अभिन्न है।

आराध्य से आत्मीयता (४)

तू जलनिधि हम मीन तुमारे। तेरा नामु बूंद हम चात्रिक तिषहारे।
तुमरी आस पिआसा तुमरी, तुमही संगि मनु लीना जीउ ॥१॥
जिउ बारिकु पी षीरु अघावै। जिउ निधनु धनु देषि सुषु पावै।
त्रिषावंत जलु पीवत ठंढा, तिउ हरि संगि इहु मनु भीना जीउ ॥२॥
जिउ अंधियारै दीपक परगासा। भरता चितवत पूरन आसा।
मिलि प्रीतम जिउ होत अनंदा, तिउ हरि रंगि मनु रंगीना जीउ ॥३॥
संतन मोकउ हरि मारगि पाइआ। साध क्रिपालि हरि संगि गिझाइआ।
हरि हमारा हम हरि के दासे, नानक सबदु गुरु सचु दीना जीउ ॥४॥

तिषहारे=प्यासे, तृषार्त्त। बारिकु=बालक। भरता...आसा=स्वामी को देखते ही आशा पूर्ण हो जाती है। पाइआ=प्राप्त करा दिया। गिझाइआ=चस्का लगा दिया। दीना=दिया।

एक मात्र तूही (५)

तूं पेडु साष तेरी फूली। तू सूषमु होआ असथूली।
तूं जलनिधि तूं फेनु बुदबुदा, तुधु बिनु अवरु न भालीऐ जीउ ॥१॥
तूं सूत मणीए भी तूं है। तूं गंठी मेरु सिरि तूं है।
आदि मधि अंति प्रभु सोइ, अवरु न कोइ दिषलीऐ जीउ ॥२॥
तूं निरगुण सरगुण सुषदाता। तूं निरवाण रसीआ रंगिराता।
अपणे करतब आपे जाणहि, आपे तुधु समालीऐ जीउ ॥३॥
तूं ठाकुरु सेवकु फुनि आपे। तूं गुपतु परगटु प्रभु आपे।
नानक दासु सदा गुण गावै, इक भोरी नदरि निहालीऐ जीउ ॥४॥

तू...असथूली=तू ही सूक्ष्म से स्थूल भी हो गया दीखता है। भालीऐ=देखा जाता है। आपे...जीउ=तू ही अपना आप आधार है। भोरी...जीउ=अपनी सरल चितवन से मुझे देखिए।

मेरे एक मात्र इष्टदेव (६)

प्रभ जी तू मेरे प्रान अधारै।
नमसकार डंडउति बंदना, अनिक बार जाउ वारै ॥रहाउ॥
उठत बैठत सोवत जागत, इहु मनु तुझहि चितारै।
सूष दूष इसु मनकी बिरथा, तुझही आगे सारै ॥१॥
तू मेरी ओट बल बुधि धन, तुमही तुमहि मेरै परवारै।
जो तुम करहु सोई भल हमरै, पेषि नानक सुष चरनावै ॥२॥

चितारै=बार-बार स्मरण करता है। सारै=विवृत करता है। बिरथा=व्यथा। ओट=सहारा। परवारै=परिवार वा प्रतिपाल।

तेराही सब कुछ (७)

मैं नाहीं प्रभ सभ किछु तेरा ।
ईथै निरगुन ऊथै सरगुन, केल करत विचि सुआमी मेरा ।।रहाऊ।।
नगर महि आपि बाहरि फुनि आपन, प्रभ मेरे को सागल बसेरा ।
आपे ही राजन आपे ही राइआ, कह कह ठाकुरु कह कह चेरा ।।१।।
काकउ दुराउ कासिउ बल बंचा, जह जह पेखउ तह तह नेरा ।
साध मूरति गुरु भेटिउ नानक, मिलि सागर बूंद नही अनहेरा ।।२।।

ईथै...ऊथै = एक ओर, दूसरी ओर । कह ....चेरा = कही स्वामी कही सेवक । काकउ...बंचा किसे त्यागूँ और किससे सहायता माँगूँ । अनहेरा = बिना ढूंढ़ा हुआ नहीं रह जाता ।

तेरा भेद अगम्य (८)

तेरी कुदरति तूहै जाणहि, अवरु न दूजा जाणै ।
जिसनो क्रिपा करहि मेरे पिआरे, सोई तुझै पछाणै ।।१।।
तेरिआ भगता कउ बलिहारा ।
थानु सुहावा सदा प्रभ तेरा रंग तेरे आपारा ।।रहाउ।।
तेरी सेवा तुझते होवै, अवरु न दूजा करता ।
भगतु तेरा सोई तुधु भावै, जिसनो तू रंगु धरता ।।२।।
तूं बड़ दाता तू बड़ दानी, अउरु नहीं को दूजा ।
तू समरथु सुआमी मेरा, हउ किआ जाणा तेरी पूजा ।।३।।
तेरा महलु अगोचरु मेरे पिआरे, बिखमु तेरा है भाणा ।
कहु नानक ढहि पइआ दुआरे, रखि लेवहु मुगध अजाणा ।।४।।

दाता = बुद्धिमान । बिखमु...भाणा = तुझे जान लेना अत्यन्त कठिन है ।

प्रतिपालक (९)

प्रभ मेरो इत-उत सदा सहाई ।
मन मोहनु मेरे जीअ को पिआरो, कवनु कहा गुन गाई ।।रहाउ।।
पेल पिलाइ लाड़ लाड़ावै, सदा सदा अनंदाई ।
प्रतिपालै बारिक की निआई, जैसे मात पिताई ।।१।।
तिसु बिनु निमप नहीं रहि सकीऐ, बिसरि न कबहूं जाई ।
कहु नानक मिलि संत संगति ते, मगन भए लिव लाई ।।२।।

अनंदाई = आनंदित कर के । निआई = समान, भाँति ।

रहस्यमय (१०)

कवन रूपु तेरा आराधउ । कवन जोगु काइआ ले साधउ ।।१।।
कवन गुनु जो तुझलै गावउ । कवन बोल पारब्रह्म रिझावउ ।।रहाउ।।
कवन सु पूजा तेरी करउ । कवन सु बिधि जितु भवजल तरउ ।।२।।

कवन तप जितु तपीआ होइ । कवनु सुनामु हउमै मलु पोइ ।।३।।
गुण पूजा गिआन धिआन नानक सगल घाल ।
जिसु करि किरपा सतिगुरु मिलै दइआल ।।४।।
तिसही गुनु तिनही प्रभु जाता । जिसकी मानि लेइ सुषदाता ।।रहाउ दूजा।।

पेल = खेल, मनोरंजक कृत्य । घाल = कर डाल ।

विनय (११)

भुज बल बीर ब्रह्म सुष-सागर । गरत परत गहि लेहु अंगुरीआ ।।रहाउ।।
स्रवनि न सुरति नैन सुंदर नही । आरत दुआरि रटत पिंगुरीआ ।।१।।
दीनानाथ अनाथ करुणामै, साजन मीत पिता महतरीआ ।
चरन कवंल हिरदै गहि नानक, भैसागर सत पारि उतरीआ ।।२।।

गरत परत = गिरते-पड़ते हुए को । पिंगुरिआ = पंगु, असहाय ।

प्रेमा भक्ति (१२)

अैसी प्रीति गोबिंद सिउ लागी । मोलि लए पूरन बड़भागी ।।रहाउ।।
भरता पेपि बिगसै जिउ नारी । तिउ हरिजनु जीवै नामु चितारी ।।१।।
पूत पेषि जिउ जीवत माता । ओतिपोति जनु हरि सिउ राता ।।२।।
लोभी अनंदु करै पेषि धना । जन चरन कमल सिउ लागो मना ।।३।।
बिसरु नही इकु तिलु दातार । नानक के प्रभ प्रान आधार ।।४।।

मोलि लए = धारण कर लिया । चितारी = स्मरण करके । ओतिपोति = ओत-प्रोत, पूर्णतः । दातार = धनी, स्वामी ।

अनुराग (१३)

बिसरत नाहि मन ते हरी ।
अब इह प्रीति महा प्रबल भई, आन बिषै जरी । रहाउ।।
बूंद कहा तिआगि चात्रिक, मीन रहत न घरी ।
गुन गोपाल उचरु रसना, टेव एह परी ।।१।।
महानाद कुरंक मोहिउ, बेधि तीषन सरी ।
प्रभ चरन कमल रसाल नानक, गाँठि बाँधि धरी ।।२।।

टेव = आदत, लत । सरी = सर, तीर ।

विरह (१४)

मेरा मनु लोचै गुर दरसन ताई, बिलप करे चात्रिक की निआई ।
त्रिषा न उतरै सांति न आवै, बिनु दरसन संत पिआरे जीउ ।।१।।
हउ घोली जीउ घोलि घुमाई, गुर दरसन संत पिआरे जीउ ।।रहाउ।।

तेरा मुषु सुहावा जीउ सहज धुनि बाणी । चिरु होआ देषे सारिंग पाणी ।
धंनु सुदेसु जहाँ बसिआ, मेरा सजणा मीत मुरारे जीउ ।।२।।
हउ घोली हउ घोलि घुमाई, गुर सजणा मीत मुरारे जीउ ।।रहाउ।।
इक घड़ी न मिलते ता कलिजुगु होता, हुणि कदि मिलीअै प्रिअ तुधु भगवंता ।
मोहि रैणि न विहावै नींद न आवै, बिनु देषै गुर दरबारे जीउ ।।३।।
हउ घोली जिउ घोलि घुमाई, तिसु सचे गुर दरबारे जीउ । रहाउ।।
भागु होआ गुरि संतु मिलाइआ । प्रभु अबिनासी घर महि पाइआ ।
सेव करी पलु चसा न बिछुड़ा, जन नानक दास तुमारे जीउ ।।४।।
हउ घोली जीउ घोलि घुमाई, जन नानक दास तुमारे जीउ ।।रहाउ।।

लोचै = उत्सुक हो रहा है । ताई = के लिए । हउ घोली......घुमाई = मैं उसी में घुल-मिल गया हूँ । चिरु = बहुत समय । हुणि = हो जाय । चसा = तनिक भी ।

सर्वस्व तूही (१५)

सतगुर मूरति कउ बलि जाउ ।
अंतरि पिआस चात्रिक जिउ जल की, सफल दरसनु कदि पाँउ ।।रहाउ।।
अनाथा को नाथु सरब प्रतिपालकु, भगति बछलु हरि नाँउ ।
जाकउ कोइ न राषै प्राणी, तिसु तू देहि असराउ ।।१।।
निधरिआ धरनि गति आगति, निथाविआ तू थाउ ।
दहदिस जांउ तहां तू संगे, तेरी कीरति करम कमाउ ।।२।।
एकसु ते लाष लाष ते एका, तेरी गति मिति कहि न सकाउ ।
तू बेअंतु तेरी मिति नहीं पाईअै, सभु तेरो षेलु दिषाउ ।।३।।
साधन का संगु साध सिउ गोसटि, हरि साधन सिउ लिव लाइ ।
जन नानक पाइआ है गुरमति, हरि देहु दरसु मनि चाउ ।।४।।

असराउ = आश्रय । निधरिआ = निराधार के लिए । आगति = शरणापन्न के लिए । निथाविआ = निराधार के लिए । करम = अनुग्रह । षेलु = लीला । मनि चाउ = मन में उत्सुकता है ।

भीतरी साधना (१६)

सब किछु घर महि बाहरि नाही । बाहरि टोलै सो भरमि भुलाही ।
गुर परसादी जिनी अंतरि पाइआ, सो अंतरि बाहरि सुहेला जीउ ।।१।।
झिमि झिमि बरसै अंम्रित धारा । मनु पीवै सुनि सबदु बीचारा ।
अनंद बिनोद करै दिन राती, सदा सदा हरिकेला जीउ ।।२।।
जनम जनम का बिछुड़िया मिलिआ, साध क्रिपा ते सूका हरिआ ।
सुमति पाए नाम धिआए, गुरमुषि होए मेला जीउ ।।३।।
जल तरंग जिउं जलहि समाइआ । तिउं जोती संगि जोति मिलाइआ ।
कहु नानक भ्रम कटे किवाड़ा, बहुड़ि न होइअै जउला जीउ ।।४।।

सुहेला = सुन्दर । सूका हरिआ = सूखा हरा हो उठा । किवाड़ा = बाधा, रोक । जउला = जाना ।

स्थिरता की उपलब्धि (१७)

अब मोरो नाचनो रहो।
लाल रंगीला सहजे पाइउ, सतिगुर बचनि लहो ।।रहाउ।।
कुआर कंनिआ जैसे संगि सहेरी, पिआ बचन उपहास कहो।
जउ सुरजनु ग्रिह भीतरि आइउ, तब मुषु काजि लजो ।।१।।
जिउ कनिको कोठारी चड़िउ, कबरो होत फिरो।
जबते सुध भए है बारहिं, तबते थान थिरो ।।२।।
जउ दिनु रैनि तऊ लऊ बजिउ, मूरत धरी पलो।
बजावनहारो उठि सिधारिउ, तब फिरि बाजु न भइउ ।।३।।
जैसे कुंभ उदक पूरिआनिउ, तब तुहु भिन द्रिसटो।
कहु नानक कुंभु जलै महि डारिउ, अंभै अंभ मिलो ।।४।।

रहो=बंद हो गया। कुआर कंनिआ=क्वारी कन्या। जउ..लजो=जब पति के घर आ जाती है तो लज्जा का अनुभव करने लगती है। जिउ...थिरो=जिस प्रकार सुधारे जाने के पहले अन्न यहाँ-वहाँ घुमाया-फिराया जाता रहता है और शुद्ध होते ही अपना स्थान ग्रहण कर लेना है। जैसे...द्रिसटो=जिस प्रकार घड़े में भरे जाने पर जल पृथक् जान पड़ता है।

शांति (१८)

गुरु गुरु करत सदा सुषु पाइआ।
दीन दइआल भए किरपाला; अपणा नामु आपि जपाइआ ।।रहाउ।।
संत संगति मिलि भइआ प्रगास। हरि हरि जपत पूरन भई आस ।।१।।
सरब कलिआण सूष मनि वूठे। हरि गुण गाए गुर नानक तूठे ।।२।।

सूषु=सुख। वूठे=बरसे। तूठे=तुष्ट हुए।

हरिजन (१९)

उदमु करत होवै मनु निरमलु, नाचै आपु निवारे।
पंच जना ले वसगति राषै, मन महि एकंकारे ।।१।।
तेरा जनु निरति करे गुन गावै।
रबाबु पषावज ताल घुंघरू, अनहद सबदु बजावै ।।रहाउ।।
प्रथमे मनु परबोधै अपना, पाछै अवर रीझावै।
राम नाम जपु हिरदै जापै, मुषतें सगल सुनावै ।।२।।
कर संगि साधू चरन पषारै, संत धूरि तनि लावै।
मनु तनु अरपि धरे गुर आगै, सति पदारथु पावै ।।३।।
जो जो सुनै पेषै लाइ सरधा, ताका जनम मरण दुषु भागै।
अैसी निरति नरक निवारै, नानक गुरमुषि जागै ।।४।।

नाचै...निवारे =प्रपंच स्वयं छोड़ देता है। एकंकारे एक ओंकार मात्र। गझावै =लाभ पहुँचाता है।

अपनी रहनी (२०)

बिसरि गई सभ तातिं पराई। जबते साध संगति मोहि पाई ।।रहाउ।।
ना को बैरी नहीं बिगाना, सगल संगि हम कउ बनिआई ।।१।।
जो प्रभ कीनो सो भल मानिउ, एह सुमति साधू ते पाई ।।२।।
सभ महि रवि रहिआ प्रभ एकै, पेखि पेखि नानक बिगसाई ।।३।।

ताति = अपनी। बिगसाई = प्रफुल्लित हो रहा है।

छंत (छंद)

अनंदो अनंदु घणामै सो प्रभ डीठा राम।
चाखिअड़ा चाखिअड़ा मै हरिरसु मीठा राम।
हरि रस मीठा मन महि वूठा सतिगुरु तूठा सहजु भइआ।
ग्रिहु वसि आइआ मंगलु गाइआ, पंच दुसह उइ भागि गइआ।
सीतल आघाणे अंम्रित बाणे साजन संत बसीठा।
कहु नानक हरि सिउ मनु मानिआ, सो प्रभ नैणी डीठा ।।१।।
सो हियड़े सो हियड़े मेरे बंक दुआरे राम।
पाहुनड़े पाहुनड़े मेरे संत पिआरे राम।
संत पियारे कारज सारे नमसकार करि लगे सेवा।
आपे जांई आपे मांई आपि सुआमी आपि देवा।
अपणा कारजु आपि सवारे आपे धारन धारे।
कहु नानक सहु घर महि बैठा सोहे बंक दुआरे ।।२।।
नवनिधेन उनिधे मेरे घर आई राम।
सभु किछु मै सभु किछु पाइआ नामु धिआई राम।
नामु धिआई सदा सखाई सहज सुभाई गोविंदा।
गगन मिटाई चूकी पाई कदे न बिआपे मन चिंदा।
गोविंद गाजे अनहद बाजे, अचरज सोभ बणाई।
कहु नानक पिरु मेरे संगे, तामे नवनिधि पाई ।।३।।
सरसिअड़े सरसिअड़े मेरे भाई सभ मीता राम।
बिखमो बिखमु अखाड़ा मैं, गुर मिलि जीता राम।
गुरि मिलि जीता हरि हरि कीता, तूटी भीता भरमगड़ा।
पाइआ खजाना बहुतु निधाना, साणथ मेरी आपि खड़ा।
सोई सुगिआना सो परधाना, जो प्रभि अपना कीता।
कहु नानक जांबलि सुआमी, ता सरसे भाई मीता ।।४।।

घणामै = गहरे (आनंद) में। सीतल...बसीठा...शीतलता पहुँचाने तथा अमृत का अनुभव कराने के लिए संतजन परमात्मा के प्रतिनिधि-स्वरूप हैं। जाई = पुत्री।

महु = वही । सपाई = मित्र वा सहायक । गणत = लेखा-जोखा । चूकी = मुक्ति । निंदा = निंदा । मरथिअड़े = जलाशय, अर्थात् इस जगत् के अंतर्गत । भीता = भय । माणय = सांनिध्य में, निकट । जांवसि = जाता है, पहुँच पाता है ।

साखी

नानक सोई दिनसु सुहावड़ा, जितु प्रभि आवै चिति ।
जितु दिनि बिसरै पारब्रह्म, फिटु भलेरी रुति ॥१॥
अंतरि चिंता नैणी सुखी, मूलि न उतरै भूख ।
नानक सचे नाम बिनु, किसै न लथो दुख ॥२॥
इकु सजणु सभि सजणा, इकु बैरी सभि वादि ।
गुरु पूरै वेषालिआ, बिणु नावै सभ बादि ॥३॥
मेरै अंतरि लोचा मिलण की, किउ पावा प्रभ तोहि ।
कोई असा सजणु लोडिलहु, जो मेले प्रीतमु मोहि ॥४॥
काहे मन तू डोलता, हरि मनसा पूरणहार ।
सतिगुरु पुरखु धिआइ तू, सभि दुख विसारणहार ॥५॥
सेज बिछाई कंत कू, कीआ हभु सींगार ।
इती मंझि न समावई, जे गलि पहिरा हार ॥६॥
नानक जिसु बिनु घड़ी न जीवणा, बिसरे सरै न बिंद ।
तिसु सिउ किउ मन रूसिऐ, जिसहि हमारी चिंद ॥७॥
मेरी मेरी किआ करहि, पुत्र कलत्र सनेह ।
नानक नाम बिहूणीआ, निगुणी आदि देह ॥८॥
पहिला मरणु कबूलि, जीवण की छडि आस ।
होहु सभना की रेणुका, तउ आउ हमारे पास ॥९॥
मुआ जीवंदा पेखु, जीवंदे मरि जानि ।
जिन्हा मुहबति इकसिउ, ते माणस परधान ॥१०॥

फिट = तिरस्कार के योग्य । रुति = ऋतु । बादि = शत्रु । बादि = व्यर्थ । वेषालिआ = दिखला दिया, जतला दिया । लोचा = अभिलाषा । लोडिलहु = खोजूं । मनसा = मनोरथ । इती...समावई = इतना ही हम दोनों के बीच बाधा है कि । बिसरे... बिंद = जिसकी स्मृति एक क्षण के लिए भी नहीं जाती । चिंद = ध्यान, ख्याल । रेणुका = धूल । मुआ...जानि = जिन्होंने संसार की ओर से मरे हुए को ही जीवित समझा तथा सांसारिक जीवन को मृत्युवत् माना । जिन्हा...इकसिउ = जिन्हें केवल एक परमात्मा से ही प्रेम है ।

संत बषनाजी

संत बषनाजी नराणा नगर के निवासी थे जो सांभर से तीन कोस पूर्व-दक्षिण की ओर बसा हुआ है और जहाँ दादू जी अंत समय में रहा करते थे । कहा जाता है कि वे वहीं उत्पन्न हुए थे और उनका देहावसान भी वहीं पर हुआ था । परन्तु प्रसिद्ध है कि

उन्होंने दादूजी से सांभर में ही दीक्षा ली थी। उनके जन्मकाल का संवत् सोलह सौ और सोलह सौ दस के बीच होना अनुमान किया जाता है जिस कारण वे दादू जी के समवयस्क-से जान पड़ते हैं। उनकी जाति के विषय में कुछ मतभेद है, किन्तु अधिक लोग उसे 'मैरासी' वा 'मीरासी' कहने के पक्ष में हैं। वे गृहस्थ रूप में रहा करते थे और उनका देहांत भी इसी दशा में, दादूजी की मृत्यु के कुछ दिनों पीछे, विक्रम की १७वीं शताब्दी के अंतिम चरण में किसी समय हुआ था। बषनाजी दादूजी के प्रमुख शिष्यों में गिने जाते हैं और उनकी प्रशंसा 'भक्तमाल'-कार राघोदास ने भी की है। वे सच्चे हृदय के प्रेमी व्यक्ति और गायक भी थे। उनकी रचनाओं का एक संग्रह 'बषनाजी की वाणी' नाम से जयपुर के 'श्री लक्ष्मीराम ट्रस्ट' द्वारा प्रकाशित है। इसमें उनके १६७ पदों के अतिरिक्त ४० अंगों में विभाजित की हुई अनेक साखियाँ भी संगृहीत है जिनमें उनका सतगुरु एवं परमात्मा के प्रति एकांत प्रेम, सत्य के प्रति पूर्णनिष्ठा, जगत् की ओर से अनासक्ति तथा हृदय की सरलता स्पष्ट लक्षित होती है। उनकी बानियों में यद्यपि साहित्यिक सौंदर्य अधिक नहीं दीखता, तथापि उनकी सुंदर वर्णन-शैली के कारण, उनकी कई रचनाएँ सूक्तियों-सी बन गई हैं। उनकी कई पंक्तियों को पढ़ते समय कबीर का स्मरण हो आता है।

पद

हृदय की कठोरता (१)

हिरदो बडो रे कठोर कोटि कियां भीजै नहीं, ऐसो पाहण नांही और ॥टेक॥
गंगा न गोदावरी न्हायो, कासी पुहकर मांहि रे ॥
कर्म कापड़ै मैण को, तार्थें रोम भीगो नांहि रे ॥१॥
वेद न भागोत सुनिया, कथा सुणी अनेक रे ॥
कर्म पापर सारिषा, तार्थें वाण न लागे एक रे ॥२॥
औंधा कलसा ऊपरै, जल बूठो अषंडधार ॥
ततवेला निहालियो, तो पाणी नहीं लगार ॥३॥
ब्रह्म अगनि पाषाण जाल्या, चूना कीया सलेस रे ॥
बषना भिजोया रामरस, म्हारा सतगुर ने आदेस रे ॥४॥

मैण को = मोम सा बना हुआ, चिकना। पापर = कवच, सनाह। बूठो = बरस गया वा बरसता रहा। ततवेला निहालियो = आवश्यकता पड़ने पर अर्थात् काम के समय जब उसे सँभाल कर देखा। सलेस = पायादार, दृढ़। (टि०—यों देखा जाय तो पत्थर पानी में भलीभाँति नहीं भीगा करता, किन्तु यदि उसे आग में जला दिया जाय तो वह 'कली' का रूप ग्रहण कर लेता है और तब कठिनाई नहीं पड़ती। इसी प्रकार सतगुरु के उपदेश द्वारा कठोर से कठोर हृदय भी अपना स्वभाव छोड़कर 'रामरस' में भीग जाता है। इस विषय परबषनाजी की एक साखी भी प्रसिद्ध है)।

विरह (२)

बिचालै अंतरो रे, हरि हम भागो नांहि ॥
को जाणै कद भाजसी, म्हारे पछतावो मन मांहि ॥टेक॥

आडा डूंगर बन घणो, नदियां बहै अनंत।
सो पंषड़ियां पंजर नहीं, हौं मिल-मिल आंऊ नित ॥१॥
चरणा पाषैं चालिवोरे, धरती पाषैं बाट।
परबत पाषैं लंघणा, विषमी औघट घाट ॥२॥
जातां जातां द्योहड़ा, म्हारे मन पछितावो होइ।
जीवत मेलो हे सषी, मूंवा न मिलिसी कोइ ॥३॥
हरि दरसन कारणि हे सषी, म्हारा नैन रह्या जल पूरि।
सो साजन अगला हुवा, भ्वै भारी घर दूरि ॥४॥
पानी प्यारा पीव की, हूं क्यों बाचों का लेइ।
बिरह महाघन ऊनड्यो, म्हारो नैन न बाचण देइ ॥५॥
बटाऊ उहि बाट का, म्हारो संदेसो तिहिं हाथि।
आली नाहीं रहूं, काहू साधू जनकै साथि ॥६॥
ज्यूं वनकै कारणि हस्ती झूरै, चकवी पैलै पारि।
यों वषना झूरै रामकूं, ज्यूं उलगांणा की नारि ॥७॥

बिचालै...रे = हमारे आपके बीच अंतर है। डूंगर = पहाड़। पंषड़ियां = पाँखें। पंजर = शरीर में। पाषैं = बिना। औघट = ऊबड़-खाबड़। द्योहड़ा = दिन। भ्वै = भय, आशंका। झूरै = रुदन करै, दुःख का अनुभव करता है। उलगांणा = प्रवासी या परदेशी।

विरह (३)

बीछड्या राम सनेही रे, म्हारै मन पछतावो येही रे॥
बीछड़िया बन दहिया रे, म्हारै हिवडै करवत बहिया रे।
बिलषी सषी सहेली रे, ज्यूं जल बिन नागरवेली रे ॥१॥
वा मुलकिन की छिवि छांही रे, म्हारे रहि गई हिरदै माहीं रे।
को उणिहारे नाँहींरे, हो ढूंढ रही जगमाहीं रे ॥२॥
सब फीको म्हारै भाई रे, मंडली को मंडण नाही रे।
कोंण सभा में सोहे रे, जाकी निर्मल बाँणी मोहे रे ॥३॥
भरि भरि प्रेम पिलावे रे, कोई दादू आण मिलावे रे।
बषना बहुत बिसूरे रे, दरसण कै कारण झूरे रे ॥४॥

बीछड्या = दूर हो गया, मुझसे विमुक्त हो गया। हिवडै = हृदय में। करवत = आरी। मुलकिन = मुसकान। उणिहारे = समान आकृति वाला। मंडण = शोभा, शिरमौर, अग्रणीय। बिसूरे = स्मरण कर के दुःखी होता है, विलाप करता है।

विनय (४)

थारो रे गुण गोब्यंदा, म्हारो ओगुणियो कान न कीजै॥
हौं तो थारो थांई रह्यो रे, मोंने रामभगति दिढ़ दीजै रे ॥टेक॥

तुम्ह बिना डहकायोथो रे, थारै संग्य न जागी रे।
आगैं ही चोरासी भरम्यो, लपी न लागी रे ।।१।।
भूल्यो रे मै भेद न जाण्यौ, ताहरी भगति न साधी रे।
तूं मिलिवानैं रूड़ो थो, म्हारो मन न मिल्यो अपराधी रे ।।२।।
तूं समरथ मै सरणै आयो, तूं म्हारी पति राषी रे।
बषना सो नीकै निरबहिये, मैं तुझ ऊपर नाषी रे ।।३।।

ओगुणियो = अवगुणों को। थारो = तेरा। थांई = तेरा ही। डहकायोथो = बहकता वा मारा-मारा फिरता रहा। रूड़ो = अच्छा, भला। निरबहिये = निभा दीजिए।

साखी

ढूंढै दीप पतंग नै, तौ बषनां बिरद लजाइ।
दीपक माँहिं जोति ह्वै, तौ घणां मिलैंगा आइ ।।१।।
भरचा, न फूटै, चिणग न छूटै, जरणां कहिये ताहि।
बषना कहैं समाई तिहि मैं, मो बोलि बिगूचै नाहिं ।।२।।
अठसठि पांणी धोइये, अठसठि तीरथ न्हाइ।
कहु बषनां मन मच्छ की, अजौं कौलांधि न जाइ ।।३।।
जिहि बरियां यहु सब हुवा, सो हम किया बिचार।
बषनां बरियां खुशी की, करता सिरजनहार ।।४।।
अणदीठे ओलूं करै रे मो मन बारंबार।
ऊझल फूटा क्यार ज्यूं, म्हारै नैण न षंडै धार ।।५।।

बिरद = यश। घणां = अनेक, बहुत से। चिणग न छूटै = घड़े की कोई छोटी-सी कंकरी न निकल जाय और छिद्र हो जाय। जरणां = पचाना, आत्मसात् कर लेना। समाई = गहराई एवं गंभीरता। बिगूचै = बिगाड़े वा उसे चौपट कर दे। अठसठि = अड़सठ (प्रसिद्ध है कि प्रधान तीर्थों की संख्या अड़सठ है)। कौलांधि = दुर्गंध, मछलीपन। जिहि ..हुवा = सृष्टि का आरंभ होते समय। सो...बिचार = मैंने विचारपूर्वक निश्चय किया है। अणदीठे = बिना देखे। ओलूं = स्मरण, याद। ऊझल = भरपूर से अधिक पानी के कारण। नैण...धार = आँसुओं की झड़ी नहीं टूटती।

संत बावरी साहिबा

बावरी-पंथ के मठों में सुरक्षित वंशावली से विदित होता है कि बावरी साहिबा मायानंद की शिष्या थीं। (इन मायानंद के गुरु दयानंद थे जो रामानंद के शिष्य थे और ये दोनों गुरु-शिष्य वर्त्तमान गाजीपुर ज़िला, उत्तर प्रदेश) के पटना गाँव के निवासी थे। बावरी साहिबा के जन्म-स्थान एवं जीवन-काल का पता नहीं चलता। केवल इतना ही कहा जाता है कि ये किसी उच्च कुल की महिला थीं और सत्य की खोज में पड़कर इन्हें बहुत कुछ कष्ट भी झेलने पड़े थे। उक्त वंशावली के क्रमानुसार ये अकबर बादशाह (सं० १५९९-१६६२) की समकालीन जान पड़ती हैं। इस प्रकार इनका

समय भी लगभग वही हो सकता है जो संत दादूदयाल और हरिदास निरंजनी का था। बावरी-पंथ के मठों में इनका एक चित्र मिलता है जिसमें इन्हें वेशभूषा विशेष में दिखलाया गया है, किन्तु उसके द्वारा भी इनके व्यक्तित्व वा इनके मत की विशिष्ट बातों पर कोई स्पष्ट प्रकाश पड़ता हुआ नहीं दीखता। इनका 'बावरी' नाम 'पगली' अर्थ का द्योतक होने के कारण, इनका उपनाम-सा ही जान पड़ता है। इनके जीवन की घटनाओं का न तो कुछ परिचय उपलब्ध है, न नीचे दिये गए दो पद्यों के अतिरिक्त इनकी अन्य रचनाएँ ही मिलती हैं जिनके आधार पर कुछ अनुमान किया जा सके। ये दोनों रचनाएँ (यदि वास्तव में, इन्हीं की हैं तो) इन्हें उच्चकोटि की साधिका के साथ ही अच्छी कवयित्री भी सिद्ध करती हैं।

सवैया

बावरी रावरी का कहिये, मन ह्वै के पतंग भरे नित भावरी।
भांवरी जानहिं संत सुजान, जिन्हें हरिरूप हिरे दरसावरी॥
सांवरी सूरत मोहनी मूरत, देकरि ज्ञान अनंत लखावरी।
खांवरी सौंह तेहारी प्रभू, गति रावरी देखि भई मति बावरी॥१॥

खांवरी सौंह = मैं शपथपूर्वक कहती हूँ। गति = विचित्र लीला।

प्रभाती

अजपा जाप सकल घट बरनै, शो जानै सोइ पेखा।
गुरुगम जोति अगम घर बासा, जो पाया सोइ देखा॥
मैं बन्दी हौं पर्म तत्त्व की, जग जानत कि भोरी।
कहत बावरी सुनो हो बीरू, सुरति कमल पर डोरी॥२॥

अजपा जाप = अनाहत नाद। सकल...बरनै = सब की काया में सदा चलता रहता है। बन्दी = दासी, साधिका। पर्म तत्त्व = परमात्मतत्त्व। भोरी = पगली, बावली। बीरू = बावरी का शिष्य बीरू साहब।

संत बीरू साहब

बीरू साहब बावरी साहिबा के प्रमुख अथवा कदाचित् एकमात्र शिष्य थे और संभवतः किसी पूर्वी जिले के ही निवासी थे। इनके जन्म-स्थान वा जीवन-काल के विषय में कुछ पता नहीं चलता। अनुमान होता है कि इनके आविर्भाव का समय विक्रम की १७वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध रहा होगा और बावरी साहिबा का देहांत हो जाने पर ये उनके उत्तराधिकारी रहे होंगे। बावरी-पंथ के मठों में पाये जाने वाले इनके एक चित्र द्वारा यह भी सूचित होता है कि ये संत होने के साथ ही संगीतज्ञ भी थे। परंतु इनके जीवन का कोई भी विवरण अभी तक उपलब्ध नहीं है। संग्रहों में इनकी केवल तीन रचनाएँ पायी जाती हैं जिनका पाठ कुछ संदिग्ध जान पड़ता है। किन्तु उनके द्वारा भी इनके पूर्वीपन एवं साधना-पद्धति पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है।

पद

बंधन से मुक्ति

हंसा रे बाझन मोर याहि घरा, करबों मैं कवनि उपाय।
मोतिया बुगन हंसा आयल हो, सो तो रहल भुलाय॥

झीलर को बकुला भयो है, कर्म कीट धरि खाय।
सतगुरु सत्य दया कियो, भवबंधन ते लियो छोड़ाय ।।
यह संसार सकल है अंधा, मोह मया लपटाय।
बीरू भक्ति भयो हंसा सुख, सागर चल्यो है नहाय ।।१।।

हंसा = जीवात्मा। बाझन = फँस गया, बंधन में पड़ गया। याहि घरां = इस जगत् में। झीलर = झील, ताल। सागर = समुद्र, आत्मानुभूति।

अंत:साधना

त्रिकुटी के नीर तीर बाँसुरी बजावै लाल, भाल लाल से मवै सुरंग रूप चातुरी।
यमुना ते और गंग अनहद सुर तान संग, फेरि देखु जगमग को छोड़ देवै कादरी।
वायू प्रचंड चंड बंकनाल मेरुदंड, अनहद को छोड़ि दे आगे चलु बावरी।
ऊँकार धार वास इनहूं का है विनास, खसम को माथ करु चीन्ह ले तू नाहरी ।।
जन बिरु सतगुरु शब्द रकाव धरु, चल शूर जीत मैदान घर आवरी ।।२।।

त्रिकुटी = इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना नाड़ियों का संधिस्थल। नीर तीर = किनारे, उस बिंदु पर ध्यानस्थ होने की दशा में। बाँसुरी.. लाल = अनाहत की ध्वनि सुन पड़ने लगती है। कादरी = कादरता। बंकनाल = त्रिकुटी के आगे का एक टेढ़ा मार्ग। मेरुदंड = रीढ़ की हड्डी। खसम नाह = स्वामी, परमतत्त्व। रकाव = घोड़े क काठी का पावदान, यहाँ पर आगे बढ़ने की सोपान-भूमि।

संत गरीबदासजी (दादूपंथी)

गरीबदासजी संत दादूदयाल के प्रधान ५२ शिष्यों में से एक थे। ये ही उनका देहांत हो जाने पर उनके उत्तराधिकारी भी बने थे। अनुश्रुति के आधार पर इनका जन्म संवत् १६३२ बतलाया जाता है और इनके देहावसान का समय संवत् १६६३ में ठहराया जाता है। इनके विषय में यह भी प्रसिद्धि है कि ये संत दादूदयाल के ज्येष्ठ पुत्र भी थे और इनके अनुज का नाम मिस्कीनदास था। दादूजी के एक अन्य शिष्य जनी गोपालजी ने दादूजी की जन्मलीला' नामक अपनी रचना में इन्हें 'दादू पिता प्रगट हैं जाके, गरीबदास सुत उपज्यो ताके' कहकर स्पष्ट शब्दों में उनका पुत्र माना है। 'भक्त-माल' के लेखक राघोदासजी ने भी इन्हें इसी प्रकार 'दादूसुवन' कहा है। फिर भी 'गरीब-दासजी की वाणी' के संपादक स्वामी मंगलदासजी इस बात में अपना संदेह प्रकट करते हैं। वे कहते हैं कि गरीबदासजी महाराज दादूजी के आशीर्वाद से उत्पन्न हुए थे। बाल्या-वस्था में महाराज की शरण आ जाने से महाराज के पास पुत्रवत् ही पाले गए थे। अत: वे दादूजीके औरस पुत्र न होकर वास्तव में, उनके वरद पुत्र 'पोष्य पुत्र एवं परम विश्वास-नीय शिष्य थे।' अपने इस अनुमान की पुष्टि वे इस बात से भी करना चाहते हैं कि गरीबदासजी ने दादूजी को सतगुरु, गुरु एवं परमगुरु तो कई स्थलों पर कहा है, किन्तु पिता वा जनक कहीं भी स्वीकार नहीं किया है। इसके लिए उन्होंने इनकी कई पंक्तियाँ भी उद्धृत की हैं।

गरीबदास जी, उच्चकोटि के साधक होने के अतिरिक्त कुशल कवि, संगीतज्ञ एवं वीणाकार भी थे। कहा जाता है कि इनके ललित संगीत से प्रभावित होकर जहाँगीर

बादशाह ने इनके रहने के लिए एक बारहदरी और पानी पीने के लिए एक कूप बनवा दिया था जो 'गरीबसागर' कहलाता है। कहते हैं कि दादूजी के प्रसिद्ध शिष्य रज्जबजी से इन्हें कुछ समय के लिए मतभेद हो गया था जो इनकी मृत्यु के समय दूर हुआ। इनकी वाणियों की संख्या २३००० बतलायी जाती है, परन्तु इनकी जो रचनाएँ उपलब्ध हैं, वे इससे बहुत कम हैं। इनकी वाणियों का संग्रह 'गरीबदास जी की वाणी' के रूप में जयपुर से प्रकाशित हुआ है जिनमें 'अनभै प्रबोध', 'साखी', 'चौबोले' एवं पद संगृहीत हैं। इनकी पंक्तियों में कहीं-कहीं दुरूहता आ गई है, किन्तु फिर भी इनकी बानियाँ इनके गूढ़ प्रेम तथा स्वानुभूति का अच्छा परिचय देती है।

पद

सच्ची प्रीति (१)

प्रीति न तूटै जीवकी, जो अंतरि होइ। तन मन हरिके रंग रंग्यां, जानै जन कोइ ।।टेक।।
लष जोजन देही रहै, चित सनमुख रापै। ताको काज न ऊजरै, जो हरिगुन भाषै ।।१।।
कंवल रहै जल अंतरै, रवि बसै अकास। संपट तबही बिगसि है, जब जोति प्रकाश ।।२।।
सब संसार असार है, मन मानै नांही ।। गरीबदास नहिं बीसरै, चित तुमही मांही ।।३।।

तूटै = टूटती, नष्ट होती। ऊजरै = बिगड़ता, असफल होता। संपट = संपुट, मुकुलित दल। बिगसि है = विकसित होंगे, खिलेंगे।

अंतर्मुखी साधना (२)

तन खोजै तब पावै रे।
उलटी चाल चलै जे प्राणी, सो सहज घर आवै रे ।।टेक।।
बारह मारग बहता रोकै, तेरह ताली लावे रे।
चंद सूर सहजै सत राखै, अणहद वेण बजावे रे ।।१।।
तीन्यू गुण चौथे घर राखै, पांच पचीस समावे रे।
नऊ निरति सूं और बहत्तर रोम रोम धुनि धावे रे ।।२।।
मैल निर्मल करे ग्यान सों, सतिगुरु कहि समझावे रे।
गरीबदास अनभै घर उपजै तब जाइ जोति लखावे रे ।।३।।

उलटी...चले अंतर्मुखी वृत्ति की साधना करता है। घर = निज स्वरूप में। बारह...रोकै = कर्मेन्द्रियों के बारह मार्गों को संयत रखे। तेरह = सहस्रार में। चंद...गवै = ईडा तथा पिंगला नाड़ियों को सुषुम्ना में लगा दे। अणहद वेण...रे = अनाहत नाद का अनुभव करे। चौथे...राखै निर्गुण चैतन्य में स्थिर कर दे। पांच.. समावै रे = पाँच तत्त्व तथा पच्चीस प्रकृतियों को लीन कर दे। बहत्तर = शरीर के बहत्तर कोठों से।

आत्मोपलब्धि (३)

जब मन निरभै घर को पावे।
तजै आस अनियास जगत की, आदि परुष गहि गावे ।।टेर।।

नाना रूप भाँति बहु माया, गुरु मुष द्रष्टि पिछाणै ।
देपत जाइ नहीं सो अस्थिर, नाहिन हिरदे आणै ।।१।।
जे पहुंचे ते कहै साषि सब, उपजै बिनसै माया ।
केवल ब्रह्म आदि द्रढ़ अस्थिर, जोनी कष्ट न आया ।।२।।
सोच बिचार पुरुष करि ठावा, तासों निज अंग परसै ।
गरीबदास बर सोई बरिये जु दोइ गुण भाव न दरसै ।।३।।

अनियास = अनायास ही । आणै = ग्रहण करे । ठावा = निश्चित, विश्वासनीय ।

परमात्म-तरु (४)

भाई रे ! बिरष अनूपम पाया ।
ताकी सरण आय हम सीतल, तीन्यूं ताप भुलाया ।।टेक।।
धर आधार नहीं सो तरवर भाषा पत्र न होई ।
कूंपल फली पहुप पर नांही, फलरूपी सब सोई ।।१।।
ताकी छाया सब जग बरते, बिन जाणैं सुष दूरी ।
सरवर दादर कंवल बसेरा, क्यूं पावै गति ऊरी ।।२।।
पूरैं भाग भंवर अनभै घरि, आक पलास न भूलै ।
गरीबदास स्वांति तनि हूई, अपै सरोवर झूलै ।।३।।

अनूपम = अद्भुत । तीन्यूं = दैहिक, दैविक तथा भौतिक । बरते = उपयोग में लाता है । ऊरी = अपूर्ण । स्वांति = शांति । अपै = अक्षय, अविनाशी ।

आत्म-निवेदन (५)

पार पाऊं कैसे ।
माया सरिता तरुन तरंगनि, जल जोवन को बैसे ।।टेक।।
नैंननि रूप नासिका परिमल, जिभ्या स्वाद श्रवण सुनिबे को ।
मन मारे मोहे ऐसे ।।१।।
पंचो इंद्री चंचल चहु दिसि, असथिर होहि करहु तुम तैसे ।
गरीबदास कहै नांव नाव दो, खेइ उतारो जैसे ।।२।।

तरुन = प्रबल । परिमल = सुगंध । असथिर = स्थिर एकनिष्ठ । खेइ = चला कर ।

साखी

मुकृत मारग चालतां, बिघन बचै संसारा ।
दुष कलेश छूटै सबै जे कोइ चलै बिचारा ।।१।।
जानि चलै तो अधिक सुख, अणजाणै जे जाइ ।
लोहा पारस परसिलै, सो सब कनक कहाइ ।।२।।
भंजन भाव समान जल, भरि दै सागर पीव ।
जैसी उपजै तन त्रिषा, तेतो पावै पीव ।।३।।
सब अपने उनमान की, साषि कहै पद कावि ।
जिहि लागै पर उरलों, सो अपने कर डावि ।।४।।

वे साधू करि जानिये, दरसन सब सुष होइ।
जिहि परसै लोहा कनक, पारस कहिये सोइ ॥५॥
दोइ हूंणी सब देषिया, तीन त्रिगुण सब सोधि।
नौ हूंणा तजि एक भजि, आतम को परमोधि ॥६॥

सुकृत = सत्कर्म । जानि = समझ-बूझ कर । उनमान = अनुभव, पहुँच । कावि = काव्य । उरलौं = अंतःकरण तक । ढावि = सुरक्षित रखे । दोइहूँणी = द्वैतभाव के साथ । तीन त्रिगुण = त्रिगुणात्मिका वृत्ति । नौहूँणा = नवद्वार के विषय-भोग । परमोधि = शिक्षा दे ।

संत हरिदास निरंजनी

संत हरिदास निरंजनी को दादू-पंथ की परंपरा के अनुसार, दादू शिष्य प्रागदास (मृ० सं० १६८८) का शिष्य ठहराया जाता है। इनका उनसे दीक्षित होने का समय सं० १६५६ बतलाया जाता है। उन प्रमाणों के आधार पर इनकी मृत्यु सं० १६७० में हुई थी और अपने अंतिम समय तक ये प्रागदास के अनन्तर स्वयं दादू के शिष्य बनकर क्रमशः कबीर एवं गोरखपंथ में भी आ चुके थे। निरंजनी सम्प्रदाय का प्रचार इन्होंने नाथ-पंथ में आने के कुछ दिनों पीछे किया था। परन्तु निरंजनी सम्प्रदाय के अनुयायियों का कहना है कि ये राजस्थान प्रांत के डीडवाणा परगने के कापड़ोद गाँव के निवासी थे एवं जाति के क्षत्रिय थे और इनका नाम हरिसिंह था। ४५ वर्ष की अवस्था तक गार्हस्थ-जीवन व्यतीत कर लेने पर दुर्भिक्ष पड़ने के कारण इन्होंने अपना निवास-स्थान छोड़ दिया और अपने कतिपय मित्रों के साथ वन में जाकर लूटपाट करने लगे। वहीं संयोगवश इनकी भेंट किसी नाथ-पंथी महात्मा से हो गई जिसने इन्हें मंत्रोपदेश देकर साधना का मार्ग बतलाया और इन्होंने तीखली पहाड़ी की गुफा में तप किया। फिर वहाँ से निकल कर ये नागौर, अजमेर, टोडा, जयपुर एवं शेखावाटी आदि तक पर्यटन करते रहे। अन्त में डीडवाणा लौट आये जहाँ पर अपने शिष्यों के साथ सत्संग करते हुए सं० १७०० की फाल्गुन सुदि ६ को परमधाम सिधारे।

संत हरिदास निरंजनी की विविध रचनाओं का एक संग्रह 'श्रीहरि पुरुष जीं की वाणी' नाम से प्रकाशित हो चुका है। इसमें संगृहीत पद्यों में से अधिकांश का पाठ शुद्ध एवं प्रामाणिक नहीं जान पड़ता। कई स्थलों पर संदेह बना रह जाता है। फिर भी, इसे कुछ सावधानी के साथ अध्ययन करने पर पता चलता है कि इनका रचयिता योग्य व्यक्ति रहा होगा। इसमें आये हुए पदों, झूलनों, कुंडलियों की पंक्तियाँ अनेक स्थलों पर बड़ी सरस एवं गम्भीर हैं। उनमें योगमूलक साधनाओं के साथ-साथ भक्ति एवं ज्ञान की महत्त्वपूर्ण बातों पर भी स्पष्ट प्रकाश डाला और धार्मिक सहिष्णुता तथा सदाचरण की ओर भी ध्यान दिलाया गया है। इन रचनाओं की भाषा में राजस्थानी शब्दों तथा मुहावरों का पूर्ण समावेश है, किन्तु कवि की सुबोध शैली के कारण ये सर्व-साधारण के लिए भी वैसी कठिन नहीं।

सच्ची योग-साधना (१)

अवधू आसण बैसण झूठा, जब लग मन बिसरांम न पावे।
पख तजि फिरै न पूठा ॥टेक॥

ज्ञान गुफा जाणैं नहिं जोगी, अगम अरथ कहा बूझै ।
पांच अगनि में पडि पडि दाझे, वा सीतल ठौर न मूझै ।।१।।

बिबिध बिकार बालि अरि इंधण, धूंई ध्यान न धारे ।
ब्रह्म अगनि आकास न भेदै, तौ पारा क्यूं मारे ।।२।।

निगम अगम तहां लगे आसन, गरव नाद नित बाजै ।
नगरी मांहिं मुगति वसि भूखा, जहां तहां उठि भाजै ।।३।।

मह गहि पवन अटकि ले उलटा, परम जोग उर धारे ।
जन हरिदास निरवास भरम तजि, निरगुण जस निसतारे ।।४।।

आसण बैसण = आसन मार कर ध्यानावस्थित होना । पख तजि = विषय पक्ष का त्याग कर । बिबिध...इंधण = त्रिविध मनोविकार-रूपी शत्रुओं को जलाकर । पारा··· मारे = रसायन की सिद्धि से क्या लाभ होगा । भुगति = भोग ।

सच्ची गरीबी (२)

बाबा एह गरीबी झूठी, मन अरु पवन दोऊए फूटा ।
मनसा फिरै न पूठी ।।टेक।।

त्रिविध ताप की कंथा पहरी, मनी टोप सिर जाके ।
रागद्वेष की कानों मुद्रा, कहा गरीबी जाकै ।।१।।

पर्या भेख रेख ज्यूं की त्यूं, मोह मढ़ी बसि जीवै ।
तन के भेख राम नहीं रीझे, विष अमृत करि पीवै ।।२।।

पांच चोर परदेश पहूंता, मिलि खेलैं ता मांही ।
मनां जोर मुखि कहै गरीबी, असलि गरीबी नाहीं ।।३।।
जन हरिदास आन तजि अनरथ, राम नाम व्रत धारे ।
राग द्वेप काहू सूं नाही, असलि गरीबी तारे ।।४।।

एह गरीबी = दिखाऊ फकीरपन । मनी = अहंकार । आन = अन्य, दूसरा ।

मेरा एकमात्र हरि (३)

अब मैं हरि बिन और न जांचूं, भजि भगवंत मगन ह्वै नांचूं ।।टेक।।
हरि मेरा करता हूं हरिकीया, मैं मेरा मन हरि कूं दीया ।।१।।
ज्ञान ध्यान प्रेम हम पाया, जब पाया तब आप गमाया ।।२।।
राम नाम व्रत हिरदै धारूं, परम उदार निमख न बिसारूं ।।३।।
गाय गाय गावेथा गाया, मन भया मगन गगन मठ छाया ।।४।।
जन हरिदास आस तजि पासा, हरि निरगुण निज पुरी निवासा ।।५।।

मेरा अपना । निजपुरी = परम पद ।

अकथनीय (४)

रूप न रेख घणूं नहिं थोड़ो, धरणी गगन फुनि नांही रे ।
अकल सकल संगि रहै निरंतरि, ज्यूं चंदा जल मांही रे ।।टेक।।

अगम अथाह थाह नहिं कोई, थाह न कोई पावे रे।
जैसा भजन तिसा सब कोई, मन उनमनं बतावे रे ॥१॥

सागर में कुंभ कुंभ में जल है, निराकार निज ऐसा रे।
सकल लोक ऐसे हरि मांही, रूप कहो धूं कैसा रे ॥२॥

अचल अघट सब सुख को सागर, घट घट सबरा मांही रे।
जन हरिदास अविनाशी ऐसा, कहे तिसा हरि नांही रे ॥३॥

घणूं...थोड़ो अधिक न कम। उनमनां=अनुमान के अनुसार। अघट=जो निर्मित न किया गया हो।

सच्चा फाग (५)

सखी हो मास बसंत बिराजै।
गोपी ग्वाल घेरि गोकुल में वेण मधुर धुनि बाजै ॥टेक॥

धागे सुरति पाँच नग गूथ्या, मन मोती मधि आया।
बिगसत कमल परम निधि परगट, हरिकूं हार चढ़ाया ॥१॥

गरब गुलाल चरण तलि चूर्या, अगर अबीर खिड़ाया।
परमल प्रीति परसी पर पूरण, पिव में प्राण समाया ॥२॥
बंकनालि निहचल नौ निरभै, ऐ कौतूहल भारी।
जन हरिदास आनंद निज नगरी, खेलैं फाग मुरारी ॥३॥

पाँच नग पंच इंद्रियों को। चूर्या चूर-चूर कर दिया। खिड़ाया=बिखेर दिया। नौ=नव, नवीन।

हरिसुख का अनुभव (६)

जो कबहूँ मन हरि सुख जांणें।
उनमनि लागि अगम घरि खेलैं और सकल सुख आदि न आंणें ॥टेक॥

ज्यों तरमूल पहम में पैरें, सब जल से जे जाय समावै।
यूं सति सुरति निरखि निरखि निरभै, या सुख अटकि उलटि नहिं आवै ॥१॥
ज्यूं सुत अनल गगन कूं पलटै, ज्ञान प्रकाश पिता पख जोवे।
यूं फिरि जीव सीव संगि खेलै, जन्म जन्म का कलिविख धोवै ॥२॥
सलिता गौड़ी करे तब न्यारी, समंद समाय समंद समि होवै।
जन हरिदास यूं अरस परसि मिलि, हरिजन हरिमें प्राण समोवै ॥३॥

आदि=आधि, चिंता, सोच। तरमूल=वृक्ष की जड़। पहम=पुहमी, पृथ्वी। पैरे=फैलती है। सेजे=दूर बहता हुआ भी। सुत अनल=अलल पक्षी का बच्चा। कलिविख=किल्विष, पातक। सलिता=नदी। गौड़ी गोड़ी, लाभ का आयोजन। समंद=समुद्र। समोवै=मग्न कर दे।

झूलना

जाति को भेद पणि सकल ऊपरि भयो, राग रंगि रंग्यो रंग भले रात्यो।
दास कब्बीर जमलोक जावै नहीं, अलख रस पिवै मस्तानि मातो॥

चोट सूं चोट खिसि खेत चाल्यो नहीं, पांच परवल पिसुन मारि लीया।
अकल की चोट जम चोट लागे नहीं, उलट का पुलट रस भला पीया ।।१।।

साध की चाल सुणि सकल संशय मिट्यो, कह्यो त्यूं रह्यो कछु संक नाहीं।
आनकी आस बिसवास बांधों नाहीं, रह्यो पणि रह्यो रमि राम माँहीं ।।

जल में कंवल पणि नीर भेदे नहीं, जगत में भक्त यूं रहे जूवा।
जन हरिदास हरि समंद में बूंद कबीर, समद में बूंद मिलि एक हूवा ।।२।।

पणि=परंतु, फिर भी। परबल=प्रबल। पिसुन=पिशुन, खल। जुवा=जुदा, पृथक्।

कुंडलिया

आठ पहर की उनमनी, आठ पहर की प्रीति।
आठ पहर सनमुख सदा, यह साधू की रीति ।।
यह साधू की रीति, एकरस लागा जीवै।
अगम पियाला हाथि राम रस पावै पीवै ।।
जन हरिदास गोबिंद भजि आन असुर अरि जोति।
आठ पहर की उनमनी आठ पहर की प्रीति ।।१।।
कहा दिखावै औरकूं उलटि आपकूं देख।
लेखणि मसि कागद कहा लिखिए तहां अलेख ।।
लिखिए तहां अलेख सुतौ निर्मल करि लीजै।
दिल कागद करि पाक सुतौ लिखि लिखि ठिक दीजै।
हरीदास हरि सुमरतां संचर रहे न सेख।
कहा दिखावै और कूं उलटि आपकूं देख ।।२।।
जागौ रे सोवो कहा अवधि घटै घटि बीर।
कहो कहां लो राखिये फूटै भांडे नीर ।।
फूटे भांडे नीर गरकि गाफिल नर सोवै।
भजै नहीं भगवंत, बहोड़ि मलसू मल धोवै।
हरीदास सुर नर असुर सब मछली जम कीर।
जागौ रे सोवो कहा, अवधि घटै घटि बीर ।।३।।
सबको सरबस देत है, अपणी अपणी प्रीति ।।
साहिब कूं सरबस दिया, या कछु उलटी रीति ।।
या कछु उलटी रीति जीति गुण गोबिंद गावै।
सुंन मंडल में बैसि सांच सूं सुरति लगावै ।।
हरीदास आनंद भया, छूटी सबै अनीति।
सबको सरबस देत है अपणी अपणी प्रीति ।।४।।

संचर=साथी वा स्थान। बहोड़ि=बहुरि, फिर। गरकि=मग्न होकर। कीर=मछुवा। बीर=भाई, मित्र। सबको=सभी कोई।

साखी

अविनासी आठों पहर अपणें हिरदै धारि।
हरीदास निरभै मतै, निरभै बस्त बिचारि ॥१॥

नांव निरंजन निर्मला भजतां होय सो होय।
हरीदास जन यूं कहै, भूलि पड़ै मति कोय ॥२॥

हरीदास कासूं कहूं, अपणां घर की लाय।
ज्यूं जाल्या त्यूं हीं जल्या, जलि बलि रह्या समाय ॥३॥

हरीदास अंतरि अगह दीपग एक अनूप।
जोति उजालै खेलिये, जहं छांहड़ी न धूप ॥४॥

काया माया झूठ है, सांच न जाणो बीर।
कहि काकी भागी तृषा, मृगतृष्णा को नीर ॥५॥

जंह आपा तंह आंतरो करुणा सागर दूरि।
हरीदास आपा मिट्या, है हरि सदा हजूरि ॥६॥

नहि देवल सूं बैरतर नहिं देवलसूं प्रीति।
कृतम तजि गोबिंद भजैं, या साधों की रीति ॥७॥

लोक दिखावो मति करै, हरि देखे त्यूं देख।
हरीदास हरि अगम है, पूरण ब्रह्म अलेख ॥८॥

जंह ज्वाला तंह जल नहीं, हरि तंह मैं तैं नाहिं।
हरीदास केहरि कुरंग, एकै बनि न बसाहिं ॥९॥

सीतल दृष्टि चकोर की, चंद बसै ता मांहि।
हरीदास ज्वाला चुगै, देखो दाजै नाहिं ॥१०॥

निरभै बस्त = निर्भयतत्त्व, परमात्मा। लाय = आग। देवल = मूर्त्तियों का मन्दिर। बैरतर = शत्रुता। कृतम = कृत्रिम, मूर्ति। मैं-तैं = किसी प्रकार का भेदभाव। दाजै = दाझै, जलता।

संत आनंदघन

आनंदघन का नाम, उनकी दीक्षा के पहले, लाभानंद वा लाभ-विजय था। वे जैन धर्मानुयायी थे। वे कहीं गुजरात प्रान्त वा राजस्थान की ओर के निवासी थे। उनके अंतिम दिन, जोधपुर राज्य के अंतर्गत बसे हुए, मेड़ता नगर में व्यतीत हुए थे जो मीरांबाई की जन्मभूमि है। उनके जीवन-वृत्त की बातों का पता नहीं चलता। उनकी केवल दो रचनाएँ उपलब्ध हैं जिनसे उनके समय का अनुमान किया जा सकता है। उनकी 'आनंदघन चौबीसी' की कई पंक्तियाँ उनके पूर्ववर्ती प्रशस्तिकारों की रचनाओं में भी प्रायः ज्यों-की-त्यों दीख पड़ती हैं। इस कारण उसकी रचना का समय, वैसे लेखकों में से सबसे अंतिम जिनराजसूरि (सं० १६७८) के अनंतर ठहरता है और स्वयं आनंदघन की भी प्रशस्ति के लिखने वाले योशविजय (मृ० सं० १७४५) से जीवन-कालानुसार वह विक्रम की १७वीं शताब्दी के अंतिम चरण में मान लिया जा सकता है। उनकी रचनाओं पर वैष्णव कवि सूरदास एवं मीरांबाई की रचना-शैली का भी प्रचुर प्रभाव

लक्षित होता है। उनकी उक्त 'चौबीसी' के एक टीकाकार ज्ञानविमलसूरि के उल्लेखों से यह भी जान पड़ता है कि उसके २२ स्तवनों में से अंतिम दो कदाचित् उनकी कृति नहीं हैं। इसी प्रकार उनकी रचना 'आनंदघन बहोत्तरी' के उपलब्ध एक सौ ग्यारह पदों में संभवतः कबीर, सूर, बनारसीदास, द्यानत और घनानंद की रचनाएँ भी सम्मिलित हैं।

उनकी रचनाओं को पढ़ने से पता चलता है कि वे उच्चकोटि के अनुभवी व्यक्ति और कवि थे। उनकी उक्त दो पुस्तकों के जो संस्करण आज तक निकले हैं, उनमें उनकी वास्तविक रचनाओं की पूरी छानबीन की गई नहीं मिलती। इस कारण उनके आधार पर उनकी मौलिक विचारधारा का ठीक-ठीक परिचय पाना अत्यंत कठिन कहा जा सकता है। फिर भी, जहाँ तक अनुमान किया जा सकता है, उनकी आध्यात्मिक प्रेरणा का मूलस्रोत बहुत व्यापक एवं उदार था। उनमें स्वानुभूतिजनित सहृदयता की भी कमी नहीं थी। उनकी कथन-शैली में भी, अन्य संत कवियों की ही भाँति, सरलता वा स्वाभाविकता लक्षित होती है। उसमें पदलालित्य एवं सरसता भी बहुत-कुछ पायी जाती है।

आत्मानुभूति का महत्व (१)

आतम-अनुभव-फूल की नवली कोऊ रीत।
नाक न पकरै बासना, कान गहै परतीत।
अनुभव नाथ कूं क्यों न जगावै।
ममता-संग सो पाय अजागल-थन तें दूध दुहावै।
मेरे कहे ते खीज न कीजै, तूं ऐसिही सिखावै।
बहोत कहे ते लागत ऐसी, अंगुली सरप दिखावै।
औरन के संग राते चेतन, चेतन आप बतावैं।
आनंदघन की सुमति अनंदा, सिद्ध सरूप कहावैं।।

बासना = गंध। कान गहै परतीत = अनाहत की ध्वनि का अनुभव होता है। अजागल-थन = बकरी के गले में लटकने वाली और स्तन-सी जान पड़ने वाली छीमियाँ। अंगुली...दिखावै = जैसे उँगली दिखलाने से सर्प खीज उठता है। औरन...बतावै = औरों (विषयादि) से अनुरक्त रहकर अज्ञानी हो जाने पर भी अपने को ब्रह्म कहता है।

आत्मानुभूति की दशा (२)

आतम-अनुभव-रीति वरी री।
और बनाय निज रूप अनूपम, तिच्छन रुचि कर तेग धरी री।
टोप सनाह सूर को बानो, एकतारी चोरी पहिरी री।
सत्ता थल में मोह बिदारत, ए ए सुरजन मुहं निसरी री।
केवल कंवला अपछर सुन्दर, गान करे रसरंग-भरी री।
जीत-निसान बजाइ बिराजै, आनंदघन सर्वंग धरी री।

वरी = ग्रहण की। तिच्छन...धरी = तीव्र इच्छा की तलवार धारण कर ली है। एकतारी...पहिरी = एक तार की चोली पहन ली, अर्थात् तारी लगी रहती है। ए ए....निसरी = देवता भी स्वागत करते हैं।

आत्म-दर्शन (३)

साधु भाइ अपना रूप जब देखा।
करता कौन कौन फुनि करनी, कौन मांगेगो लेखा।
साधु संगति अरु गुरु की कृपा तें, मिट गइ कुल की रेखा।
आनदघन प्रभु परचो पायो, उतर गयो दिल भेखा।।

उतर...भेखा = माया का आवरण हट गया।

ज्ञानोदय (४)

मेरे घट ज्ञान-भानु भयो भोर।
चेतन चकवा चेतना चकवी, भागो विरह को सोर।
फैली चहुँ दिश चतुर-भाव-रुचि, मिटचो भरम तम जोर।
आपकी चोरी आपही जानत, और कहत न चोर।
अमल कमल विकच भये भूतल, मंद विषय-ससि-कोर।
आनंदघन एक वल्लभ लागत, और ना लाख किरोर।।

चतुर...रुचि = ज्ञान की ज्योति। विकच भये = खिल उठे। कोर = किरण। वल्लभ = प्रियतम।

मध्यस्थ की अनावश्यकता (५)

रिसानी आप मनावो रे प्यारे, विच्च बसीठ न फेर।
सौदा अगम है प्रेम का रे, परखत बूझै कोय।
ले दे वाही गम पड़ै प्यारे, और दलाल न होय।
दो बातां जियकी करोरे, मेटो मनकी आंट।
तन की तपत बुझाइये प्यारे, वचन सुधारस छांट।
नेक नजर निहालिये रे, उजर न कीजे नाथ।
तनक नजर मुजरे मिलै प्यारे, अजर अमर सुख साथ।
निसि अंधियारी घन घटा रे, पाऊँ न वाट को फंद।
करुणा करो तो निरबहुं प्यारे, देखूं तुम मुख चंद।
प्रेम जहां दुविधा नहीं रे, नहि ठकुराइत रेज।
आनंदघन प्रभु आइ बिराजे, आपहि ममता-सेज।।

आप = स्वयं। विच्च...फेर = बीच-बिचाव करने वाले किसी अन्य व्यक्ति मे सहायता न लो। परखत...कोय = अपने निजी अनुभव से ही इसकी जानकारी हो पाती है। ले दे...पड़ै = जो इसमें रहता है, उसी को इसका रहस्य विदित होता है। बातां = बातें। जियकी = मर्म की। आंट = गाँठ। छांट = चुनकर। निहालिये = दृष्टिपात कीजिए। उजर = आपत्ति, आनाकानी। फंद = उपाय, संकेत। ठकुराइत = स्वामीपन। रेज = नीच कोटि का व्यक्ति, दासपन।

आत्म-लीला (६)

देखो एक अपूरब खेला।
आपही बाजी आपही बाजीगर, आप गुरू आप चेला।
लोक अलोक बिच आप विराजित, ज्ञान प्रकाश अकेला।
बाजी छांड़ तहां चढ़ बैठे, जिहां सिंधु का मेला।
वागवाद खटनाद सहूं में, किसके किसके बोला।
पाहण को भार कांही उठावत, एक तारे का चोला।
षटपद-पद के जोग सिरीखस, क्योंकर गज-पद तोला।
आनंदघन प्रभु आय मिलो तुम, मिट जाय मन का झोला ॥

अलोक = भिन्न लोक वा लोकेतर। बाजी = प्रपंच। सिंधु.. मेला = प्रेम का समुद्र उमड़ रहा है। वागवाद = वाणी का विलास। खटनाद = छह् प्रकार के शब्द। सहूं में = सबमें, सर्वत्र। पाहण = पाषाण, पत्थर। कांही = किस प्रकार। एक...चोला = केवल एक तार का ही बना हुआ शरीर। षटपद-पद = भ्रमर के चरण। सिरीखस = सदृश, बराबरी वा तुलना में। झोला = चंचलता, बेचैनी।

अनिर्वचनीयता (७)

निसानी कहा बताऊँ रे, तेरो वचन अगोचर रूप।
रूपी कहूं तो कछु नाहीं रे, कैसे बंधै अरूप।
रूपारूपी जो कहूं प्यारे, ऐसे न सिद्ध अनूप।
सिद्ध सरूपी जो कहूं रे, बंधन मोक्ष बिचार।
न घटे संसारी दसा प्यारे, पुन्य पाप अवतार।
सिद्ध सनातन जो कहूं रे, उपजै विणसै कौण।
उपजै विणसै जो कहूं प्यारे, नित्य अबाधित गौन।
सर्वांगी सवनय धर्णी रे, माने सब परवान।
नयवादी पल्लोग्रही प्यारे, करै लराई ठान।
अनुभव-गोचर वस्तु कोरे, जाणवो यह ईलाज।
कहन सुनन को कछू नहिं प्यारे, आनंदघन महराज ॥

वचन अगोचर = अनिर्वचनीय। रूपारूपी...अनूप = साकार-निराकर दोनों कहूँ तो यह विचित्र बात संभव नहीं दीखती। सिद्ध...बिचार = स्वरूप वाला कहने पर बंध-मोक्ष का प्रश्न रह जाता है। नयवादी = ज्ञानी। पल्लोग्रही = ऊपर-ऊपर की ही बातें करने वाले। जाणवो...ईलाज = स्वानुभूति ही साधन है।

आत्म-निरूपण (८)

अवधू नाम हमारा राखै, सोई परम महारस चाखै।
ना हम पुरुष नहीं हम नारी, बरन न भांति हमारी।
जाति न पांति न साधन साधक, ना हम लघु नहिं भारी।

ना हम ताते ना हम सीरे, ना हम दीघ न छोटा।
ना हम भाई ना हम भगिनी, ना हम बाप न धोटा।
ना हम मनसा ना हम सबदा, ना हम तन की धरणी।
ना हम भेख भेखधर नाहीं, ना हम करता करणी।
ना हम दरसन ना हम परसन, रसन गंध कछु नाही।
आनंदघन चेतनमय मूरति, सेवक जन बलि जाहीं।

बरन = वर्ण। भाँति = भेद। धोटा = पुत्र। धरणी = वृत्ति।

इष्टदेव निरंजन (६)

अब मेरे पति गति देव निरंजन।
भटकूं कहा कहा सिर पटकूं, कहा करूं जन रंजन।
खंजन-दृगन दृग न लगावूं, चाहूं न चितवन अंजन।
संजन घट अंतर परमातम, सकल दुरित-भयभंजन।
एह काम-गवि एह काम-घट, एही सुधारस मंजन॥
आनंदघन प्रभु घट वन-केहरि, काम-मतंग-गज-गंजन॥

संजन = सज्जन, संत। काम-गवि = कामधेनु। मंजन = मार्जन, स्नान।

भीषजनजी (दादूपंथी)

भीषजनजी शेखावाटी के फतेहपुर नगर के निवासी थे। ये जाति के महा-ब्राह्मण थे। इनके जन्म-संवत् वा मृत्यु-संवत् का पता नहीं चलता, किन्तु इनकी प्रसिद्ध रचना 'सर्वंगी बावनी' के निर्माण-काल सं० १६८३ से अनुमान होता है कि इनके जीवन-काल का अधिकांश कदाचित् १७वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बीता होगा। यही बात इनकी रचना 'भारती नाममाला' के आरंभ-काल सं० १६८५ से भी सिद्ध होती है। भीषजनजी दादू-शिष्य संतदासजी के शिष्य थे जो संभवतः अपनी अधिक रचनाओं के कारण 'बारह-हजारी' कहलाते थे। ये महान् त्यागी थे। भीषजनजी को भगवद्भक्ति एवं सत्संत में पूरी निष्ठा थी और इनका अधिक समय इसी में व्यतीत हुआ करता था। कहते हैं कि एक बार जब ये फतेहपुर के लक्ष्मीनारायणजी के मन्दिर में गये हुए थे, वहाँ के पुजारियों ने इन्हें हीन ब्राह्मण समझकर निकाल दिया। इस पर दुःखी होकर भीषजनजी उक्त मंदिर के पिछवाड़े जा बैठे और वहीं से भगवद्भजन गाने लगे। जब प्रातःकाल हुआ तो लोगों ने देखा कि मन्दिर में पधरायी गई मूर्त्ति का मुख उसी ओर हो गया है जिधर भीषजनजी रातभर बैठे रहे। इस बात से उन्हें महान् आश्चर्य हुआ। पुजारियों ने इस घटना से अत्यन्त प्रभावित होकर भीषजनजी से क्षमा-याचना की और तब से इनकी बड़ी प्रसिद्धि हो चली। ऐसी ही एक अन्य घटना की चर्चा प्रसिद्ध भक्त वामदेव के सम्बन्ध में भी की जाती है और वैसा वर्णन कबीर की रचनाओं में भी मिलता है।

भीषजनजी की उक्त दो रचनाओं के अतिरिक्त किसी अन्य वाणी आदि का पता नहीं चलता। उक्त दो पुस्तकों में से 'भारती नाममाला' भी 'अमरकोश' नामक

प्रसिद्ध ग्रंथ का हिंदी पद्यानुवाद जान पड़ती है। 'सर्वंगी बावनी' में इनके ५४ छप्पय संगृहीत हैं जो नागरी के अक्षरों के क्रमानुसार लिखे गये हैं। इसमें प्रायः उन्हीं विषयों की चर्चा की गई है जो अन्य बानियों में भी मिलते हैं। इसमें किये गए वर्णनों की विशेषता उनमें दीख पड़ने वाले विविध दृष्टांतों में लक्षित होती है। भीषजनजी, रज्जब-जी की भाँति, किसी विषय का प्रतिपादन करते समय, उसे अनेक प्रसंगों द्वारा पुष्ट करने की चेष्टा बराबर किया करते हैं और उनमें नयी सूझें भी ला देते हैं। इनकी भाषा प्रवाहपूर्ण है और इनकी रचनाओं में इनके निजी अनुभव का भी समावेश दीख पड़ता है।

छप्पय

वह अविगत गति अमित अगम अनभेव अखंडित।
अबिहर अमर अनूप अरुचि अपरूप अमंडित ॥
निर्मल निगह निरंग निगम निहसग निरनन।
निज निरबंध निरसंध निधर निरमोह निर्चिनन ॥
जगजीवन जगदीश जपि नारायन रंजक सकल।
भुव-धारन भव दुख-हरन भजु जन भीष अनंत बल ॥१॥

आहि पुहुप जिमि बास प्रगट तिमि बसै निरंतर।
ज्यों तिलयिन में तेल मेल यों नाहिन अंतर ॥
ज्यूं पय घृत संजोग सकल यौं है संपूरन।
काष्ठ अगनि प्रसंग प्रगट कीजै कहुं दूर न ॥
ज्यूं दर्पण प्रतिबिम्ब मैं होत जाहि विश्राम है।
सकल बियापी भीषजन अैसे घटि घटि राम है ॥२॥

इक सरवर तजि मीन कैसे सुष पावत।
बायस बोहिथ छाड़ि फिरत फिर तासुहि आवत ॥
सबै भीति की दौर ठौर कहाँ समावत।
उडै पंष विन आहि सु तौ धरती फिर आवत ॥
पात सींचियत पेड़ बिन पाय नहिं द्रुम ताहि कौं।
अैसे हरि बिन भीषजन भजे सु दूजा काहि कौं ॥३॥

दग्ध वृक्ष नहिं नवें नवै सु आहि सु फलतर।
नाहि कसौटो काच साच कै सहै हेमवर ॥
विद्रुम षात न चोट पात सो हीर चोट अति।
पाहन भिदै न नीर भिदै सैंधव कोमल मति ॥
अल्प कुम्भ बोलै अधिक सपूरन बोलै नहीं।
त्यूं सठसंग सु भीषजन साध सिद्ध मति है वही ॥४॥

रबि आकरषै नीर बिमल मल हेत न जानत।
हंस क्षीर निज पान सूप तजि तुस कन आनत ॥
मधुभाषी संग्रहै ताहि नहिं कूकस काजै।
बाजीगर मणि लेत नांहि बिष देत बिराजै ॥

ज्यूं अहीरी काढि घृत तक्र हेत है डारि कै ।
यूं गुन ग्रहै सु भीषजन औगुन तजं विचार कै ।।५।।

अबिगत = अज्ञात । अनभेव = अपूर्व । अविहर = अबिहड़, अनश्वर । अरुचि = बिना कांति का । निगह = अग्राह्य । निज निर्बंध = अपनी ही सीमा में रहने वाला । निरसंध = बिना छिद्र का । रंजक = आनंददायक । छीन = क्षीण, वियुक्त । बायस = काग । बोहिथ = जहाज । भीति = भय । पेड़ = तना । नव = झुकना है । हेमवर = उत्कृष्ट सोना । विद्रुम = मूंगा । भिदै = समाना । सैंधव = नमक । अन्य = अधमरा । आकरषै = ऊपर को खींचना है । तुम = भूसी । कन = अन्न । कूकग = स्थूल भाग । काजै = मतलब ।

संत वाजिदजी (दादूपंथी)

वाजिदजी संत दादू दयाल के एक सौ बावन शिष्यों में से अन्यतम थे । ये जाति के पठान थे । इनके विषय में कहा जाता है कि एक बार जब ये किसी हरिणी का शिकार कर रहे थे, इनके हृदय में करुणा का भाव जागृत हो उठा और इनके जीवन में काया-पलट हो गई । इन्होंने उसी समय अपने तीर एवं कमान तोड़कर फेंक दिये और घर लौटकर शीघ्र किसी सद्गुरु की खोज में निकल पड़े । ऐसे ही अवसर पर इन्हें संत दादू दयाल के साथ सत्संग करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । ये उनसे पूर्ण प्रभावित होकर उनके शिष्य हो गए । इनके जन्म-स्थान अथवा जीवन-काल की तिथियों का न तो कोई पता चलता है, न इनकी सभी रचनाएँ ही अभी तक उपलब्ध हैं । इनका जीवन-काल विक्रम की १७वीं शताब्दी में ठहराया जा सकता है । यह भी संभव है कि ये १८वीं के प्रारंभ काल में भी रहे हों । इनके जीवन में घोर परिवर्तन लाने का कारण इनके कठोर शिकारी हृदय का अकस्मात् कोमल बन जाना कदाचित् इनके अंत समय तक कायम रहा । इनकी रचनाओं में इस बात के अनेक उदाहरण मिलते हैं जो इनकी दया, दान-शीलता, सहानुभूति आदि के भावों में व्यक्त हुए हैं । इन्हें संघर्ष एवं भेदभाव के जीवन के प्रति कुछ भी आकर्षण नहीं और ये सर्वसाधारण के जीवन-स्तर को, नैतिक आधार पर ऊँचा करना चाहते हैं । इसकी ओर इन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा प्रायः सर्वत्र संकेत किया है ।

वाजिदजी की रचनाओं की संख्या बहुत बड़ी बतलायी जाती है । उनमें से १५ का एक संग्रह स्व० पुरोहित हरिनारायण शर्मा के पास वर्तमान था । परन्तु अभी तक उनमें से न तो कोई प्रकाशित है, न इनके सभी ग्रन्थों का कोई विस्तृत विवरण ही उप-लब्ध है । इनकी कुछ साखियों को रज्जबजी ने अपने 'सर्वंगी' नामक संग्रह में तथा जगनाथजी ने अपने 'गुणगंजनामा' में उद्धृत किया है । फिर भी वाजिदजी की अरिल्ल छंद की ही रचनाएँ सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं । उन्हीं का एक छोटा-सा संग्रह जयपुर से प्रकाशित 'पंचामृत' नामक पुस्तक में छपा है । इसमें केवल एक सौ पैंतिस ही अरिल्ल हैं जो क्रमशः सुमरण, विरह, पतिव्रता, साध, उपदेश, चिन्तामणि, विश्वास, कृपण, दातव्य, दया, अज्ञान, उपजण, जरणा, साँच एवं भेष जैसे विविध अंगों के अंतर्गत विभा-जित हैं । इनसे इनके संत-हृदय का अच्छा परिचय मिलता है । इनकी भाषा सीधी-सादी, स्पष्ट एवं प्रभावपूर्ण है और इनकी पंक्तियों में किसी प्रकार की उग्रता नहीं लक्षित

होती। कहते हैं कि इनकी बहुत-सी रचनाएँ दोहे-चौपाइयों में भी मिलती हैं और उनकी भी भाषा में ये गुण पाये जाते हैं।

अरिल्ल

गाफिल रहिबा बीर कहो क्यूं बनत है।
रे मानस का श्वास जुरा नित गनत है।।
जाग लागि हरिनाम कहां लगि सोइ है।
हरिहां, चाके के मुखधगे सु मैदा होइ है।।१।।

टेढी पगड़ी बांध झरोखा झांकते।
ताना तुरग पिराण चहूंटे डाकते।।
लारे चढनी फौज नगारा बाजतें।
वाजिद वे नर गये बिलाय सिंह ज्यूं गाजते।।२।।

शिर पर लम्बा केश चले गज चालसी।
हाथ गह्या शमशेर ढलकती ढालसी।।
एता यह अभिमान कहां ठहरांयगे।
हरिहां, वाजिद ज्यूं तीतर कूं बाज झपट ले जांयगे।।३।।

काल फिरत है हाल रैंण दिन लोइ रे।
हनै राव अरु रंक गिणै नहिं कोइ रे।।
यह दुनिया वाजिद बाट की दूब है।
हरिहां, पाणी पहिले पाल बँधै तू खूब है।।४।।

आवेंगे किहि काम पराई पौर के।
मोती जर वरजाहु न लीजे और के।।
परिहरि ये वाजिद न छूवे माथ को।
हरिहां, पाहन नीको वीर! नाथ के हाथ को।।५।।

दरगह बड़ो दिवान न आवे छेह जी।
जे शिर करवत बहे तो कीजे नेह जी।।
हरिते दूर न होय दुःख कूं हेरि के।
हरिहां, वाजिद जानराय जगदीश निवाजै फेरि के।।६।।

भगत जगत में वीर जानिये ऐन रे।
श्वास सरद मुख जरद निर्मले नैन रे।।
दुरमति गइ सब दूर निकट नहिं आवहीं।
हरिहां, साध रहे मुख मौन कि गोविंद गावहीं।।७।।

बड़ा भया तो कहा बरस सो साठ का।
घणा पढ्या तो कहा चतुर्बिध पाठ का।।
छापा तिलक बनाय कमंडल काठ का।
हरिहां, वाजिद एक न आया हाथ पंसेरी आठ का।।८।।

कहे वाजिद पुकार सीष एक सुंन रे।
आडो बांकी बार आइहै पुंन रे।।

अपनो पेट पसार बड़ों क्यूं कीजिये।
हरिहां, सारी मैं तैं कौर और क्यूं दीजिये ॥६॥
भूखो दुर्बल देख मुँह नहिं मोड़िये।
जो हरि सारी देय तो आधी तोड़िये॥
भी आधी की आध आध की कोर रे।
हरिहां, अन्न सरीखा पुण्य नहीं कोइ और रे ॥१०॥
खैर सरीखी और न दूजी बसत रे।
मेल्हे बासण मांहि कहा मुंह कसत रे॥
तूं जन जाने जाप रहेगी ठाम रे।
हरिहां, माया दे वाजिद धणी के काम रे ॥११॥

रहिबा = रहना। बीर = भाई। मानस = मनुष्य। जुरा = बुढ़ापा। लागि = लग जा। झरोखा = महल की खिड़की से। ताता = तेज दौड़ने वाला। पिराण = पलान, काठी वा जीन। चहूंटे = चारों ओर। डाकंत = दौड़ लगाते। लारे = पीछे, साथ-साथ। शमशेर = तलवार। ढलकती = लटकती। ढालसी = ढाल के साथ। एता = इतना बड़ा। पाल = बाँध। पराई...के = दूसरे घर वाले। वरजहु = उत्तम से भी उत्तम। माथ = मस्तक। नाथ = अपने स्वामी। दरगह = दरबार में। दिवान = दीवान, उच्च कोटि के पुरुष। छेह = न्यून कोटि वाले। हेरि के = अनुभव कर। ऐन = असली, सच्चे। घणा = बहुत कुछ, अधिक। चतुर्बिध...का = चारों प्रकार से, सभी प्रकार से। न.... हाथ = वश में नहीं आया। पंसेरी...का = आठ पंसेरी वाला, अर्थात् अपना मन। सीष = शिक्षा, उपदेश वा सलाह। सुंन = सुन ले। आडो आइहै = गाढ़े वा संकट के समय काम देगा। बांकी बार = संकट वा कठिनाई आ जाने पर। पुंन = पुण्य, सत्कर्म। सारी = अपने पूरे धन में से। कौर = कुछ भाग। और = दूसरों को। भी = फिर, अथवा। कोर = टुकड़ा। खैर = खैरात, दान देना। बसत = वस्तु, बात, कर्त्तव्य। मेल्हे = डाल कर, द कर के। बासण = बर्तन, घड़े आदि में। कसत है = ऊपर से बाँधता है। जाप = जाफत (अरबी शब्द जियाफत = दावत, भोज से), उत्सवादि। ठाम = स्थान पर, अपनी जगह पर, ज्यों का त्यों अथवा स्थिर। धणी = मालिक वा ईश्वर के नाम पर।

गुरु तेगबहादुर

गुरु तेगबहादुर सिखों के छठे गुरु हरगोविंद के पुत्र थे। उनका जन्म बैशाख बदि ५, सं० १६७८ को हुआ था। गुरु तेगबहादुर के बड़े भाई गुरु दिता थे जिनके पुत्र हरराय गुरु हरगोविंद के उत्तराधिकारी बनाये गए थे। गुरु हरराय के पीछे उनके पुत्र हरकृष्णराय गुरु बने थे। गुरु तेगबहादुर इसी गुरु हरकृष्णराय के अनन्तर नवम सिखगुरु के रूप में गुरु-गद्दी पर बैठे थे। गुरु तेगबहादुर अपने बचपन से ही बड़े शांतिप्रिय तथा मितभाषी थे। इनके प्रति सभी लोग बड़ी श्रद्धा का भाव रखते थे। फिर भी, निकटवर्ती सिखों में द्वेषभाव तथा षड्यंत्र की भावना प्रबल हो जाने के कारण, इन्हें कई बार अनेक प्रकार के कष्ट झेलने पड़े और ये अंत तक चैन से नहीं रह सके। इन्हें बहुधा भ्रमण भी करना पड़ता रहा जिसमें इन्होंने समय-समय पर संत मलूकदास जैसे कुछ महान् व्यक्तियों से भेंट की। पूरब की ओर ये असम प्रदेश के काम-रूप तक गये थे और वहाँ के राजा के साथ इन्होंने बादशाह औरंगजेब की संधि करायी थी। परन्तु उक्त बादशाह की धर्म-सम्बन्धी नीति ने ऐसा घटना-चक्र निर्मित कर दिया

कि इन्हें अंत में उसका बंदी बन जाना पड़ा। ये उसके बंदीगृह में रहकर बहुत कष्ट झेलते रहे और इन पर भिन्न-भिन्न प्रकार के दोषारोपण होते रहे, यहाँ तक कि एक मिथ्या अभियोग लगाकर इन्हें एक दिन प्राणदंड तक दे दिया गया। इनकी हत्या अगहन सुदि ५, संवत् १७३२ को बुरे ढंग से करायी गई और इनका शव आग लगाने के कारण भस्म हुआ।

गुरु तेगबहादुर को उनके पिता गुरु हरगोविंद ने आखेटादि का भी अभ्यास कराया था, किन्तु उनका हृदय कोमल एवं क्षमाशील ही बना रहा। उनमें जीवन की क्षणभंगुरता एवं विरक्ति के भाव पूर्णरूप से भरे हुए थे और जगत् के प्रति वे सदा उदासीन रहे। उन्होंने बहुत से पदों तथा साखियों की रचना की थी जो 'आदिग्रंथ' में 'महला ६' के अंतर्गत संगृहीत हैं। उनके प्रत्येक पद में उनकी 'रहनी' की छाप स्पष्ट लक्षित होती है और उनके शब्द उनकी गहरी अनुभूति के रंग में रँगे हुए जान पड़ते हैं। छोटे-छोटे भजनों की रचना करने तथा चुभती हुई चेतावनी देने में ये अत्यन्त प्रवीण हैं। इनके द्वारा प्रयुक्त वाक्यों का प्रभाव अधिकतर गहरा एवं चिरस्थायी हुआ करता है। यही कारण है कि गुरु तेगबहादुर की रचनाएँ अन्य सिख गुरुओं की बानियों से कहीं अधिक लोकप्रिय हैं। ऐसी रचनाओं में से बहुत-सी, अंत में 'नानक' शब्द का प्रयोग होने के कारण भ्रमवश गुरु नानकदेव की समझ ली गई हैं। इनके पदों में पंजाबीपन का प्राय: अभाव है और वे अपनी रूपरेखा में, कृष्णभक्त हिन्दी-कवियों की रचनाओं की श्रेणी के हैं।

पद

सांसारिक मानव (१)

प्रानी कउ हरिजसु मनि नहीं आवै।
अहिनिसि मगनु रहै माइआ मैं, कहु कैसे गुन गावै ।।रहाउ।।
पूत मीत माइआ ममता सिउ, इह बिधि आपु बंधावै ।।
म्रिगत्रिसना जिउ झूठो इह जग, देषि तासि उठि धावै ।।१।।
भुगनि मुकति का कारनु सुआमी, मूढ़ ताहि बिसरावै ।।
जन नानक कोटनमैं कोऊ, भजनु राम को पावै ।।२।।

जिउ = ज्यों, जैसा, तुल्य, समान।

वही (२)

साजो इहु जगु भरमु भुलाना।
राम नाम का सिमरनु छोड़िआ, माइआ हाथि बिकाना ।।रहाउ।।
मात पिता भाई सुत बनिता, ताकै रस लपटाना ।।
जोबनु धनु बनिता प्रभुता कै मदमै, अहिनिसि रहै दिवाना ।।१।।
दीन दइआल सदा दुषभंजन, तासिउ मन न लगाना।
जन नानक कोटनमै किनहूं, गुरमुषि होइ पछाना ।।२।।

लगाना = लगाता, जोड़ता।

मनोव्यथा (३)

विरथा कहउ कउन सिउ मन की।
लोभि ग्रसिउ दसहूं दिस धावत, आसा लागिउ धन की ।।रहाउ।।

सुषकै हेतु बहुत दुषु पावत, सेव करत जन जन की।
दुआरहि दुआर सुआन जिउ डोलत, नह सुध राम भजन की ॥१॥
मानस जनमु अकारथ षोवत, लाजन लोक हंसन की।
नानक हरि जसु किउ नहि गावत, कुमति बिनासै तन की ॥२॥

बिरथा=व्यथा, चिंता। नह=नहीं। लाजन=लोक-लज्जा के कारण। तनकी=अपनी ही।

अविवेकी मन (४)

यह मनु नैकु न कहिउ करै।
सीष सिषाइ रहिउ अपनी सी, दुरमति ते न टरै ॥रहाउ॥
मदि माइआकै भइउ बावरो, हरि जसु नहि उचरै।
करि परपंचु जगत कउ डहकै, अपनो उदरु भरै ॥१॥
सुआन पूछ जिउ होइ न सूधो, कहिउ न कान धरै।
कहु नानक भजु राम नाम नित, जाते काजु सरै ॥२॥

कहिउ=परामर्शानुसार। डहकै=भुलावा देता रहता है। सुआन...सूधो श्वान, अर्थात् कुत्ते की टेढ़ी पूँछ जिस प्रकार अनेक बार सीधी की जाने पर भी फिर ज्यों की त्यों टेढ़ी हो जाती है, उसी प्रकार हमारे मन में भी स्थायी सुधार नहीं हो पाता। कहिउ...धरै=किसी कथन पर ध्यान नहीं देता।

मन की भूल (५)

भूलिउ मनु माइआ उरझाइउ।
जो जो करम कीउ लालच लगि, तिह तिह आपु बंधाइउ ॥रहाउ॥
समझ न परी बिषै रस रचिउ, जसु हरि को बिसराइउ।
संगि सुआमी सो जानिउ नाहिन, बनु षोजन को धाइउ ॥१॥
रतनु रामु घटही के भीतरि, ताको गिआनु न पाइउ।
जन नानक भगवंत भजन बिन, बिरथा जनमु गंवाइउ ॥२॥

रचिउ=अनुरक्त हो गया, लीन हो गया।

भ्रमात्मक जगत् (६)

साधो रचना राम बनाई।
इकि बिनसै इक असथिरु मानै, अचरजु लषिउ न जाई ॥रहाउ॥
कामु क्रोधु मोह बसि प्रानी, हरि मूरति बिसराई।
झूठा तनु साचा करि मानिउ, जिउ सुपनारै नाई ॥१॥
जो दीसै सो सगल बिनासै, जिउ बादर की छाई।
जन नानक जग जानिउ मिथिआ, रहिउ राम सरनाई ॥२॥

रचना=सृष्टि के सारे पदार्थ। इकि....मानै=एक वस्तु को अपने सामने नष्ट होती हुई देख कर भी अन्य को स्थायी मान लिया जाता है। सुपनारै=स्वप्नावस्था में।

झूठा संबंध (७)

सभ किछु जीवत को बिवहार।
मात पिता भाई सुत बंधव, अरु फुनि ग्रिहकी नारि ॥रहाउ॥
तनते प्रान होत जब निआरे, टेरत प्रेति पुकारि।
आध घरी कोऊ नहि राषै, घरि ते देत निकारि ॥१॥
म्रिगत्रिसना जिउ जग रचना यह, देषहु रिदै बिचारि।
कहु नानक भजु राम नाम नित, जाते होत उधार ॥२॥

सभ....बिवहार = संबंध का व्यवहार जीवितावस्था में ही चलता है। बंधव = बाँधव, परिवार के लोग। टेरत = घोषित कर देते हैं। रिदै = हृदय में।

स्वार्थ का प्रेम (८)

जगत मैं झूठी देषी प्रीति।
अपने ही सुष सिउ सभ लागे, किआ दारा किआ मीत ॥रहाउ॥
मेरउ मेरउ सभै कहत है, हित सिउ बांधिउ चीत।
अंति कालि संगी नह कोऊ, इह अचरज है रीत ॥१॥
मन मूरष अजहूं नह समझत, सिषदै हारिउ नीत।
नानक भउ जल पारि परै जउ, गावै प्रभ के गीत ॥

हित....चीत = स्वार्थ में ही मन लिप्त रहा करता है। नह = नहीं।

पछतावा (९)

मनकी मनही माहि रही।
ना हरि भजे न तीरथ सेवे, चीटी काल गही ॥रहाउ॥
दारा मीत पूत रथ संपति, धन पूरन सभ मही।
अवर सगल मिथिआ ए जानहु, भजनु रामको सही ॥१॥
फिरत फिरत बहुते जुग हारिउ, मानस देह लही।
नानक कहत मिलन की बरीआ, सिमरत कहा नही ॥२॥

ए = यह। मानस = मनुष्य की। बरीआ = अवसर पर।

मन की करतूत (१०)

माई मनु मेरो बस नाहि।
निस बासुर बिषिअन कउ धावत, किहि बिधि रोकउ ताहि ॥रहाउ॥
वेद पुरान सिम्रिति के मति सुनि, निमष नहीए बसावै।
परधन परदारा सिउ रचिउ, बिरथा जनमु सिरावै ॥१॥
मदि माइअकै भइउ बावरो, सूझत नह कछु गिआना।
घटहीं भीतरि बसत निरंजन, ताको मरमु न जाना ॥२॥
जबही सरन साधकी आइउ, दुरमति सगल बिनासी।
तब नानक चेतिउ चिंतामनि, काटो जमकी फांसी ॥३॥

बसावै = धारण करता है। सिरावै = व्यतीत करता है। मदि = घमंड में।

समभाव की स्थिति (११)

साधो मन का मानु तिआगउ ।
कामु क्रोधु संगति दुरजन की, ताते अहिनिसि भागउ ।।रहाउ।।
सुषु दुषु दोनो सम करि जानै, अउरु मान अपमाना ।
हरष सोगते रहै अतीता, तिनि जगि ततु पछाना ।।१।।
उसतति निंदा दोऊ तिआगै, पोजै पदु निरवाना ।
जन नानक इहु षेलु कठनु है, किनहू गुरमुषि जाना ।।२।।

अतीता =अप्रभावित । ततु = भेद, रहस्य । षेलु = रहनी । कठनु = कठिन ।

मुक्तावस्था (१२)

साधो राम सरनि बिसरामा ।
वेद पुरान पढे को इह गुन, सिमरे हरि को नामा ।।रहाउ।।
लोभ मोह माइआ ममता फुनि, अउ बिषअन की सेवा ।
हरष सोग परसै जिन नाहनि, सो मूरति है देवा ।।१।।
सुरग नरक अम्रित बिषु ए सभ, तिउ कंचन अरु पैसा ।
उसतति निंदा ए सभ जाकै, लोभु मोहु फुनि तैसा ।।२।।
दुषु सुषु ए बांधे जिह नाहिन, तिह तुम जानहु गिआनी ।
नानक मुकति ताहि तुम मानहु, इह विधि को जो प्रानी ।।३।।

बिसरामा = शांति । इह गुन = यही प्रयोजन है । जिह = जिस व्यक्ति को । मुकति = मुक्त, जीवन्मुक्त ।

वही (१३)

तिह जोगी कउ जुगतिउ जानउ ।
लोभ मोह माइया ममता फुनि, जिह घटि माहि पछानउ ।।रहाउ।।
परनिंदा उसतित नह जाकै, कंचन लोह समानो ।
हरष सोग ते रहे अतीता, जोगी ताहि बषानो ।।१।।
चंचल मन दहदिसि कउ धावत, अचल जाहि ठहरानो ।
कहु नानक इह बिधि को जो नरु, मुकति ताहि तुम मानौ ।।२।।

जुगतिउ = युक्त, वास्तविक, सच्चा । समानो = एकसमान ।

ब्राह्मीभूत (१४)

जो नर दुषुमै दुषु नही मानै ।
सुषु सनेहु अरु भै नहि जाकै, कंचन माटी मानै ।।रहाउ।।
नह निंदिआ नह उसतति जाकै, लोभु मोहु अभिमाना ।
हरष सोगते रहे निआरउ, नाहि मान अपमाना ।।१।।
आसा मनसा सगल तिआगै, जगते रहै निरासा ।
कामु क्रोधु जिह परसै नाहनि, तिह घट ब्रह्म निवासा ।।२।।
गुर किरपा जिह नर कउ कीनी, तिह इह जुगति पछानी ।
नानक लीन भइउ गोबिंद सिउ, जिउ पानी सिउ पानी ।।३।।

रहै निआरउ = न्यारे, अर्थात् अलग वा निर्लिप्त रहता है। जुगति पछानी— रहस्य को समझा है।

नश्वर जगत् (१५)

रे नर इह साची जीआ धारि।
सगल जगतु है जैसे सुपना, बिनसत लगत न बार ।।रहाउ।।
बारू भीति बनाई रचि पचि, रहत नहीं दिन चारि।
तैसेही इह सुप माइआ के, उरझिओ कहा गंवार ।।१।।
अजहु समझि कछु बिगरिउ नाहिनि, भजि ले नाम मुरारि।
कहु नानक निज मतु साधन कउ, भाषिउ तोहि पुकारि ।।२।।

इह.. के = यह मायिक सुख भी वैसा ही है। निज...केउ- अपनी मति सुधारने के लिए।

चेतावनी (१६)

काहे रे बन पोजन जाई।
सरब निवासी सदा अलेपा, तोही संगि समाई ।।रहाउ।।
पुहप मधि जिउ बासु बसतु है, मुकर माहि जैसे छाई।
तैसेही हरि बसै निरंतरि, घटही पोजहु भाई ।।१।।
बाहरि भीतरि एको जानहु, इहु गुर गिआनु बताई।
जन नानक बिनु आपा चीन्है, मिटै न भ्रम की काई ।।२।।

पुहप...छाई = जिस प्रकार पुष्प में सुगंधि और दर्पण में प्रतिबिम्ब वर्तमान है। बिनु...चीन्है = बिना आत्म-ज्ञान प्राप्त किये। काई = दोष।

वही (१७)

प्रानी नाराइनि सुधि लेह।
छिनु छिनु अउध घटै निस बासुर, ब्रिथा जातु है देह ।।रहाउ।।
तरनापो बिषिअन सिउ षोइउ, बालपनु अगिआना।
बिरध भइउ अजहू नहि समझै, कउनु कुमति उरझाना ।।१।।
मानस जनम दीउ जिह ठाकुर, सो तै किउ बिसराइउ।
मुकति होत नर जाकै सिमरै, निमष न ताको गाइउ ।।२।।
माइआ को मदु कहा करतु है, संगि न काहू जाई।
नानक कहत चेति चिंतामनि, होइहै अंति सहाई ।।३।।

ब्रिथा...देह = शरीर व्यर्थ नष्ट होता जा रहा है। तरनापो = युवावस्था। दीउ = प्रदान किया। चेति = स्मरण करो।

अपनी चिंता (१८)

अब मैं कउनु उपाउ करउ।
जिह बिधि मनको संसा चूकै, भउनिधि पार परउ ।।रहाउ।।
जनमु पाइ कछु भलो न कीनो, ताते अधिक डरउ।
मन बच क्रम हरिगुन नही गाए, यह जीअ सोच धरउ ।।१।।

गुरमति सुनि कछु गिआनु न उपजिउ, पसु जिउ उदरु भरउ ।
कहु नानक प्रभु विरदु पछानउ, तब हउ पतित तरउ ॥२॥

यह...धरउ = इससे चिंतित हूँ । पछानउ = समझ पाया ।

भजन-महत्त्व (१६)

जामैं भजनु रामको नाही ।
तिह नर जनमु अकारथ षोइआ, यह राषहु कन माही ॥रहाउ॥
तीरथ करै व्रत फुनि राषै, नह मनुआ बस जाकउ ।
निहफल धरम ताहि तुम मानो, साचु कहत मैं याकउ ॥१॥
जैसे पाहनि जलमहि राषिउ, भेदै नाहि तिहि पानी ।
तैसे ही तुम ताहि पछानो, भगति हीन जो प्रानी । २॥
कलमैं मुकति नामते पावत, गुरु यह भेदु बतावै ।
कहु नानक सोई नरु गरुआ, जो प्रभके गुन गावै ॥३॥

तीरथ...जाको = सब कुछ करते हुए भी जिसका मन वश में नहीं है । कलमैं = कलियुग में । गरुआ = बड़ा, महान् ।

हरिनाम (२०)

हरिको नामु सदा सुषदाई ।
जाकउ सिमरि अजामिलु उधरिउ, गनकाहू गति पाई ॥रहाउ॥
पंचाली कउ राज सभा मै, राम नाम सुधि आई ।
ताको दुषु हरिउ करुणामै, अपनी पैज बढाई ॥१॥
जिह नर जसु किरपा निधि गाइउ, ताकउ भइउ सहाई ।
कहु नानक मै इहीं भरोसैं, गही आन सरनाई ॥२॥

पंचाली = द्रौपदी । पैज बढाई = प्रतिज्ञा के महत्त्व को बढ़ाया ।

हरिनाम-प्रभाव (२१)

माई मै धनु पाइउ हरि नामु ।
मनु मेरो धावनते छूटिउ, करि बैठो बिसरामु ॥रहाउ॥
माइआ ममता तनते भागी, उपजिउ निरमल गिआनु ।
लोभ मोह एह परसि न साकै, गही भगति भगवान ॥१॥
जनम जनम का संसा चूका, रतनु नामु जब पाइआ ।
त्रिसना सकल बिनासी मनते, निज सुष माहि समाइआ ॥२॥
जाकउ होत दइआलु किरपानिधि, सो गोबिंद गुन गावै ।
कहु नानक इह बिधि की संपै, कोऊ गुरमुषि पावै ॥३॥

चूका = दूर हो गया । संपै = संपत्ति, धन ।

विनय (२२)

हरिजू राषि लेहु पति मेरी ।
जमको त्रास भइउ उर अंतरि, सरन गही किरपानिधि तेरी ॥रहाउ॥

महा पतित मुगध लोभी फुनि, करत पाप अब हारा।
भै मरबे को बिसरत नाहिन, तिह चिंता तनु जारा ॥१॥
कीए उपाव मुकति के कारनि, दहदिसि कउ उठि धाइआ।
घटही भीतरि बसै निरंजनु, ताको मरमु न पाइआ ॥२॥
नाहिन गुनु नाहिन कछु जपु तपु, कउनु करमु अब कीजै।
नानक हारि परिउ सरनागति, अभै दानु प्रभ दीजै ॥३॥

पति = लाज।

सलोक (साखी)

गुन गोविंद गाइउ नहीं, जनमु अकारथ कीन।
कहु नानक हरि भजु मना, जिहि विधि जलकै मीन ॥१॥
सुषु दुषु जिहि परसै नहीं, लोभ मोह अभिमानु।
कहु नानक सुन रे मना, सो मूरत भगवान ॥२॥
भै काहू कउ देत नहि, नहि भै मानत आनि।
कहु नानक सुन रे मना, गिआनी ताहि बषानि ॥३॥
जिहि माइआ ममता तजी, सभते भइउ उदास।
कहु नानक सुन रे मना, तिह घटि ब्रह्म निवासु ॥४॥
जो प्रानी निसि दिन भजे, रूप राम तिह जानु।
हरि जन हरि अंतरु नहीं, नानक साची मानु ॥५॥
नर चाहत कछु अउर, अउरै की अउरै भई।
चितवत रहिउ ठगउर, नानक फांसी गलि परी ॥६॥
सुआमी को ग्रिहु जिउ सदा, सुआन तजत नही नित।
नानक इह विधि हरि भजउ, इक मन हुइ इकि चित ॥७॥
तरनापो इउही गइउ, लीउ जरा तनु जीति।
कहु नानक भज हरि मना, अउध जातु है बीति ॥८॥
पतित उधारन भैहरन, हरि अनाथ के नाथ।
कहु नानक तिह जानिअै, सदा बसतु तुम साथ ॥९॥
जिहि बिषिआ सगली तजी, लीउ भेष बैराग।
कहु नानक सुन रे मना, तिह नर माथै भाग ॥१०॥
जो प्रानी ममता तजै, लोभ मोह अहंकार।
कहु नानक आपन तरै, अउरन लेत उधार ॥११॥
जतुनु मै करि रहिउ, मिटिउ न मन को मानु।
दुरमति सिउ नानक फधिउ, राषि लेहु भगवानि ॥१२॥
एक भगति भगवान, जिह प्रानी के नाहि मन।
जैसे सूकर सुआन, नानक मानो ताहि तन ॥१३॥
तीरथ बरत अरु दान करि, मनमै धरै गुमानु।
नानक निरफल जात तिह, जिउ कुंचर असनानु ॥१४॥
सिरु कंपिउ पग डगमगै, नैन जोति ते हीन।
कहु नानक इह विधि भई, तऊ न हरिरस लीन ॥१५॥
संग सषा सभ तजि गए, कोउ न निबहिउ साथ।
कहु नानक इह बिपतमै, टेक एक रघुनाथ ॥१६॥

जिहि...मीन=जिस प्रकार मछली सदा जल में रह कर ही जीती है, उसी प्रकार तुम भी उसमें लीन रहो। भै...आनि = जो न तो कभी किसी प्रकार के भय का अनुभव करता है, न किसी अन्य को ही किसी प्रकार का भय पहुँचाता है। ठगउर = ठगा हुआ, भौंचक्का सा। इउही = योंही। अउध = जीवन की अवधि। अउरन... उधार=दूसरों को भी जरा-मरण से मुक्त कर देता है। फधिउ = बंधन में पड़ गया हूँ। दुरमति सिउ=अपनी मूर्खता के कारण। कुंचर असनानु = कुंजर, अर्थात् हाथी जिस प्रकार पानी से नहा कर निकलने पर अपने शरीर पर धूल डाल कर ज्यों-का-त्यों बन जाता है, उसी प्रकार सब कुछ करते हुए भी केवल एक गर्व के कारण, अपनी भी दशा सुधर नहीं पाती। टेक = एकमात्र आश्रय वा सहारा।

संत मलूकदास

संत मलूकदास का जन्म बैशाख बदि ५ सं० १६३१ को इलाहाबाद जिले के कड़ा नामक गाँव में हुआ था। इनके पूर्वज खत्री जाति के कक्कड़ थे और इनका प्यार का नाम 'मल्लू' था। मल्लू अपने बचपन से ही कोमल हृदय के व्यक्ति थे और खेलते समय मार्ग वा गली में काँटा वा कंकड़ पा लेने पर उसे दूसरों को कष्ट से बचाने के उद्देश्य से कहीं दूसरी ओर डाल दिया करते थे। साधु-सेवा की लगन इन्हें इतनी थी कि किसी ऐसे अतिथि के घर पर आ जाने पर उसके लिए सभी प्रकार से उद्यत हो जाते थे। इनके माता-पिता ने इन्हें कुछ बड़े होने पर कंबल बेचने का काम सौंपा और ये प्रत्येक आठवें दिन पेठ जाने लगे। एक दिन जब ये बचे हुए कंबल वहाँ से वापस लाने लगे तो भारी होने के कारण अपना गट्ठर इन्होंने किसी अपरिचित मजदूर को दे दिया। वह मजदूर, इनसे कुछ अधिक तेज चल कर इनके घर पहले ही पहुँच गया। किन्तु इनकी माता को उस पर संदेह जान पड़ा जिस कारण उसे उन्होंने खिलाने के बहाने एक कमरे में बंद कर दिया। मल्लू के आने पर जब उन्होंने कंबल सहेजने के लिए कमरा खोला तो मजदूर को उसमें नहीं पाया और आश्चर्य में पड़ गईं। इधर मल्लू पर इस घटना का ऐसा प्रभाव पडा कि उसने उस मजदूर को स्वयं भगवान समझ लिया तथा पड़ी हुई रोटी को भी उसका प्रसाद रूप मान कर उसे ग्रहण करता हुआ भगवद्दर्शनों की लालसा में अपने को निरन्तर तीन दिनों बन्द रखा। तीसरे दिन वह मलूकदास होकर ही निकला।

मलूकदास ने फिर किसी मुरार स्वामी से दीक्षा ग्रहण की और चारों ओर देशाटन करते हुए सत्संग में लगे रहे। ये अपने अन्त समय तक गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत करते रहे और प्रसिद्धि के अनुसार, १०८ वर्ष की आयु पाकर इन्होंने अपना चोला छोड़ा। इनकी शिक्षा के विषय में कुछ भी पता नहीं, किन्तु इनकी रचनाओं की संख्या ६ बतलायी जाती है जो सभी प्रकाशित नहीं हैं। इनकी फुटकर बानियों का एक संग्रह 'मलूकदासजी की बानी' के नाम से 'बेलवेडियर प्रेस' द्वारा प्रकाशित हो चुका है। इनकी रचनाओं में इनके अटल विश्वास, प्रगाढ़ भक्ति एवं विश्वप्रेम की झलक सर्वत्र लक्षित होती है। इनके प्रत्येक कथन के पीछे स्वानुभूति एवं निर्द्वन्द्वता की शक्ति काम करती हुई जान पड़ती है। ये स्वभावतः निर्भीक तथा निश्चित समझ पड़ते हैं। इनकी भाषा में क्लिष्ट शब्दों का अभाव-सा है और इनकी वर्णन-शैली में ओज एवं प्रसाद का अच्छा समावेश पाया जाता है।

पद

अनुपम सतगुरु (१)

हमारा सतगुरु बिरले जाने ।
सुई के नोके सुमेर चलावै, सो यह रूप बखानै ।।१।।
की तो जानै दास कबीरा, की हरिनाकस पूता ।
की तो नामदेव औ नानक, की गोरख अवधूता ।।२।।
हमरे गुरु की अद्भुत लीला, ना कछ खाय न पीवै ।
ना वह सोवै ना वह जागै, ना वह मरै न जीवै ।।३।।
बिन तरवर फलफूल लगावै सोतो वाका चेला ।
छिन में रूप अनेक धरत है, छिन में रहै अकेला ।।४।।
बिन दीपक उँजियारा देखै, एंडी समुंद थहावै ।
चींटी के पग कुंजर बांधै, जाको गुरू लखावै ।।५।।
बिन पंखन उड़ि जाय अकासे, बिन पंखन उड़ि आवै ।
सोई शिष्य गुरू का प्यारा, सूखे नाव चलावै ।।६।।
बिन पायन सब जग फिरि आवै, सो मेरा गुरुभाई ।
कहै मलूक ताकी बलिहारी, जिन यह जुगति बताई ।।७।।

हरिनाकस पूता=प्रहलाद ।

आत्मानुभूति (२)

आपा खोजरे जिय जाई ।
आपा खोजे त्रिभुवन सूझै, अंधकार मिटि जाई ।।१।।
जोई मन सोई परमेसुर, कोइ बिरला अवधू जानै ।
जौन जोगीसुर सब घट व्यापक, सो यह रूप बखानै ।।२।।
सब्द अनाहत होत जहाँ ते, तहाँ ब्रह्म कर बासा ।
गगन मंडल में करत कलोलै, परम जोति परगासा ।।३।।
कहत मलूका निरगुन के गुन, कोई बड़भागी गावै ।
क्या गिरही औ क्या बैरागी, जेहि हरि देय सो पावै ।।४।।

शरणापन्न (३)

अब तेरी शरन आयो राम ।।टेक।।
जबै सुनिया साधके मुख, पतित पावन नाम ।।१।।
यही जान पुकार कीन्ही, अति सताओ काम ।।२।।
विषय सेती भयो आजिज, कह मलूक गुलाम ।।३।।

विषय सेती=सांसारिक विषयों से । आजिज=लाचार, विवश ।

मस्त फकीर (४)

दर्द दिवाने बावरे, अलमस्त फकीरा ।
एक अकीदा लै रहे, ऐसे मनधीरा ।।१।।
प्रेम पियाला पीवते, बिसरे सब साथी ।
आठ पहर यों झूमते, ज्यों माता हाथी ।।२।।

उनकी नजर न आवत, कोइ राजा रंका।
बंधन तोड़े मोह के, फिरते निहसंका ॥३॥
साहब मिलि साहब भये, कछु रहो न तमाई।
कहै मलूक तिस घर गये, जहँ पवन न जाई ॥४॥

अकीदा=यकीद, विश्वास, प्रतीति। साथी=सांसारिक मनोविकार। तमाई =वासना, इच्छा।

अपनी रहनी (५)

देव पितर मेरे हरिके दास। गाजत हौं तिनके बिस्वास ॥१॥
साधू जन पूजौं चित लाई। जिनके दरसन हिया जुड़ाई ॥२॥
चरन पखारत होइ अनंदा। जन्म जन्म के काटे फंदा ॥३॥
भाव भगति करते निष्काम। निसदिन सुमिरैं केवल राम ॥४॥
घर बन का उनके भय नाहीं। ज्यों पुरइनि रहता जल माहीं ॥५॥
भूत परेतन देव बहाई। देवखर लीयैं मोर बलाई ॥६॥
वस्तु अनूठी संतन लाऊँ। कहै मलूक सब मर्म मिटाऊँ ॥७॥

देवखर=देवस्थान।

आत्मसंतोष (६)

अबकी लागी खेप हमारी।
लेखा दिया साह अपने को, सहजैं चीठी फारी ॥१॥
सौदा करत बहुत जुग बीते, दिन दिन टूटी आई।
अबकी बार बेबाक भये हम, जमकी तलब छोड़ाई ॥२॥
चार पदारथ नफा भया मोहि, बनिजैं कबहूँ न जैहौं।
अब डहकाय बलाय हमारी, घरही बैठे खइहौं ॥३॥
वस्तु अमोलक गुप्तैं पाई, ताती वायु न लावौं।
हरि हीरा मेरा ज्ञान जौहरी, ताही सों परखावौ ॥४॥
देव पितर औ राजारानी, काहू से दीन न भाखौं।
कह मलूक मेरे रामै पूँजी, जीव बराबर राखौं ॥५॥

खेप=लदान, कर्मों के फलादि का अंत। टूटी=हानि। तलब=माँग। जीव बराबर राखौं = अपने प्राणों की भाँति सुरक्षित रखूँगा।

निश्चिंत (७)

नैया मेरी नीके चलै लागी ॥टेक॥
आंधी मेंह तनिक नहिं डोलै, साहु चढ़े बड़भागी ॥१॥
रामराय डगमगी छुड़ाई, निर्भय कड़िया लैया।
गुन लहासि की हाजत नाहीं, आछा साज बनैया ॥२॥
अवसर पड़ै तो पर्वत बोझै, तहूं न होवै भारी।
धन सतगुरु यह जुगत बताई, तिनकी मैं बलिहारी ॥३॥
सूखे पड़ै तो कछु डर नांही, ना गहिरे का संसा।
उलटि जाय तो बार न बांकै, याका अजब तमासा ॥४॥
कहत मलूक जो बिन सर खेवै, सो यह रूप बखानै।
या नैया के अजब कथा, कोइ बिरला केवट जानै ॥५॥

कड़िया - करिया, पतवार। लहासि = लहासी, नाव बाँधने की मोटी रस्सी। गुन = गून, नाव खींचने की रस्सी। हालत आवश्यकता, जरूरत।

सिद्धि (८)

अब मै अनुभव पदहि समाना ॥टेक॥
सब देवन को भर्म भुलाना, अविगति हाथ बिकाना ॥१॥
पहिला पद है देवी देवा, दूजा नेम अचारा।
तीजे पद में सब जग बंधा, चौथा अपरम्पारा ॥२॥
सुन्न महल में महल हमारा, निरगुन सेज बिछाई।
चेला गुरु दोउ सैन करत हैं, बड़ी असाइस पाई ॥३॥
एक कहै चल तीरथ जइये, (एक) ठाकुरद्वार बतावै।
परम जोति के देखे संतो, अब कछु नजर न आवै ॥४॥
आवागमन का संशय छूटा, काटी जम की फाँसी।
कहै मलूक मैं यही जानिकै, मित्र कियो अबिनासी ॥५॥

अविगति = अविगत अज्ञान, परमात्मा। सैन = शयन। असाइस = आसाइश, चैन, आराम।

उपदेश (९)

गर्व न कीजै बावरे, हरि गर्व प्रहारी।
गर्वहि ने रावन गया, पाया दुख भारी ॥१॥
चरन खुदी रघुनाथ के, मन नाहि सुहाती।
जाके जिय अभिमान है, ताकी तोरन छाती ॥२॥
एक दया औ दीनता, ले रहिये भाई।
चरन गहो जाय साधके, रीझैं रघुराई ॥३॥
यही बड़ा उपदेस है, परद्रोह न करिये।
कह मलूक हरि सुमिर के, भौसागर तरिये ॥४॥

जरन जलन, ईर्ष्या। खुदी अहंकार, आपा।

आत्मीयता (१०)

सबहिन के हम सबै हमारे। जीव जंतु मोहि लगैं पियारे ॥१॥
तीनो लोक हमारी माया। अंत कतहु से कोइ नहि लाया ॥२॥
छत्तिस पवन हमारी जात। हमहीं दिन औ हमहीं रात ॥३॥
हमहीं तरवर कीट पतंगा। हमहीं दुर्गा हमहीं गंगा ॥४॥
हमहीं मुल्ला हमहीं काजी। तीरथ बरत हमारी बाजी ॥५॥
हमहीं पंडित हमी बैरागी। हमहीं सूम हमीं हैं त्यागी ॥६॥
हमहीं देव औ हमहीं दानो। भावै जाको जैसा मानो ॥७॥
हमहीं चोर हमहीं बटमार। हम ऊँचे चढ़ि करैं पुकार ॥८॥
हमहीं महावत हमहीं हाथी। हमहीं पाप पुण्य के साथी ॥९॥
हमहीं अस्व हमहीं असवार। हमहि दास हमहीं सरदार ॥१०॥
हमहीं सूरज हमहीं चंदा। हमहीं भये नंद के नंदा ॥११॥
हमहीं दसरथ हमही राम। हमरै क्रोध हमारे काम ॥१२॥

हमहीं रावन हमहीं कंस । हमहीं मारा अपना बंस ।।१३।।
हमहीं जियावैं हमहीं मारैं । हमहीं बोरैं हमहीं तारैं ।।१४।।
जहाँ तहाँ सब जोति हमारी । हमहीं पुरुष हमही हैं नारी ।।१५।।
ऐसी विधि कोई लव लावै । सो अविगत से टहल करावै ।।१६।।
सहै कुसब्द औ सुमिरै नांव । सब जग देखै एकै भाव ।।१७।।
या पद कोइ करै निवेरा । कह मलूक मैं ताकर चेरा ।।१८।।

कवित्त

वीर रघुबीर पैगम्बर खुदा मेरे, कादिर करीम काजी माया मत खोई है ।
राम मेरे प्रान रहमान मेरे दीन ईमान, भूल गयो भैया सब लोक लाज धोई है ।।
कहत मलूक मैं तो दुबिधा न जानौं दूजी, जोई मेरे मन में नैनन में सोई है ।
हरि हजरत मोहि माधव मुकुंद की सौं, छांड़ि केशवराम मेरो दूसरो न कोई है ।।१।।
सुपने के सुक्ख देखि मोहि रहे मूढ़ नर, जानत हमारे दिन ऐसहीं बिहायेंगे ।
क्या करैंगे भोग अच्छी सुंदरी रमैंगे नित्त, छांह को लै चारि जून खूंद खूद खावंगे ।।
सीकरा सो काल है कलसरी सो लपेट लैहैं, चंगुल के तले दबे दबे चिचयायेंगे ।
कहत मलूकदास लेखा देत होइहै दुक्ख, बड़े दरबार जाय अंत पछितायेंगे ।।२।।

सौं = शपथ, सौंह । खूंद-खूंद = उछल-कूद कर । सीकरा = शिकरा बाज पक्षी । कलसरी = कलसिरी, एक चिड़िया जिसका सिर काला होता है । चिचियायेंगे = चिचियाने वा चीखने लगेंगे ।

सवैया

दीनदयाल सुनी जबतें, तबतें हिय में कुछ ऐसी बसी है ।
तेरो कहाय के जाऊं कहाँ मैं, तेरे हित की पट खैंच कसी है ।।
तेरोई एक भरोस मलूक को, तेरे समान न दूजो जसी है ।
एहो मुरारि पुकारि कहौं अब, मेरी हंसी नहि तेरी हंसी है ।।१।।

साखी

मलूका सोई पीर है, जो जानै पर पीर ।
जो पर पीर न जानहीं, सो फकीर बेपीर ।।१।।
बहुतक पीर कहावते, बहुत करत हैं भेस ।
यह मन कहर खोदायका, मारे सो दुरवेस ।।२।।
पीर पीर सब कोइ कहे, पीरे चीन्हत नाहि ।
जिंद पीर को मारिके, मुरदहि ढूंढ़न जाहि ।।३।।
जहां जहां बच्छा फिरै, तहां तहां फिरै गाय ।
कहै मलूक जहं संत जन, तहाँ रमैया जाय ।।४।।
भेष फकीरी जे करै, मन नहि आवै हाथ ।
दिल फकीर जे हो रहे, साहेब तिनके साथ ।।५।।
जीवहुं ते प्यारे अधिक, लागैं मोही राम ।
बिन हरि नाम नहीं मुझे, और किसी से काम ।।६।।
कह मलूक हम जबहिं ते, लीन्हीं हरि की ओट ।
सोवत हैं सुख नींद भरि, डारि भरम की पोट ।।७।।
रहूं भरोसे राम के, बनिजे कबहुं न जाउं ।
दास मलूका यों कहै, हरि बिड़वैं मैं खाउं ।।८।।

औरहि चिंता करन दे, तू मत मारे आह।
जाके मोदी राम से, ताहि कहा परवाह ॥९॥
राम राम असरन सरन, मोहि आपन करि लेहु।
संतन संग सेवा करौं भक्ति मजूरी देहु ॥१०॥
कठिन पियाला प्रेम का, पियै जो हरिके हाथ।
चारो जुग माता रहै, उतरै जियके साथ ॥११॥
सब बाजे हिरदे बजैं, प्रेम पखावज तार।
मंदिर ढूंढ़त को फिरै, मिल्यौ बजावन हार ॥१२॥
करै पखावज प्रेमका, हृदय बजावै तार।
मनै नचावै मगन होय, तिनका मता अपार ॥१३॥
जब लग थो अंधियार घर, मूस थके सब चोर।
जब मंदिर दीपक बरयो, वही चोर धन मोर ॥१४॥
मन मिरगा बिन मूंडका, चहुं दिस चरने जाय।
हांक ले आया ज्ञान तब, बांधा तांत बिकाय ॥१५॥
जो तेरे घट प्रेम है, तो कहि कहि समुझाव।
अंतरजामी जानिहै, अंतरगत का भाव ॥१६॥
सुमिरन ऐसा कीजिये, दूजा लखै न कोय।
ओठ न फरकत देखिये, प्रेम राखिये गोय ॥१७॥
माला जपों न कर जपों, जिभ्या कहों न राम।
सुमिरन मेरा हरि करै, मैं पाया बिसराम ॥१८॥
जे दुखिया संसार में, खोवो तिनका दुक्ख।
दलिद्दर सौंप मलूक को, लोगन दीजै सुक्ख ॥१९॥
पीर सभन की एकसी, मूरख जानत नाहिं।
काँटा चूभै पीर होय, गला काट कोउ खाहि ॥२०॥
सब कोउ साहब बदते, हिन्दू मुसलमान।
साहेब तिसको बंदता, जिसका ठौर इमान ॥२१॥
दया धर्म हिरदै बसै, बोलै अमृत बैन।
तेई ऊँचे जानिये, जिनके नीचे नैन ॥२२॥
कोई जीति सकै नहीं, यह मन जैसे देव।
याके जीते जीत है, अब मैं पायो भेव ॥२३॥
जेते सुख संसार के, इकठे किये बटोर।
कन थोरे कांकर घने, देखा फटक पछोर ॥२४॥
काम मिलावै राम को, जो राखै यह जीति।
दास मलूका यों कहै, जो मन आवै परतीति ॥२५॥
प्रभुता ही को सब मरै, प्रभु को मरै न कोय।
जो कोई प्रभु को मरै, प्रभुता दासी होय ॥२६॥

कहर खोदायका=दैवी संकट का प्रतीक है। ओट=आश्रय। पोट=पोटली, बोझ। बिड़वै=बिढ़ते वा कमाते हैं। मजूरी=मजदूरी। थो=था, रहा। मूस थके=भरपेट चुराते रहे। ठौर=दुरुस्त, ठीक। कन=अन्नवत् असली। कांकर=कंकड़ के समान, निकृष्ट श्रेणी का।

---

३. मध्य युग (उत्तरार्द्ध)

(सं० १५५०—सं० १७००)

सामान्य परिचय

संत-साहित्य के इतिहास के मध्य युग का उत्तरार्द्ध काल कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। संतमत का प्रचार इस काल में पहले की अपेक्षा बहुत अधिक हुआ और उसी प्रकार अनेक रचनाओं की भी सृष्टि हुई। इस समय के संतों ने बहुत-से पंथों तथा संप्रदायों का संगठन किया और प्रत्येक का दूसरे के साथ कुछ-न-कुछ अन्तर भी स्पष्ट लक्षित होने लगा। सभी वर्गों ने अपने-अपने लिए नियमावली बनायी, धर्मग्रन्थ निश्चित किये तथा अपने-अपने मतों के अनुसार पूजन-पद्धति स्वीकार कर ली। इस काल के कुछ संतों ने प्राचीन महापुरुषों को अपना सद्गुरु कहा तथा कभी-कभी अपने को उनका अवतार मानना तक आरम्भ किया और एकाध ने अपने को भविष्य का उद्धारक अथवा मसीहा तक घोषित कर दिया। उदाहरण के लिए, गरीबदास ने अपने को कबीर साहब का गुरुमुख शिष्य बतलाया और उसी भाँति चरणदास ने भी शुकदेव मुनि को अपना सद्गुरु स्वीकार किया। दरियासाहब (मारवाड़ी) इसी प्रकार दादू साहब के अवतार माने गए और दरियादास (बिहारी) दूसरे कबीर साहब कहे जाने लगे। प्राणनाथ ने अपने को कल्कि अवतार अथवा संसार को सुधार कर एक सूत्र में बाँधने वाला मसीहा बतलाया तथा इसके लिए पुराने धर्मग्रन्थों के प्रमाण तक उद्धृत किये।

फिर भी इस काल की एक विशेषता तत्कालीन संतों के हृदयों में धर्म-समन्वय का भाव जागृत होने में भी लक्षित होती है। संत बाबालाल ने इसी काल में वेदांत एवं सूफीमतों में सामंजस्य प्रदर्शित किया। सुंदरदास एवं भीखा साहब ने वेदांत को तथा यारी साहब एवं बुल्लेशाह ने सूफीमत को संतमत से अभिन्न सिद्ध किया। धरनीदास एवं चरणदास तथा दूलनदास ने वैष्णव संप्रदाय की विचारधारा को अनेक अंशों में अपनाया, रामचरण ने जैनधर्म के सदाचार-सम्बन्धी कई नियमों का अनुसरण किया और प्राणनाथ ने हिंदू, इस्लाम एवं ईसाई धर्मों को मूलतः एक ठहराया। इस प्रकार एक ओर जहाँ इन संतों के विभिन्न वर्गों पर सांप्रदायिकता का रंग चढ़ता गया, वहाँ दूसरी ओर ये लोग इस बात के भी इच्छुक दीख पड़े कि हमारा मत अन्य सभी धर्मों का भी प्रतिनिधित्व करता है और यह वस्तुतः सबसे अधिक उच्च और उदार है। मध्ययुग के पूर्वार्द्धकालीन सन्तों ने पंथों वा संप्रदायों का निर्माण करते समय भी संतमत के मौलिक उद्देश्यों को सदा अपने ध्यान में रखने का प्रयत्न किया था। उन्होंने अपने उस नवीन कार्यक्रम का उपयोग केवल उन्हीं की सिद्धि के लिए किया था। परन्तु इन पिछले संतों ने अपनी-अपनी संस्थाओं के अन्तर्गत गौण

बातों को भी समाविष्ट कर उन्हें ठेठ सांप्रदायिक रूप देना आरम्भ कर दिया। इस कारण, पहले से अधिक सक्रिय होते हुए भी वे उसके पूर्वरूप को कायम न रख सके।

इन संतों की सक्रियता का एक स्पष्ट परिणाम इस काल की रचनाओं की अधिकता और विविधता में लक्षित होता है। इस समय के संत कवि, पदों एवं साखियों की रचना-शैली को न्यूनाधिक अपनाते हुए भी अन्य प्रणालियों को भी प्रश्रय देना आरम्भ कर देते हैं। ये संतमत के मूल आदर्शों से क्रमशः दूर होते जाने के कारण, उनके विषयों में भी कुछ-न-कुछ विस्तार एवं परिवर्तन ला देते हैं। इस काल के अधिक प्रचलित कहे जाने वाले छंदों में से सवैये, कवित्त और अरिल्ल आदि का प्रयोग कुछ पहले से अधिक दीख पड़ने लगा था। हरिदास निरंजनी एवं मलूकदास जैसे कतिपय संतों ने इन्हें पूर्वार्द्ध काल में ही अपना लिया था। इस काल के रज्जबजी, सुंदरदास, गुरु गोविंद सिंह, चरणदास आदि ने उनका और भी अधिक प्रयोग किया और उनके साहित्यिक रूप की ओर भी ध्यान दिया। इस काल के कुछ संत कवियों में भाव के ही समान भाषा एवं वर्णन-शैली को भी महत्त्व प्रदान करने की प्रवृत्ति स्पष्ट दीख पड़ती है। गुरु गोविंद सिंह के लिए यह भी प्रसिद्ध है कि हिन्दी के कुशल कवियों को वे अन्य राजाओं-महाराजाओं से कम सम्मानित नहीं किया करते थे। अपनी निजी रचनाओं तथा उन कवियों की स्वतंत्र एवं अनुवादित कृतियों का उन्होंने एक बृहत्संग्रह भी प्रस्तुत करा लिया था जो तौल में ३ मन १५ सेर तक भारी था। इसका नाम उन्होंने 'विद्याधर' रखा था। यह ग्रन्थ आनन्दपुर की लड़ाई के अनन्तर उनके दक्षिण की ओर जाते समय मार्ग की किसी नदी में प्रवाहित हो गया जिसके कारण उन्हें मार्मिक कष्ट पहुँचा।

इस काल के दो संतों अर्थात् दुखहरण एवं धरनीदास द्वारा प्रेम-कहानियों का भी लिखा जाना बतलाया जाता है। बाबा धरनीदास का 'प्रेम प्रगास' ग्रन्थ तथा संत दुखहरण की 'पुहुपावती' अभी तक प्रकाशित नहीं हैं, किन्तु दोनों ही उपलब्ध हैं। इनकी रचना-शैली सूफी प्रेम-गाथाओं का बहुत कुछ अनुसरण करती हुई भी उनसे कई बातों में भिन्न जान पड़ती है। इन प्रबन्ध रचनाओं के अतिरिक्त फुटकर विषयों को लेकर भी कुछ पुस्तकें लिखी गई हैं। उनके उदाहरण में हम स्वरोदय-विज्ञान-सम्बन्धी चरणदास एवं दरियादास की दो रचनाओं का उल्लेख कर सकते हैं। मध्ययुग के पूर्वार्द्ध काल वाले बहुप्रसिद्ध लेखकों में हम जहाँ केवल अर्जुनदेव, नानकदेव तथा मलूक-दास के ही नाम ले सकते हैं, वहाँ उत्तरार्द्ध काल वालों में रज्जबजी, सुंदरदास, तुलसीदास, गुरु गोविंद सिंह, गरीबदास, चरणदास, दरियादास एवं रामचरण को गिना सकते हैं। काव्य-कला में निपुण होने की दृष्टि से भी इस काल के कवियों की संख्या उस काल वालों से अधिक है। यह काल सन्तों में समन्वय की प्रवृत्ति, सांप्रदायिकता की भावना तथा साहित्यिक अभिरुचि की वृद्धि आ जाने के कारण उनके विविध साहित्य-निर्माण की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो गया। यह संत-साहित्य का स्वर्ण युग कहलाने योग्य है। हाँ, यदि संतों की ऊंची पहुँच, उनके हृदय की सरलता एवं भाव-गांभीर्य के ही विचार से देखा जाय तो यह उत्तरार्द्ध काल पूर्वार्द्ध काल से बढ़ कर कदापि नहीं कहा जा सकेगा।

संत बाबालाल

'बाबालाल' नाम के चार महात्माओं का केवल पंजाब प्रान्त में ही होना प्रसिद्ध है। इस कारण संत बाबालाल का निश्चित परिचय देना कठिन हो जाता है और इनके सम्बन्ध की बहुत-सी बातें संदिग्ध रह जाती हैं। जिस संत बाबालाल की भेंट शाहजादा दाराशिकोह के साथ हुई और जिनकी संवाद-वार्ता प्रकाशित हो चुकी है, उनके जन्म-स्थान का मालवा में होना बतलाया जाता है। कहा जाता है कि ये अपने गुरु के आदेशानुसार सरहिंद के निकट ध्यानपुर में रहा करते थे। इनका जन्म किसी समय सम्राट् जहाँगीर के शासन-काल (सं० १६६२-१६८४) में हुआ था। ये जाति के क्षत्रिय थे। इनके गुरु चेतन स्वामी थे जिन्होंने इनकी कड़ी परीक्षा ली थी और इन दोनों के सम्बन्ध में अनेक चमत्कारपूर्ण बातें कही जाती हैं। दाराशिकोह कंधार के अवरोध में असफल होकर जब लौटा, ये लाहौर के उपनगर कोटल मेहरा में निवास करते थे। उसके वहाँ तीन सप्ताह तक ठहरने की अवधि में, दिसम्बर सन् १६५३ (सं० १७१०) के मध्य तक, उसकी इनके साथ भेंट हुई और किसी चंद्रभान ब्राह्मण के घर पर, लाहौर के नियुला नामक भाग में दोनों के बीच एक अत्यंत रोचक धार्मिक संवाद भी हुआ जिसका पूरा विवरण उपलब्ध है। वार्तालाप वस्तुतः उर्दू में हुआ और उसे किसी राय जाधवदास ने लिपिबद्ध किया। उसी का अनुवाद फारसी में राय चंद्रभान द्वारा 'नादिरुलनुकात' के रूप में होकर प्रकाशित हुआ। संत बाबालाल योग-साधना में निपुण थे और ये वेदान्त एवं सूफीमतों द्वारा पूर्णरूप से प्रभावित थे।

'नादिरुलनुकात' में पाये जाने वाले इनके वक्तव्यों के अतिरिक्त इनके नाम से कतिपय दोहे आदि भी प्रचलित हैं जिनकी संख्या बड़ी नहीं है। ये विशुद्ध एकेश्वर-वादी हैं और परमात्मा को 'राम' वा 'हरि' कहा करते हैं। इनके अनुसार, परमात्मा आनन्द का सागर है और उससे हमारे वियोग का कारण अपनी 'अहंता' है जिसे चित्तशुद्धि एवं सहज भाव द्वारा दूर किया जा सकता है। विश्व-प्रेम से जीवन को ओतप्रोत करना इनका लक्ष्य है।

चौपाई

जाके अंतर ब्रह्म प्रतीत। धरे मौन, भावे गावे गीत ॥
निसदिन उन्मन रहित खुमार। शब्द सुरत जुड़ एको तार ॥
ना गृह गहे ना बनको जाय। लाल दयालु सुख आतम पाय ॥

उन्मन=ईश्वरोन्मुख। शब्द···तार=शब्द एवं सुरत को संयुक्त कर देता है।

साखी

आशा विषय विकार की, बांध्या जग संसार।
लख चौरासी फेर में, भरमत बारंबार ॥१॥
जिह की आशा कछु नहीं, आतम राखै शून्य।
तिहकी नहिं कुछ भर्मणा, लागै पाप न पुण्य ॥२॥
देहा भीतर श्वास है, श्वासा भीतर जीव।
जीवे भीतर बासना, किस विध पाइये पीव ॥३॥
जाके अंतर बासना, बाहर धारे ध्यान।
तिह को गोबिंद ना मिलै, अंत होत है हान ॥४॥

आशा...की = वासना । भर्मणा = भ्रांति वा आवागमन । बासना = किसी पूर्व स्थिति के जमे प्रभाव द्वारा उत्पन्न मनोदशा, संस्कारजन्य कामना ।

संत तुरसीदास निरंजनी

संत तुरसीदास निरंजनी संप्रदाय के महात्मा और उच्चकोटि के विद्वान् एवं कवि भी थे । इनकी रचनाओं के एक संग्रह का प्रतिलिपि-काल सं० १७४५ दिया हुआ मिलता है जिसके आधार पर इन्हें सं० १७०० में वर्तमान रहने वाला कहा जाता है । संतों की प्रसिद्ध 'भक्तमाल' के प्रणेता राघोदास ने इन्हें सेरपुर का निवासी बतलाया है, किंतु उस सेरपुर का कुछ परिचय नहीं दिया है । इनकी ४२०२ साखियों, ४६१ पदों तथा ४ छोटी-छोटी रचनाओं का एक संग्रह डॉ० बडथ्वाल के पास था । उसमें इनके कुछ श्लोक एवं शब्द भी सम्मिलित थे और उनके आधार पर उन्होंने इन्हें एक बहुत बड़ा विद्वान् ठहराया था । परंतु कदाचित् उन्हें भी इनके व्यक्तिगत जीवन अथवा आविर्भाव-काल का ठीक-ठीक पता नहीं चल पाया था । उन्होंने इनकी रचनाओं में निरंजनी संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धांतों का सुन्दर प्रतिपादन देखा है और आध्यात्मिक जिज्ञासा तथा रहस्यवादी उपासना की भी भूरि-भूरि प्रशंसा की है । उक्त भक्तमालकार राघोदास ने भी कहा है कि तुरसीदास को सत्य-ज्ञान की उपलब्धि हो गई थी । इनका मन सभी प्रपंचों से हट चुका था और इनके अखाड़े में सर्वत्र करणी की ही शोभा दीख पड़ती थी जिससे ये एक साधुशील महा-पुरुष जान पड़ते हैं ।

संत तुरसीदास की उपलब्ध रचनाओं में शब्द-माधुर्य का अभाव है और इनकी शैली भी वैसी आकर्षक नहीं जान पड़ती । कम-से-कम इनकी प्राप्त साखियों में सिद्धांतों का निरूपण सीधो-सादी भाषा में किया गया मिलता है । इनमें कतिपय भावनाओं का स्पष्टीकरण है, स्थितियों का वर्णन है और अपने मत का प्रतिपादन है । ये अपने विषय का परिचय साधारण ढंग से दे देना ही पर्याप्त समझते हैं और इनकी अधिकांश बातें उपादेशात्मक-सी लगती हैं । इनकी भाषा में भी राजस्थानी शब्दों की कमी नहीं, किन्तु ये अधिकतर सरल एवं बोधगम्य हैं ।

संत तुरसीदास ने सगुणोपासकों द्वारा बतलायी जाने वाली नवधा भक्ति का वर्णन अपने मतानुसार किया है । इन्होंने नवधा भक्ति के इस वृक्ष को सींचकर प्रेमा-भक्ति का फल प्राप्त करने की ओर निम्नलिखित ९ साखियों द्वारा संकेत किया है ।

साखी

सार सार मत स्रवण सुनि, सुनि राखै रिद माहिं ।
ताहीको सुनिबी सुफल, तुरसी तपति सिराहिं ॥१॥
तुरसी ब्रह्म भावना यहै, नांव कहावै सोय ।
यह सुमिरन संतन कह्या, सारभूत संजोय ॥२॥

तुरसी तेज पुंज के चरन वे, हाड़ चाम के नाहिं ।
वेद पुराननि बरनिए, रिद कवंल के माहिं ॥३॥
तुरसिदास तिहूँ लोक मैं, प्रित्मा (प्रतिमा) ऊँकार ।
वाचक निर्गुन ब्रह्मकी, वेदनि बरन्यो सार ॥४॥

गुरु गोविंद संतनि विषै, अभिन भाव उपजाय।
मंगल सूं बंदन करै, तौ पायन रहई काय ॥५॥
तुरसी बनै न दास कूं, आलस एक लगार।
हरिगुरु साधू सेवा मैं, लगा रहै यकतार ॥६॥

बराबरी की भाव न जानै, गुन औगुन ताको कछू न आनै।
अपनो मित जानिबो राम, ताहि समरपै अपना धाम ॥७॥
तुरसी तन मन आतमा, करहु समरपन राम।
जाकि ताहि दे उरन होहु, छाड़िहु सकल सकाम ॥८॥

तुरसी यह साधन भगति, तरलौं सींची सोय।
तिन प्रेमा फल पाइआ, प्रेम मुक्ति फल जोय ॥९॥
बहरा गुझि बानी सुनै, सुरता सुनै न कोय।
तुरसी सो बानी अघट, मुख बिन उपजै सोय ॥१०॥

बिन पग उठि तरवर चढ़ै, सपगे चढ़्या न जाय।
तुरसी जोती जगमगै, अंधेकूं दरसाय ॥११॥
मूरति में अमूरति बसै, अमल आतमा राम।
तुरसी भ्रम बिसरायकै, ताही कौ लै नाम ॥१२॥

जनम नीच कहिये नहीं, जौ करनी उत्तम होय।
तुरसी नीच करम करै, नीच कहावै सोय ॥१३॥
तुरसी त्रिभुवन नाथ कौ, सुहत सुभाव जु एह।
जेनि केनि ज्यूं भज्यो जिनि, तैसेहि उधरे तेह ॥१४॥

रिद = हृदय। तपति = त्रिविध ताप। सिराहिं = शांत होते हैं। संजोय = एकत्र कर के। प्रित्मा = प्रतिमा, प्रतीक। अभिन = अभिन्न, भेदरहित। लगार = भेदिया। उरन = उऋण। तरलौं = तरु, अर्थात् पेड़ की भाँति। गुझि = गुह्य, अस्पष्ट, गुप्त। सुरता = श्रोता, कानवाला। सपगे = पैर वाले से। सुहत = सोहाता है, अच्छा लगता है। जेनि...तेह = जिस किसी भी प्रकार से कोई भजन करे, उसका उद्धार उसके अनुसार हो जाता है। तेह = वह, वे।

संत रज्जबजी

रज्जबजी संत दादू दयाल के कदाचित् सर्वप्रधान शिष्य थे और उन्हीं के साथ बराबर रहा भी करते थे। इनका जन्म संवत् १६२४ के लगभग सांगानेर के पठान-कुल में हुआ था और २० वर्ष की अवस्था में इन्होंने दादूजी से दीक्षा ग्रहण की थी। कहा जाता है कि सं० १६४४ में जब ये अपना विवाह करने के लिए, दूल्हे के वेश में, सांगानेर से जा रहे थे तो आमेर में इन्हें दादूजी मिल गए। युवक रज्जब अली महात्मा दादू के दर्शन कर उनसे अत्यन्त प्रभावित हो गया और अपनी विवाह-यात्रा भंग कर वहीं रम गया। उसने अपने को दादूजी के चरणों में समर्पित कर दिया और उनसे दीक्षित होकर 'रज्जबजी' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। रज्जबजी की गुरु-भक्ति ईश्वर-भक्ति से किंचित्मात्र भी कम न थी और ये उनके क्षणिक वियोग को भी असह्य मानते रहे। दादूजी की मृत्यु हो जाने पर ये सांगानेर में रहते थे और वहीं पर अपने कई गुरुभाइयों तथा शिष्यों के साथ सत्संग किया करते थे। ऐसे सभी व्यक्तियों

के प्रति ये पारिवारिक स्नेह प्रदर्शित करते थे और सुन्दरदास जी (छोटे) इनके लिए परम प्रिय अनुज के रूप में थे। रज्जबजी का अनुभव बहुत व्यापक था और इनकी भक्ति में सूफी लोगों की मस्ती भी दीख पड़ती थी। कहते हैं कि अपने गुरु दादूजी का देहावसान हो जाने के अनन्तर इन्होंने अपनी आँखें बहुत कम खोली थीं। जनश्रुति के अनुसार, इनका संवत् १७४६ में देहान्त हुआ।

रज्जबजी उच्चकोटि के संत होने के अतिरिक्त अच्छे कवि भी थे। इनकी वाणियों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है, किन्तु उसका सम्पादन अच्छे ढंग से नहीं हुआ है। इनकी अनेक रचनाएं बहुत कुछ विकृत रूप में दिखलाई पड़ती हैं। बम्बई से प्रकाशित हुए उसके, संवत् १६७५ वाले उपलब्ध, संस्करण में इनकी साखियों की संख्या ५४२८ जान पड़ती है। ये १६४ अंगों में विभाजित होकर संगृहीत हुई हैं। इन साखियों के अतिरिक्त, उक्त संग्रह में इनके २१८ पद, ११६ सवैये, ८३ अरिल्ल, ८६ छप्पय तथा कुछ त्रिभंगी छन्द की भी फुटकर कविताएँ प्रकाशित हैं। छोटी-छोटी बावनी, अविगतिलीला-जैसी १३ अन्य रचनाएँ भी आ गई हैं। रज्जबजी ने अपने गुरु दादूजी की रचनाओं को क्रम देकर उन्हें भी 'अंगबंधू' के नाम से संगृहीत किया था। इन्होंने बहुत-से अन्य सन्तों तथा महात्माओं की वाणियों को भी विषयानुसार एकत्र कर उन्हें अपने 'सर्वंगी' नामक बृहत् ग्रन्थ में संगृहीत किया था। 'सवगी' में रज्जबजी के न केवल अथक् परिश्रम एवं मनोयोग का परिचय मिलता है, बल्कि इनके गहरे ज्ञान, प्रेम तथा पाण्डित्य का भी पता चलता है। रज्जबजी की रचना की एक बहुत बड़ी विशेषता इनके दृष्टान्तों के प्रयोग में पायी जाती है जो इनके विस्तृत अनुभव एवं गम्भीर चिन्तन को प्रकट करती है।

पद

परमात्मा (१)

औधू अकल अनूप अकेला।
महापुरुष मांहैं अरु बाहर, माया मधि न मेला ॥टेक॥
सब गुन रहित रमे घट भीतरि, नादविंद में न्यारा।
परम पवित्र परमगति खेलै, पूरण ब्रह्म पियारा ॥१॥
अंजन मांहि निरंजन निर्मल, गुण अतीत गुण मांहीं।
सदा समीप सकल विधि समरथ, मिले सुमिलि नहिं जाहीं ॥२॥
सरबंगी समसरि सब ठाहर, काहू लिपित न होई।
जन रज्जब जगपति की लीला, बूझै बिरला कोई ॥३॥

अकल=अवयव रहित, सर्वाङ्गपूर्ण। समसरि=एकसमान, समरस।

सच्चे शिष्य-गुरु (२)

सतगुरु सो जो चाहि बिन, चेला बिन कीया।
यूं परि दोष न दीजिये, मिलि अमृतरस पीया ॥टेक॥
ज्यूं ससिकै सरवा नहीं, कोई कमल बिगासै।
मुदित कुमोदिनि आपसौं, बांधी उस पासै ॥१॥

ज्यूं दीपक कै दिल नहीं, को पड़ै पतंगा।
तनमन होमै आपसों-मोड़ै नहि अंगा ॥२॥
कमल कोष आपे खुलै, मन मधुकर नाहीं।
भंवर भुलाना आपसों, बींधा यूं माहीं ॥३॥
ज्यूं दन चंचाहै नहीं, कोइ विषधर आवै।
जन रज्जब अहि आवसों, सो सोधिर पावै ॥४॥

चाहि बिन=बिन इच्छा के, अपने आप। बिन कीया=बिन प्रयत्न, अपने आप। सोधिर=सोधि। अरु=ढूंढ़ लेता है, और।

मन का स्वभाव (३)

मन की प्यास प्रचंड न जाई।
माया बहुत बहुत बिधि बिलसै, तृप्ति नहीं निरताई ॥टेक॥
ज्यूं जलधार असंख्य अवनि थल, परत न सो ठहराई।
तैसें यहु मन भर्या भूख सों, देखि परखि सुधि पाई ॥१॥
असन वसन बहु होमि अगनि मुख, नहि संतोष मिलाई।
ऐसी विधि या मन की क्षुधा है, बुझती नाहि बुझाई ॥२॥
भूख पियास संगले सूता, सो सपने न अघाई।
इहै सुभाव रहै मन मांहै, तृष्णा तरुन बधाई ॥३॥
मन मायासों कदे न धापै, सतगुरु साखि बताई।
जन रज्जब याकी यहु औषधि, राम भजन करि भाई ॥४॥

निरताई=पूरी होती। बधाई=बढ़ाया। धापै=संतुष्ट होता, तृप्त होता। साखि बताई=प्रमाणित किया है, सिद्ध कर दिखाया है।

(४)

गुरु प्रसाद अगम गति पावै, पलटै जीव ब्रह्म ह्वै जावै ॥टेक॥
हरि भृंगी गुरु डंक समान, मारत तन में भयेजु प्राण ॥१॥
चन्दन राम गुरुमति वास, भेदै भेद नहि बना दास ॥२॥
ब्रह्म सूर गुरु किरण प्रकाश, रज्जब जीव जल परसि अकास ॥४॥

(५)

संतो मन मोहन मिलि नावै।
ज्यूं बलै बघूला आंधी मांहीं, निकसि न भरण पावै ॥टेक॥
ज्यूं बृक्ष बीज परसि वपु छहनी, वसुधा मांहि समावै।
उदै अंकुर कौन बिधि ताको, कैसे अंग दिखावै ॥१॥
स्वाति बूंद जो सीप समानी, सो फिरि गगन न आवै।
अलि चलि कमल केतकी बींधै, अन्य पहुप नहि धावै ॥२॥
अम्मलवेत सुई जो पैठी, सो वागि न सिवावै।
रज्जब रहै रामसौं मन यूं, समरथ ठौर सुभावै ॥३॥

नावै=प्रवेश कर जाता है। बलै=बट जाता है। बघूला=बगूला, बवन्डर। छहनी=क्षोणी, पृथ्वी। कमल केतकी=कमल-कोष में। बींधै=बँध जाता है। अम्मलवेत=अमलवेत का फल जिसमें सुई गल जाती है। वागि न=नहीं चलती।

(६)

संतो मगन भया मन मेरा ।
अहर्निशि सदा एकरस लागा, दिया दरीबै डेरा ।।टेक।।
कुल मर्याद मेंड सब भागा, बैठा भाठी नेरा ।
जाति पांति कुछ समझौं नाहीं, किसकूं करैं परेरा ।।१।।
रसकी प्यास आस नहिं औरा, इहि मन किया बसेरा ।
ल्याव ल्याव याही लय लागी, पीवैं फूल घनेरा ।।२।।
सो रस मांग्या मिलै न काहू, सिरसाटै बहुतेरा ।
जन रज्जब तन मन दै लीया, होय धणी का चेरा ।।३।।

दरीबै=चौराहे पर । सिरसाटै=शिर देकर ।

संसार गुरु

(७)

ऐसो गुरु संसार यह, सुण समझि बिचारा ।
जे चाहे उपदेश को, तो पूछ पसारा ।।टेक।।
चौरासी लख जीव का, लछिन लै मांही ।
माजा मिली मरदि गये, पर मेले नांही ।।१।।
अबल मता उर लीजिये, गिरि तरवर ताकीं ।
जहं रोपे तहं रहि गये, सुन सतगुर साखी ।।२।।
चन्द सूर पाणी पवन, धरणी आकासा ।
रज्जब समिता पूछले, षट् दर्शन पासा ।।३।।

मरदि गये=गूंधे गये ।

आरती

(८)

आरती तुम ऊपरि तेरी । मैं कछु नांहि कहा कहूं मेरी ।।टेक।।
भाव भगति सब तेरी दीन्ही, ताकरि सेव तुम्हारी कीन्ही ।।१।।
मन चित सुरति शब्द सब तेरा, सो तुम लै तुमही पर फेरा ।।२।।
आतम उपजि सोंज सब तुमसे, सेवा शक्ति नांहि कछू हमसे ।।३।।
तूं आपेहि प्राणपति पूजा, रज्जब नांहि करन को दूजा ।।४।।

सोंज=सौज, उपकरण, सामान ।

सतगुरु

साखी

जन रज्जब गुरु की दया, दृष्टि परापति होय ।
परगट गुपत पिछानिये, जिसहि न दीखै कोय ।।१।।
माया पानी दूध मन, मिलै सु मुहकम बंधि ।
जन रज्जब बलि हंस गुरु, सोधि लहो सो संधि ।।२।।

घटा गुरु आशोज की, स्वाति बूंद सन बेन ।
सीप सुरति सरधा सहित, तहं मुकता मन ऐन ।।३।।
जन रज्जब गुरु ज्ञान जल, मीचे सिख बनराय ।
लघु दारघ अरु स्वादबिध, ह्वै अंकूर स्वभाव ।।४।।

सेवक कुंभ कुंभार गुरु, घड़ि घड़ि काढ़ै खोट ।
रज्जब मांहि सहाय करि, तब बाहिर दे चोट ॥५॥
चंद सूर पाणी पवन, धरती अरु आकास ।
ये सांई के कहे में, त्यूं रज्जब गुरुदास ॥६॥

(२) मुहकम=भले प्रकार से । संधि=पार्थक्य का आधार । (३) आशोज=आश्विन मास । ऐन=ठीक, उपयुक्त । (५) खोट=दबा हुआ, बुरा ।

विरह

तनमन ओले ज्यूं गलहि, बिरह सूर की ताप ।
रज्जब निपजै देखतूं, यों आपा गलि आप ॥७॥
घट दीपक बाती पवन, ज्ञान जोति सु उजास ।
रज्जब सीचे तेल लै, प्रभुता पुष्टि प्रकास ॥८॥

साधु

दरपन में सब देखिये, गहिबेकूं कछु नांहि ।
त्यूं रज्जब साधू जुदे, माया काया मांहि ॥९॥
साधू सदनि पधारतै, सकल होंहि कल्यान ।
रज्जब अघ उडुगन दुरहि, पुनि प्रगटैं ज्यों भान ॥१०॥
सृष्टि सहित साईं लिया, साधू ने उर मांहि ।
उभै समाने दास दिलि, तौ सेवक सम कोउ नांहि ॥११॥

नम्रता

नान्हौ सौ नन्हें हुए, बारिकहूं बारीक ।
सो रज्जब रामहिं मिले, जो चाले लघु लीक ॥१२॥

अंतःशुद्धि

रज्जब अज्जब राम है, कहे सुने में नांहि ।
यहु अशुद्ध अंतःकरण, वह देखै दिल मांहि ॥१३॥

विनय

रज्जब आया चूकता, सदा चूक ह्वा जांहि ।
पै प्रभु तुम चूकहु सु क्यों, मुझहि उधारो नांहि ॥१४॥
नदिया नर मैले बहैं, भरि जोबन मैमंत ।
रज्जब रज देखै नहीं, ईषो उदधि अनंत ॥१५॥

(८) पुष्टि=कृपा । (१०) दुरहिं=लुप्त हो जाते हैं । (१२) लघु लीक=लघुताई वा नम्रता के मार्ग पर ।

पल पल अंतर होत है, पगि पगि पडिये दूरि ।
बचन बचन बीचै पड़ै, रज्जब कहां हजूरि ॥१६॥
रज्जब की अरदास यह, और कहैं कछु नांहि ।
मो मन लीजै हेरि हरि, मिलै न माया मांहि ॥१७॥

व्यापक ब्रह्म

अमिल मिल्या सब ठौर हैं, अकल सकल सब मांहि।
रज्जब अज्जब अगह गति, काहू न्यारा नांहि ॥१८॥
प्यंड प्राण दोन्यूं तपहि, जथा कड़ाही तेल।
रज्जब हरि शशि ज्यूं रहै, अगनि मध्य नहिं गेल ॥१९॥
सब घट घटा समानि है ब्रह्म बिज्जुली मांहि।
रज्जब चिमकै कौन में, सो समझै कोइ नांहि ॥२०॥

अंतर्मुख

अंतरि लांघै लोक सब, अंतरि औघट घाट।
अंतरजामी को मिलै, जन रज्जब उर बाट ॥२१॥
रज्जब बूंद समंद की, कित सरकै कहूं जाय।
साझा सकल समंद सों, त्यूं आतम राम समाय ॥२२॥

ज्ञान

जब लग जीव जाण्या कहै, तब लग कछु न जाण।
जब रज्जब जाण्या तबै, जाणि भये अजाण ॥२३॥
आतम जे कछु उच्चरै, सब अपणां उनमान।
रज्जब अज्जब अकल गति, सो किन्हूं नहिं जान ॥२४॥
माया माहैं ब्रह्म पाइए, ब्रह्म मध्यतैं माया।
फलै सु मनकी कामना, रज्जब भेद सु पाया ॥२५॥

(१५) मैमंत = मदमत्त। ईषो = परमात्मा। (१७) अरदास = प्रार्थना।

एकांतनिष्ठ

पतिब्रता कै पीव बिन, पुरुष न जनम्यां कोइ।
त्यूं रज्जब रामहि रचै, तिनके दिल नहिं दोइ ॥२६॥
बैकुंठहि बींदै नहीं, सो विषिया क्यूं लेहि।
रज्जब राते रामसों, औरहि उरक्यू देहि ॥२७॥
सूरज देखे सकल दिशि, चलिवेकूं दिशि येक।
त्यूं रज्जब ही रामसों, यहु गति वरत बमेक ॥२८॥
हरि दरिया में मीन मन, पीवै प्रेम अगाध।
महा मगन रसमें रहै, जन रज्जब सो साध ॥२९॥
प्रेम प्रीति हित नेह कूं, रज्जब दुविधा नांहि।
सेवक स्वामी एक ह्वै, आये इस घर मांहि ॥३०॥
जेहि रचना में शीश दे, सोई काम अडोल।
जन रज्जब जुगि जुगि रहै, सूरसती सत बोल ॥३१॥

शब्द

एक शब्द मायामई, एक ब्रह्म उनहार।
रज्जब उभै पिछाणि उर, करहु बैन ब्यौहार ॥३२॥

मुख फानूस रसन है बाती, वह्नी बैन जोति तहं राती ।
काजर कपट उजास बिचार, चतुर भांति दीपक ब्यौहार ।। ३३।।
साच मांहि सतयुग बसै, कलियुग कपट मंझार ।
मनसा बाचा कर्मना, रज्जब कही बिचार ।।३४।।

साधुगति

जलचर जाणैं जलचरा, शशि देख्या जलमांहि ।
तैसें रज्जब साधु गति, मूरख समझै नांहि ।।३५।।

(२७) बींदै = समझता, मानता । (२८) बमेक = विवेक । (३२) उनहार = सदृश, समान । (३३) फानूस = शीशे का गिलास ।

मानव-जन्म

मिनखा देही दिन उदै, जन रज्जब भजि तात ।
चौरासी लखि जीवकी देही दीरघ रात ।।३६।।
जैसे मन माया मिलैं, जीव ब्रह्म यूं मेलि ।
रज्जब बहुरि न पाइये, यहु औसर यूं खेलि ।।३७।।

दशों दिशा मन फेरि करि, जहां उठै तहां राखि ।
जन रज्जब जगपति मिलै, सतगुरु साधू साखि ।।३८।।
जैसे छाया कूपकी, फिरि घिरि निकसै नांहि ।
जन रज्जब यूं राखिये, मन मनसा हरि मांहि ।।३९।।

साध सबूरी स्वान की, लीजै करि सुबिबेक ।
वे घर बैठा एक कै, तू घर घर फिरहि अनेक ।।४०।।
साबुण सुमिरण जल सतसंग, सुकल कृत करि निर्मल अंग ।
रज्जब रज उतरै इहि रूप, आतम अंबर होइ अनूप ।।४१।।

लय

शून्य सजीवनि उरि अमर, रसनां रहते मांहि ।
जन रज्जब आंख्यूं अखिल, प्राणी मरैसु नांहि ।।४२।।
अडग सुरति आठों पहर, अस्थिर संगि अडोल ।
सो रज्जब रहसो सदा, साखी साधू बोल ।।४३।।

नर निर्भय हरि नाम में, यहु गढ़ अगम अगाध ।
रज्जब रिपु लागै नहीं, सदा सुखी तहां साध ।।४४।।
पातशाह पहरैं भया, तब देशहु डर नांहि ।
रज्जब चोर कहा करै, जै राजा चेतनि मांहि ।। ४५ ।।

(३६) चौरासी = ८४ लाख योनियों में जन्म । (४१) सुकल कृत = सत्कर्मों द्वारा । (४२) रहते = अविनश्वर ।

अद्वैत

रज्जब जीव ब्रह्म अन्तर इता, जिता जिता अज्ञान ।
है नाहीं निर्णय भया, परदे का परवान ।। ४६ ।।

अनुमान

कीडी कण अवनी अहि मांथै, बल उनमान उठावहि बोझ।
त्योंही भाव भगति भगता जन, जन रज्जब पाया निज सोझ ॥४७।
काष्ठ लोह पाखान को, अगनि उजागर एक।
त्यूं रज्जब रामहिं भजै, सो नहिं भिन्न बिबेक ॥४८॥
नारायण अरु नगर कूं, रज्जब पंथ अनेक।
कोई आओ कही दिशि, आगै अस्थल एक ॥४९॥

निर्वैरता

नर निरवैरी होतही, सब जग वाका दास।
रज्जब दुबिधा दूर गई, उर आए इकलास ॥५०॥
औगुण ढाकै और के, अपने औगुण नाहिं।
रज्जब अज्जब आतमा, निरवैरी जगमाहिं ॥५१॥

सेवा

साईं सेवै सबनिकूं, साईं को कोइ नाहिं।
मनसा बाचा कर्मना, मैं देख्या मनमाहिं ॥५२॥

कथनी-करणी

जन रज्जब गढ़ ज्ञानकै, दीसै द्वै दरबार।
एकै सुमिरण संचरै, एक पुण्य व्यवहार ॥५३॥
औषध बिन पथ्य का करे, पथ्य बिन औषधि बादि।
यूं सुमिरण सुकृत अमिल, उभै न पावहिं दादि ॥५४॥

(४७) अहि=शेषनाग। निज सोझ=अपनी सूझ के अनुसार। (५०) इकलास=समान भाव।

विश्वास

शील रहै सुमिरण गहै, सत्य संतोषण नेह।
रज्जब प्रत्यक्ष रामजी, प्रकट भये तेहि देह ॥५५॥
स्वामी सेवक हो रह्या, यहि सारे संसार।
रे रज्जब विश्वास गहि, मूरख हिया न हार ॥५६॥
जै हिरदै विश्वास ह्वै, तौ हरि हिरदा माहिं।
जन रज्जब विश्वास बिन, बाहरि भीतरि नाहिं ॥५७॥

संयम

पसर्यूं पगपग मार है, सिमट्यूं सों नहिं कोय।
जन रज्जब दृष्टांत कूं, मन कच्छप दिशि जोय ॥५८॥
संकट मधि सन्तोष ह्वै, बिपति बीच विश्वास।
दुख बिन सुख लहिये नहीं, समझि सनेही दास ॥५९॥

अहंता

मैं आये माया भई, मैं नाहीं तब नाहिं।
रज्जब मुकता मैं बिन, बन्धन मैं ही माहिं ॥ ६० ॥

अपना पड़दा आपही, मूरख समझै नांहि ।
रज्जब रामहि क्यूं मिलै, यहु अन्तर इस मांहि ।।६१।।

रहणी

कहे सुणे कछु ह्वै नहीं, जै कछु किया न जाय ।
रज्जब करणी सत्य है, नर देखो निरताय ।।६२।।
करणी कठिन सु बन्दगी, कहणी सब आसान ।
जन रज्जब रहणी बिना, कहाँ मिलै रहिमान ।।६३।।
तन मन आतम रामसूं, ये जोड़े नहिं जांहिं ।
तौ रज्जब क्या पाइये, शब्दों जोड़े मांहि ।।६४।।

(६२) निरताय = अंतिम निर्णय कर के ।

मनगोली पहुँचे पहल, पीछे शब्द अवाज ।
यूं करणीसूं कथनी लगी, तिनके सीझै काज ।।६५।।
श्वान शब्द सुनि श्वान का, बिन देखे भुसि देय ।
त्यूं रज्जब साखी सबद, जै देखि निरखि नहिं लेय ।।६६।।
कूरम ग्रीवागत गिरा, प्रकट गुपत ह्वै जंत ।
साधु शब्द निकसै सु यूं, ज्यूं रज्जब गजदंत ।।६७।।

भेष

ज्यूं सुन्दरि सर न्हावतां, अभरण धरै उतारि ।
त्यूं रज्जब रमि राम जल, स्वांग शरीरहि डारि ।।६८।।
श्रृंगार सहित अथवा रहित, पति परसे सुत होय ।
रज्जब भामिनी भेषबल, फल पावै नहिं कोय ।।६९।।

साधु-स्वभाव

साधु सीप सरोज गति, सकति सलिल में बास ।
प्यंड पुष्ट ह्वै और दिशि, प्राण और दिशि आस ।।७०।।

शब्द-महिमा

सकल पसारा शब्द का, शब्द सकल घट मांहि ।
रज्जब रचना राम की, शब्द सुन्यारी नांहि ।।७१।।
षट् दर्शन खालिक खलक, सत्य शब्द के मांहि ।
जन रज्जब श्रीपति सहित, बाहरि दीसै नांहि ।।७२।।
साधु शब्द डूंगर भये, भाव गुपत बिच घात ।
रज्जब टांकी ज्ञान बिन, कोई तहां न जात ।।७३।।

प्राकृत-संस्कृत

बीजरूप कछु और था, वृक्षरूप भया और ।
त्यों प्राकृतें संस्कृत, रज्जब समझा और ।।७४।।

(६५) सीझै = सिद्ध होते हैं । (६८) न्हावतां = स्नान करते समय ।

वेद सुवाणीं कूपजल, दूखसूं प्रापति होय ।
शब्द साखी सरवर सलिल, सुख पीवै सब कोय ।।७५।।

मन की लीला

मन हस्ती मैला भया, आप बाहि सिर धूरि ।
रज्जब रज क्यूं ऊतरै, हरि सागर जल दूरि ।।७६।।
जब मनकूं माया मिली, तन मन अंधा होय ।
रज्जब माया चलि गई, सब कछु देखै सोय ।।७७।।

यहु मन मृतक देखि करि, धोजि न कीजै नेह ।
रज्जब जीवै पलक में, ज्यूं मींडक जल मेंह ।।७८।।
तन में मन चंचल सदा, ज्यूं मोती मधि थाल ।
जन रज्जब क्यूं राखिये, यहु अंतर गति साल ।।७९।।

यहु मन भांड भंडार में, राखै रंग अनेक ।
रज्जब काढै समै सिरि, जुदी जुदी रंग रेख ।।८०।।
थकित होत पाका सुमन, ज्यूँ कण हांडी मांहि ।
काचा कूदै ऊछलै, निहचल बैठे नांहि ।।८१।।

सूक्ष्म जन्म

रज्जब मन में मोज उठि, मनकी काया होय ।
यूं शरीर पलपल धरै, बूझै बिरला कोय ।।८२।।
काया में काया धरै, मन सूक्षम अस्थूल ।
रज्जब यहु जामण मरण, चौरासी का मूल ।।८३।।
चौरासी जामण मरण, मनसु मनोरथ होय ।
बीज बिना ऊगै नहीं, जानत है सब कोय ।।८४।।

(७६) बाहि = डालता है। (७८) धोजि = विश्वास करके। (७९) अंतर गति साल = अपने भीतर कसक उत्पन्न करता है। (८०) भांड = बहुरूपिया।

विषय

ब्रह्मंड पिंड गति एक है, काम लहरि तप होय ।
रज्जब नख सिख बलि उठै, बरसण लागै सोय ।।८५।।
रज्जब जगि जोड़े जड़े, चौरासी लख जंत ।
एकाएकी एकसूं, सो कोइ बिरला संत ।।८६।।

मदन महावत देह द्विपि, गृहसागर ले जाय ।
तहां ग्राह गृहणी ग्रहै, कौण छुड़ावै आय ।।८७।।
पीसण कोई पेट सम, अरि न उदर सों और ।
चौरासी चेरे भये, बाहि चून की ठौर ।।८८।।
पांचू इन्द्री पांडु हैं, देह द्रौपदी जान ।
ये रज्जब तोऊं धरैं, जे गलैं हिमालय ज्ञान ।।८९।।

निष्कामता

निहकामी सेवा करै, ज्यूं धरती आकास ।
चंद सूर पाणी पवन, त्यूं रज्जब निजदास ।।९०।।

पापपुण्य

पाप पुण्य का मूल है, तामें फेर न सार।
धर्म कर्म करि ऊपजै, रज्जब समझि बिचार ॥९१॥
जे जड़ पैठे जिमी में, अंकुर जाय अकास।
त्यूं पाप पुण्य का मूल है, सुनहु बिबेकी दास ॥९२॥

विवेक

रामनांव निज नाव गति, खेवट ज्ञान बिचार।
जन रज्जब दोन्यूं मिलै, तबै पहुँचै पार ॥९३॥

(८२) मोज—मौज, लहर। (८६) जोड़े जड़े—स्त्री-पुरुष के जोड़े बने हुए हैं। एकसूं—परमात्मा के साथ। (८७) द्विपि—हाथी। (८८) पीसरण—पिशाच।

अनुभूति

रज्जब देखो मीन सुत, तिरन सिखावै कौन।
ऐसे उपजरण आपसों, गहै ज्ञान मग गौन ॥९४॥

भक्ति-स्वरूप

बेहद भजि बेहद मतै, हद का हेत उठाय।
रज्जब रमिये रामसों, अतिगति लांबै भाय ॥९५॥
मन माया धापै नहीं, क्षुधा जो बधती जाय।
यंही रज्जब रामकूं, भजिये लांबै भाय ॥९६॥

धैर्य

धीरें धर्मसु ऊपजै, धीरें ज्ञान बिचार।
धीरें बंधन सब खुलें, धीरें हरि दीदार ॥९७॥

(९५) लांबै भाय—निरंतर। (९६) बधती जाय—बढ़ती जाती है।

संत सुंदरदास (छोटे)

सुंदरदास (छोटे) संत दादू दयाल के योग्यतम शिष्यों में से थे। ये बूसर गोत के खंडेलवाल वैश्य थे। इनका जन्म जयपुर राज्य की प्राचीन राजधानी द्यौसा नगर में सं० १६५३ की चैत सुदि ९ को हुआ था। इनके जन्म-स्थान का खंडहर आज भी वर्तमान है। दादूजी की द्यौसा-यात्रा के समय, अर्थात् सं० १६५८ वा १६५९ में ही इनके पिता ने इन्हें उनके चरणों में डालकर दीक्षित कर दिया। उस समय से ये अधिकतर उन्हीं के निकट रहने लगे थे और उनकी मृत्यु के अवसर पर भी विद्यमान थे। इनके गुरु-भाई रज्जबजी एवं जगजीवनजी का इन पर विशेष प्रेमभाव रहा करता था और उनके प्रयत्नों से इन्हें बालकपन में ही दादू-वाणी का ज्ञान होने लगा। इन्हें उन लोगों ने विद्योपार्जन के लिए काशी भी पहुँचा दिया, जहाँ लगभग १४ वर्षों तक रहकर इन्होंने अनेक शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन किया और दर्शन, साहित्य आदि में पारंगत होकर सं० १६८२ में ये फतेहपुर (शेखावाटी) लौट आए। फतेहपुर की एक गुफा में ये फिर अपने छः साथियों के साथ बारह वर्षों तक योगाभ्यास की साधना करते रहे और संयम एवं स्वाध्याय में लगे रहे। इसके अनंतर

इन्होंने पूर्व की ओर बंगाल से लेकर पश्चिम की ओर द्वारका तक तथा उत्तर के बदरिकाश्रम से लेकर दक्षिण में मध्य प्रदेश तक देशाटन करते रहे। अनेक प्रकार के अनुभव प्राप्त कर उसके अनुसार ये काव्य-रचना में भी प्रयत्नशील रहे। अंत में, कई स्थानों पर कुछ अधिक दिनों तक निवास करने के अनंतर, ये सांगानेर चले गए, जहाँ सं० १७४६ में इनका देहांत हो गया।

सुंदरदास अपने अंतिम समय तक उच्चकोटि के संत एवं महापुरुष के रूप में प्रसिद्ध हो चले थे। इनके कई शिष्य भी हो गए थे। इन्होंने कुल छोटे-बड़े मिला कर ४२ ग्रंथों की रचना की थी जिनका एक सुसंपादित संग्रह 'सुंदर ग्रन्थावली' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। इनके दो बडे-बड़े ग्रंथ 'ज्ञान समुद्र' और 'सुंदर विलास' हैं जिनमें से प्रथम में प्रधानतः नवधाभक्ति, अष्टांगयोग, सेश्वर सांख्य तथा अद्वैतमत का पांडित्यपूर्ण निरूपण किया गया है और द्वितीय में ५६३ छंदों द्वारा अनेक विषय प्रतिपादित हुए हैं। इनकी रचनाओं में अधिकतर दार्शनिक विषयों का ही समावेश है, किंतु इनके भाषाधिकार एवं काव्य-कौशल के कारण वे रोचक हो गए हैं। अपनी विद्वत्ता में ये अपने गुरु भाई रज्जबजी की से भी बढ़े-चढ़े थे और साहित्यिक प्रवीणता भी इनमें उनसे अधिक थी। फिर भी रज्जबजी आध्यात्मिक अनुभूति कुछ अधिक गहरी जान पड़ती है और अपनी सूफीयानी मस्ती के कारण वे इनसे अपने गुरु संत दादू दयाल के कुछ अधिक अनुरूप समझ पड़ते हैं। सुंदरदास में बुद्धि का चमत्कार और कलानैपुण्य अधिक स्पष्ट है, जहाँ रज्जबजी की एक-एक उक्ति के पीछे उनके हृदय का लगाव सर्वत्र लक्षित होता है। छंदों की विविधता दोनों संतों की रचनाओं की विशेषता है, किंतु रज्जबजी ने जहाँ पदों एवं साखियों को अधिक अपनाया है, वहाँ सुंदरदास ने सवैये तथा मनहर छंद के कवित्त अधिक लिखे हैं और इन्हें ही उन्होंने अपनी प्रतिभा द्वारा अत्यंत सजीव रूप दे दिये हैं। इसके सिवाय रज्जबजी की भाषा जहाँ प्रधानतः राजस्थानी दीख पड़ती है, वहाँ सुंदरदास ने ब्रजभाषा, खड़ीबोली आदि को भी प्रश्रय दिया है। हिंदी कविता के रीतिकाल का प्रभाव सुंदरदास पर बहुत अधिक पड़ा है और इन्होंने चित्र काव्य तक की रचना कर डाली है। वास्तव में, व्याकरण एवं छंदोनियम के अनुसार दोषहीन रचना करने की दृष्टि से तथा रस, अलंकार जैसे साहित्यिक अवयवों के प्रयोग में प्रवीणता दिखलाने के विचार से भी सुंदरदास का स्थान सारे संत कवियों में सर्वोच्च जान पड़ता है।

पद

वास्तविक ज्ञान (१)

ज्ञान तहां जहां द्वंद्व न कोई।
वाद विवाद नहीं काहूसौं, गरक ज्ञान मैं ज्ञानी सोई ॥टेक॥
भेदाभेद दृष्टि नहिं जाकै हर्ष शोक उपजै नहिं दोई।
समता भाव भयौ उर अंतर, सार लियौ सब ग्रंथ बिलोई ॥१॥
स्वर्ग नरक संशय कुछ नाहीं, मनकी सकल बासना धोई॥
वाही कै तुम अनुभव जानौ, सुन्दर उहै ब्रह्ममय होई ॥२॥

गरक = मग्न। बिलोई—मंथन वा मनन कर के।

अज्ञेय ब्रह्म (२)

ऐसा ब्रह्म अखंडित भाई, वा पार जान्यौ नहिं जाई ।।टेक।।
अनल पंषि उड़ि चढ़ि आकास, थकित भई कछु छोर न तास ।।१।।
लौंन पुत्तरी थाघं दरिया, जात जात ता भीतरि गरिया ।।२।।
अति अगाध गति कौन प्रवानै, हेरत हेरत सबै हिरानै ।।३।।
कहि कहि संत सबै कोउ हारा, अब सुंदर का कहै बिचारा ।।४।।

अनल पंषि=एक पक्षी जो सदा आकाश में ही उड़ा करता है, वहीं अंडा देता है जो पृथ्वी पर आने से पहले ही फूट जाता है और बच्चा भी उड़ जाता है ।

अनिर्वचनीय माया (३)

ख्याली तेरे ख्याल का, कोई अंत न पावै ।
कब का षेल पसारिया, कछु कहत न आवै ।।टेक।।
ज्यौं का त्यौं ही देषिये, पूरन संसारा ।
सरिता नीर प्रवाह ज्यों, नहिं खंडित धारा ।।१।।
दीप जरत त्यौं देषिये, जैसें का तैसा ।
को जानै केता गया, जग पावक ऐसा ।।२।।
जैसे चक्र कुलाल का, फिरता बहु दीसै ।
ठौर छाड़ि कतहुँ न गया, यह बिसवा बीसै ।।३।।
प्रगट करै गुपता करै, घट घूंघट ओटा ।
सुन्दर घटत न देषिये, यह अचिरज मोटा ।।४।।

कुलाल=कुम्हार ।

मुक्ति-स्वरूप (४)

मुक्ति तौं धोषै की नीसाना ।
सो कतहूं नहिं ठौर ठिकाना, जहां मुक्ति ठहरानी ।।टेक।।
को कहै मुक्ति व्योम कै ऊपर, को पाताल के मांहीं ।
को कहै मुक्ति रहै पृथ्वी पर, ढूंढ़ै तौ कहुँ नाहीं ।।१।।
बचन बिचार न कीया किनहूँ, सुनि सुनि उठि धाये ।
गोदंडा ज्यों मारग चालै, आगे षोज बिलाये ।।२।।
जीवत कष्ट करै बहुतेरे, मुये मुक्ति कहैं जाई ।
धोषैह धोषै सब भूले, आगे ऊवा बाई ।।३।।
निज स्वरूप कौं जानि अखंडित, ज्यौं का त्यौं ही रहिये ।
सुन्दर कछु ग्रहै नहिं त्यागै, वहै मुक्ति पद कहिये ।।४।।

गोदंडा=गुबरैला । निज......कहिये=जीवन्मुक्त की दशा ही वास्तविक मुक्ति है ।

खब्रह्म (५)

देषौ भाई ब्रह्माकाश समान ।
परब्रह्म चैतन्य व्योम जड़, यह विशेषता जान ।।टेक।।
दोउ व्यापक अकल अपरिमिति, दोऊ सदा अखंड ।

दोऊ लिपैं छिपैं कहुं नाहीं, पूरन सब ब्रह्मण्ड ॥१॥
ब्रह्म माहि यह जगत देषियत, व्योम माहि घन त्यौंही।
जगत अभ्र उपजैं अरु बिनसै, वै हैं ज्यौं के त्यौंही ॥२॥
दोऊ अक्षय अरु अविनाशी, दृष्टि मुष्टि नहि आवैं।
दोऊ नित्य निरन्तर कहिये, यह उपमान बतावैं ॥३॥
यह तौ येक दिषाई है रुष, भ्रम मति भूलहु कोई।
सुन्दर कंचन तुलै लोह संग, तौ कहा सरभरि होई ॥४॥

अभ्र=मेघ, बादल।

साखी

प्रीति सहित जे हरि भजें, तब हरि होहि प्रसन्न।
सुन्दर स्वाद न प्रीति बिन, भूष बिना ज्यौ अन्न ॥१॥
जौ यह उसके ह्वै रहै, तौ वह इसका होय।
सुन्दर बातौं न मिलै, जब लग आप न षोय ॥२॥
अपणां सारा कछु नहीं, डोरी हरि कै हाथ।
सुन्दर डोलैं बांदरा, बाजीगर कै साथ ॥३॥
सुन्दर बंधै देह सौं, तौ यह देह निषिद्ध।
जौ याकी ममता तजै, तौ याही में सिद्धि ॥४॥
पाप पुण्य यह मैं किया, स्वर्ग नरक हूं जाउं।
सुन्दर सब कछु मानिले, ताहीतें मन नांउ ॥५॥
जब मन देषै जगत कौं, जगत रूप ह्वै जाइ।
सुन्दर देषै ब्रह्मकौं, तन मन ब्रह्म अबाइ ॥६॥
उहै ब्रह्म गुरु संत उह, बस्तु बिराजत येक।
बचन बिलास विभाग भ्रम, बन्दन भाव बिबेक ॥७॥
तमगुण रजगुण सत्त्वगुण, तिनकी रचित शरीर।
नित्य मुक्त यह आतमा, भ्रमते मांनत सीर ॥८॥
तीन गुननि की वृत्ति मंहि, है थिर चंचल अंग।
ज्यौं प्रतिबिंबहि देषिये, हीलत जल के संग ॥९॥
शुद्ध हृदय जाकी भयौ, उहै कृतारथ जांन।
सोई जीवनमुक्त है, सुन्दर कहत वषांन ॥१०॥

(२) आप=अपनपा, अहंकार। (८) सीर=हिस्सेदारी, सम्बन्ध। (९) वृत्ति=व्यापार, कार्य।

सवैया

ज्यौं कपरा दरजी गहि ब्यौतत, काष्ठहिकौं बढ़ई कसि आनैं।
कंचनकौं जु सुनार कसै पुनि, लोहकौ घाट लुहारहि जानैं॥
पाहनकौं कसिलेत सिलावट, पात्र कुम्हारकै हाथ निपानैं।
तैंतैंहि शिष्य कसै गुरुदेव जु, सुन्दरदास तबै मन मानैं ॥१॥
तूं ठगिकै धन और की ल्यावत, तेरेउ तौ घर औरइ फोरैं।
आगि लगे सबहीं जरि जाइ सु, तूं दमरी दमरी करि जोरैं॥

हाकिम को डर नाहिंन सूझत, सुन्दर एकहि बार निचोरै।
तूं षरचै नहिं आपु न षाइ सु, तेरीहि चातुरी तोहि लै बोरै ॥२॥

जौ मन नारिकी वोर निहारत, तौ मन होत है ताहिकै रूपा।
जौं मन काहूसौ क्रोध करै जब, क्रोधमई होइ जात तद्रूपा ॥
जौ मन मायाहि माया रटै नित, तौ मन बूड़त माया के कूपा।
सुन्दर जौ मन ब्रह्म बिचारत, तौ मन होत है ब्रह्म स्वरूपा ॥३॥

जो उपजै बिनसै गुन धारत, सो यह जानहु अंजन माया।
आवै न जाइ मरै नहिं जीवत, अच्युत एक निरंजन राया ॥
ज्यौं तरु तत्त्व रहै रस एकहि, आवत जात फिरै यह छाया।
सो परब्रह्म सदा सिर ऊपर, सुन्दर ता प्रभुसौं मन लाया ॥४॥

जा घटक उनहार है जैसीहि, ता घट चेतनि तैसोहि दीसै।
हाथी को देह मै हाथी सौ मानत, चीटी की देह मैं चीटी कीरीसै ॥
सिंघ की देह मैं सिंघ सौ मानत, कीस की देह मैं मानत कीसै।
जैसी उपाधि भई जहां सुन्दर, तैसोहि होइ रह्यौ नख सीसै ॥५॥

एकहि कूप कै नीर तैं सोचत, ईक्ष अफीमहि अंब अनारा।
होत उहै जल स्वाद अनेकनि, मिष्ट कटूक षटा अरु षारा ॥
त्यौंहि उपाधि संयोगतैं आतम, दीसत आहि मिल्यौ सौ बिकारा।
काढ़ि लिये जु बिचार विवस्वत, सुन्दर शुद्ध स्वरूप है न्यारा ॥६॥

ज्यौं कोउ कूपमैं झांकि अलापत, वैसीहि भांति सुकूप अलापे।
ज्यौं जल हीलत है लगि पौंन, कहै भ्रमतैं प्रतिबिंबहि कांपे ॥
देहके प्रानके जे मनके कृत, मानत है सब मोहि कौं ब्यापे।
सुन्दर पेच पर्‌यौ अतिसै करि, भूलि गयौ भ्रमतैं भ्रमि आपे ॥७॥

ज्यौं नर पावक लोह तपावत, पावक लोह मिले सु दिषांही।
चोट अनेक परै घनकी सिर, लोह बधै कछु पावक नाहीं ॥
पावक लीन भयौ अपनै घर, शीतल लोह भयौ तब तांही।
त्यौं यह आतम देह निरंतर, सुन्दर भिन्न रहै मिलि मांही ॥८॥

जासौं कहूं सबमैं वह एक तौ, सो कहै कैसो है आंषि दिषइये।
जौ कहूं रूप न देष तिसे कछु, तौ सब झूठ कै मानें कहइये ॥
जौ कहूं सुन्दर नैननि मांझि, तौ नैनहु बैन गये पुनि हइये।
क्या कहिये कहते न बनै कछु, जो कहिये कहतें ही लजइये ॥९॥

होत बिनोद जु तौ अभिअंतर, सो सुख आपु मैं आपुही पइये।
बाहिर कौं उपायो पुनि आवत, कंठतें सुन्दर फेरि पठइये ॥
स्वाद निवेरैं निवेर्‌यो न जात, मनौं गुर गूंगेहि ज्यौं नित षइये।
क्या कहिये कहतें न बनैं कछु, जो कहिये कहतेंहि लजइये ॥१०॥

एक कहूं तौ अनेक सौं दीसत, एक अनेक नहीं कछु ऐसो।
आदि कहूं तिहि अंतहू आवत, आदि न अंत न मध्य सु कैसो ॥
गोपि कहूं तौ अगोपि कहा यह, गोपि अगोपि न ऊभौं न वैसो।
जोइ कहूं सोइ है नहिं सुन्दर, है तौ सही परि जैसे को तैसो ॥११॥

बैठै तौ बैठै चलै तौ चलै पुनि, पीछै तौ पीछैहि आगै तौ आगै।
बोलै तौ बोलै न बोलै तौ मौनहि, सोवै तौ सोवै अरु जागे तौ जागै॥
षाइ तौ षाइ नहीं तौ नहीं जु, ग्रहै तौ ग्रहै अरु त्यागै तौ त्यागै।
सुन्दर ज्ञानी की ऐसी दसा यह, जानै नहीं कछु राग बिरागै॥१२॥

द्वंद्व बिना बिचरै बसुधा परि, जा घट आतम ज्ञान अपारी।
काम न क्रोध न लोभ न मोह, न राग न द्वेष न म्हारी न थारी॥
योग न भोग न त्याग न संग्रह, देह दशा न ढक्यौ न उघारी।
सुन्दर कोउ न जानि सकै यह, गोकुल गांव कौ पैंडो हि न्यारो॥१३॥

एकहि ब्रह्म रह्यो भरपूरि तौ, दूसर कौन बताव निहारौ।
जो कोउ जीव करै जु प्रमांन तै, जीव कहा कछु ब्रह्म तें न्यारौ॥
जो कहै जीव भयौ जगदीस तै, तो रवि मांहि कहां कौं अंधारौ।
सुन्दर मौन गही यह जानिकै, कौंनहूं भांति न होत निधारौ॥१४॥

देह सराव तेल पुनि मारुत, बाती अंतःकरण बिचार।
प्रगट जोति यह चेतनि दीसै, जातें भयो सकल संसार॥
व्यापक अग्नि मथन करि जोये, दीपक बहुत भांति विस्तार।
सुन्दर अद्‌भुत रचना तेरी, तूंहीं एक अनेक प्रकार॥१५॥

(१) निपानैं=गढ़ा जाता है। (५) उनहार=सदृशता। (६) विवस्वत=सूर्य। (८) बधै=बढ़ता है। तांही=उसी समय। (९) हुइये=है ही। (११) गोपि=गोप्य, अप्रत्यक्ष। ऊभौं न बैसो=न खड़ा न बैठा हुआ। (१३) म्हारो न थारौ=मेरा न तुम्हारा, न अपना न पराया। ढक्यौ=वस्त्रों से आच्छादित। (१४) रवि . अंधारौ=यदि आत्मा स्वयं प्रकाश है तो फिर उसका उपाधि में आना कैसा? निधारौ=निर्धार, निर्णय। (१५) सराव . दीपक का पात्र। जोये=देखे जाते हैं।

कवित्त

मेरौ देह मेरौ गेह मेरौ परिवार सब,
मेरौ धन माल मैं तौ बहुबिधि भारौ हौं।
मेरौ सब सेवक हुकम कोउ मेटै नांहि,
मेरी जुवतीको मैं तौ अधिक पयारौ हौं॥
मेरो वंश ऊंचौ मेरे बाप दादा ऐसे भये,
करत बड़ाई मैं तौ जगत उज्यारौ हौं।
सुन्दर कहत मेरौ मेरौ करि जांनै सठ,
ऐसी नहीं जांनै मैं तौ काल ही कौ चेरौ हौं॥१॥

जा शरीर मांहि तूं अनेक सुख मांनि रह्यौ,
ताही तूं बिचारि यामैं कौन बात भलो है।
मेद मज्जा मांस रग रगनि मांहि रकत,
पेट हू पिटारी सी मैं ठौर ठौर मली है॥
हाड़नि सौं मुख भर्‌यौ हाड़ ही कै नैन नांक,
हाथ पांव सोऊ सब हाड़ही की नली है।

सुन्दर कहत याहि देषि जिनि भूलै कोइ,
भीतरि भंगार भरि ऊपर तैं कली है ॥२॥

पलुही मैं मरिजात पलुही मैं जीवत है,
पलुहीं मैं परहाथ देषत बिकांनौं है ।
पलुही मैं फिरै नवखंडहु ब्रह्माण्ड सब,
देष्यौ अनदेष्यौ सतौ यातैं नहिं छानौं है ॥
जातौ नहीं जानियत आवतौ न दीसै कछु,
ऐसो सी बलाइ अब तासौं पर्यौ पांनौं है ।
सुन्दर कहत याकी गतिहू न लषि परै,
मनकी प्रतीति कोऊ करै सो दिवांनौं है ॥३॥

घेरिये तौ घेर्यो हू न आवत है मेरो पूत,
जोई परमोधिये, सु कान न धरतु है ।
नीति न अनीति देषैं शुभ न अशुभ पेषै,
पलुही मैं होती अनहोती हू करतु है ॥
गुरु की न साधुकी न लोक वेदहू की शंक,
काहू की न मानै न तो काहू तें डरतु है ।
सुन्दर कहत ताहि धीजिये सुकौन भांति,
मनको सुभाव कछु कह्यो न परतु है ॥४॥

तौ सौ न कपूत कोऊ कतहूं न देषियत,
तौ सौ न सपूत कोऊ देषियत और है ।
तूं ही आप भूलि महा नीच हूं ते नीच होइ,
तूं ही आपु जाने तें सकल सिरमौर है ॥
तूं ही आप भ्रमै तब भ्रमत जगत देषै,
तेरै थिर भये सब ठौर ही कौ ठौर है ।
तूं ही जीवरूप तूं ही ब्रह्म है आकाशवत,
सुन्दर कहत मन तेरी सब दौर है ॥५॥

जैसें आरसी की मैल काटत सिकल करि,
मुख मैं न फेर कोऊ वहै वाको पोत है ।
जैसें वैद नैंन मैं सलाका मेलि शुद्ध करै,
तटल गये ते तहां ज्यौं की त्यौंही जोत है ॥
जैसै वायु बादर वषेरि कैं उड़ाइ देत,
रवि तौं अकाश मांहि सदाई उदोत है ।
सुन्दर कहत भ्रम छिन मैं बिलाइ जात,
'साधु ही कैं संगतें स्वरूप ज्ञान होत है' ॥६॥

जीवत ही देवलोक जीवत ही इन्द्रलोक,
जीवत ही जन तप सत्यलोक आयो है ।
जीवत ही निधिलोक जीवत ही शिवलोक,
जीवत बैकुंठलोक जो अकुंठ गायो है ॥

जीवत ही मोक्ष शिला जीवत ही भिस्ति मांहि,
जीवत ही निकट परमपद पायौ है।
आतम को अनुभव जिनि कौं जीवत भयौ,
सुन्दर कहत तिनि संसय मिटायौ है ॥७॥

कामी है न जती है न सूम है न सती है न,
राजा है न रंक है न तन है न मन है।
सोवै है न जागै है न पीछै है न आगै है न,
ग्रहै है न त्यागै है न घर है न बन है ॥
थिर है न डोलै है न मौन है न बोलै है न,
बंधै है न बोलै है न स्वामी है न जन है।
वैसो कोऊ होइ जब वाकी गति जानै तब,
सुन्दर कहत ज्ञानी शुद्ध ज्ञानघन है ॥८॥

(१) भारौ=प्रतिष्ठित, बड़ा। (२) मली=मल। भंगार=कूड़ा, करकट। (३) मरिजात=वृत्तिरहित होकर वश में आ जाता है। पर...बिकांनौं=परवश हो जाता है। छानौं=गुप्त। पांनौं पर्‌यौ=पाला पड़ा हुआ है। (४) कान न धरतु= अनसुनी कर देता है। होती अनहोती=सम्भव असम्भव। (५) आपु जाने तें=अपना वास्तविक रूप जान लेने पर। थिर भये=वृत्तियों के एकाग्र होने पर। (६) आरसी= दर्पण। सिकल करि=सिकलगर वा शीशे साफ करने वालों की युक्तियों द्वारा। पोत=मोरचा, दाग। सलाका=सलाई। तटल=धुँधलापन। (७) अकुंठ=विशाल। मोक्ष शिला=जैन धर्म के निर्वाण-स्थान। (८) ज्ञानघन=ज्ञानानन्द से परिपूर्ण दशा को प्राप्त व्यक्ति।

संत यारी साहब

यारी साहब का पूर्व सम्बन्ध किसी शाही घराने से बतलाया जाता है और अनुमान किया जाता है कि ये पहले सूफी भी रह चुके होंगे। इनका पूर्वनाम यार मुहम्मद था और अपने ऐश्वर्यमय जीवन का परित्याग कर ये फकीर बन गये थे। आगे चल कर जब इनका सत्संग बीरू साहब के साथ हुआ तो ये संतमत में भी दीक्षित हो गये और यारी साहब के नाम से प्रसिद्ध हो चले। इनके जीवन की घटनाओं का न तो अधिक विवरण पाया जाता है, न इनके जीवन-काल का ही ठीक पता चलता है। इनके आविर्भाव का समय, बावरी-पंथ की वंशावली के अनुसार, विक्रम की १८वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध समझ पड़ता है। इनकी समाधि का दिल्ली नगर में आज तक वर्तमान होना बतलाया जाता है और वहीं पर इनके निवास-स्थान का भी अनुमान होता है। इनके चार चेले, अर्थात् केशवदास, सूफीशाह, शेखन शाह और हस्त मुहम्मद भी कहीं उस ओर के रहने वाले थे। इनके पाँचवें शिष्य बूला साहब भुरकुड़ा, जिला गाजीपुर के निवासी थे जहाँ इस पथ की एक गद्दी अभी तक प्रतिष्ठित है।

यारी साहब की रचनाओं का एक छोटा-सा संग्रह 'रत्नावली' नाम से प्रसिद्ध है। इनके कुछ अन्य पद भी भिन्न-भिन्न संग्रहों में मिलते हैं जिनसे जान पड़ता है कि इनकी आध्यात्मिक पहुँच बहुत उच्चकोटि की रही होगी। इनकी पंक्तियों में तल्लीनता एवं निर्द्वन्द्वता के भाव विशेष रूप से लक्षित होते हैं। अनुमान होता है कि ये सदा

किसी ऊँचे भावस्तर से उन्हें कहा करते थे। इनकी भाषा में फारसी एवं अरबी के शब्द अधिक संख्या में आते हैं और इनकी वर्णन-शैली का मस्तानापन भी इनका सूफियों द्वारा बहुत कुछ प्रभावित होना सिद्ध करता है। फिर भी, इनकी रचनाओं के विषय तथा लक्ष्य से इन्हें संत की टिका कहना ही अधिक उपयुक्त है।

पद

अध्यात्म योग (१)

बिरहिनी मंदिर दियना बार ।।टेक।।
बिन बाती बिन तेल जुगति सों, बिन दीपक उजियार ।।१।।
प्रानपिया मेरे गृह आयो, रचिपचि सेज संवार ।।२।।
सुखमन सेज परमतत रहिया, पिय निर्गुन निरकार ।।३।।
गावहु री मिलि आनंद मंगल, यारी मिलि के यार ।।४।।

मंदिर=घट वा शरीर में ही। जुगति सों=साधना की युक्ति से। सुखमन=सुषुम्ना नाड़ी।

परमात्मा (२)

हमारे एक अलह पिय प्यारा है ।।टेक।।
घट घट नूर मुहम्मद साहब, जाका सकल पसारा है ।।१।।
चौदह तबक जाकी रुसनाई, झिलमिलि जोति सितारा है ।।२।।
बेनमून बेचून अकेला, हिन्दु तुरुक से न्यारा है ।।३।।
सोइ दरवेस दरस निज पायो, सोइ मुसलम सारा है ।।४।।
आवै न जाये मरै नहिं जीवै, यारी यार हमारा है ।।५।।

(२) तबक=लोक। रुसनाई=रोशनी, प्रकाश। बेनमून=अनुपम। बेचून=अखंड।

अंतर्दृश्य (३)

झिलमिल झिलमिल बरसै नूरा, नूर जहूर सदा भरपूरा ।।१।।
रुनझुन रुनझुन अनहद बाजै, भंवर गुंजार गगन चढ़ि गाजै ।।२।।
रिमझिम रिमझिम बरसै मोती, भयो प्रकाश निरंतर जोती ।।३।।
निरमल निरमल निरमल नामा, कह यारी तहं लियो बिस्रामा ।।४।।

नूर जहूर=प्रकट ज्योति।

विहंगम मार्ग (४)

जोगी जुगति जोग कमाव ।।टेक।।
सुखमना पर बैठि आसन, सहज ध्यान लगाव ।।१।।
दृष्टि समकरि सुन्न सोओ, आपा मेटि उड़ाव ।।२।।
प्रकट जोति अकार अनुभव, सब्द सोहं गाव ।।३।।
छोड़ि मठ को चलहु जोगी, बिना पर उड़ि जाव ।।४।।
यारी कहै यह मत बिहंगम, अगम चढ़ि फल खाव ।।५।।

सोओ=स्थिर हो जाओ। उड़ाव=नष्ट कर दो। मत बिहंगम=विहंगम मार्ग की साधना।

परम पद (५)

उड़ु उड़ु रे बिहंगम चढ़ु अकास ।।टेक।।
जहं नहिं चंद सूर निस बासर, सदा अगमपुर अगम बास ।।१।।
देखै उरध अगाध निरंतर, हरष सोक नहिं जम कै त्रास ।।२।।
कह यारी उह बधिक फांस नहिं, फल पायो जगमग प्रकास ।।३।।

अगाध=अपरिमेय परमतत्त्व ।

कवित्त

आंधरे को हाथी हरि हाथ जाको जैसो आयो,
बूझौ जिन जैसो तिन तैसोई बताओ है ।।१।।
टकाटोरी दिन रैन, हिये हूँ के फूटे नैन,
आंधरे की आरसी में कहा दरसायो है ।।२।।
मूल की खबरि नाहिं जासो यह भयो सब,
फूल को बिसारि भोंदू डारै अरुझायो है ।।३।।
आपनो सरूप रूप आपु मांहि देखै नांहि,
कहै यारी आंधरे ने हाथी कैसो पायो है ।।४।।

टकाटोरी=टटोलना, ढूंढ़ना । डारै=शाखाओं में, प्रपंच में ।

सवैया

देखु बिचारि हिये अपने नर, देह धरो तौ कहा बिगरो है ।
मिट्टी को खेल खिलौना बनो, एक भाजन नाम अनंत धरो है ।।
नेक प्रतीत हिये नहिं आवत, मर्म भुलो नर अवर करो है ।
भूषन ताहिं गंवाह के देखु, यारी कंचन अैनको अैन खरो है ।।१।।

भाजन=पात्र, बर्तन । अवर=अन्यथा, विपरीत ढंग से । अैनको अैन=जहां का तहां, ज्यों का त्यों ।

झूलना

अंधा पूछै आफताब को रे, उसे किस मिसाल बतलाइये जी ।
वा नूर समान नहीं और, कौने तमसील सुनाइये जी ।।
सब अंधरे मिलि दलील करें, बिन दीदा दीदर न पाइये जी ।
यारी अंदर यकीन बिना, इलिम से क्या बतलाइये जी ।।१।।

आफताब=सूर्य । मिसाल=उपमा, सादृश्य । तमसील=दृष्टान्त, उदाहरण । दीदा=भेद की दृष्टि, रहस्य की सूझ । दीदार=परमतत्त्व का दर्शन; अनुभव । इलिम=युक्ति, ज्ञान ।

साखी

बाजत अनहद बाँसुरी, तिरबेनी के तीर ।
राग छतीसों होइ रहे, गरजत गगन गंभीर ।।१।।
आठ पहर निरखत रहौ, सन्मुख सदा हजूर ।
कह यारी घरहीं मिलै, काहे जाते दूर ।।२।।

तिरबेनी=त्रिकुटी, इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना नामक नाड़ियों का संधिस्थल।
आठ पहर=निरंतर, प्रत्येक क्षण।

बाबा धरनीदास

बाबा धरनीदास के जन्म-काल वा मरण-काल की निश्चित तिथियों का पता नहीं चलता। उनके 'प्रेमप्रगास' की कुछ पंक्तियों द्वारा इतना ही विदित होता है कि सं० १७१३ में उन्होंने वैराग्य का वेश धारण किया था। इस प्रसंग के अनुसार विचार करने पर उनके अनुयायियों द्वारा बतलाया गया उनका जन्म-काल सं० १६३२ बहुत पहले जाता हुआ जान पड़ता है। जो हो, केवल सं० १७१३ के आधार पर हम इतना कह सकते हैं कि उनका जीवन-काल विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के अंतिम चरण से लेकर उसकी अठारहवीं के संभवतः तृतीय चरण तक रहा होगा। ये छपरा जिले के मांझी गाँव में रहने वाले कायस्थ-परिवार में उत्पन्न हुए थे और अपने जीवन के पूर्व भाग में वहीं के किसी जमींदार के यहाँ लिखने-पढ़ने की नौकरी करते थे। सं० १७१३ मे किसी दिन अपने पिता का देहांत हो जाने पर उनके हृदय में वैराग्य का भाव जागृत हो गया और उन्होंने नौकरी छोड़ दी। तब से वे कुछ दिनों तक किसी सच्चे गुरु की खोज में भटकते फिरे। अन्त में, पातेपुर (जि० मुजफ्फरपुर) के स्वामी विनोदानन्द से दीक्षित हो गए। स्वामी विनोदानन्द को उन्होंने स्वामी रामानन्द की शिष्य-परम्परा में गिनाया है और उनका मृत्यु-काल सं० १७३१ दिया है। अपने गुरु के यहाँ से लौट कर फिर वे अपने जन्म-स्थान के ही निकट कुटी बनाकर भजन-भाव में लीन रहा करते थे और वहीं पर गंगा-स्नान करते समय उन्होंने समाधि ले ली।

बाबा धरनीदास पहुँचे हुए सन्त थे। धरनीदास की रचनाओं द्वारा इनकी गंभीर साधना का परिचय मिलता है। इनकी रचनाओं में 'शब्द प्रकाश,' 'प्रेमप्रगास' तथा 'रतनावली' प्रसिद्ध हैं, किन्तु वे अभी तक अप्रकाशित हैं। उनकी चुनी हुई कुछ बानियों का एक संग्रह 'धरनीदासजी की बानी' नाम से बेलवेडियर प्रेस द्वारा प्रकाशित हो चुका है। उनकी उपलब्ध रचनाओं को देखने से भी जान पड़ता है कि सन्त एवं भक्त श्रेणी के कवियों में उनका स्थान ऊँचा है। उनकी बानियों में अनेक स्थलों पर आलंकारिक भाषा का प्रयोग हुआ है और उनमें शब्द-माधुर्य एवं संगीतोपयुक्त प्रवाह की भी कमी नहीं। उनके 'प्रेमप्रगास' ग्रन्थ में एक प्रेम-कहानी दी है जो प्रेमाख्यान-परम्परा का स्मरण दिलाती है। भोजपुरी पदों में व्यक्त किया हुआ उनका माधुर्यभाव विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

पद

विनय (१)

प्रभुजी अब जनि मोहि बिसारो।
असरन-सरन अधम-जन-तारन, जुग जुग बिरद तिहारो ॥१॥
जहं जहं जनम करम बसि पाये, तहं अरुझे रस खारो।
पांचहु के परपंच भुलानो, धरेउ न ध्यान अधारो ॥२॥
अंधगर्भ दस मास निरंतर, नखसिख सुरति संभारो।
मंजा मुत्र अग्नि मल कृम जहं, सहजै तहं प्रतिपारो ॥३॥

दीजै दरस दयाल दया करि, ऐगुन गुन न बिचारो।
धरनी भजि आयो सरनागति, तजि लज्जा कुल गारो ॥४॥

सुरति=आकृति, रूप। मंजा=मज्जा। प्रतिपारो=रक्षा की। गारो=गाली, निन्दा।

विरहण (२)

पिया मोर बसं गउरगढ़, मैं बसौं प्राग हो।
सहजहिं लागु सनेह, उपजु अनुराग हो ॥१॥
असन बसन तन भूषन, भवन न भावै हो।
पल-पल समुझि सुरति मन, गहबरि आवै हो ॥२॥
पथिक न मिलहिं सजन जन, जिनहिं जनावों हो।
बिहवल बिकल बिलखि चित, चहुँदिसि धावों हो ॥३॥
होइ अस मोहिं लेजाय कि, ताहि ले आवै हो।
तेकरि होइबों लउंड़िया, जे रहिया बतावै हो ॥४॥
तबहिं त्रिया पत जाय, दोसर जब चाहे हो।
एक पुरुष समरथ धन, बहुत न चाहै हो ॥५॥
धरनी गति नहिं आनि, करहु जस जानहु हो।
मिलहु प्रगट पट खोलि, भरम जनि मानहु हो ॥६॥

गउरगढ़=एक दूर के नगर का नाम, ज्योतिर्मय पद। गहबरि=घबराहट। लउंड़िया=चेरी। पत=धर्म, मर्यादा। पट=घूंघट, आवरण।

विरह-दुःख (३)

भइ कंत दरस बिनु बावरी।
मो तन व्यापे पीर प्रीतम की, मूरख जानै आवरी ॥१॥
पसरि गयो तरु प्रेम साखा सखि, बिसरि गयो चित चावरी।
भोजन भवन सिंगार न भावै, कुल करतूति अभावरी ॥२॥
खिन खिन उठि उठि पंथ निहारौं, बार बार पछितांवरी।
नैनन अंजन नींद न लागै, लागै दिवस बिभावरी ॥३॥
देह दसा कछु कहत न आवै, जस जल ओछे नावरी।
धरनी धनी अजहुँ पिय पाओं, तो सहजै अनंद बधावरी ॥४॥

आवरी=और, कुछ दूसरा ही। विभावरी=रात। ओछे=छिछले।

विरह-निवेदन (४)

अजहुँ मिलो मेरे प्रान पियारे।
दीन दयाल कृपाल कृपानिधि, करहु छिमा अपराध हमारे ॥१॥
कल न परत अति बिकल सकल तन, नैन सकल जनु बहत पनारे।
माँस पचो अरु रक्त रहित भे, हाड़ दिनहुं दिन होत उघारे ॥२॥
नासा नैन स्रवन रसना रस, इंद्री स्वाद जुआ जनु हारे।
दिवस दसों दिसि पंथ निहारति, राति बिहात गनत जस तारे ॥३॥

जो दुख सहत कहत न बनत मुख, अंतरगत के हौ जाननहारे ।
धरनी जिन झलमलित दीप ज्यों, होत अंधार करो उजियारे ॥४॥

राति...तारे = रात जैसे तारे गिनते-गिनते ही बीत जाया करती है ।

मन के प्रति (५)

मन तुम कस न करहु रजपूती ॥टेक॥
गगन नगारा बाजु गहागहि, काहे रहो तुम सूती ॥१॥
पांच पचीस तीन दल ठाढ़ो, इन संग सैन बहूती ।
अब तोहि घेरि मारन चाहत, जस पिंजरा मंह तूती ॥२॥
पइहो राज समाज अमर पद, ह्वै रहु बिमल विभूती ।
धरनी दास बिचारि कहतु है, दूसर नाहिं सपूती ॥३॥

गगन...गहागहि = अनाहत का बाजा बड़े धूमधाम के साथ बजता सुनायी पड़ रहा है । पांच...ठाढ़ो = पाँचों इंद्रियों, पचीसों प्रकृतियों तथा तीनों गुणों के साथ संघर्ष है ।

अपनी बात (६)

मैं निरगुनिया गुन नहिं जाना । एक धनी के हाथ बिकाना ॥१॥
सोइ प्रभु पक्का मैं अति कच्चा । मैं झूठा मेरा साहब सच्चा ॥२॥
मैं ओछा मेरा साहब पूरा । मैं कायर मेरा साहब सूरा ॥३॥
मैं मूरख मेरा प्रभु ज्ञाता । मैं किरपिन मेरा साहब दाता ॥४॥
धरनी मन मानो इक ठांउ । सो प्रभु जीवो मैं मरिजाउं ॥५॥

प्रीतम स्वागत (७)

बहुत दिनन पिय बसल बिदेसा । आजु सुनल निज अवन संदेसा ॥१॥
चित चितसरिया मैं लिहलों लिखाई । हृदय कमल धइलों दियना लेसाई ॥२॥
प्रेम पलंग तहं धइलों बिछाई । नखसिख सहज सिंगार बनाई ॥३॥
मन हित अगुमन दिहल चलाई । नयन धइल दोउ दुअरा बैसाई ॥४॥
धरनी धनि पलपल अकुलाई । बिन पिया जिवन अकारथ जाई ॥५॥

चितसरिया = चित्रशाला । दियना लेसाई = दीपक जला कर । मन...चलाई = मन को अगवानी के लिए भेज दिया ।

हरिरस की मादकता (८)

हरिजन वा मद के मतवारे ।
जो मद बिना काठि बिनु भाठी, बिनु अगिनिहि उदगारे ॥१॥
बास अकास घराघर भीतर, बूंद झरै झलकारे ।
चमकत चंद अनंद बढ़ो जिव, सब्द सघन निरुवारे ॥२॥
बिनु कर धरे बिना मुख चाखे, बिनहि पियाले ढारे ।
ताखन स्यार सिंह को पौरुष, जुत्थ गजंद बिडारे ॥३॥
कोटि उपाय करे जो कोई, अमल न होत उतारे ।
धरनी जो अलमस्त दिवाने, सोइ सिरताज हमारे ॥४॥

उदगारे=चूकर तैयार होता है। ताखन=तत्क्षण पीते ही पीते। जुत्थ... बिडारे=मतवाले हथियों के समान इंद्रियों को भी अभिभूत कर देता है।

निजी अनुभव (९)

काहि से कहों कछू कहिबो न जाय ॥टेक॥
चरन सरन सुमिरन जिन्हि दीन्ही। बिनु मसि बिपरित अंक बनाय ॥१॥
बिनु बाजन अति सबद गहागहि। सुनि सुनि पुनि पुनि अधिक सोहाय ॥२॥
त्रिकुटी के ध्यान पेहान उघरि गयो। जगमग जगमग जोति जगाय ॥३॥
सनमुख रहति सलोनी मूरति। तेहि देखत जियरा ललचाय ॥४॥
धरनीदास तासु जन बलि बलि। जे रघुनाथ के हाथ बिकाय ॥५॥

बिनु...बनाय = उसी ने बिना स्याही के भी कर्म की विपरीत रेखाएँ बना दीं। पेहान = ढक्कन, आवरण।

विचित्र झूलन (१०)

अति अदभुत एक रुखवा रे, जितकित विपरीत डार।
गुरु गम लागल हिंडोरवा रे, चढ़ु मन राजकुमार ॥१॥
माझ मझोरहि लगिआरे, प्रेम की डोरि सुढार।
पांच सखी संग झूलहिं रे, सहजे उठत झझकार ॥२॥
अरध उरध झुकि झूलहिं रे, गहि गहि अधर अधार।
बिनु मुख मंगल गावहिं रे, बिनु दीपक उजियार ॥३॥
धरनी जन गुन गाइआ रे, पुलकित बारंबार।
जो जन चढ़ेउ हिंडोलवा रे, बहुरि न उतरनिहार ॥४॥

रुखवा = वृक्ष, संसार-तरु। माझ मझोर = बीचोबीच। झझकार = झंझाबि की झकझोर।

उपदेश (११)

सुमिरो हरि नामहि बौरे ॥टेक॥
चक्रहुं चाहि चलै चित चंचल, मूलमता गहि निस्चल कौरे ॥१॥
पांचहु ते परिचै करु प्रानी, काहे के परत पचीस के भौरे।
जौं लगि निरगुन पंथ न सूझै, काज कहा महि मंडल बौरे ॥२॥
सब्द अनाहद लखि नहिं आवै, चारो पन चलि ऐसहि गौरे।
ज्यों तेली को बैल बेचारा, घरहिं में कोस पचासक भौरे ॥३॥
दया धरम नहिं साधु की सेवा, काहे के सो जनमे घर चौरे।
धरनीदास तासु बलिहारी, झूठ तज्यो जिन सांचहि धौरे ॥४॥

चक्रहुं चाहि = घूमते चक्र से भी अधिक। कौ = कर लो। गौ = बीत गए। भौ = हो गये। धौ = ग्रहण कर अपना लिया।

वही (१२)

राम रमैया भजि लेहु हो, जातें जनम मरन मिटि जाय ॥टेक॥
सहर बसै एक चौहटा हो, एकै हाट परवान।
ताही हाट के बनिया हो, बनिज न भावत आन ॥१॥

तीनि तरे एक ऊपरे हो, बीच बहै दरियाव ।
कोइ कोइ गुरु गम ऊतरे हो, सुरति सरीखे नाव ॥२॥
तीनि लोक तीनि देवता हो, सो जाने सब कोय ।
चौथे पद परिचै भई हो, सो जन बिरले कोय ॥३॥
सोइ जोगी सोइ पंडित है, सोइ बैरागी राव ।
जो एहि पर्दहि बिलोइया हो, धरनी धरे ताको पाव ॥४॥

तीनि...दरियाव = त्रिगुणमयी सृष्टि तथा परमपद के बीच महान् अन्तर दीख पड़ता है। बिलोइया = मंथन कर लिया ।

सवैया

मीत महा उतकंठ चढै, नहिं सूझत अध अभागहु रे ।
चित चेतु गंवार बिकार तजो, जब खेत पड़े कित भागहु रे ॥
जिन बुंद बिकार सुधार कियो, तन ज्ञान दियो तन ता गहु रे ।
धरनी अपने अपने पहरे, उठि जागहु जागहु जागहु रे ॥१॥
ज्ञान को बान लगो धरनी, जन सोवत चौंकि अचानक जागे ।
छूटि गयो विषया बिष बंधन, पूरन प्रेम सुधारस पागे ॥२॥
भावत बाद बिबाद निखाद न, स्वाद जहाँ लगि सो सब त्यागे ।
मूंदि गई अंखियाँ तब तें, जबतें हियमें कछु हेरन लागे ॥३॥

उतकंठ = बड़े चाव के साथ। खेत = युद्ध का मैदान। निखाद = विधि-निषेधादि के नियम। हेरन = अनुभव करने या देखने लगे।

साखी

धरनी परबत पर पिया, चढ़ते बहुत डेरांव ।
कबहुँक पाँव जु डिगमिगै, पावों कतहुँ न ठांव ॥१॥
धरनी धरकत है हिया, करकत आहि करेज ।
ढरकत लोचन भरि भरी, पीया नाहिन सेज ॥२॥
धरनी पलक परै नहीं, पिय की झलक सोहाय ।
पुनि पुनि पीवत परमरस, तबहूँ प्यास न जाय ॥३॥
बिनु पग निरत करो तहां, बिनु कर दै दै तारि ।
बिनु नैनन छबि देखना, बिनु सरवन झनकारि ॥४॥
बहुत दुवारे सेवना, बहुत भावना कीन्ह ।
धरनी मन संशय मिटी, तत्त्वपरो जब चीन्ह ॥५॥
तब लगि प्रगट पुकारिया, जब लगि निबरो नाहिं ।
धरनी जब निबरी परी, मनकी मनहीं माहिं ॥६॥
अच्छर सब घट उच्चरै, जेते जिव संसार ।
लागि निरच्छर जो रहे, ता अच्छर टकसार ॥७॥
काहूके बहु बिभव भइ, काहू बहु परिवार ।
धरनी कहत हमहिं बल, एहो राम तुम्हार ॥८॥
धरनी नहिं बैराग बल, नाहिं जोग संन्यास ।
मनसा बाचा कर्मना, बिस्वंभर बिस्वास ॥९॥

धरनी सो पंडित नहीं, जो पढ़ि गुन कथै बनाय ।
पंडित ताहि सराहिये, जो पढ़ा बिसरि सब जाय ।।१०।।
विष लागे दुनिया मरै, अमृत लागे साध ।
धरनी ऐसो जानि है, जाको मता अगाध ।।११।।
जाहि परो दुख आपनो, सो जानै पर पीर ।
धरनी करत सुन्यो नहीं, बांझ की छाती छीर ।।१२।।

सरवन = श्रवण, कान । निरच्छर = निरक्षर, अविनाशी परमात्मा । अच्छर = अक्षर, शब्द, बानी । टकसार = टकसाली, प्रामाणिक, पक्की । अमृत...साध = स्वानुभूति द्वारा संत लोगों के जीवन में कायापलट हो गया रहता है । छाती = स्तन ।

संत बूला साहब

बूला साहब वा बुल्ला साहब का मूल नाम बुलाकी राम था और ये जाति के कुनवी वा कुर्मी थे । ये गाजीपुर जिले (उत्तर प्रदेश) के भुरकुड़ा गाँव के निवासी थे । बसहरि तालुका, जिला गाजीपुर के एक जमींदार के यहाँ ये हलवाहे का काम करते थे । एक बार किसी मुकदमे के सिलसिले में इन्हें अपने मालिक के साथ दिल्ली जाना पड़ा, जहाँ इन्हें यारी साहब के सत्संग का सुअवसर मिल गया । उनसे उपदेश ग्रहण कर इन्होंने अपने मालिक का साथ छोड़ अकेले घर की राह ली तथा घूमते-घामते फिर भुरकुड़ा पहुँच गए । इनके मालिक ने घर लौटकर इनकी खोज करायी तो पता चला कि ये निकट के ही जंगलों में बुलाकी दास के रूप में रहा करते हैं । अतएव उन्होंने इन्हें वापस बुला लिया और एक बार फिर इन्हें अपने पहले काम पर नियुक्त कर दिया । किन्तु अब ये कुछ और हो गए थे । इस कारण एक दिन हलवाही करते समय ये अचानक मेंड पर बैठ कर ध्यानस्थ हो गए और मालिक ने इन्हें ऐसी स्थिति में पाकर जब क्रुद्ध हो इन्हें धक्के मार कर गिरा देना चाहा तो इनके हाथ से दही छलक पड़ा । मालिक के पूछने पर पता चला कि ये ध्यान में मग्न होकर किन्हीं संतों को भोजन करा रहे थे और अब दही परसने ही जा रहे थे कि इन्हें चोट लगी । बुलाकी राम के इस कथन से प्रभावित हो इनके मालिक इनके चरणों पर गिर पड़े और इनके शिष्य भी हो गए । तब से ये सदा बूला साहब के नाम से ही प्रसिद्ध रहे और इनका काम जंगल की एक कुटी में रह कर सत्संग कराना हो गया । इनका जन्म सं० १६८९ में हुआ था और इनका देहान्त सं० १७६६ में ७७ वर्षों की आयु पाकर हुआ ।

इनके जीवन की शेष घटनाओं का हाल कुछ भी नहीं मिलता, किंतु इनकी उपलब्ध रचनाओं को देखने से पता चलता है कि ये उच्चकोटि के साधक रह चुके होंगे । इनकी आध्यात्मिक पहुँच भी बहुत गहरी रही होगी । इनकी रचनाओं का एक संग्रह 'शब्दसार' नाम से बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित हो चुका है । इनके कुछ अन्य पद आदि 'महात्माओं की वाणी' में मिलते हैं जिनसे इनकी प्रेम-विह्वलता तथा रहस्य-ज्ञान का अच्छा परिचय मिल जाता है । इनकी भाषा साधारण है तथा इनकी पंक्तियों में पद-लालित्य का भी अभाव है । फिर भी उनके विषय की गंभीरता एवं भेद के साथ घनिष्ट सम्बन्ध के परिचायक इनके वर्णनों द्वारा उनका महत्त्व बहुत-कुछ बढ़ जाता है और उन्हें पढ़ने की ओर प्रवृत्त हो जाना पड़ता है ।

पद

एकांत निष्ठा (१)

या बिधि करहु आपुहि पार ।
मीन जल की प्रीत जानै, देखु आपु बिचार ।।१।।
सीप रहत समुद्र मांही, गहत नाहिन वार ।
वाकी सुरत आकास लागी, स्वाती बुंद अधार ।।२।।
चकोर चांद सों दृष्टि लावै, अहार करत अंगार ।
दहत नाहिन पान कीन्हें, अधिक होत उजार ।।३।।
कीट भृङ्ग की रहनि जानो, जाति पांति गँवाय ।
बरन अबरन एक मिलि भे, निरंकार समाय ।।४।।
दास बुल्ला आस निरखहिं, राम चरन अपार ।
देहु दरसन मुक्ति परसन, आवागवन निवार ।।५।।

वार=वारि, जल । उजार=सचेत ।

सुरतिशब्द योग (२)

सोंह हंसा लागलि डोर । सुरति निरति चढु मनुवां मोर ।।१।।
झिलिमिलि झिलिमिलि त्रिकुटी ध्यान । जगमग जगमग गगने तान ।।२।।
गहगह गह अनहद नीसान। प्रान पुरुष तहं रहता जान ।।३।।
लहरि लहरि उठि पछिव घाट । फहरि फहरि चल उतर बाट ।।४।।
सेत बरन तहं आवै आप । कह बुल्ला सोई माई बाप ।।५ ।

पछिव=पश्चिम । सेत बरन=श्वेत वर्ण, प्रकाश रूप में ।

निरुपम स्वामी (३)

भाई इक सांई जग न्यारा है ।
सो मुझमें मैं वाही मांही, ज्यों जल मध्ये तारा है ।।१।।
वाके रूप रेख काया नहिं, नहिं माया निस्तारा है ।।२।।
अगम अपार अमर अबिनासी, सो संतन का प्यारा है ।।३।।
अनंत कला जाके लहरि उठतु है, परम तत्त निरकारा है ।।४।।
जन बुल्ला ब्रह्म ज्ञान बोलतु है, सतगुरु शब्द अधारा है ।।५।।

संत रहनी (४)

ओढ़ो चूनरी ततसार ।
अचल अमल अपार अंगिया, खांडे की ज्यों धार ।।टेक।।
नाहिं मारैं मरैं बिनसैं, ऐसो है ब्रह्म तार ।
उमगि सोहं अधर चढ़िया, बहुरि नहिं औतार ।।१।।
एकां येकी होत अबिगति, साधु यह ब्योहार ।
दास बूला मांडो बाजी, जानै क्या संसार ।।२।।

अंगिया=चोली । तार=बिनावट का धागा । अधर=गगन की ओर । मांडो=मार ली है ।

आत्मा ही सब कुछ

(५)

आपु कहे आपुही पतियाई। निर्गुन नाम सदा सुखदाई ।।१।।
आपै औवल आपै आखिर। आपै भीतर आपै बाहिर ।।२।।
आपु आप अरु सर्वबियापी। आपुहि ध्यानी आपुहि जापी ।।३।।
आपुहि बोलै आपु बोलावै। आपुहि देखै आपु देखावै ।।४।।
आपुहि आवै आपुहि जावै। यह मति अचल कोऊ जन पावै ।।५।।
बूला बोले सुनु नर लोई। गुरु वचन सुनि जगहि बिलोई ।।६।।

बिलोई=मंथन कर डालो समझ-बूझ लो।

विनय

(६)

सरब सरूपी गोविंदा, मोहि ऐसी रहनि रहाउरी ।।टेक।।
बिनु आसा बिनु उद्यम, बिनु रसना गुन गाउरी।
बिना जोग बिनु भोग अखंडित, सांचा लाद लदाउरी ।।१।।
बिना नाव अरु बिना केवटा, बिनु खेये पार लगाउरी।
बिनु दरियाव भवपार उतरना, बहुरि न इतहि को आउरी ।।२।।
बिनु माला बिनु तिलकहिं, बिना जाप को ध्यान।
अष्ट जाम धुनि लगइ रहतु है, अनहद बाजु निशान ।।३।।
संत सभा तहं देखिए, महा उच्च विश्राम।
बिनु प्रयास भवनिधि तरहिं, बूला ले हरिनाम ।।४।।

आसा=कामना।

अरिल

झूठा यहु संसार झूठ सब कहत है।
संत सब्द की रहनि कोऊ नहिं गहत है ।।
बिना सत नहि गत्त कुगत्त में परत हैं।
बूला हृदै बिचारि सत्त सों रहत है ।।१।।
ऐसी बनिज हमारि राम को लेन को।
मन पवना दोउ दाम साहु को देन को ।।
पाँच पचीस तिन लादि आपमें बैठिके।
बूला दीन्हीं हांकि जोति में पैठिके ।।२।।
क्या भयो ध्यान के किधे हाथ मन ना हुआ।
माला तिलक बनाय देत सबको दुआ ।।
आसा लागी डोरी कहत भला हुआ।
बूला कहत बिचारि झूठ से मर घुआ ।।३।।
का भये सब्द के कहे, बहुत करि ज्ञान दे।
मन परतीत नहीं तो, कहा जम जान दे ।।
का भयो तीरथ किये, हिये नहि आवई।
बूला कहै बिचारि, खाली सब जावई ।।४।।

गत्त=गति, उद्धार। तिन=तीनों गुण। दुआ=आशीर्वाद, उपदेश। घुआ=ढेंढी। जान दे=जाने दे, छोड़ सके।

रेखता

प्रीति की रीति सों जीति मैदां लिया,
पवन के घोरा सों जोरा जाय किया है ॥
पांच अरु तीन पच्चीस को बसि किया,
साहब को ध्यान धरि ज्ञान रस पिया है ॥
भूख औ प्यास नहिं आस औ बास नहिं,
एक साहब सों ब्रह्म जा थिया है ॥
दास बूला कहै अगम गति तौ लहै,
तोरि कै कुफुर तब गगन गढ़ लिया है ॥१॥

जोरा=युद्ध वा भिड़ंत । थिया है=स्थिर हो गया । कुफुर=संदेह का ताला ।

कवित्त

आंधरे ने देखो हाथी साथी सब भूलि गयो,
फूलो ब्रह्म जैसे रवि ससि सोहाई है ।
सोई मूल सोई थूल सोई फूल फूलि रह्यो,
सोई जुगजुग देखो आपु रूप बोई है ॥
आदि मध्य अंत बोई नीके करि देखो जोई,
सोई त्रिभुवन नाथ बूझै गति कोई है ।
गुरु गम होय बोलै नेकु नाहीं चित्त डोलै,
जन बूला निज घर सहज समोई है ॥१॥

साखी

आठ पहर चौसठ घरो, जन बूला धर ध्यान ।
क्या जाने कौने घरी, आइ मिलैं भगवान ॥१॥
आठ पहर चौसठ घरी, भरो पियाला प्रेम ।
बूला कहै बिचारि कै, इहै हमारो नेम ॥२॥
बिना नीर बिनु मालिही, बिनु सींचे रंग होय ।
बिनु नैनन तहं दरसनो, अस अचरज इक सोय ॥३॥
ऐसन अद्भुत बुंद है जुग जुग अचल अपार ।
आवै जाय न बीनसै, सदा रहै यकतार ॥४॥
अछै रंग में रंगिया, दीन्हों प्रान अंकोल ।
उनमुनि मुद्रा भस्म धरि, बोलत अमृत बोल ॥५॥

अछै=अक्षय, अविनाशी । अंकोल=अंकोर, सुस्वादु भेंट । उनमुनि मुद्रा=परमात्मा के प्रति सदा उन्मुख रहने की स्थिति ।

गुरु गोविन्द सिंह

गुरु गोविंद सिंह का पूर्व नाम गोविंदराय था । ये गुरु तेगबहादुर के पुत्र थे । इनका जन्म सं० १७२३ की पौष सुदि ७ को पटना में हुआ था । ये अपनी छोटी

अवस्था से ही खेल-कूद, आखेट, युद्ध-कला आदि के अभ्यासों में बड़ा भाग लेते रहे। पटना से अपने पिता के निकट आनंदपुर आ जाने पर इन्होंने बाण-विद्या में विशेष कुशलता प्राप्त कर ली थी तथा अपने सहयोगियों का संगठन भी करने लग गए थे। गुरु तेगबहादुर की हत्या हो जाने पर इन्होंने प्रतिशोध की भावना से प्रेरित हो निकटवर्ती राजाओं के साथ मैत्री-सम्बन्ध करना आरंभ किया और थोड़े ही दिनों में इनका एक दल-सा बन गया जो दिल्ली के बादशाहों को सशंकित करने लगा। सिख धर्म के अनुयायियों में युद्ध का भाव जागृत करने के लिए इन्होंने उनका एक नवीन 'खालसा पंथ' निर्मित किया। उनमें आत्म-त्याग की भावना भरी। तब से ये गोविंद-राय से गोविंदसिंह हो गए और सभी एक विशेष व्रत के व्रती बनकर इनके अनुसरण में बलिवेदी पर चढ़ने लगे। मुगल राज्य के विरुद्ध इन्हें कई युद्ध लड़ने पड़े और कई बार इन्हें उनमें सफलता भी मिली, किंतु अंत में इन्हें अपनी जन्म-भूमि छोड़नी पड़ी। ये लड़ते-झगड़ते हुए दक्षिण की ओर नादेड़ तक पहुँच गए और वहीं पर किसी पठान द्वारा पेट में कटार चुभो दी जाने के कारण, मिति कार्तिक सुदि ५, सं० १७६५, को इन्होंने अपना शरीर त्याग दिया।

गुरु गोविंद सिंह शस्त्रविद्या के साथ-साथ काव्यशास्त्र में भी निपुण थे और उनके यहाँ गुणियों का सम्मान भी हुआ करता था। प्रसिद्ध है कि उनके दरबार में ५२ कवियों को आश्रय प्राप्त था। संस्कृत के महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का शुद्ध एवं सुन्दर अनुवाद कराने के लिए भी उन्होंने प्रयत्न किये। वे एक धर्मगुरु होने के अतिरिक्त, साहसी वीर, नीतिपरायण नेता तथा कुशल कवि भी थे। उनकी रचनाएँ सिखों के 'दसमग्रन्थ' में संगृहीत हैं जिसे वे लोग 'गुरु ग्रंथ साहिब' कहते तथा जिसकी गुरुवत् पूजा किया करते हैं। उनकी रचनाओं में उनके पदों, कवित्तों, सवैयों, साखियों आदि के द्वारा उनकी विचारधारा का परिचय मिलता है और उनकी 'विचित्र नाटक' नामक रचना का प्रधान विषय, उनके अनेक जन्मों की कथा है जो वास्तव में अद्भुत ढंग की है। इस पुस्तक में तथा कई अन्य रचनाओं में भी चौपाई, दोहे बहुत आये हैं। इनका 'चंडी चरित्र' ग्रंथ 'दुर्गा सप्तशती' का अनुवाद है, किंतु उसकी पंक्तियाँ साहित्यिक ब्रजभाषा के लिए अच्छा उदाहरण मानी जा सकती हैं। इनकी 'गोविंद रामायण' में रामकथा कही गई है।

पद

विनय (१)

प्रभुजी तोकहं लाज हमारी।
नीलकंठ नरहरि नाराइण, नील बसन बनवारी ॥रहाउ॥
परम पुरख परमेस्वर स्वामी, पावन पउन अहारी।
माधव महाजोति मध-मरदन, मान मुकंद मुरारी ॥१॥
निर्विकार निरजुर निंद्राविन, निर्बिख नरक निवारी।
कृपा सिंधु काल त्रैदरसी, कुकृत-प्रनासन-कारी ॥२॥
धनुर बान धृत मान धराधर, अनिविकार असिधारी।
हौं मतिमंद चरन सरनागत, करन गहि लेहु उबारी ॥३॥

—(शब्द हजारे)

मध मरदन = मधु दैत्य का नाश करने वाले। निरजुर = बिना वृद्धावस्था के। निबिख = निष्पाप, विशुद्ध। अनिविकार = विकाररहित।

कवित्त

कोऊ भयो मुंडिया संन्यासी, कोऊ जोगी भयो,
　　कोऊ ब्रह्मचारी, कोऊ जतियन मानबो।
हिन्दू तुरक कोऊ राफजी, इमाम साफी,
　　मानस की जात सबै एकै पहचानबो॥
करता करीम सोई राजक रहीम ओई,
　　दूसरो न भेद कोई भूल भ्रम मानबो।
एक ही की सेव सबही को गुरुदेव एक,
　　एक ही सरूप सबै, एकै जोत जानबो॥१॥

जैसे एक आग ते कनूका कोट आग उठे,
　　न्यारे न्यारे ह्वै कै फेरि आगमैं मिलाहिंगे।
जैसे एक धूरते अनेक धूर धूरत हैं,
　　धूरके कनूका फेर धूरही समाहिंगे॥
जैसे एक नदते तरंग कोट उपजत हैं,
　　पान के तरंग सब पानही कहाहिंगे॥
तैसे बिस्वरूप तें अभूत भूत प्रगट होइ,
　　ताहीते उपज सबै ताही मैं समाहिंगे॥२॥

निर्जन निरूप ही कि सुन्दर स्वरूप ही कि,
　　भूपन के भूप ही कि दानी महादानी ही।
प्रान के बचैया दूधपूत के देवैया,
　　रोग सोग के मिटैया किधौं मानी महामानी ही।
बिद्या के बिचार ही कि अद्वैत अवतार ही,
　　कि सुद्धता की मूर्ति ही कि सिद्धता की सान ही।
जोबन के जाल ही कि कालीहू के काल ही,
　　साधुन के साल ही कि मित्रन के प्रान ही॥३॥

राफजी इमाम साफी = मुस्लिम फिरके। मानस = मनुष्य। राजक = रोजी देने वाला। कनूका = कण। कोटि = कोट वा ढेर। धूरत है = हो जाती है। पान = पानी, जल। अभूत = विचित्र, अनेकानेक। निर्जन = शून्य। सान = आदर्श। जाल = पसारा, प्रपंच।

सवैया

दीनन की प्रतिपाल करै नित, संत उबार गनीमन गारै।
पच्छी पसु, नगनाग, नराधिप, सर्ब समै सबको प्रतिपारै।
पोषत है जलमें थलमें, पलमें कलके नहिं कर्म बिचारै।
दीन दयाल दयानिधि दोषन देखत है पर देत न हारै॥१॥
काहू भयो दोउ लोचन मूंदकै, बैठि रह्यो बकध्यान लगायो।
न्हात फिर्‌यो लिए सात समुंद्रन, लोक गयो परलोक गंवायो॥

वासु कियो बिखिआन सों बैठकै, ऐसे ही ऐस सुबैस बितायो ।
साधु कहीं सुनि लेहु सबै, जिन प्रेम कियो तिनही प्रभु पायो ।।२।।
धन्य जीओ तिह को जगमैं, मुखते हरि चित्त में जुद्ध बिचारै ।
देह अनित्य न नित्य रहै जस नाव चढ़ै भवसागर तारै ।।
धीरज धाम बनाइ इहै तन, बुद्धि सुदीपक जिउ उजियारै ।
ज्ञानहि की बढ़नी मनु हाथ लै, कातरता कुतवार बुहारै ।।३।।

गनीमन गारै=आततायियों को नष्ट कर देता है । देत न हारै=देने से नहीं चूकता । ऐसे ही ऐस=योंही । सुबैस=अच्छी वयस, उम्र । जीओ=जीना । जस=कीर्ति । बढ़नी=झाड़ू । कुतवार=कतवार, कूड़ा ।

चौपाई

गुरु घर जन्म तुम्हारे होय । पिछले जाति बरन सब खोय ।।
चार बरन के एको भाई । धरम खालसा पदवी पाई ।।
हिन्दु तुरक ते आहि निआरा । सिंह मजब अब तुमने धारा ।।
राखहु कच्छ, केस, किरपान । सिंह नाम को यही निशान ।।

खालसा=विशुद्ध वा खालसा धर्म । सिंह मजब=सिक्ख धर्म ।

साखी

आज्ञा भई अकाल की, तभी चलायो पंथ ।
सब सिक्खन को हुकम है, गुरु मानियहु ग्रन्थ ।।१।।
गुरु ग्रन्थ जी मानियहु, प्रकट गुरों की देह ।
जाका हिरदा शुद्ध है, खोज शब्द में लेह ।।२।।

संत बुल्लेशाह

संत बुल्लेशाह के विषय में पहले प्रसिद्ध था कि वे बलख शहर के बादशाह थे और मियाँ मीर से भेंट करके फकीर हो गए थे । इसी प्रकार कुछ लोगों का यह भी कहना था कि ये अपने जन्म-स्थान कुस्तुन्तुनियाँ से आकर इनायत शाह के मुरीद बने थे । परन्तु इधर की खोजों के अनुसार पता चला है कि उनका जन्म भारत में ही, लाहौर जिले के पंडोल गाँव में, सं० १७३७ में हुआ था । वे पहले साधु दर्शनीनाथ के सत्संग में रहे और इनायत शाह के संपर्क में आ गए । वे आमरण ब्रह्मचारी बने रह गए और कुसूर नामक स्थान में निवास करते हुए सदा अपनी साधना में लीन रहे । इनका देहांत भी कुसूर में ही रहते समय, सं० १८१० में हुआ था जहाँ पर इनकी समाधि आज तक वर्तमान है ।

संत बुल्लेशाह की विचारधारा, सूफीमत की ही भाँति, वेदांत के सिद्धांतों से भी बहुत-कुछ प्रभावित थी । कबीर साहब के समान विचार-स्वातंत्र्य में इनकी आस्था थी और उन्हीं की भाँति बाह्याडंबर के ये कट्टर विरोधी भी थे । मस्जिद, मंदिर, ठाकुरद्वारा आदि को ये "चोरों और डाकुओं का अड्डा" कहा करते थे । इनकी धारणा थी कि उनमें प्रेमरूपी परमात्मा का निवास होना असंभव-सा है । इनके

अनुसार सरलहृदयता तथा अहंता का परित्याग सबसे अधिक आवश्यक है। ये अपना काफिर होना स्वीकार करते थे। इनके ये सिद्धांत इनकी रचनाओं में बड़े स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किये गए हैं। इनके दोहरे, सोहर्फी, काफी, अठवारा आदि प्रसिद्ध हैं। इनकी इन सभी रचनाओं में शुद्ध एवं सरल पंजाबी के उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।

पद

चेतावनी (१)

टुक बूझ कौन छप आया है।
कइ नुकते में जो फेर पड़ा, तब ऐन गैन का नाम धरा।
जब मुरसिद नुकता दूर कियो, तब ऐनो गैन कहाया है॥
तुसीं इल्म किताबां पढ़दे हो, केहे उलटे माने करदे हो।
वे मूजब ऐवें लडदे हो, केहा उलटा बेद पढ़ाया है॥
दुइ दूर करो कोइ सोर नहीं, हिन्दु तुरक कोइ होर नहीं।
सब साधु लखो कोइ चोर नहीं, घट घट में आप समाया है॥
ना मैं मुल्ला ना मैं काजी, न मैं सुन्नी ना मैं हाजी।
बुल्लेशाह नाल जाई बाली, अनहद सबद न जाया है॥१॥

छप=अगोचर वेष में। कइ=कहीं। नुकते में=एक बिंदु मात्र वा केवल उपाधियों के कारण। फेर=भेद। ऐन=पूर्णतत्त्व, ع अक्षर। गैन=غ अक्षर, छोटा-सा बैल। कइ...धरा=जिस प्रकार अरबी के ع अक्षर पर एक बिंदु मात्र देने से ही वह غ अक्षर बन जाता है, उसी प्रकार पूर्ण निरुपाधि तत्त्व भी केवल नाम रूप की किंचित् उपाधि के ही कारण सीमित जान पड़ता है। मुरसिद=मुरशिद, सतगुरु। तब=वह वस्तु। तुसीं=तुम। वे...ऐवें=उन उपाधियों के ही आधार पर। होर=और, भिन्न। नाल=जुए के अड्डे में ही।

वही (२)

अब तूं जाग मुसाफिर प्यारे, रैन घटी लटके सब तारे।
आवागवन सराई डेरे, साथ तयार मुसाफिर तेरे।
अजे न सुनदा कूच नकारे, करले आज करन दी बेला।
बहुरि न हौसी आवन तेरा, साथ तेरा चल चल्ल पुकारे॥१॥
आपो अपने लाहे दौड़ी, क्या सरधन क्या निरधन बौरी।
लाहा नाम तू लेहु संभारे, बुल्ले सहुदी पैरी परिये।
गफलत छोड़ हीला कुछ करिये, मिरग जतन बिन खेत उजारे॥२॥

सराई डेरे=सराय के निवास की भाँति है। अजे=अब तक भी। लाहे=लाभार्थ। सरधन=धनवान्। लाहा नाम=नामस्मरणजन्य लाभ। सहुदी=साहु वा मालिक के। हीला=साधना वा प्रयत्न। मिरग=हरिण, इंद्रियाँ।

उद्गार (३)

ऐन ही आप है बिना नुकते, सदा चैन महबूब दिलदार मेरा।
इक्कबार महबूब नूं जिनी डिठा, ओह देखणे हार है सम्म केरा।

उसतों लख बहिस्त कुरबाण कीते, पहुँचे महल बेगम्म चुकाइ झेंड़ा।
बुल्लेशाह उस हाल मस्तान फिरदे, हाथी मत्तड़ तोड़ जंजीर जेड़ा ॥३॥

महबूब = प्रियतम। नूं = को। जिनी = जिसने। सम्भ = उस परमात्मा का ही। उसतों = उस पर। झेंड़ा = झंझट, बखेड़ा। जेड़ा = जिसका बंधन।

संत गुलाल साहब

गुलाल साहब जाति के क्षत्रिय थे और तालुका बसहरि, परगना सादियाबाद, तहसील एवं जिला गाजीपुर के रहने वाले थे। ये जमींदार थे और इन्हीं के यहाँ बूलासाहब पहले बुलाकीराम कुर्मी के रूप में हलवाही का काम करते थे। इनके बुलाकीराम के प्रति किए गए व्यवहार की चर्चा बूला साहब के परिचय में की गई है। बूला साहब के ठाकुर और मालिक होते हुए भी, जब ये उनसे प्रभावित होकर उनके चरणों में गिर पड़े तो उन्होंने इन्हें अपने शिष्य रूप में स्वीकार कर लिया। तब से ये उन्हीं के सत्संग में सदा रहने लगे और उनका देहांत होने पर उनकी गद्दी के उत्तराधिकारी भी हुए। इनके हृदय की उदारता एवं भावुकता का पता केवल इसी एक बात से चल सकता है कि इन्होंने अपने नीच टहलुवे के भी आध्यात्मिक व्यक्तित्व के सामने आत्मसमर्पण कर दिया और अपने पूर्व-संस्कारों को तिलांजलि देकर ये सदा के लिए उसके सच्चे अनुयायी बन गए। वास्तव में हमें इनकी रचनाओं के अंतर्गत, भक्ति तथा प्रेम की भावना इनके गुरु अथवा दादागुरु से भी अधिक मिलती है। भुरकुड़ा की गद्दी पर ये अपने अंत समय तक रहे और सं० १८१६ में इनका देहावसान हो गया। इनके जीवन की अन्य किसी घटना का न तो पता चलता है, न इनकी शिक्षा आदि के सम्बन्ध में ही विवरण उपलब्ध है।

इनकी रचनाओं का एक संग्रह 'गुलाल साहब की बानी' के नाम से बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुआ है। इनके बहुत-से अन्य पद भी भुरकुड़ा से छपी हुई पुस्तक 'महात्माओं की वाणी' के अंतर्गत दिये हुए हैं। इनके दो ग्रंथ 'ज्ञान गुष्टि' तथा 'राम सहसनाम' के नाम से बतलाये जाते हैं, किंतु उनका प्रकाशन अभी तक नहीं हो पाया है। इन्हीं दो नामों से इनकी दो रचनाएँ 'महात्माओं की बानी' में भी दीख पड़ती हैं और संभव है, ये वे ही हों। गुलाल साहब की भाषा में भोजपुरी शब्दों एवं मुहावरों की प्रचुरता पायी जाती है। इनकी पंक्तियों में इनकी प्रेम विह्वलता, इनका हृदयोल्लास तथा इनकी श्रद्धामयी भक्ति का प्रायः सर्वत्र परिचय मिलता है। ये उच्च श्रेणी के साधक भी जान पड़ते हैं। इनकी वर्णन-शैली में तन्मयता के साथ-साथ स्वानुभूति की भी झलक मिलती है और उनमें प्रवाह की मात्रा भी कम नहीं।

पद

उद्गार (१)

राम मोर पुंजिया राम मोर धना,
निस बासर लागल रहु मना ॥टेक॥
आठ पहर तहं सुरति निहारी,
जस बालक पालै महतारी ॥१॥

घन सुत लछमी रह्यो लोभाय,
गव मूल सब चल्यो गंवाय ॥२॥
बहुत जतन भेष रचो बनाय,
बिन हरिभजन इंदोरन पाय ॥३॥
हिंदू तुरुक सब गयल बहाय,
चौरासी में रहि लिपटाय ॥४॥
कहै गुलाल सतगुरु बलिहारी,
जाति पांति अब छुटल हमारी ॥५॥

पुंजिया=पूंजी। गव मूल=घमंड का आधार-स्वरूप। इंदोरन=एक फल जो सुंदर लाल रंग का होने पर भी कड़ुवा होता है, इंद्रासन (दे०—'बिनु हरि भजन इंद्रासनि के फल तजत नहीं करुआई'—तुलसीदास)।

उपदेश (२)

मन तुम कपट दूर अडाव।
भटक को तुम पंथ छोड़ो, सुरत सब्द समाव ॥टेक॥
करत चाल कुचाल चालत, मकर मेल सुभाव।
तीन तिरगुन तपत दिनकर, कैसहू बुझलाव ॥१॥
अति अधीन मलीन माया, मोह में चितलाव।
अगम घर की खबरि नाहीं, मूढ़ तासच पाव ॥२॥
सुन्न सिखर सरोज फूलो, बंक नालहि जाव।
कह गुलाल अतीत पूरन, आपु में घर पाव ॥३॥

अड़ाव=रोक रख। बुझलाव=बुझा दे, शांत कर दे। तासच=उस सत्य को।

साधना (३)

रसना राम नाम लव लाई।
अंतरंगते प्रेम जो उपजै, सहज परमपद पाई ॥टेक॥
सत गुरु बचन समीर थीर धरि. भावसो बंद लगाई।
ऊड़ै हंस गगन चढ़ि धावै, फटि जाय भ्रम काई ॥१॥
जोग यज्ञ तप दान नेम व्रत, यह मोहो नहीं आई।
संतन को चरनोदक लैलैं, गिरा जूठ मैं पाई ॥२॥
कहा कहौं कछु कहल न लागै, नाहक जग बौराई।
कहै गुलाल नाम नहिं जानत, खुझि है हमरी बलाई ॥३॥

खुझि है...बलाई=मेरी बला से खीजेंगे वा बुरा मानेंगे।

प्रेम (४)

जो पै कोइ प्रेम गाहक होई।
त्याग करै जो मन कि कामना, सीस दान दै सोई ॥टेक॥

और अमल की दर जो छोड़ै, आपु अपन गति जोई ।
हरदम हाजिर प्रेम पियाला, पुलिक पुलिक रस लेई ॥१॥
जीव पीव महं पीव जीव महं, बानी बोलत सोई ।
सोई सभन महं हम सबहन महं, बूझन बिरला कोई ॥२॥
बाकी गती कहा कोइ जानै, जो जिय सांचा होई ।
कह गुलाल वे राम समाने, मत भूले नर लोई ॥३॥

दर = द्वार, संबंध ।

विनय (५)

प्रभुजी बरषा प्रेम निहारो ।
ऊठत बैठत छिन नहिं बीतत, याही रीत तुम्हारो ॥टेक॥
समय होय भा असमय होवै, भरत न लागत वारो ।
जैसे प्रीति किसान खेत सों, तैसो है जन प्यारो ॥१॥

भक्त बछल है बान तिहारो, गुन औगुन न निहारो ।
जहं जहं जांव नाम गुन गावत, जम को सोच निवारो ॥२॥
सोवत जागत सरन धरम यह, पुलकित मनहिं बिचारो ।
कह गुलाल तुम ऐसो साहब, देखत नेरे न्यारो ॥३॥

भा = अथवा । वारो = बार, विलंब । बान = बाना, स्वभाव ।

उपदेश (६)

हे मन धोवहु तनकी मैली ।
यह संसार नाहि सूझत घट, खोजत निसु दिन गैली ॥टेक॥
नहीं नाव नहिं केवट बेड़ा, फिरत फिरत दिन ऐली ।
पांच पचीस तीन घट भीतर, कठिन कलुष जिम भैली ॥१॥
गुरु परताप साध की संगति, प्रान गगन चढ़ि गैली ।
कहैं गुलाल राम भयो मेला, जन्म सुफल तब कैली ॥२॥

गैली = गैल, मार्ग । ऐली = आ गया । कठिन...भैली = मन में हार्दिक कष्ट हुआ । कैली = किया ।

परमात्मा (७)

अवधू निर्मल ज्ञान बिचारो ।
ब्रह्म स्वरूप अखंडित पूरन, चौथे पद सो न्यारो ॥टेक॥
ना वह उपजै ना वह बिनसै, ना भरमै चौरासी ।
है सतगुरु सत पुरुष अकेला, अजर अमर अबिनासी ॥१॥

ना वाके बाप नहीं वाके माता, वाके मोंह न माया ।
ना वाके भोग जोग वाके नांहीं, ना कहीं जाय न आया ॥२॥
अद्‌भुत रूप अपार बिराजै, सदा रहै भर पूरा ।
कहैं गुलाल सोई जन जानै, जाहि मिलै गुरु पूरा ॥३॥

चौथे पद = परम पद में ।

माया

(८)

संतो कठिन अपरबल नारी ।
सब ही बरलहि भोग कियो है, अजहूं कन्या क्वारी ।।टेक।।
जननी ह्वैके सब जग पाला, बहु बिधि दूध पियाई ।
सुन्दर रूप सरूप सलोना, जोय होइ जग खाई ।।१।।

मोह जाल सों सबहि बझायो, जहं तक हैं तनधारी ।
काल सरूप प्रगट है नारी, इन कहं चलहु बिचारी ।।२।।
ज्ञान ध्यान सब ही हरि लीन्हों, काहु न आप संभारी ।
कहै गुलाल काऊ कोउ उबरै, सत गुरु की बलिहारी ।।३।।

अपरबल=अपूर्व । बरलहि=विवाह सम्बन्ध करके । जोय=स्त्री ।

स्वानुभूति

(९)

आजु झरि बरखत बूंद सोहावन ।
पिय कै रीति प्रीति छबि निरखत, पुलकि पुलकि मन भावन ।।टेक।।
सुखमन सेज जे सुरति संवारहि, झिलमिल झलक देखावन ।
गरजत गगन अनंत सब्द धुनि, पिया पपीहा गावन ।।१।।

उमग्यो सागर सलिल नीर भरो, चहुंदिसि लगत सोहावन ।
उपज्यो मुख सनमुख तिरपित भयो, सुधिबुधि सब बिसरावन ।।२।।
काम क्रोध मद लोभ छूट्यो सब, अपने साहब भावन ।
कहै गुलाल जंजाल गयो तब, हरदम भादो सावन ।।३।।

झरि=बूंदों की झड़ी लगाकर ।

वही

(१०)

अगम घर झलकत नूर निसान । उहां ससि अस्थूल न भान ।।टेक।।
सुभग सरूप सुन्दर अति निर्मल, मुकुता बरखत खान ।
हंस स्वरूप चुगत तहां रुचि सों, सहज सुफल भयो पान ।।१।।
अगम अगोचर अविगत प्रभुजी, कहं लगि करउं बयान ।
कहै गुलाल संतन पग धूरो, प्रेम सुधा भगवान ।।२।।

अस्थूल=स्थूल, साधारण ।

रेखता

अजर जरै पूर मन शूर तब ही भयो,
काम अरु क्रोध को धरि जलाया ।
सीस का खेलना सुरति का मेलना,
नूर सतगुरु का मनि बरा पाया ।।

जोग अरु जुक्ति सों साफ साहब मिल्यो,
भयो आनंद सब दुख बहाया ।
कहैं गुलाल साहिब दाखिल कियो ।
रोज फरै मुक्ति सतलोक छाया ।।१।।

मोर भयो उदै हरि नाम तब ही जगो,
लोक अरु बेद सों जीति पाया।
रहत निरद्वंद आनंद लहरें उठत,
प्रेम अरु प्रीति सों लव लगाया॥
रहत अडोल कलोल दिन रैन में,
पूर भयो मन तब थीर पाया।
कहै गुलाल जंजाल तब ही गयो,
राम रमो जीव अवधूत काया॥२॥

बरा=प्रकाशित। छाया=निवास कर लिया।

साखी

गूदर धागा नामका, सुई पवन चलाय।
मन मानिक मनिगन लग्यो, पहिर गुलाल बनाय॥१॥
बिनु जल कंवला बिगसेऊ, बिना भंवर गुंजार।
नाभि कंवल जोती बरै, तिरबेनी उजियार॥२॥
जिन पावल तिन गावल, अवर सकल भ्रम डार।
कहै गुलाल मनोरवा, पूरल आस हमार॥३॥
अनुभी फाग मनोरवा, दहुँ दिसि परलि धमार।
काया नगर में रंग रचो, प्राननाथ बलिहार॥४॥
मानिक भवन उदित तहाँ, भाँवर दै दै गाय।
जन गुलाल हरखित भयो, कौतुक कह्यो न जाय॥५॥
राम नाम को मसि करो, शून्य कै कागज बनाय।
चित की कलम लिये लिखै, जन गुलाल मन लाय॥६॥

मनोरवा=मनोरा नामक एक फाग का राग। धमार=एक राग का नाम। मानिक......तहां=घट में माणिक्य जैसा प्रकाश फैला है।

संत जगजीवन दास (सत्तनामी)

जगजीवन साहब का जन्म बाराबंकी जिले के सरहदा नामक गाँव में, कोटवा से दो कोस की दूरी पर, क्षत्रिय-कुल में हुआ था। ये चंदेल ठाकुर थे और अपने बालपन में गाय तथा भैंस चराया करते थे। प्रसिद्ध है कि उसी समय एक दिन दो साधुओं ने आकर उनसे अपनी चिलम चढ़ाने के लिए कुछ आग माँगी, किंतु बालक आग के साथ-साथ उनके पीने के लिए कुछ दूध भी लेता आया। साधु बच्चे का स्वभाव देखकर उस पर बहुत प्रसन्न हुए और आशीर्वाद के रूप में उसकी कलाइयों पर उन्होंने धागे बाँध दिये। कहते हैं कि बालक जगजीवन ने उसी समय से साधु-सेवा एवं सत्संग करना आरम्भ किया और अपनी युवावस्था तक आते-आते उसने अपने आध्यात्मिक अभ्यास में भी पर्याप्त उन्नति कर ली। उक्त साधुओं में से एक बूला साहब समझे जाते हैं, दूसरे के लिए गोविंद साहब का अनुमान किया जाता है। जगजीवन दास की चर्चा भी इसी आधार पर, बावरी-परम्परा के संतों में की जाती है। उसकी वंशावली में उनका नाम भी दीख पड़ता है, परंतु कुछ लोगों का यह भी अनुमान है

कि वे किसी बिश्वेश्वरपुरी के शिष्य थे जो काशी के निवासी थे। इस मत के अनुसार, वे एक स्वतंत्र संप्रदाय के प्रचारक माने जाते हैं जिसे 'सत्तनामी संप्रदाय' कहा जाता है और वे उसकी कोटवां शाखा के प्रवर्त्तक भी समझे जाते हैं। जगजीवन दास का जन्म सं० १७२७ माना जाता है और उनके देहांत का समय सं० १८१८ में ठहराया जाता है।

जगजीवन साहब ने अंत तक गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत किया था और सरहदा छोड़कर पीछे कोटवां में रहने लगे थे। इनके नाम से ७ पुस्तकें प्रसिद्ध हैं जिनमें से इनका केवल 'शब्द-सागर' मात्र बेलवेडियर प्रेस से दो भागों में प्रकाशित हुआ है। इनकी रचनाओं से पता चलता है कि इन्होंने परमात्मा को अधिकतर 'सत्त वा सत्य' का नाम दिया है और उसी को एक अलौकिक व्यक्तित्व प्रदान कर उसके प्रति अपनी प्रगाढ़ भक्ति का भी प्रदर्शन किया है। ये उसके ऊपर अपने को पूर्णतः निर्भर मानते हैं और उसी की कृपा व अंतःप्रेरणा द्वारा अपनी सारी क्रियाओं का संपन्न होना समझते हैं। इनकी विनय, इनका आत्म-निवेदन, इनकी श्रद्धा एवं दैन्य-भाव सभी सगुणोपासक भक्तों की शैली में ही प्रकट किये गये हैं। इनकी भाषा में अवधी बोली के शब्दों एवं मुहावरों की भरमार है और आलंकारिक भाषा के प्रयोग इन्होंने बहुत ही कम किये हैं।

पद

भगवत्प्रेरणा (१)

प्रभुजी का बसि अहै हमारी।
जब चाहत तब भजन करावत, चाहत देत बिसारी ॥१॥
चाहत पल छिन छूटत नांही, बहुत होत हितकारी।
चाहत डोरि सूखि पल डारत, डारि देत संसारी ॥२॥
कहं लगि विनय सुनावौं तुमते, मैं तो अहौं अनारी।
जगजिवन दास पास रहै चरनन, कबहूं करहुं न न्यारी ॥६।

चाहत...डारत = यदि चाहते हो तो मुझे अपने बंधनों में रखने वाली रस्सी को सुखा कर शीघ्र निर्बल कर डालते हो।

उसका अन्तर्यामित्व (२)

प्रभुजी तुम जानत गति मेरी।
तुमते छिपा नहीं आहै कछु, कहा कहौं मैं टेरी ॥१॥
जहं जहं गाढ़ पर्‌यो संतन कां, तहं तहं कीन्हो फेरी।
गाढ़ मिटाय तुरंतहि डार्‌यो, दीन्हो सुक्ख घनेरी ॥२॥
जुग जुग होत ऐस चलि आवा, सो अब सांझ सबेरी।
दियो जनाय सोई तस जानै, वास मनहिं तेहि केरी ॥३॥
कर औ सीस दियो चरनन महै, नहिं अब पाछे हेरी।
जगजीवन के सतगुरु साहब, आदि अंत तेहि केरी ॥४॥

गाढ़ = संकट।

हैरान (३)

तेरा नाम सुमिरि ना जाय ।
नहीं बस कछु मोर आहै, करहुं कौन उपाय ॥१॥
जबहिं चाहत हितू करिकै, लेत चरनन लाय ।
बिसरि जब मन जात आहै, देत सब बिसराय ॥२॥

अजब ख्याल अपार लीला, अंत काहु न पाय ।
जीव जन्त पतंग जगमहं, काहु ना बिलगाय ॥३॥
करौं विनती जोरि दुहुँ कर, कहत अहौं सुनाय ।
जगजीवन गुरु चरन सरन, ह्वै तुम्हार कहाय ॥४॥

अज्ञान (४)

सांई मैं नहिं आपुक जाना ।
को मैं आहुँ कहां ते आयों, फिरत हौं कहां भुलाना ॥१॥
काया कंचन लोक बनायो, तेहि का अंत न जाना ।
बूझौं कहं अस्थान कौन है, सर्व अंग ठहराना ॥२॥

देखत हौं काहू नहिं न्यारा, समुझत आहौं ज्ञाना ।
कौन जुक्ति जग बंध निकरिये, कैसे ह्वै मस्ताना ॥३॥
मैं जानौं मन तुमहीं साहब, ताने मन बिलगाना ।
तेहिका रूप अनूप अमूरति, गगन मंडल अस्थाना ॥४॥

तेहिते सूरति फूटी तेहिमां, गुरू अलख करि माना ।
चेला ह्वै कै करूं बंदगी, सीस करहूँ कुरबाना ॥५॥
तुमते मैं संतुष्टा ह्वै हौं, अहहु मूर्ति निर्बाना ।
जगजीवन पर दाया कीन्हों, तबते अब पहिचाना ॥६॥

आपुक=अपने को । कौन...निकरिये=कौन से उपाय करूं जिससे संसार के बंधनों से मुक्त हो सकूं । सूरति=आत्मा, जीव ।

सच्ची करणी (५)

हमारा देखि करै नहिं कोई ।
जो कोई देखि हमारा करिहै, अंत फजीहति होई ॥१॥
जस हम चलै चलै नहिं कोई, करों सो करै न सोई ।
मानै कहा कहे जो चलि है, सिद्धि काज सब होई ॥२॥

हम तो देह धरे जग नाचब, भेद न पाई कोई ।
हम आहन सतसंगी बासी, सूरति रही समोई ॥३॥
कहा पुकारि बिचारि लेहु सुनि, वृथा सब्द नहिं होई ।
जगजीवनदास सहज मन सुमिरत, बिरले यहि जग कोई ॥४॥

हमारा...कोई=मेरा कोई अनुकरण न करे । चलै...कोई=उस प्रकार व्यवहार न करे । मानै...चलिहै=मेरे कथन को समझ-बूझ कर जो चलेगा । आहन=हैं ।

संसारी जीव (६)

भाई रे कहा न मानै कोई ।
जिहि समुझायकै राह बतावौं, मन परतीत न होई ॥१॥
कपट रीति कै करहिं बंदगी, सुमति न व्यापै सोई ।
भये नर हीन कुमारग परिकै, डारिन सर्बस खोई ॥२॥
गे भरुहाय तनिक सुख पाये, मैं तैं रहे समोई ।
फिर पछिताने कष्ट भये पर, रहे मनहि मन रोई ॥३॥
देखि परत नैनन से वैसे, कठिन जीव है वोई ।
जगजीवन अंतर महं सुमिरै, जस होई तस होई ॥४॥

कपट...सोई=ऊपरी ढंग से उपासनादि कर लेते हैं, उसके अनुसार उनकी बुद्धि भी ठीक नहीं रहती । गे भरुहाय=उबल पड़ते हैं । समोई=मग्न, पड़े हुए ।

सत्तनाम का जप (७)

साधो सत्तनाम जपु प्यारा ॥टेक॥
सत्तनाम अंतर धुनि लागी, बास किहे संसारा ।
ऐसे गुप्त चुप्प ह्वै सुमिरहु, बिरले लखै निहारा ॥१॥
तजहु बिबाद, कुसंगति सबकै, कठिन अहै यह धारा ।
सत्तनाम कै बेड़ा बांधहु, उतरन का भवपारा ॥२॥
जन्म पदारथ पाइ जक्त महं, आपुन मरहु संभारा ।
जगजीवन यह सत्तनाम है, पापी केतिक तारा ॥३॥

जक्त=जगत्, संसार । आपुन...संभारा=अपने को स्मरण में खो दो ।

अज्ञेय (८)

तुम्हारी गति कछु जानि न पायो ।
जेइ जस बूझा तेइ तस सूझा, ते तैसइ गुन गायो ॥१॥
करौं ढिठाई कहौं बिनय करि, मोहि जस राम बतायो ।
जस मैं गहा लहा लै लागी, चरन सरन तब पायो ॥२॥
भटकत रहेंउ अनेक जनम लहि, वह सुधि सो बिसरायो ।
दाया कीन्ह दास करि जानेहु, बड़े भाग तें आयो ॥३॥
दियो बताइ दिखाइ आपुकहं, चरनन सीस नवायो ।
जगजीवन कहं आपन जानेहु, अघ कर्म भर्म मिटायो ॥४॥

कठिन साधना (९)

साधो केहि बिधि ध्यान लगावै ।
जो मन चहै कि रहौं छिपाना, छिपा रहै नहिं पावै ॥१॥
प्रगट भये दुनिया सब धावत, सांचा भाव न आवै ।
करि चतुराई बहु बिधि मनतें, उलटे कहि समुझावै ॥२॥

भेष जगत दृष्टी तें देखत, औरै रचिकै गावै ।
चाहत नहीं लहत नहिं नामहिं, तृस्ना बहुत बढ़ावै ॥३॥
गहि मन मंत्र रहै अंतर महं, ताहो कहि गोहरावै ।
जगजीवन सतगुरु की मूरति, चरनन सीस नवावै ॥४॥

सच्चा स्मरण (१०)

साधो रसनि रटनि मन सोई ।
लागत लागत लागि गई जब, अंत न पावै कोई ॥१॥
कहत रकार मकारहि माते, मिलि रहे ताहि समोई ।
मधुर मधुर ऊंचे को धायो, तहां अवर रस होई ॥२॥
दुइ कै एक रूप करि बैठे, जोति झलमली होई ।
तेहिकां नाम भयो सतगुरु का, लीह्यो नीर निकोई ॥३॥
पाइ मंत्र गुरु सुखी भये तब, अमर भये हहिं वोई ।
जगजीवन दुइ करतें चरन गहि, सीस नाइ रहे सोई ॥४॥

रसनि = स्वाद, चाट ।

मन को उपदेश (११)

मन तुम का औरहु समुझावहु ।
आपुहि समुझहु आपुहि बूझहु, आपुहि घर मां गावहु ॥१॥
ऊंचे जाहु नीचे का आवहु, फिरि ऊंचे कहं धावहु ।
जवनि रसनि लागी तुमहीं को, तौनिहु रसनि मिटावहु ॥२॥
देखहु मस्त रहहु ह्वै मनुआं, चरनन सीस नवावहु ।
ऐसी जुगति रहहु ह्वै लागे, कबहुँ न यहि जग आवहु ॥३॥
जुग जुग कबहुं अंग नहिं छूटै, और सबै बिसरावहु ।
जगजीवन परकास बिदित छबि, सदानन्द सुख पावहु ॥४॥

जप का स्वरूप (१२)

ऐसी डोरि लगावहु पोढ़ि । टूटै डोरि लेहु फिरि जोरि ॥१॥
जब लग मुखतें कहिये बात । तब लगि नाम बिसरि मन जात ॥२॥
जग प्रपंच संगति नहिं करिये । हिये नामकी रटना धरिये ॥३॥
चितमां चित जो राखै लाय । तापर कालकि कछु न बसाय ॥४॥
जगजीवन के चरन अधार । सतगुरु संत उतारहिं पार ॥५॥

पोढ़ि = मजबूत ।

समस्या (१३)

साधो को धौं कहंते आवा ।
खात पियत को डोलत बोलत, अंत न काहू पावा ॥१॥
पानी पवन संग इक मेला, नहिं विवेक कहुं गावा ।
केहिके मन को कहां बसत है, केइ यह नाच नचावा ॥२॥

पय महं घृत घृत महं ज्यों बासा, न्यारा एक मिलावा ।
घृत मन वास पास मनि तेहिमां, करि सो जुक्ति बिलगावा ॥३॥
पावक सर्व अंग काठहि मां. मिलिकै करखि जगावा ।
ह्वै गै खाक तेज ताहीं तें, फिर धौं कहां समावा ॥४॥

भान समान कूप जब छाया, दृष्ट सबहि मां लावा ।
परि घन कर्म आनि अंतर महं, जोति खेंचि लै आवा ॥५॥
अस है भेद अपार अंत नहिं, सतगुरु आनि बतावा ।
जगजीवन जस बूझि सूझि भै, तेहि तस भाखि जनावा ॥६॥

करखि = चौंककर, उत्तेजित कर । घन = बादल-रूपी ।

वही सब कुछ (१४)

सांई काहु के बस नहिं होई ।
जाहि जनावै सोई जानै, तेहितें सुमिरन होई ॥१॥
आपुहि सिखत सिखावत आपुहि, आपुहि जानत सोई ।
आपुहि बरतं बिदित करावत, आपुहि डारत खोई ॥२॥

आपुहि मूरुष आपुहि ज्ञानी, सब महं रह्यो समोई ।
आपुहि जोति अहै निर्बानी, आपु करावत वोई ॥३॥
संत सिखाइ के ध्यान बतायो, न्यारा कबहुं न होई ।
जगजीवन बिस्वास बास करि, निर्खत निर्मल सोई ॥४॥

बरतं = वृत्तांत । निर्खत = निरखता है ।

विचित्र संसार (१५)

ऐ सखि अब मैं काह करौं ।
भूलि परिउं मैं आइके नगरी, केहि बिधि धीर धरौं ॥१॥
अंत नहीं यहि नगरक पावौं, केतो बिचार करौं ।
चहत जो अहौं मिलौं मैं पियकहं, भ्रम की गैल परौं ॥२॥

हित मोर पांच होत अनहितई, बहुतक खेंच करौं ।
केतो प्रबोधि के बोध करौं मैं, ई कहै धरौं धरौं ॥३॥
तीस पचीस सहेली मिलि संग, ई गहै कैसे बरौं ।
पांय पकरि कै बिनती करौं मैं, लै चलु गगन परौं ॥४॥
निरत निरखि छवि मोहि कहो अब, गहि रहुं नांहि टरौं ।
जगजीवन सत दरस करौं सखि, काहेक भटक फिरौं ॥५॥

वियोग (१६)

यहि नगरी महं परिउं भुलाई ।
का तकसीर भई धौं मोहितें, डारे मोर पिय सुधि बिसराई ॥१॥
अब तो चेत भयो मोहि सजनी, ढुंढत फिरहुं मैं गइउं हिराई ।
भसम लाय मैं भइउं जोगिनियां, अब उन बिनु मोहि कछु न सुहाई ॥२॥

पांच पचीस की कानि मोहि है, तातें रहौं मैं लाज लजाई ।
सुरति सयानप अहै इहै मत, सब इक बसि करि मिलि रहु जाई ॥३॥
निरति रूप निरखि कै आवहु, हम तुम तहां रहहिं ठहराई ।
जगजीवन सखि गगन मंदिर महं, सत की सेज सूति सुख पाई ॥४॥

तकसीर=भूल, अपराध । पांच=पंचतत्त्व, पचीस प्रकृतियां । कानि=मर्यादा का ख्याल ।

एकाग्रता (१७)

गगरिया मोरी चितसों उतरि न जाय ॥टेक॥
इक कर करवा एक कर उबहनि, बतिया कहीं अरथाय ।
सास ननद घर दारुन अाहैं, तासों जियरा डेराय ॥१॥
जो चित छूटै गागरि फूटै, घर मोरि सास रिसाय ।
जगजीवन अस भक्ती मारग, कहत कहौं गोहराय ॥२॥

करवा=डोल । उबहनि=डोरी । अरथाय=बातें गढ़-गढ़ के, पूरी-पूरी व्याख्या करता हुआ ।

आत्म-निवेदन (१८)

सांई मोहि सब कहत अनारी ।
हम कहं कहत अजान अहैं येइ, चतुर सबै संसारी ॥१॥
अहै अभेद भेद नहिं जानत, सिखि पढ़ि कहत पुकारी ।
देखि करत सो आवत नाहीं, डारिन भजन बिगारी ॥२॥
कहा कहौं मन समुझि रहत हौं, देख्यौं दृष्टि पसारी ।
समुझाये कोउ मानत नांही, कपट बहुत अधिकारी ॥३॥
बिरले कोइ जन करत बंदगी, मैं तै डारत मारी ।
जगजीवन गुरु चरन सीस दै, निरखत रूप निहारी ॥४॥

अनारी=मूर्ख । अधिकारी=अधिक । निहारी=ध्यानपूर्वक ।

साखी

सत्तनाम जपि जीयरा, और वृथा करि जान ।
माया तकि नहिं भूलसी, समुझि पाछिला ज्ञान ॥१॥
काया नगर सोहावन, सुख तबहीं पै होय ।
रमत रहै तेहि भीतरे, दुख नहिं व्यापै कोय ॥२॥
जिन केहु सुरति संभारिया, अजपा जपि भे संत ।
न्यारे भवजल सबहिं तें, सत्त सुकृति तें तंत ॥३॥
सत समरथ तें राखि मन, करिय जगत को काम ।
जगजीवन यह मंत्र है, सदा सु:ख बिसराम ॥४॥

जीयरा=जीव वा मन । तंत=बराबर जैसे गुरुता आदि में, समान । सु:ख-बिसराम=सुख में शांतिमय जीवन व्यतीत करना ।

संत दीन दरवेश

दीन दरवेश पाटन वा पालनपुर राज्य के किसी गांव के रहने वाले एक साधारण लोहार थे। 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' की सेना में क्रमशः मिस्त्री का काम करने लग गए थे, जहां से संयोगवश गोला लगने से बाँह कट जाने के कारण नौकरी से निकाल दिये गए थे। एक बाँह के दीन दरवेश फिर घर छोड़कर साधुओं में भ्रमण करने लगे। अन्त में, उन्होंने किसी बाबा बालानाथ से दीक्षा ग्रहण कर ली। उन्होंने कई हिन्दू तीर्थों में भी भ्रमण किया था और सूफियों तथा वेदांतियों के साथ सत्संग किया था। परन्तु अपने नाथ-पंथी गुरु के आदेशानुसार उन्होंने अपने सिद्धान्त स्वतंत्र रूप से ही स्थिर किये और अन्त तक उन्हीं का प्रचार करते रहे। उनका समय विक्रम की अठारहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं से प्रथम चरण तक समझा जाता है। प्रसिद्ध है कि वे अन्त में काशी में मरे थे।

दीन दरवेश की कुण्डलियां प्रसिद्ध हैं जिनमें सरल स्वतंत्र जीवन, विश्व-प्रेम, परोपकार, ईश्वर-भक्ति, आदि के भाव पाये जाते हैं। उनकी भाषा पर पंजाबीपन का प्रभाव अधिक पाया जाता है और उनकी वर्णन-शैली सच्ची अनुभूति पर आश्रित जान पड़ती है।

कुंडलिया

हिंदू कहें सो हम बड़े, मुसलमान कहें हम्म।
एक मूंग दो फाड़ हैं, कुण ज्यादा कुण कम्म।
कुण ज्यादा कुण कम्म, कभी करना नहिं कजिया॥
एक भगत हो राम, दूजा रहिमान सो रजिया।
कहै दीन दरवेश, दोय सरिता मिलि सिन्धू।
सब का साहब एक, एक मुसलिम एक हिन्दू॥१॥

बंदा बाजी झूठ है, मत सांची करमान।
कहां बीरबल गंग है, कहां अकब्बर खान॥
कहाँ अकब्बर खान, भले की रहे भलाई।
फतेह सिंह महाराज, देख उठ चल गए भाई॥
कहा दीन दरवेश, सकल माया का धंधा।
मत सांची कर मान, झूठ है बाजी बंदा॥२॥

कजिया=लड़ाई, झगड़ा। कुण=कौन। रजिया=राजी। सिन्धू = सिंधु, समुद्र, अंतिम लक्ष्य। बाजी=दुनिया का खेल, प्रपंच का पसारा। उठ.. गए= मर गये।

बाबा किनाराम

बाबा किनाराम बनारस जिले की चंदौली तहसील के रामगढ़ गांव निवासी अकबर सिंह क्षत्रिय के घर में उत्पन्न हुए थे। बचपन से ही ये एकांतप्रेमी, विरक्त एवं श्रद्धालु व्यक्ति थे। इनका विवाह केवल १२ वर्ष की अवस्था में ही हो गया था, किन्तु

ये गौना कराने नहीं जा सके और इनके हृदय में आध्यात्मिक ज्ञान के प्रति आकर्षण इतना प्रबल हो उठा कि ये घर से किसी गुरु की खोज में निकल भागे। ये पहले बलिया जिले के कारों गाँव निवासी बाबा शिवाराम के शिष्य हुए, किंतु वहाँ अधिक दिनों तक नहीं ठहर सके। ये फिर घर आकर दूसरी बार देश-भ्रमण के लिए निकले। इस प्रकार, अंत में एक बार घूमते-फिरते जूनागढ़ में बंदी भी बनाये गये। परन्तु अबकी बार इन्हें सत्संगत से पूरा लाभ हो चुका था और उन्होंने अध्यात्म-चिंतन भी बहुत कुछ कर लिया था। अतएव कारा-मुक्त हो जाने पर जब ये गिरनार पर्वत पर किसी महात्मा के संपर्क में आये तो इनके जीवन में कायापलट हो गया और इन्हें शांति मिल गई। फिर तो ये उधर से लौटकर काशी आ गए और वहाँ पर केदारघाट के निकट रहने वाले महात्मा कालूराम अघोरी से दीक्षित हो गये। यह घटना सं० १७५४ में हुई थी और तब से ये अधिकतर काशी तथा उसके आस पास ही रहते रहे। इन्होने अपने प्रथम गुरु बाबा शिवाराम की स्मृति में चार मठ भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्थापित किये और उसी प्रकार बाबा कालूराम की भी स्मृति में अन्य चार मठ बनवाये। इनका प्रधान मठ काशी के क्रींकुंड (कृमिकुंड) पर है, जहाँ पर सं० १८२६ में इनका देहांत हुआ था। वहाँ इनकी तथा अन्य लोगों की समाधियाँ हैं।

इनकी प्रधान रचना 'विवेकसार' है जिसे इन्होंने सं० १८१२ में लिखा था। इनकी अन्य छोटी-छोटी पुस्तकें 'रामगीता,' 'गीतावली', 'रामरसाल' आदि हैं जो सभी प्रकाशित हो चुकी हैं और जिनके द्वारा इनके 'अवधूत मत' पर बहुत-कुछ प्रकाश पड़ता है। इनके 'विवेकसार' से पता चलता है कि इनके मत एवं संतमत में प्रायः कुछ भी अंतर नहीं है। सिद्धांत एवं साधना दोनों ही दृष्टियों से विचार करने पर ये भी कबीर साहब द्वारा प्रचलित किये गये विचारों के ही समर्थक जान पड़ते हैं। इनकी प्रधान रचनाओं की शब्दावली तक में संतमत की छाप स्पष्ट लक्षित होती है। इनके दोहों एवं पदों की भाषा बहुत सरल, सीधी-सादी और स्पष्ट है। इनके कथन में वह शक्ति पायी जाती है जो बिना निजी अनुभव के कभी उत्पन्न नहीं हो सकती। बिहार का सरभंग सम्प्रदाय इन्हीं की प्रेरणा का फल बतलाया जाता है।

पद

प्रेम-मार्ग (१)

प्रेमदा पैड़ो सब दा न्यारो ।।टेक।।
मगन मस्त खुश होले प्यारे, नाक धनीदा प्यारो।
जीवन मरन काम कामादिक, मनतें सबै बिसारो ।।१।।
बेद कितेब करनि लज्जा को, चिंता चपल नेवारो।
नेम अचार येकई राखै, संगत राखै सचारो ।।२।।
अभै असोच सोच ना आनै, कोउ जन जानि निहारो।
रहत अजानि जानि के बूड़त, सूझत नहिं उजियारो ।।३।।
उतरत चढ़त रहत निसिबासर, अनुभव याहि बिचारो।
राम किना यह गैल अटपटी, गुरु गम को पतियारो ।।४।।

पैड़ो = मार्ग। दा = का। सचारो = सत्य की वा सच्चे पुरुष की।

विडंबना (२)

संतो भाई भूल्यो कि जग बौरानो, यह कैसे करि कहिये ।
याही बड़ो अचंभो लागत, समुझि समुझि उर रहिये ॥१॥
कथै ज्ञान असनान जग्य व्रत, उरमें कपट समानी ।
प्रगट छांड़ि करि दूर बतावत, सो कैसे पहचानी ॥२॥

हाड़ चाम अरु मांस रक्त मल, मज्जा को अभिमानी ।
ताहि खाय पंडित कहलावत, वह कैसे हम मानी ॥३॥
पढ़े पुराण कोरान वेद मत, जीव दया नहि जानी ।
जीवनि भिन्न भाव करि मारत, पूजत भूत भवानी ॥४॥

वह अदृष्ट सूझै नहि तनिकौ, मनमें रहै रिसानी ।
अंधहि अंधा डगर बतावत, बहिरहि बहिरा बानी ।
राम किना सतगुरु सेवा बिनु, भूलि मर्यो अज्ञानी ॥५॥

अदृष्ट परमतत्त्व जो अगोचर है ।

रेखता

शब्द का रूप सांचो जगत पुरुष है, शब्द का भेद कोइ संत जानै ।
शब्द अज अमर अद्वितीय व्यापक पुरुष, सतगुरु शब्द सुबिचार आनै ।
चंद में जोति है जोति में चंद है, अरथ अनुभौ करै येक मानै ।
राम किना अगम यह राह बांकी निपट, निकट को छांड़ि कै प्रीति ठानै ॥१॥

साखी

अनुभव सोई जानिये, जो नित रहै बिचार ।
राम किना सत शब्द गहि, उतर जाय भौपार ॥१॥
चाह चमारी चहड़ी, सब नीचन ते नीच ।
तूं तो पूरन ब्रह्म था, चाहन होती बीच ॥२॥

चाह = वासना । चहड़ी = डोमिन । चाह...बीच = यदि वासना आकर तुम्हें अज्ञान में डाल कर बाधा न उपस्थित कर देती ।

संत दूलनदास

जगजीवन साहब के कई शिष्यों में चार प्रधान थे जिन्हें 'चारपावा' कहा जाता है । उन चारों में भी सर्वप्रसिद्ध दूलनदास हैं । दूलनदास का जन्म समेसी गाँव (जि० लखनऊ) के किसी सोमवंशी क्षत्रिय-कुल में सं० १७१७ के अन्तर्गत हुआ था । इनके पिता प्रतिष्ठित जमींदार थे । ये भी अपनी जमींदारी का प्रबन्ध अपने जीवन के अंतिम समय तक करते रहे । इन्होंने सरदहा में जाकर जगजीवन साहब से दीक्षा ग्रहण की थी और बहुत समय तक उनके साथ सत्संग करते हुए ये कोटवा में भी रहे थे । अपने जीवन के अंतिम दिनों में ये रायबरेली जिले के धर्मे नामक गाँव को बसाकर वहीं स्वयं भी रहते थे । वहाँ पर ये जमींदार की वेश-भूषा का परित्याग कर साधारण

वा सादे ढंग से रहा करते थे और सदाव्रत भी चलाते थे। इनका आध्यात्मिक जीवन साधना, सत्संग एवं हरिभजन के रूप में निरंतर व्यतीत होता रहा। सं० १८३५ में इनका देहांत हो गया।

संत दूलनदास, अपने गुरु जगजीवन साहब की ही भाँति, सत्तनामी संप्रदाय के थे जिनकी गणना संत-परंपरा में की जाती है। किन्तु इनकी रचनाओं को देखने से जान पड़ता है कि इन पर सगुणोपासना का प्रभाव उनसे कहीं अधिक था। इनके 'दसरथनन्द' वा 'श्री रघुवीर' तथा 'रामदूत हनुमान' ठीक वे ही इष्टदेव जान पड़ते हैं जो सगुण राम-भक्तों के थे। इनकी भक्ति का स्वरूप भी, कई दृष्टियों से लगभग वैसा ही है जैसा उन लोगों का 'भावना के अनुसार' समझा जा सकता है। फिर भी दूलनदास की बानियों में अधिकतर 'सत्तनाम' की ही 'दुहाई' दीख पड़ती है और यही इनकी विशेषता भी है। दूलनदास की लगभग एक दर्जन रचनाओं के नाम सुनने में आते हैं, किन्तु वे सभी अप्रकाशित हैं। इनकी चुनी हुई बानियों का एक संग्रह 'बेल-वेडियर प्रेस' द्वारा प्रकाशित किया गया है जिसे छोटा ही कहना उचित होगा। इनके पद जगजीवन साहब के पदों से अधिक सरस प्रतीत होते हैं और उनकी भाषा भी अधिक स्पष्ट एवं प्रौढ़ है। जान पड़ता है कि पद-रचना का अभ्यास इन्हें अच्छा हो चुका था। उनमें फारसी शब्दों एवं मुहावरों के भी उदाहरण पाये जाते हैं।

पद

नाम-स्मरण (१)

कोइ बिरला यहि बिधि नाम कहै ।।टेक।।
मंत्र अमोल नाम दुइ अच्छर, बिनु रसना रट लागि रहै ।।१।।
होंठ न डोलै जीभ न बोलै, सूरत धरति दिढाइ गहै ।।२।।
दिन औ राति रहै सुधि लागी, यह माला यह सुमिरन है ।।३।।
जन दूलन सत गुरु न बतायो, ताकी नाव पार निबहै ।।४।।

नाम की प्रीति (२)

मन वहि नामकी धुनि लाउ।
रटु निरंतर नाम केवल, अवसर सब बिसराउ ।।१।।
साधि सूरत आपनी, करि सुवा सिखर चढ़ाउ।
पोषि प्रेम प्रतीत तें, कहि राम नाम पढ़ाउ ।।२।।
नामही अनुरागु निसु दिन, नामके गुन गाउ।
बनी तौ का अबहिं आगे, और बनी बनाउ ।।३।।
जगजीवन सत गुरु बचन साचे, साच मनमें लाउ।
करु बास दूलनदास सतमां, फिरि न यहि जग आउ ।।४।।

सुवा=तोता, मन वा कुंडलिनी। सिखर=पहाड़ की चोटी, परमात्मा वा परमपद।

भेदज्ञान (३)

देख आयों मैं तो सांई की सेजरिया।
सांई की सेजरिया सतगुरु की डगरिया ।।१।।

सबदहिं ताला सबदहिं कुंजी, सबद की लगी है जंजिरिया ॥२॥
सबद ओढ़ना सबद बिछौना, सबद की चटक चुनरिया ॥३॥
सबद सरूपी स्वामी आप बिराजें, सीस चरन में धरिया ॥४॥
दूलनदास भजु सांई जगजीवन, अगिन से अहंग उजरिया ॥५॥

अगिन से...उजरिया = ब्रह्मज्ञान द्वारा अहंभाव को नष्ट कर दिया।

भक्ति की साधना (४)

जो कोइ भक्ति किया चहे भाई ॥टेक॥
करि बैराग भसम करि गोला, सो तन मनहिं चढ़ाई ॥१॥
ओढ़ के बैठ अधिनता चादर, तज अभिमान बड़ाई ॥२॥
प्रेम प्रतीति धरै इक तागा, सो रहै सुरत लगाई ॥३॥
गगन मंडल बिच अभरन झलकत, क्यों न सुरत मन लाई ॥४॥
सेस सहस मुख निसु दिन बरनत, बेद कोटि गुन गाई ॥५॥
सिव सनकादि आदि ब्रह्मादिक, ढूंढत थाह न पाई ॥६॥
नानक नाम कबीर मता है, सो मोहि प्रकट जनाई ॥७॥
ध्रुव प्रहलाद यही रस मातें, सिव रहै ताड़ी लाई ॥८॥
गुरु की सेवा साध की संगत, निसुदिन बढ़त सवाई ॥९॥
दूलनदास नाम भज बंदे, ठाढ़ काल पछिताई ॥१०॥

अभरन = आभरण, ज्योति। ताड़ी लाई = तारी लगाये समाधि में लीन रहते हैं।

विरहानुभूति (५)

सांई तेरे कारन नैना भये बिरागी।
तेरा सत दरसन चहौं, कछु और न मांगी ॥१॥
निसु बासर तेरे नामकी, अंतर धुनि जागी।
फेरत हौं माला मनौं, अंसुवनि झरि लागी ॥२॥
पलक तजी इत उक्ततें, मन माया त्यागी।
दृष्टि सदा सत सनमुखी, दरसन अनुरागी ॥३॥
मतमाते राते मनौं, दाधे बिरहागी।
मिलु प्रभु दूलन दास के, करु परम सुभागी ॥४॥

फेरत हौं...लागी = अश्रुबिन्दुओं की झड़ी द्वारा मानो मैं सदा जप की माला फेरता रहता हूँ।

कठिनाई (६)

सांई भजन ना करि जाइ।
पांच तसकर संग लागे, मोहि हटकत धाइ ॥१॥
चहत मन सतसंग करनो, अधर बैठि न पाइ।
चढ़त उतरत रहत छिन छिन, नांहि तहं ठहराइ ॥२॥
कठिन फांसी अहै जगकी, लियो सबहिं बझाइ।
पास मन मनि नैन निकटहिं, उत्य गयो भलाइ ॥३॥

जगजीवन सतगुरु करहू दाया, चरन मन लपटाइ ।
दास दूलन बास सतमां, सुरत नहिं अलगाइ ।।४।।
हटकत=रोकते रहते हैं । अधर=गगन मंडल में, परमपद में ।

माया-प्रभाव (७)

राम तोरी माया नाचु नचावै ।
निसु बासर मेरो मनुवां व्याकुल, सुमिरन सुधि नहिं आवै ।।१।।
जोरत तूरै नेह सूत मेरो, निरवारत अरुझावै ।
केहि बिधि भजन करौं मोरे साहिब, बरबस मोहिं सतावै ।।२।।
सत सनमुख थिर रहे न पावै, इत-उत चितहिं डुलावै ।
आरत पंवरि पुकारौं साहिब, जन फिरि यादहिं पावै ।।३।।
थाकेउ जन्म जन्म के नाचत, अब मोहिं नाच न भावै ।
दूलनदास के गुरु दयाल तुम, किरपहिं ते बनि आवै ।।४।।

तूरै=तोड़ देता है । नेह सूत=प्रेम के धागे को । निरवारत=सुलझाते समय । पंवरि=पौर, द्वार पर ।

साखी

पति सनमुख सो पतिव्रता, रन सनमुख सो सूर ।
दूलन सत सनमुख सदा, गुरुमुख गनी सो पूर ।।१।।
छठवां माया चक्र सोइ, अरुझनि गगन दुवार
दूलन बिन सतगुरु मिले, बेधि जायको पार ।।२।।
स्वास पलक मा जातु है, पलकहि मां फिरि आउ ।
दूलन ऐसी स्वास से, सुमिरि सुमिरि रट लाउ ।।३।।
पैठेउ मन होइ मरजिया, ढूंढेउं दिल दरियाउ ।
दूलन नाम रतन्नकां, भागन कोउ जन पाउ ।।४।।
चितवन नीची ऊंच मन, नामहिं जिकिर लगाय ।
दूलन सूझै परमपद, अंधकार मिटि जाय ।।५।।
विपति सनेही मीत सो, नीति सनेही राउ ।
दूलन नाम सनेह दृढ़, सोई भक्त कहाउ ।।६।।
राम नाम दुइ अच्छरै, रटै निरंतर कोय ।
दूलन दीपक बरि उठै, मन परतीत जो होइ ।।७।।
दूलन एक गरीब के, हरि से हितू न और ।
ज्यों जहाज के कागको, सूझै और न ठौर ।।८।।
दूलन कृपाते पाइये, भक्ति न हांसी ख्याल ।
काहू पाई सहज हीं, कोउ ढूंढ़त फिरत बिहाल ।।९।।
दूलन बिरवा प्रेम को, जामेउ जेहिं घट मांहि ।
पांच पचीसों थकित भे, तेहि तरवर की छांहि ।।१०।।
सती अगिन की आंच सहि, लोह आंच सहि सूर ।
दूलन सत आंचहि सहै, राम भक्त सो पूर ।।११।।

बेद पुरान कहां कहेउ, कहा किताब कुरान ।
पंडित काजी सत्त कहू, दूलन मन परवान ॥१२॥

कतहुँ प्रगट नैनन निकट, कतहूँ दूरि छिपानि ।
दूलन दीन दयाल ज्यों, मालव मारू पानि ॥१३॥
दूलन यह मत गुप्त है, प्रगट न करो बखान ।
ऐसे राख छिपाइ मन, जस बिधवा औधान ॥१४॥

छठवां = छठी ज्ञानेन्द्रिय-मन । मरजिया - मरजीवे जो मोती के लिए समुद्र में डुबकियाँ लगाते हैं । जिकिर = जप, स्मरण । मालव...पानि = मालवप्रदेश एवं मरुप्रदेश के जल की भाँति, मालवे में जहाँ पानी की अधिकता है कहीं न कहीं वह दीख जाता है, किंतु मरुभूमि में जहाँ इसकी नितांत कमी है, कठिनाई से उपलब्ध हो पाता है । इसी प्रकार परमात्मा की अनुभूति भी कभी कभी तो सहज ही होती जान पड़ती है और कभी-कभी असंभव भी समझ पड़ने लगती है ।

संत दरिया साहब (मारवाड़ वाले)

मारवाड़ प्रदेश के जैतारन गाँव में उत्पन्न होने वाले दरिया साहब जाति के धुनियाँ थे और उनका जन्म सं० १७३३ में हुआ था । उनके समसामयिक एक अन्य दरिया भी थे जो अधिकतर दरियादास बिहार वाले नाम से प्रसिद्ध हैं । अपने पिता का देहांत हो जाने के कारण ये परगना मेड़ता के रैनगाँव में अपने नाना के यहाँ रहने लगे थे । कहा जाता है कि उन्होंने सं० १७६९ में बीकानेर प्रान्त के खियानसर गाँव के रहने वाले किसी प्रेमजी से दीक्षा ग्रहण की थी । उनके एक शिष्य ने मारवाड़ प्रान्त के शासक महाराज बखत सिंह के किसी असाध्य रोग को उसके कहने से दूर कर दिया । उस समय से उनकी ख्याति इतनी बढ़ी कि दूर-दूर से आकर अनेक स्त्री-पुरुष उनके सत्संग से लाभ उठाने लगे । वे सदा अपने नवीन गाँव रैन में ही रहते रहे और वहीं पर उन्होंने अपना चोला सं० १८१५ में छोड़ा ।

इन दरिया साहब की अधिक रचनाओं का कुछ पता नहीं चलता । इनके अनुयायियों की संख्या भी बड़ी नहीं है । इनके अनुयायी इन्हें प्रसिद्ध संत दादू दयाल का अवतार मानते हैं और इसके लिए कुछ पंक्तियाँ भी उद्धृत करते हैं । परन्तु इनकी उपलब्ध रचनाओं पर कबीर साहब का प्रभाव बहुत स्पष्ट दीख पड़ता है । इनकी बाणी की संख्या १०००० कही जाती है । इनकी रचनाओं का जो एक छोटा-सा संग्रह 'बेलवेडियर प्रेस' से निकला है, उससे इनकी विशेषताओं का कुछ आभास मिलता है । इनके पदों एवं साखियों के अंतर्गत इनके साधना-सम्बन्धी गहरे अनुभव के अनेक उदाहरण मिलते हैं । इनका हृदय बहुत ही कोमल और स्फटिकवत् स्वच्छ जान पड़ता है और इनकी रचनाएँ भी प्रसादपूर्ण हैं । इनकी भाषा पर अपने प्रान्त की बोलियों का प्रभाव उतना नहीं दीख पड़ता जितना अनुमान किया जा सकता है । इनके हृदय की उदारता का एक उदाहरण इस बात में भी मिल सकता है कि स्त्रियों की इन्होंने महत्ता ही बतलायी है ।

इन दरिया साहब का पूर्वनाम कुछ लोगों ने दरियावजी माना है तथा इन्हें धुनियाँ न मानकर मानजी पिता एवं मीगां बाई माता का पुत्र बतलाया है । इन्हें वे

लोग 'रामसनेही पंथ' का एक प्रवर्त्तक भी कहते हैं, किन्तु इन बातों के लिये यथेष्ट पुष्ट प्रमाणों की कमी है।

पद

परमात्मा (१)

आदि अनादि मेरा सांई ।।टेक।।
दृष्ट न गुष्ट है अगम अगोचर, यह सब माया उनकी माई ।।१।।
जो बनमाली सीचे मूल, सहजै पिवै डाल फल फूल ।।२।।
जो नरपति को गिरह बुलावै, सेना सकल सहज ही आवै ।।३।।
जो कोई कर भान प्रकासै, तो निसतारा सहजहि नासै ।।४।।
गरुड़ पंख जो घर में लावै, सर्प जाति रहने नहिं पावै ।।५।।
दरिया सुमिरै एकहि राम, एक राम सारै सब काम ।।६।।

दृष्ट...है=न दीख सकता है, न पकड़ा जा सकता है। सेना=परिचारक। कर=किरण।

वही (२)

आदि अंत मेरा है राम। उस बिन और सकल बेकाम ।।१।।
कहा करूं तेरा बेद पुराना। जिन हैं सकल जगत भरमाना ।।२।।
कहा करूं तेरी अनुभै बानी। जिनमें तेरी सुद्धि भुलानी ।।३।।
कहा करूं ये मान बड़ाई। राम बिना सबही दुखदाई ।।४।।
कहा करूं तेरा साख व जोग। राम बिना सब बंधन रोग ।।५।।
कहा करूं इंद्रिन का सुक्ख। राम बिना देवा सब दुक्ख ।।६।।
दरिया कहै राम गुरु मुखिया। हरि बिनु दुखी राम संग सुखिया ।।७।।

देवा=देगा।

उपदेश (३)

राम बिन भाव करम नहिं छूटै ।।टेक।।
साध संग औ राम भजन बिन, काल निरंतर लूटै ।।१।।
मल सेती जो मलको धोवै, सो मल कैसे छूटै ।।२।।
प्रेम का साबुन नाम का पानी, दोय मिल तांता टूटै ।।३।।
भेद अभेद भरम का भांडा, चौड़े पड़ पड़ फूटै ।।४।।
गुरु मुख सब्द गहै उर अंतर, सकल भरम से छूटै ।।५।।
राम का ध्यान तू धर रे प्रानी, अमृत का मेंह बूटै ।।६।।
जन दरियाव अरप दे आपा, जरामरन तब टूटै ।।७।।

भाव करम=कर्मों का प्रभाव। सेती=से। तांता=आवागमन का सिलसिला। चौड़े=चौराहे पर, प्रत्यक्ष। बूटै=बरसे, वृष्टि होने लगे।

परमात्मा-प्रेम (४)

है कोइ संत राम अनुरागी, जाकी सुरति साहब से लागी ॥टेक॥
अरस परस पिवके संग राती, होय रही पतिबरता ।
दुनिया भाव कछू नहिं समझै, ज्यों समुंद्र समानी सरिता ॥१॥
मीन जायकर समुंद समानी, जहं देखै जहं पानी ।
काल कीर का जाल न पहुंचै, निर्भय ठौर लुभानी ॥२॥
बावन चंदन भौंरा पहुँचा, जहं बैठ तहं गंधा ।
उड़ना छोड़के थिर हो बैठा, निसदिन करत अनंदा ॥३॥
जन दरिया इक राम भजन कर, भरन बासना खोई ।
पारस परस भया लोह कंचन, बहुर न लोहा होई ॥४॥

कीर = मछुहा । बावन = उत्कृष्ट जाति का ।

स्वानुभूति (५)

अमृत नीक कहै सब कोई, पीये बिना अमर नहिं होई ॥१॥
कोई कहै अमृत बसै पताल, तर्क अंत नित ग्रासै काल ॥२॥
कोइ कहै अमृत समुंदर माहिं, बड़वाअगिन क्यों सोखत ताहिं ॥३॥
कोइ कहै अमृत ससि में बास, घटै बढ़ै क्यों होइहै नास ॥४॥
कोइ कहै अमृत सुरगां मांहि, देव पिवैं क्यों खिरखिर जाहिं ॥५॥
सब अमृत बातों का बात, अमृत है संतन के साथ ॥६॥
दरिया अमृत नाम अनंत, जाको पी-पी अमर भये संत ॥७॥

सुरगां = स्वर्ग ।

संसार (६)

संतो कहा गृहस्त कहा त्यागी ।
जहि देखूं तेहि बाहर भीतर, घट घट माया लागी ॥टेक॥
माटी की भीत पवन का थंबा, सुन औगुन में छाया ।
पांचतत्त आकार मिलाकर, सहजां गिरह बनाया ॥१॥
मन भयो पिता मनसा भइ माई, दुख सुख दोनों भाई ।
आसा तृस्ना बहिनें मिल कर, गृह की सौंज बनाई ॥२॥
मोह भयो पुरुष कुबुधि भइ घरनी, पांचों लड़का जाया ।
प्रकृति अनंत कुटुंबी मिल कर, कलहल बहुत उपाया ॥३॥
लड़कों के संग लड़की जाई, ताका नाम अधीरी ।
बनमें बैठी घर घर डोलै, स्वारथ संग खपीरी ॥४॥
पाप पुन्न दोउ पाड़ पड़ोसी, अनंत बासना नाती ।
राग द्वेष का बंधन लागा, गिरह बना उतपाती ॥५॥
कोइ गृह मांड गिरह में बैठा, बैरागी बनवासा ।
जन दरिया इक राम भजन बिन, घट घट में घर नासा ॥६॥

गिरह = गृह, घर । सौंज = सामान, सामग्री । कलहल = कलह । मांड = बनाकर, सुसज्जित करके ।

आत्मोपलब्धि

(७)

दरिया दरबारा खुल गया अजर किनारा ॥टेक॥
चमकी बीज चली ज्यों धारा, ज्यों बिजली बिच तारा ॥१॥
खुल गया चन्द बन्द बदरी का, घोर मिला अंधियारा ॥२॥
लौ लगी जाय लगन के लारा, चांदनी चौक निहारा ॥३॥
सूरत सैल करै नभ ऊपर, बंकनाल पट फारा ॥४॥
चढ़ गई चांप चली ज्यों धारा, ज्यों मकड़ी मकतारा ॥५॥
मैं मिली जाय पाय पिउ प्यारा, ज्यों सलिता जलधारा ॥६॥
देखा रूप अरूप अलेखा, ताका वार न पारा ॥७॥
दरिया दिल दरवेस भये तब, उतरे भौजल पारा ॥८॥

खुल...का=बादलों से आवृत चंद बाहर निकल आया। मकतारा=मकड़ी के जाले का तार।

साखी

सकल ग्रंथ का अर्थ है, सकल बात की बात।
दरिया सुमिरन रामका, कर लीजै दिन रात ॥१॥
दरिया हरि किरपा करी, बिरहा दिया पठाय।
यह बिरहा मेरे साथ को, सोता लिया जगाय ॥२॥
दरिया बान गुरुदेव का, बेधै भरम बिकार।
बाहर घाव दिखै नहीं, भीतर भया सिमार ॥३॥
दरिया सतगुरु सब्दसौं, मिट गइ खैंचा तान।
भरम अंधेरा मिट गया, परसा पद निरबान ॥४॥
पान बेल से बीछुड़ै, परदेसां रस देत।
जन दरिया हरिया रहै, (उस) हरी बेल के हेत ॥५॥
अलल बसै आकास में, नीची सुरत निवास।
ऐसे साधू जगत में, सुरत सिखर पिउ पास ॥६॥
दरिया नाम है निरमला, पूरन ब्रह्म अगाध।
कहे सुने सुख ना लहै, सुमिरे पावै स्वाद ॥७॥
दरिया सूरज ऊगिया, चहुँ दिसि भया उजास।
नाम प्रकासै देह में तो सकल भरम का नास ॥८॥
दरिया सो सूरा नहीं, जिन देह करी चकचूर।
मन को जीत खड़ा रहै, मैं बलिहारी सूर ॥९॥
अमी झरत बिगसत कमल, उपजत अनुभव ज्ञान।
जन दरिया उस देसका, भिन भिन करत बखान ॥१०॥
त्रिकुटी माहीं सुख घना, नाहीं दुखका लेस।
जन दरिया सुख-दुख नहीं, वह कोइ अनुभवि देस ॥११॥
मन बुध चित हंकार की, है त्रिकुटी लग दौड़।
जन दरिया इनके परे, ब्रह्म सुरत की ठौर ॥१२॥

मन बुध चित हंकार यह, रहैं अपनी हद मांहि ।
आगे पूरन ब्रह्म है, सो इनकी गम नांहि ॥१३॥
दरिया सुरति सिरोमनी, मिली ब्रह्म सरोवर जाय ।
जहं तीनों पहुँचै नहीं, मनसा बाचा काय ॥१४॥

तज बिकार आकार तज, निराकर को ध्याय ।
निराकार में पैठ कर, निराधार लौ लाय ॥१५॥
प्रथम ध्यान अनुभौ करै, जासें उपजै ज्ञान ।
दरिया बहुते करत हैं, कथनी में गुजरान ॥१६॥

जात हमारी ब्रह्म है, मात पिता है राम ।
गिरह हमारा सुन्न में, अनहद में बिसराम ॥१७॥
दरिया सोता सकल जग, जागत नाहीं कोय ।
जागे में फिर जागना, जागा कहिये सोय ॥१८॥

दरिया लच्छन साध का, क्या गिरही क्या भेख ।
निःकपटी निरसंक रहि, बाहर भीतर एक ॥१९॥
मतवादी जानै नहीं, ततवादी की बात ।
सूरज ऊगा उल्लुवा, गिनै अंधेरी रात ॥२०॥

पारस परसा जानिये, जो पलटै अंग अंग ।
अंग अंग पलटै नहीं, तौं है झूठा संग ॥२१॥
साध स्वांग अस आंतरा जस कामी निःकाम ।
भेष रता ते भीख में, नाम रता ते राम ॥२२॥

सोई कंथ कबीर का, दादू का महराज ।
सब संतन का बालमा, दरिया का सिरताज ॥२३॥
नारी जननी जगत की, पाल पोस दे पोष ।
मूरख राम बिसार कर, ताहि लगावै दोष ॥२४॥

सिमार = मिसमार, चूर-चूर । बुध=बुद्धि । मतवादी=सांप्रदायिक विचारानुसार केवल रूढ़िगत बाहरी बातों पर चलने वाला । ततवादी—परमतत्व का प्रत्यक्ष अनुभव कर चुकने वाला । स्वांग=केवल बाहरी भेष के आधार पर साधु कहलाने वाला ।

संत गरीबदास

गरीब-पंथ के प्रवर्त्तक संत गरीबदास का जन्म रोहतक जिले के छुड़ानी नामक गाँव में, सं० १७७४ की बैशाख सुदि १५ को हुआ था । ये जाति के जाट थे और इनका व्यवसाय जमींदारी का था जिसका इन्होंने कभी परित्याग नहीं किया । इन्होंने आमरण गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत किया और साधु के भेष में भी कभी नहीं रहे । इनके चार लड़के और दो लड़कियाँ थीं । ये अंत तक अपने जन्म-स्थान में ही रहकर सत्संग करते-कराते रहे और सं० १८३५ की भादों सुदि २ को इन्होंने वहीं पर चोला छोड़ा । इनका देहांत हो जाने पर इनके गुरुमुख चेले सलोतजी इनकी गद्दी पर बैठे थे, किंतु आज तक वहाँ सभी वंश-परंपरानुसार ही बैठते है । इनका स्वभाव अत्यंत सीधा-सादा

था और ये क्षमाशील व्यक्ति थे। कहा जाता है कि इन्हें किसी साधु ने, केवल १३ वर्ष की अवस्था में, बहुत प्रभावित कर लिया था और ये तभी से संतमत की ओर आकृष्ट हो गये थे। परंतु एक दूसरा अनुमान इस प्रकार का भी किया जाता है कि सर्वप्रथम, इन्हें स्वयं कबीर साहब ने ही स्वप्न देकर दीक्षित किया था। जो हो, गरीबदास ने स्पष्ट शब्दों में कबीर साहब को अपनी रचनाओं में अनेक स्थलों पर अपना गुरु स्वीकार किया है।

गरीबदास की रचनाओं की संख्या बहुत बड़ी बतलायी जाती है। प्रयाग 'बेलवेडियर प्रेस' द्वारा उनकी चुनी हुई बानियों का एक संग्रह 'गरीबदासजी की बानी' के नाम से प्रकाशित हुआ है जिसमें उनकी साखियों, सवैयों, पदों आदि के उदाहरण हैं। उनकी रचनाओं पर कबीर साहब के सिद्धांतों की छाप स्पष्ट लक्षित होती है और उनकी शैली भी प्रायः उन्हीं की है। उनके परमात्मा 'सत्त पुरुष' हैं जो 'निरगुन' एवं 'सरगुन' दोनों से ही भिन्न और परे की वस्तु है। वह 'पारब्रह्म महबूब' हमारे पिंड में भी वर्तमान है, जिस कारण स्वानुभूति द्वारा उसका परिचय पा लेना नितांत आवश्यक है। इसके लिए उन्होंने सुरत, निरत, मन एवं पवन—इन चारों के समीकरण की साधना भी बतलायी है, किंतु उनके अनुसार इसमें भी सफलता तभी हो सकती है जब हमारे भीतर पूर्ण विश्वास का अस्तित्व हो। साहब का परमात्मा 'परतीत' के सिवाय कुछ नहीं है। संत गरीबदास ने संतों एवं भक्तों के नाम बहुत बार लिये हैं और उनके दृष्टांतों द्वारा अपनी बातें प्रमाणित की हैं। कबीर साहब के प्रति उनकी बड़ी गहरी निष्ठा है और उनमें वे वस्तुतः, 'तेज पुंज' परमात्म तत्त्व के ही दर्शन करते हैं। उनकी भाषा पर पंजाबीपन का प्रभाव है, किंतु वह भी इतना अधिक नहीं है जिससे किसी कठिनाई का अनुभव किया जा सके।

पद

आत्मस्वरूप (१)

सेस सहस मुख गावै साधो, सेस सहस मुख गावै ।।टेक।।
ब्रह्मा बिस्नु महेसर थाके, नारद नाद बजावै ।
सनक सनंदन ध्यान धरत हैं, दृष्ट मुष्ट नहिं आवै ।।१।।

लघु दीरघ कछु कहा न जाई, जो पावै सो पावै ।
जो जूनो कूं कैसे दरसै, गौरज सीस चढ़ावै ।।२।।

ब्रह्म रंध्र का घाट जहां है, उलट खेचरी लावै ।
सहस कमल दल झिलमिल रंगा, चोखा फूल चुवावै ।।३।।

गंगा जमन मद्ध सरसुती, चरन कमल से आवै ।
परबी कोटि परम पद माहीं, सुख के सागर न्हावै ।।४।।

सुरत निरत मन पौन पदारथ, चारो तत्त मिलावै ।
आकासै उड़ चलै बिहंगम, गंगन मंडल कूं धावै ।।५।।

मोर मुकुट पीतांबर राजै, कोटि कला छवि छावै ।
अबरन बरन तासु के नांही, बिचरत है निरदावै ।।६।।

बिनही चरनौं चलै चिदानंद, बिन मुख वैन सुनावै ।
गरीबदास यह अकथ कहानी, ज्यूं गूंगा गुड़ खावै ॥७॥

जो जूनी = जीव योनि । खेचरी = एक प्रकार की मुद्रा । परबी = पर्व । निर-दावै = बिना किसी प्रकार का दावा करता हुआ ।

साधु

(२)

जो सूते सो जना बिगूते, जागे सोई जगे हैं ॥टेक॥
सूरे तेई नगर पहुँचे, कायर उलट भगे हैं ।
नौवें द्वारे दरस दरीबा, दसवें ध्यान लगे हैं ॥१॥

सुन्न सहर में हुई सगाई, हमारे हंस मंगे हैं ।
निरगुन नाम निरालंब चीन्हों, हमरे साध सगे हैं ॥२॥

बिन मुख बानी सतगुरु गावै, नाहीं दस्त पगे हैं ।
दास गरीब अमरपुर डेरे, संत के दाग दगे हैं ॥३॥

बिगूते = असमंजस में पड़ते हैं । दरीबा = हाट, चौमुहानी । मंगे हैं = मंगनी हुई है । पगे = पैर ।

वही

(३)

सोई साध अगाध है, आपा न सरावै ।
पर निंदा नहि संचरै, चुगली नहि खावै ॥१॥

काम क्रोध त्रिस्ना नहीं, आसा नहि राखै ।
सांचे सूं परचा भया, जब कूड़ न भाखै ॥२॥

एकै नजर निरंजना, सब ही घट देखै ।
नीच ऊंच अंतर नहीं, सब एकै पेखै ॥३॥

सोई साध सिरोमनी, जप तप उपकारी ।
भले कूं उपदेस दे, दुर्लभ संसारी ॥४॥

अकल यकीन पढ़ाय दै, भूले कूं चेतै ।
सो साधू संसार में, हम बिरले भेंटे ॥५॥

सूरत खोवै सत कहै, सांचे सूं लावै ।
सो साधू संसार में, हम बिरले पावै ॥६॥

निरख निरख पद धरत हैं, जिव हिंसा नाहीं ।
चौरासी तारन तरन, आये जग माहीं ॥७॥

इस सौदे कूं ऊतरे, सौदागर सोई ।
भरे जहाज उतार दे, भौ सागर लोई ॥८॥

भेष धरे भागे फिरें, बहु साखी सीखें ।
जानै नहीं बिवेक कूं, खर के ज्यूं रीकैं ॥९॥
उनमुन में तारी लगी, जहं अजप अपंता ।

सुन्न महल अस्थान है, जहं इस्थिर डेरा ।
दास गरीब सुमान है, सत साहब मेरा ॥१०॥

सरावैं = सराहता है । कूड़ बुरे वचन, अपशब्द । एकै = एकसमान । अकल ...दै = बुद्धि में विश्वास को आश्रय देवे । सूरत = अशुद्धता की स्थिति । रीकैं = रेंकते वा प्रलाप करते हैं । इस्थिर = स्थिर, निश्चल । सुमान = पवित्र ।

नश्वरता (४)

दमदा नहीं भरोसा साधो, अब तूं कर चलने दा सोच ॥टेक॥
मुए पुरुष संग सती जरत है, परी भरम की भूल ॥१॥
पीठ मनूका दाख लदी है, करहा खात बबूल ॥२॥
मेंड़ी मंदिर बाग बगीची, रहसी डाल न मूल ॥३॥
जिंदा पुरुष अचल अबिनासी, बिना पिंड अस्थूल ॥४॥
नैनों आगे झुकझुक आवैं, रतन अमोली फूल ॥५॥
गरीबदास यह अलल ध्यान है, सुरत हिंडोले झूल ॥६॥

दा = का । मनूका = मुनक्का । दाख = अंगूर । करहा = ऊँट । मेंडी = अटारी । अलल = एकांतनिष्ठ (अलल पच्छी जैसा) ।

रेखता

देवही नहीं तो सेव किसकी करूं,
किसे पूजूं कोई नाहिं दूजा ।
करता ही नहीं तो किरत किसकी करूं,
पिंड ब्रह्मांड में एक सूझा ॥१॥
जागाही नहीं तो जाग किसकूं कहूं,
सोताही नहीं किसकूं जगाऊं ।
खोया ही नहीं तो खोज किसका करूं,
बिछुड़ा ही नहीं किसे ढूंढ़ लाऊं ॥२॥
बोलता संग औ डोलता है नहीं,
कला के कोट (अलख) छिप रहा प्यारा ।
गैब से आया औ गैब छिप जायगा,
गैब ही गैब रचिया पसारा ॥३॥
प्रानकूं सोध कर मूलकूं दर गहो,
वेद के धुंध से अलख न्यारा ।
वेद कुरान कूं छांड़ दे बावरे,
नूर ही नूर कर ले जुहारा ॥४॥
करमना भरमना छांड़ दे बावरे,
छांड़ दे बरत इक बैठ ठाहीं ।
दास गरीब परतीत ही तें कहै,
ब्रह्मांड की जोत इस पिंड मांही ॥५॥

किरत = कीर्तन । धुंध = धुंधलापन, अंधेरा । जुहारा = अभिवादन ।

अरिल्ल

(१)

क्या राजा क्या रेत अतीत अतीम रे ।
जोधा गये अपार न चम्पी सीम रे ॥१॥
यह दुनिया संसार बतासा खांड का ।
जोरा पीवे घोर बिसरजन मांड का ॥२॥
काम क्रोध मद लोभ बटाऊ लूटहीं ।
हिरस खुदी घर माहिं सुबहु बिध कूटहीं ॥३॥
संसा सोग सरीर सुरसरी बहत है ।
नाहीं चौदह भुवन, गमन में रहत है ॥४॥
दुरमत दोजख माहिं बलै बहु भांत है ।
सतगुरु भेंटा होय तो निःचै सांत है ॥५॥
आजिज जीव अनाथ परा है बंद में ।
हरे हां, कहता दास गरीब जगत सब फंद में ॥६॥

(२)

सांवत औ मंडलीक गये बहु सूर रे ।
राजा रंक अपार मिले सब धूर रे ॥१॥
रूई लपेटी आग में अंगीठी आठ रे ।
कोतवाल घट माहिं मारता काठ रे । २॥
नरक बहै नौ द्वार देहरा गंध रे ।
क्या देखा कलि माहिं पड़ा क्यूं फंद रे ॥३॥
हासिल का घर दूर हजूर न चालता ।
हरे हां, कहता दास गरीब हटी में लाल था ॥४॥

रेत = रंयत । अतीम = यतीम, अनाथ । न...रे = उस बेहद को न पा सके । जोरा...मांडका = फिर भी मनुष्य मांड का धोवन मात्र ही पिया करता है । सुरसरी नदी । बलै = जलता है । मारता...रे = काठ के छेद में पैर डाल कर बंदी करना । हासिल = वास्तविक तत्त्व ।

आरती

अदली आरत अदल बखाना ।
कोली बुनै बिहंगम ताना ॥टेक॥
ज्ञान का राछ ध्यान की तुरिया ।
नाम का धागा निःचै जुरिया ॥१॥
प्रेम की पान कमल की खाढ़ी ।
सुरत का सूत बुनै निज गाढ़ी ॥२॥
नूर की नाल फिरै दिन राती ।
जा कोली कूं काल न खाती ॥३॥

कल का खूंटा धरनी गाड़ा।
गहिर गभीना ताना गाड़ा ॥४॥
निरत की नली बुनै जो कोई।
सो तो कोली अबिचल होई ॥५॥
रेंजा राजिक का बुनि दीजै।
ऐसे सतगुरु साहब रीझै ॥६॥
दास गरीब सोई सत कोली।
ताना बुनिहै अरस अमोली ॥७॥

बिहंगम = विहंगम मार्ग। राछ = कपड़ा बुनने की कंघी। तुरिया = कपड़ा लपेटने का बेलन। पान = मांडी। खाढ़ी = गड्ढा जुलाहों का। नाल = ढरकी। रेंजा = कपड़ा। कोली = जुलाहा, यहाँ साधक।

रमैनी

आदि सनातन पंथ हमारा।
जानत नाहीं यह संसारा ॥१॥
पंथों सेंती पंथ अलहदा।
भेखों बीच पड़ा है वहदा ॥२॥
षट दरसन सब खटपट होई।
हमारा पंथ न पावै कोई ॥३॥
हिन्दू तुरक कदर नहिं जाने।
रोजा ग्यारस करै धिक ताने ॥४॥
दोनों दीन यकीन न आसा।
वे पूरब वे पछिम निवासा ॥५॥
दुहूं दीन का छोड़ा लेखा।
उत्तर दक्खिन में हम देखा ॥६॥
गरीब दास हम निःचै जाना।
चारो खूंट दसो दिस ध्याना ॥७॥

वहदा = वाद-विवाद। ग्यारस = एकादशी व्रत। ताने = उन्हें।

साखी

आध घड़ी की अध घड़ी, आध घड़ी की आध।
साधू सेंती गोसटी, जो कीजै सो लाभ ॥१॥
आदि समय चेता नहीं, अंत समय अंधियार।
मद्ध समय माया रते, पाकर लिये गंवार ॥२॥
ऐसा अंजन आंजिये, सूझै त्रिभुवन राय।
कामधेनु अरु कलप बृछ, घटही मांहि लखाय ॥३॥
पंछी उड़े अकास कूं, कितकूं कीन्हा गौन।
यह मन ऐसा जात है, जैसे बुदबुद पौन ॥४॥

ऐसे लाहा लीजिए, संत समागम सेव ।
सतगुरु साहब एक हैं, तीनों अलख अभेव ॥५॥
ऐसा सतगुरु हम मिला, सुरत सिंधु के मांह ।
सब्द सरूपी अंग है, पिंड प्रान नहिं छांह ॥६॥

ऐसा सतगुरु हम मिला, सुरत सिंधु के नाल ।
गमन किया परलोक से, अलल पच्छ की चाल ॥७॥
ऐसा सतगुरु हम मिला, तेज पुंज के अंग ।
झिलमिल नूर जहूर है, रूप रेख नहिं रंग ॥८॥

साहब से सतगुरु भये, सतगुरु से भये साध ।
ये तीनों अंग एक हैं, गति कछु अगम अगाध ॥९॥
सतगुरु पूरन ब्रह्म है, सतगुरु आप अलेख ।
सतगुरु रमता राम है, यामें मीन न मेख ॥१०॥

अलल पंख अनुराग है, सुन्न मंडल रह थीर ।
दास गरीब उधारिया, सतगुरु मिले कबीर ॥११॥
अल्लह अबिगत राम है, बेचगून चित माहिं ।
सब्द अतीत अगाध है, निरगुन सरगुन नाहिं ॥१२॥

साहब साहब क्या करै, साहब है परतीत ।
भैंस सींग साहब भया, पांडे गावैं गीत ॥१३॥
फूल सही सरगुन कहा, निरगुन गंध सुगंध ।
मन माली के बाग में, भंवर रहा कंह बंध ॥१४॥

नाम जपा तो क्या भया, उरमें नहीं यकीन ।
चोर मुसै घर लूटहीं, पांच पचीसों तीन ॥१५॥
सुमिरन तबही जानिये, जब रोम-रोम धुनि होय ।
कुंज कमल में बैठ कर, माला फेरै सोय ॥१६॥

सुरत निरत मन पवन कूं, करो एकत्तर चार ।
द्वादस उलट समोय ले, दिल अंदर दीदार ॥१७॥
चार पदारथ महल में, सुरत निरत मन पौन ।
सिव द्वारा खलिहै जबै, दरसै चौदह भौन ॥१८॥

जित सेंती दम ऊचरै, सुरत तहाईं लाय ।
नाभी कुंडल नाद है, त्रिकुटी कमल समाय ॥१९॥
सनकादिक सेवक करै, सुकदे बोले साख ।
कोटि ग्रंथ का अरथ है, सुरत ठिकाने राख ॥२०॥

जल का महल बनाइया, धन समरथ सांई ।
कारीगर कुरबान जां, कुछ कीमत नांई ॥२१॥
बैराग नाम है त्याग का, पांच पचीसी संग ।
ऊपर की कैंचल तजी, अंतर विषय भुअंग ॥२२॥

नित ही जामै नित मरै, संसय माहिं सरीर ।
जिनका संसा मिट गया, सो पीरन सिर पीर ॥२३॥
लै लागी तब जानिये, हरदम नाम उचार ।
एकै मन एकै दिसा, सांई के दरबार ॥२४॥

ज्ञान बिचार बिबेक बिन, क्यों दम तोरै स्वांस ।
कहा होत हरि नाम सूं, जो दिल न बिस्वास ॥२५॥
ऐसी जरना चाहिए, ज्यों अगिन तत्त में होय ।
जो कछु परै सो सब जरै, बुरा न बांचै कोय ॥२६॥

ऐसी जरना चाहिए, ज्यों चंदन के अंग ।
मुख से कछू न कहत है, तनकूं खात भुअंग ॥२७॥
सांई सरीखे संत है, यामें मीन न मेख ।
परदा अंग अनादि है, बाहर भीतर एक ॥२८॥

सांई सरीखे साध है, इन सम नहिं और ।
संत करै सोइ होत है, साहब अपनी ठौर ॥२९॥
साध समुंदर कमल गति, मांहे सांई गंध ।
जिनमें दूजी भिन्न क्या, सो साधू निरबंध ॥३०॥

साधू...गोसटी=सत्संग । पाकर=एक प्रकार का सन्निपात ज्वर जिसमें वात, कफ एवं पित्त तीनों के बलाबल में उपाधियाँ होती हैं । बुदबुद=बबूला । नाल=निकट । बेचगून=बेचून, अखंड । भैंस...गीत=भैंस के दृढ़ ध्यान में मग्न पांडे के अनुसार । समोयले=लीन कर दे । कारीगर...जां=उस कारीगर को प्राण न्योछावर है । निरबंध=मुक्त ।

संत दरियादास (बिहारवाले)

दरियादास का जन्म बिहार प्रांत के धरकंधा नामक गाँव के मुस्लिम-परिवार में हुआ था जो पहले उज्जैन-वंशी क्षत्रिय रह चुका था । 'दरिया-सागर' के संपादक इनका जन्म-काल सं० १७३१ में ठहराते हैं, किंतु दलदास दरियापंथी के अनुसार वह सं० १६६१ में होना चाहिए । इनके मृत्यु-काल (सं० १८३७) के विषय में मतभेद नहीं जान पड़ता । अतएव पहले अनुमान के ये अपने देहावसान के समय, यदि १०६ वर्ष के रहते हैं तो दूसरे के अनुसार इनकी अवस्था १४६ वर्ष की हो जाती है जो अधिक कही जा सकती है । इनका विवाह केवल ९ वर्ष की अवस्था में हुआ था, १५वें वर्ष में इन्हें वैराग्य हुआ था । २० वर्ष में इनके हृदय में भक्ति का पूर्ण विकास हो आया और ३०वें में इन्होंने 'तख्त पर बैठ कर' उपदेश देना आरंभ किया था । प्रसिद्ध है कि ये अपना स्थान छोड़ कर अपने जीवन भर कहीं अन्यत्र नहीं गये और वहीं इन्होंने अपना चोला भी छोड़ा । फिर भी, दरियापंथियों के अनुसार, इनका कुछ दिनों के लिए केवल काशी, ममहर, बाईसो (जि० गाजीपुर), हरदी तथा लहठान (जि० शाहाबाद) जाना भी मानते हैं ।

दरियादास की लगभग २० रचनाएँ बतलायी जाती हैं जिनमें से 'दरिया-सागर' एवं 'ज्ञानदीपक' मात्र प्रकाशित हैं । कुछ फुटकर पदों एवं साखियों आदि का

भी एक छोटा-सा संग्रह 'बेलवेडियर प्रेस' द्वारा प्रकाशित हुआ है। दरियादास की रचनाओं पर कबीर साहब का प्रभाव बहुत स्पष्ट है और इनका बहुत-सी बातें तो कबीर-पंथ की धारणाओं से मेल खाती हैं। ये अपने को कबीर साहब का अवतार मानते हुए से भी जान पड़ते हैं। जो हो, इनमें सांप्रदायिकता की मात्रा अधिक दीख पड़ती है। दरियादास ने 'स्वरविज्ञान' पर भी एक छोटी-सी पुस्तक लिखी है जो बहुत कुछ प्रचलित परंपरा का ही अनुसरण है। इनकी रचनाओं में दाम्पत्य-भाव की झलक प्रायः सर्वत्र लक्षित होती है जो इनकी प्रेमाभक्ति के कारण ही अधिक संभव है। इनकी रचनाओं में जितना प्रयत्न रहस्य-परिचय की ओर किया गया है, उतना भाषा की सजावट के लिए नहीं।

पद

साधना-महत्त्व (१)

अवधू कहे सुने का होई।
जो कोई सब्द अनाहद बूझै, गुरु ज्ञानी है सोई ॥१॥
थाके बाट चलत न थाके, थाके मुनिवर लोई।
प्यासा वाला के मिले न पानी, अनप्यासे जल बोही ॥२॥
पहले बीज फूल फल लागा, फूल देखि बीज नसाई।
जहां बास तहां भौंरा नाहीं, अनबासे लपटाई ॥३॥
जहां गगन तहं तारा नाहीं, चंद सूरका मेला।
जहां सुरज तहां पवन न पानी, येहि बिधि अबिगति खेला ॥४॥
जब सरूप तब रूप न देखे, जहां छांह तहां धूपा।
बिनु जल नदिया मांछ बियानी, इक बकता इक चूपा ॥५॥
बृच्छ एक तेंतिस तन लागा, अमृत फल बिनु पीया ॥
कहैं दरिया कोइ संत बिबेकी, मूवत उठिके जीया ॥६॥

यह पद सुरत शब्द योग की साधना, उसकी सिद्धि तथा संत की स्थिति का वर्णन करने के लिए लिखा गया है। इसमें उल्टवांसी की शैली के अनुसार उसकी प्रायः सारी बातों को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है। बोही = पूर्णतः डूबा हुआ, मग्न।

आत्माराम (२)

साधो ऐसा ज्ञान प्रकासी।
आतम राम जहां लगि कहिये, सबै पुरुष की दासी ॥१॥
यह सब जोति पुरुष है निर्मल, नहिं तह काल निवासी।
हंस बंस जो है निरदागा, जाम मिले अविनासी ॥२॥
सदा अमर है मरै न कबहीं, नहिं वह सक्ति उपासी।
आवै जाय खपै सो दूजा, सो तन कालै नासी ॥३॥
तेजे स्वर्ग नर्क कै आसा, या तनवे बिस्वासी।
है छपलोक सभनितें न्यारा, नाहिं तहं भूख पियासी ॥४॥

केता कहै कवि कहे न जानै, वाके रूप न रासी ।
वह गुन रहित तो यह गुन कैसे, ढूंढत फिरै उदासी ॥५॥
सांचै कहा झूठ जिनि जानहु, सांच कहै दुरि जासी ।
कहै दरिया दिल दगा दूरि कर, काटि दिहैं जम फांसी ॥६॥

यह अबिनासी=जो कुछ अस्तित्व में है, वह एक मात्र परमात्मा तत्त्व है जो अविनश्वर है और शुद्ध जीवात्मा उसी का अंग है । छपलोक...न्यारा=परमपद सबसे विलक्षण है । दगा=कपट तथा संशय ।

वस्तुतत्त्व (३)

जहं तक दृष्टि लखन में आवै, सो माया का चीन्ना ।
का निरगुन का सरगुन कहिये, वै तो दोउ ते भीना ॥१॥
दीपक जरै प्रकास जहां तक, बाती तेल मिलाया ।
जाकी जोति जगत में जाहिर, भेद सो बिरले पाया ॥२॥

परस पखान पारस जो कहिये, सोना जुगुति बनाई ।
जेहि पारस से पारस भयऊ, सो संतन ने गाई ॥३॥
परिमल बास परासहि बेधे, कह वो चंदन हूआ ।
जेहि पारस से परिमल भयऊ, सो कबहीं नहि मूआ ॥४॥

जो पारस भृंगी यह जाने, कीट से भृंग बनाई ।
वाका भेद लखै नहि कोई, अपने जाति मिलाई ॥५॥
सनद परी मत गुरु के पासे, भरमि रहा सब कोई ।
बिरला उलटि आपको चीन्हा, हंस बिमल मल धोई ॥६॥

जल थल जीव जहां लगि व्यापक, बेद कितेबे भाखे ।
वाकी सनद कबहुं नहि आई, गुप्त अमाने राखे ॥७॥
सतगुरु ज्ञान सदा सिर ऊपर, जो यह भेद बतावै ।
कहैं दरिया यह कथनी मथनी, बहु प्रकार से गावै ॥८॥

जहं...आवै=जहां तक वस्तुएं दृष्टिगोचर होती हैं । सनद=प्रमाण, प्रमाणित करने की युक्ति । कितेबे=इस्लामियों, ईसाइयों तथा यहूदियों के धर्मग्रंथों में । अमाने=उस अपरिमित वा इयत्ता-शून्य को । मथनी=सारतत्त्व निकालने की क्रिया ।

पूर्णयोग (४)

मानु सब्द जो करु विवेक, अगम पुरुष जहं रूप न रेख ॥१॥
अठदल कमल सुरति लौ लाय, अछपा जपि के मन समुझाय ।
भंवर गुफा में उलटि जाय, जगमग जोति रहे छबि छाय ॥२॥

बंकनाल गहि खैंचे सूत, चमके बिजुली मोती बहूत ।
सेत घटा चहुं ओर घनघोर, अजरा जहवां होय अंजोर ॥३॥
अमिय कंवल निज करो विचार, चुवत बुंद जहं अमृत धार ।
छव चक्र खोजि करो निवास, मूल चक्र जहं जिवको बास ॥४॥

काया खोजि जोगि भुलान, काया बाहर पद निर्बान ।
सतगुरु सब्द जो करे खोज, कहैं दरिया तब पूरन जोग ।।५।।

अछपा = अजपा । अमिय कंवल = सहस्रार । छव चक्र...बास = छहों चक्रों का भेदन कर उस मूल चक्र में ही स्थिर हो जाओ जहाँ जीवात्मा का अपना स्थान है । काया = ठेठ पिंड के ही भीतर त्रिकुटी से नीचे की ओर ।

स्वानुभूति (५)

हरिजन प्रेम जुगुति लखाना ।
सतगुरु सब्द हिये जब दीसै, सेत धुजा फहराना ।।१।।
हृदे कंवल अनुराग उठे जब, गरजि घुमरि घहराना ।
अमृत बुंद बिमल तहं झलकै, रिमझिमि सघन सोहाना ।।२।।

बिगसित कंवल सहसदल तहवां, मन मधुकर लपटाना ।
बिलगि बिहरि फिर रहत एकरस, गगन मधे ठहराना ।।३।।
उछरत सिन्धु असंख तरंग लहि, लहरि अनेक समाना ।
लाल जवाहिर मोती तामें, किमि करि करत बखाना ।।४।।

बिबरन बिलगि हंस गुन राजित, मानसरोवर जाना ।
मंजन मैलि भई तन निर्मल, बहुरि न मैल समाना ।।५।।
एक से अनंत अनंत से एक है, एक में अनंत समाना ।
कहैं दरिया दिल चसमां करिलै, रतन झरोखे जाना ।।६।।

सघन = अविरल, एक में एक लगा हुआ-सा । बिलगि...एकरस = पृथकत्व की अनुभूति करके एकरसता का आनंद उठाता हुआ । उछरत...समाना = आनंदोल्लास की अनंत लहरें उठती तथा विलीन होती रहती हैं ।

उसका महत्त्व (६)

जाके हिये गगन झरि लागी ।
बिना घटा घन बरिसन लागी, सुरति सुखमना जागी ।।१।।
अजपा जाप जपै निस बासर, रहै जगत से बागी ।
मूल अकह में गम्मि बिचारै, सोइ सदा जन भागी ।।२।।

अठदल कंवल झरोखा तहवां, नाम बिमल रस पागी ।
तिल भरि चौकी दना दरवाजा, ताहि खोजु बैरागी ।।३।।
जोरे जारे शब्द बनावै, राग गावै सो रागी ।
अलख लखै कोइ पलक बिचारै, सोइ संत अनुरागी ।।४।।

थकित भये मन गति कविसन, भौ विषया के त्यागी ।
सब्द सजीवन पारस परसेउ, सीतल भो तन आगी ।।५।।
इत उत कहे काम नहिं आवै, सारहि लेवै मांगी ।
कहै दरिया सतगुरु की महिमा, मेंटे करम के दागी ।।६।।

बागी = विपरीत वृत्ति का । गम्मि = प्रवेश । दना = दाना वा कण-जैसा सूक्ष्म छिद्र-सा । दागी = संस्कार ।

आत्मोपलब्धि (७)

मैं कुलवंती खसम पियारी, जांचत तूं लै दीपक बारी ।।१।।
गंध सुगंध थार भरि लीन्हा, चंदन चर्चित आरति कीन्हा ।
फूलन सेज सुगंध बिछायो, आपन पिया पलंग पौढ़ायो ।।२।।
सेवत चरन रैन गइ बीती, प्रेम प्रीति तुमहीं सों रीती ।
कहैं दरिया ऐसो चित लागा, भई सुलछनि प्रेम अनुरागा ।।३।।

रेखता

पेंड़ को पकड़ तब डार पालो मिलै,
डार गहि पकड़ नहि पेड़ यारा ।
देख दिब दृष्टि असमान में चन्द्र है,
चन्द्र की जोति अनगिनित तारा ।।
आदि औ अंत सब मध्य है मूल में,
मूल में फूल धौं केति डारा ।
नाम निर्लेप निर्गुन निर्मल बरै,
एक से अनंत सब जगत सारा ।।१।।
पढ़ि बेद कितेब बिस्तार वक्ता कथै,
हारि बेचून वह नूर न्यारा ।
निःपेच निर्बान निःकर्म निर्भर्म वह,
एक सर्वज्ञ सत नाम प्यारा ।।
तजु नाम मनी करु काम को काबु यह,
खोजु सतगुरु भरपूर सूरा ।
असमान कै बुंद गरकाव हूआ,
दरियाव की लहरि कहि बहुरि मूरा ।।२।।

पेंड़=वृक्ष का तना । पालो=पल्लव, पत्तियाँ । यारा=हे मित्र । निःपेच= बिना किसी उलझन का । मनी=अहंकार । काबु=काबू में, वश में । गरकाव= निमग्न, लीन । मूरा=मुड़ा ।

चौपाई

नाम प्रताप जुग जुग चलि आवै । सकल संत गुन महिमा गावै ।
संत रहनि भव बारिज बारी । सदा सुखी निरलेप बिचारी ।।१।।
जल कुकुही जल माँहि जो रहई । पानी पर कबहीं नहि लहई ।
दही मथे घृत बाहर आवै । फिरिके घृत महिं उलटि समावै ।।२।।
फुल बासे तिल भया फुलेला, बहुरि तेल नहिं तिल मंह मेला ।
इमिकर संत असंत गुन कहई । भौ निकलंक नाम गुन गहई ।।३।।
औघट घाट लखै सो संता । सो जन जन सदा गुनवंता ।

(दरिया सागर से)

संत...बिचारी=संत लोग संसार में इस प्रकार उदासीन रहा करते हैं जिस

प्रकार सरोवर के जल से कमल निर्लिप्त रहा करता है। जल कुकुही=एक प्रकार की जलचिड़िया जिसके पंख पर कभी पानी नहीं ठहरता।

साखी

है मगु साफ बराबरे, मंदा लोचन मांहि।
कवन दोष मगु भान कहूं, आपे सूझत नांहि ॥१॥
पहिले गुड़ सक्कर हुआ, चीनी मिसरी कीन्हि।
मिसरी से कंदा भयो, यही सोहागिनि चीन्हि ॥२॥

दरिया तन से नहिं जुदा, सब किछु तन के मांहि।
जोग जुगत सों पाइये, बिना जुगति किछु नांहि ॥३॥
तीनि लोक के ऊपरे, अभय लोक बिस्तार।
सत्त सुकृत परवाना पावै, पहुँचे जाय करार ॥४॥

एकै सो अनंत भौ, फूटि डारि बिस्तार।
अंतेहू फिरि एक है, ताहि खोजु निज सार ॥५॥
माला टोपी भेष नहिं, नहिं सोना सिंगार।
सदा भाव सतसंग है, जो कोइ गहै करार ॥६॥

कंदा=एक प्रकार की जमायी हुई चीनी की मिठाई। अभय लोक=परम पद जिसे दरिया दास ने अन्यत्र छपलोक, अमरपुर जैसे नामों द्वारा भी निर्दिष्ट किया है। सत्त सुकृत= सत्य एवं सत्कार्य, कबीर पंथानुसार कबीर साहब के सत्ययुगीन अवतार का नाम। परवाना=आज्ञापत्र। करार=सर्वोच्च किनारा, सबसे ऊँचा पद। सदा भाव=सादी वेशभूषा।

संत चरणदास

संत चरणदास का जन्म मेवात के अंतर्गत डेहरा नामक स्थान के एक दूसरे वैश्य-कुल में हुआ था। इनका पूर्व नाम रणजीत था और ये सं० १७६० की भाद्रपद शुक्ल तृतीया, मंगलवार को उत्पन्न हुए थे। अपने पिता का देहांत हो जाने पर ये अपने नाना के घर दिल्ली में रहने लगे जिन्होंने इन्हें नौकरी में लगाना चाहा। परंतु पाँच-सात वर्षों की अवस्था में ही इन्हें कुछ आध्यात्मिक बातों से परिचय हो गया था। इस कारण इनके नाना कृतकार्य न हो सके और ये योगाभ्यास में लग गए। इन्होंने अपने गुरु का नाम शुकदेव बतलाया है जो प्रसिद्ध व्यास-पुत्र शुकदेव मुनि से अभिन्न कहे गए हैं। फिर भी कुछ लोग उन्हें मुजफ्फरनगर के निकट वर्तमान शूकरताल गाँव का निवासी सुखदेवदास अथवा सुखानंद समझते हैं। संत चरणदास ने गुरु से दीक्षित होकर कुछ दिनों तक तीर्थाटन किया और बहुत दिनों तक ब्रजमंडल में निवास कर 'श्रीमद्भागवत' का गंभीर अध्ययन किया। उस ग्रन्थ का एकादशवाँ स्कंध इनके जीवन-दर्शन का एकमात्र आदर्श-सा जान पड़ता है। इनके अंतिम ५० वर्ष अपने मत के प्रचार में ही बीते और दिल्ली में ही रहते हुए इन्होंने सं० १८३९ को अगहन सुदि ४ को अपना चोला छोड़ा।

संत चरणदास को ग्रन्थ-रचना का अच्छा अभ्यास था। इन्होंने लगभग २१

ग्रंथ लिखे थे। इनमें से १५ का एक संग्रह 'श्री वेंकटेश्वर प्रेस' बंबई द्वारा प्रकाशित हुआ है और 'नवल किशोर प्रेस' लखनऊ से भी सबके सब निकल चुके हैं। इनके मुख्य १२ ग्रंथों के प्रधान विषय योग-साधना, भक्तियोग एवं ब्रह्मज्ञान हैं और इस बात को इन्होंने भी स्पष्ट शब्दों में कहा है। इन्होंने 'योग-समाधि' को ही एक प्रकार से 'ज्ञान-समाधि' की भी संज्ञा दी है और ब्रज जैसे तीर्थों को अभौतिक रूप दिया है। ये नैतिक शुद्धता के भी पूर्ण पक्षपाती हैं और चित्तशुद्धि, प्रेम, श्रद्धा एवं सद्व्यवहार को उसका आधार मानते हैं। इनकी रचनाओं में इनकी स्वानुभूति के साथ-साथ अध्ययनशीलता का भी परिचय मिलता है। इनकी वर्णन-शैली पर संत-परंपरा के अन्य कवियों के अतिरिक्त सगुणोपासक भक्तों का भी प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। इनके नाम से कुछ पुस्तकें श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं पर लिखी गई भी मिलती हैं।

पद

विनय (१)

राखो जो लाज गरीब निवाज।
तुम बिन हमरे कौन संवारे, तबहीं बिगरैं काज ॥१॥
भक्त बछल हरि नाम कहावो, पतित उधारन हार।
करो मनोरथ पूरन जनको, सीतल दृष्टि निहार ॥२॥

तुम जहाज मैं काग तिहारो, तुम तजि अंत न जाउं।
जो तुम हरिजू मारि निकासो, और ठौर नहिं पाउं ॥३॥
चरनदास प्रभु सरन तिहारी, जानत सब संसार।
मेरी हंसी सो हंसी तिहारी, तुमहूँ देखि बिचार ॥४॥

सर्वव्यापी (२)

हरिको सकल निरंतर पाया।
माटी भांडे खांड खिलौने, ज्यौं तरवर में छाया ॥१॥
ज्यों कंचन में भूषण राजै, सूरत दर्पण मांही।
पुतली खंभ खंभ में पुतली, दुतिया तौ कछु नाहीं ॥२॥

ज्यों लोहे में जौहर परगट, सूतहिं तानै बानै।
ऐसे राम सकल घट मांहीं, बिन सतगुरु नहिं जानै ॥३॥
मेहंदी में रंग गंध फूलन में, ऐसे ब्रह्म अरु माया।
जल में पाला पाले में जल, चरनदास दरसाया ॥४॥

ज्यों...परगट—जिस प्रकार लोहे के किसी धारदार हथियार में उसकी ओप लक्षित होती है।

अद्वैत भाव (३)

जबते एक एक करि माना।
कौन कथे को सुनने हारा, कोहै किन पहिचाना ॥१॥

तब को ज्ञानी ज्ञान कहां है, ज्ञेय कहां ठहराना ।
ध्यानी ध्येय जहां लगि पइये, तहां न पइये ध्याना ॥२॥
जब कहां बंध मुक्त भुगतइया, काको आवन जाना ।
को सेवक अरु कौन सहायक, कहां लाभ कित हाना ॥३॥

जबको उपजै कौन मरत है, कौन करै पछिताना ।
को है जगत जगत को कर्त्ता, त्रैगुण को अस्थाना ॥४॥
तू तू तू अरु मैं मैं नांही, सब ही दे बिसराना ।
चरनदास शुकदेव कहा है, जो है सो भगवाना ॥५॥

ज्ञेय=जानी जाने वाली वस्तु । भुगतइया=भोक्ता । त्रैगुण को अस्थाना=रजोगुण, तमोगुण एवं सतोगुण नामक तीनों गुणों का आधार ।

चेतावनी (४)

जग में दो तारण को नौका ।
एक तौ ध्यान गुरू का कीजै, दूजै मान धनीका ॥१॥
कोटि भांति करि निश्चय कीयो, संशय रहा न कोई ।
शास्त्र वेद औ पुराण टटोले, जिनमें निकसा सोई ॥२॥

इनहीं के पीछे सब जानौ, योग यह तप दाना ।
नौविधि नौधा नेम प्रेम सब, भक्ति भाव अरु ज्ञाना ॥३॥
और सबै मत ऐसे मानो, अन्न बिना भुस जैसे ।
कूटत कूटत बहुतै कूटा, भूख गई नहिं तैसे ॥४॥

थोथा धर्म वही पहिचानो, तामे ये दो नांही ।
चरनदास शुकदेव कहत हैं, समझि देखि मन मांही ॥५॥

वही (५)

भाई रे अवधि बीती जात ।
अंजुली जल घटत जैसे, तारे ज्यों परभात ॥१॥
स्वांस पूंजी गांठि तेरे, सो घटत दिन रात ।
साधु संगति पैठ लागी, ले लगै सोइ हाथ ॥२॥

बड़ो सौदा हरि संभारो, सुमिरि लीजै प्रात ।
काम क्रोध दलाल ठगिया, मत बनिज इन हाथ ॥३॥
लोभ मोह बजाज छलिया, लगे हैं तेरि घात ।
शब्द गुरु को राखि हिरदय, तौ दगा नहि खात ॥४॥

अपनी चतुराइ बुधि पर, मति फिरै इतरात ।
चरनदास शुकदेव चरनन, परस तजि कुल जात ॥५॥

टेक (६)

साधौ जो पकरी सो पकरी ।
अबतो टेक गही सुमिरन को, ज्यों हारिल की लकरी ॥१॥

ज्यों सूरा ने सस्तर लीन्हो, ज्यों बनिये ने तखरी ।
ज्यों सतवंती लियो सिंधौरा, तार गह्यो ज्यों मकरी ॥२॥

ज्यों कामी को तिरिया प्यारी, ज्यों किरपिन कूं दमरी ।
ऐसे हमकूं राम पियारे, ज्यों बालक कूं ममरी ॥३॥
ज्यों दीपक कूं तेल पियारो, ज्यों पावक कूं समरी ।
ज्यूं मछली को नीर पियारो, बिछुरे देखै जमरी ॥४॥

साधो के संग हरिगुण गांऊ, ताते जीवन हमरी ।
चरनदास शुकदेव दृढ़ायो, और छुटी सब गमरी ॥५॥

हारिल=एक चिड़िया जो प्राय: अपने चंगुल में कोई न कोई लकड़ी वा तिनका लिये रहती है । सस्तर=शस्त्र, हथियार । तखरी=लकड़ी (पंजाबी), तराजू । दमरी=एक पैसे का आठवाँ भाग । किरपिन=कृपण । ममरी=माता । समरी=सेमर की रूई । देखै...री=मर जाती हैं । गम=रंज ।

स्वानुभूति (७)

सो गुरुगम मगन भया मन मेरा ।
गगन मंडल में निज घर कीन्हो, पंच विषय नहिं घेरा ॥१॥
प्यास क्षुधा निद्रा नहिं व्यापी, अमृत अंचवन कीन्हा ।
छूटी आस बास नहिं कोई, जग में चित नहिं दीन्हा ॥२॥

दरसी जोति परम सुख पायो, सबही कर्म जलावै ।
पाप पुण्य दोऊ भय नांही, जन्म मरन बिसरावै ॥३॥
अनहद आनंद अति उपजावै, कहि न सकूं गति सारी ।
अति ललचावै फिरि नहिं आवै, लगी अलख सूं यारी ॥४॥

हंस कमल दल सतगुरु राजै, रुचि-रुचि दरसन पाऊं ।
कहि शुकदेव चरनही दासा, सब बिधि तोहि बताऊं ॥५॥

गुरुगम=गुरु द्वारा बतलायी गई युक्ति के अनुसार साधना कर के । अंचवन कीन्हा=पी लिया ।

परमपद (८)

ऐसा देस दिवानारे लोगो, जाय सो माता होय ।
बिन मदिरा मतवारे झूमैं, जन्म मरन दुख खोय ॥१॥
कोटि चंद सूरज उजियारो, रविससि पहुंचत नाहीं ।
बिना सीप मोती अनमोलक, बहु दामिनि दमकाहीं ॥२॥

बिन ऋतु फूले फूल रहत हैं, अमृत रस फल पागे ।
पवन गवन बिन पवन बहत है, बिन बादर झरि लागे ॥३॥
अनहद शब्द भंवर गुंजारै, संख पखावज बाजैं ।
ताल घंट मुरली घन घोरा, भेरि दमामे गाजैं ॥४॥

सिद्धि गर्जना अतिहीं भारी, घुंघरू गति झनकारैं ।
रंभा नृत्य करै बिन पगसूं, बिन पायल ठनकारैं ॥५॥

गुरु शुकदेव करें जब किरपा, ऐसो नगर दिखावें ।
चरनदास वा पगके परसे, आवागमन नसावें ॥६॥

झरि लागे—वृष्टि हुआ करती है । रंभा = अप्सरा ।

विडंबना

(६)

जो नर इतके भये न उतके ॥टेक॥
उतको प्रेम भक्ति नहिं उपजी, इत नहिं नारी सुतके ॥१॥
घर सूं निकसि कहा उन कीन्हा, घर घर भिक्षा मांगी ।
बाना सिंह चाल भेडन की, साध भये अकि स्वांगी ॥२॥

तन मूंडा, पै मन नहिं मूंडा, अनहद चित्त न दीन्हा ।
इन्द्री स्वाद मिले विषयन सों, बकबक बकबक कीन्हा ॥३॥
माला कर में सुरति न हरिमें, यह सुमिरन कहु कैसा ।
बाहर भेख धारिके बैठा, अन्तर पैसा पैसा ॥४॥

हिंसा अकस कुबुधि नहिं छोड़ी, हिरदय सांच न आया ।
चरनदास शुकदेव कहत हैं, बाना पहिरि लजाया ॥५॥

अकि—या कि, अथवा । बाना = भेष, बाहरी रूप-रंग । अकस = वैर, द्वेष ।

आरती

(१०)

आरति रमता रामकि कीजै, अंतर्द्धान निरखि सुख लीजै ।
चेतन चौकी सत कूं आसन, मगन रूप तकिया धरि लीजै ॥१॥
सोहं थान खेंचि मन धरिया, सुरत निरत दोउ बाती बरिया ।
जोग जुगति सूं आरति साजी, अनहद घंट आपसूं बाजी ॥२॥
सुमति सांझ की बेरिया आई, पांच पचीस मिलि आरति गाई ।
चरनदास शुकदेव को चेरो, घर-घर दरसै साहब मेरो ॥३॥

सवैया

आदिहुं आनंद, अंतहुं आनंद, मध्यहुं आनंद ऐसेहि जानो ।
बंदहु आनंद, मुक्तहुं आनंद, आनंद ज्ञान अज्ञान पिछानो ॥
लेटेहु आनंद बैठेहुं आनंद, डोलत आनंद, आनंद आनो ।
चरनदास बिचारि सबै कछु, आनंद छाड़िकै दुक्ख न ठानो ॥१॥

आदिहु चेतन अंतहु चेतन, मध्यहुं चेतन माया न देखी ।
ब्रह्म अद्वैत अखंड निरालभ, और न दूसरो आनंद ऐखी ॥
सिन्धु अथाह अपार बिराजत, रूप न रंग नही कछु देखी ।
चरनदास नहीं, शुकदेव नहीं, तहंना कोइ मारग ना कोइ भेखी ॥२॥

श्वास उसास चलै जब आपहि, है जु अखंड टरै नहिं टारो ।
भीतर बाहर है भरपूर सो ढूंढ़ौं, कहां नहिं नाहिन न्यारो ॥
चरनदास कहैं गुरु भेद दियो, भ्रम दूरि भयो जु हुतो अतिभारो ।
दृष्टि अदृष्टि जु रामको देखत, राम भयो पुनि देखन हारो ॥३॥

निरालभ = अलभ्य । एखी = देखा । न्यारो = विलग ।

छप्पय

माला तिलक बनाय, पूर्व अरु पच्छिम दौरा ।
नाभि कमल कस्तूरि, हिरन जंगल भो बौरा ।।
चांद सूर्य थिर नहीं, नहीं थिर पवन न पानी ।
तिरदेव थिर नहीं, नहीं थिर माया रानी ।।
चरनदास लख दृष्टि भर, एक शब्द भरपूर है ।
निरखि परखि ले निकट ही, कहन सुनन कूं दूर है ।।१।।

हिरन........बौरा=हिरन की भाँति जंगलों में पागल बना घूमा ।

साखी

सतगुरु सब्दी लागिया, नावक का सा तीर ।
कसकत है निकसत नहीं, होत प्रेम की पीर ।।१।।
ऐसा सतगुरु कीजिए, जीवत डारै मारि ।
जन्म जन्म की बासना, ताकूं देवै जारि ।।२।।

प्रेम छुटावै जक्त सूं, प्रेम मिलावै राम ।
प्रेम करै गति औरही, लै पहुँचै हरि धाम ।।३।।
पीव चही कै मत चही, वह तौ पी की दास ।
पिय के रंग राती रहै, जग सूं होय उदास ।।४।।

रंग होय तौ पीव को, आन पुरुष विष रूप ।
छांह बुरी पर घरन की, अपनी भली जु धूप ।।५।।
हद्द कहूं तौ है नहीं, बेहद कहूं तौ नाहिं ।
ध्यान स्वरूपी कहत हौं, बैन सैन के माहिं ।।६।।

मम हिरदय में आय के, तुमही कियो प्रकास ।
जो कछु कहौ सो तुम कही, मेरे मुख सों भास ।।७।।
तप के बरस हजारहू, सत संगत घड़ि एक ।
तौहू सरवरि ना करै, शुकदेव किया बिबेक ।।८।।

अपने घर का दुख भला, परघर का सुख छार ।
ऐसे जानै कुलवधू, सो सतवंती नार ।।९।।
जग मांहै ऐसे रहो, ज्यों अंबुज सर मांहि ।।
रहै नीर के आसरे, पै जल छूवत नांहि ।।१०।।

शील न उपजै खेत में, शील न हाट बिकाय ।
जो हो पूरा टेक का, लेवै अंग उपजाय ।।११।।
शील कसैला आंवला, और बड़ों का बोल ।
पाछे देवै स्वाद वै, चरनदास कहि खोल ।।१२।।

लाख यही उपदेस है, एक शील कूं राख ।
जन्म सुधारौ हरि मिलौ, चरनदास की साख ।।१३।।
खावै बस्तु बिचारि कै, बैठे ठौर बिचार ।
जो कछु करै बिचारि करि, किरिया यही अचार ।।१४।।

जैसे सुपना रैन का, मुख दर्पण के मांहि ।
भासै है पर है नहीं, ज्यों बरबर की छांहि ॥१५॥
इन्द्रिन कूं मन बस करै, मनकूं बस करै पौन ।
अनहद बस कर वायु कूं, अनहद कूं ले तौन ॥१६॥

इन्द्री पलटै मन बिषै, मन पलटै बुधि मांहि ।
बुधि पलटै हरि ध्यान में, फेरि होय लै जांहि ॥१७॥
द्रव्य मांहि दुख तीन हैं, यह तूं निश्चय जान ।
आवत दुख राखत दुखी, जात प्राण की हान ॥१८॥

मूरख त्याग न करि सकै, ज्ञानवंत तजि देह ।
चौंकायल मृग ज्यों रहै, कहीं न साजै गेह ॥१९॥
लाज तौंक गल में पड़ा, ममता बेरी पांय ।
रसरी मूरख नेह की, लीन्हे हाथ बंधाय ॥२०॥

ज्यों तिरिया पीहर बसै, सुरति पिया के मांहि ।
ऐसे जन जग में रहै, हरिकूं भूलै नाहि ॥२१॥
निराकार निर्लिप्त तूं, देही जान अकार ।
आपन देही मान मत, यही जान ततसार ॥२२॥

काहू ते उपजौ नहीं, बातें भयो न कोय ।
वह न मरै मारै नहीं, राम कहावै सोय ॥२३॥
जैसे कछुवा सिमिटि कै, आपुहि मांहि सहाय ।
तैसैं ज्ञानी श्वास में, रहै सुरति लौ लाय ॥२४॥

आप ब्रह्म मूरति भयो, ज्यों बुदगल जल मांहि ।
सुरति बिनसै नाम संग, जल बिनसत है नांहि ॥२५॥
जल थल पावक राम है, राम रमो सब मांहि ।
हरि सबमें सब राम में, और दूसरी नांहि ॥२६॥

नावक=मधुमक्खी का डंक, एक प्रकार का छोटा, किन्तु तीखा वाण । जक्त =जगत्, संसार । सतवंती=पतिव्रता । बरबर=बबूल । ले तौन=जो उसमें लीन होता है । चौंकायल=चौकन्ना । साजै=सजाता । बुदगल=बुलबुला ।

संत शिवनारायण

संत शिवनारायण के जन्म और मरण की तिथियां अभी तक निश्चित रूप से विदित नहीं हैं । उनकी रचना 'संत सुन्दर' में किये गए कतिपय उल्लेखों के आधार पर उनके जीवन-काल के विषय में कुछ अनुमान किया जा सकता है । उस ग्रंथ में स्पष्ट लिखा मिलता है कि जिस समय दिल्ली का सुलतान अहमद शाह आगरा में रहा करता था और इलाहाबाद का सूबा गाजीपुर से आरम्भ होता था, उसी समय गाजीपुर जिले के परगना जहूराबाद में, उसकी रचना सं० १८११ के अंतर्गत किसी समय हुई । उसी परगने के चंदवार नामक एक गांव के किसी नरौनी क्षत्रिय कुल में उनका जन्म भी हुआ था । उनके एक अन्य ग्रंथ 'गुरु अन्यास' से भी पता चलता है कि उसकी रचना सं० १७९१ में हुई थी, जबकि दिल्ली का बादशाह मुहम्मद शाह था ।

इस प्रकार संत शिवनारायण का जन्म-काल, अनुमानतः विक्रम की १८वीं शती के तृतीय चरण में किसी समय ठहराया जा सकता है। उधर शिवनारायणी संप्रदाय की एक पुस्तक 'मूल ग्रंथ' से भी प्रकट होता है कि उनका जन्म कार्त्तिक सुदि ३, वृहस्पतिवार को, आधी रात के समय रोहिणी नक्षत्र में सं० १७७३ में हुआ था। सात वर्ष की अवस्था में उन्हें गुरु दुखहरण ने दीक्षित किया था और सं० १८४८ में वे मर थे। उनके पिता का नाम बाघराय, उनकी माता का नाम सुन्दरी, उनकी स्त्री का नाम सुमति कुंवरि तथा उनके पुत्र एवं पुत्री के भी नाम उसमें क्रमशः जैमल और सलीता दिये गए दीख पड़ते हैं। इनकी पुष्टि अभी तक अन्य आधारों पर भी नहीं हुई है। अपने गुरु का नाम उन्होंने स्वयं भी दुखहरण बतलाया है जो उनके अनुयायियों के अनुसार ससना बहादुर (जि० बलिया) के थे।

संत शिवनारायण के चार प्रमुख शिष्यों ने उनके मत का प्रचार पहले-पहल आरम्भ किया था। कहा जाता है कि स्वयं उन्होंने बादशाह मुहम्मदशाह तक को प्रभावित कर उससे अपने लिए एक मुहर प्रमाणस्वरूप ले ली थी। शिवनारायणी संप्रदाय का बर्मा, सीलोन, अदन, बिलोचिस्तान आदि देशों तक प्रचलित होना बतलाया जाता है। संत शिवनारायण की १६ रचनाएँ प्रसिद्ध हैं, किंतु उनमें से संभवतः 'गुरु अन्यास, शब्दावली, शब्द ग्रन्थ, संत विलास, लव-परवाना, संत अक्षरी एवं संत बजन' ही अभी तक प्रकाशित हो सकी हैं। अपनी पुस्तकों में उन्होंने सबसे अधिक ध्यान, पूर्ण संत की स्थिति प्राप्त करने की ओर दिया है और उसे स्वानुभूति पर ही आश्रित बतलाया है। संत की उस दशा को वे 'संतदेश' की स्थिति के रूप में अभिहित करते हैं और यह नाम भी वैसा ही प्रतीत होता है जैसा अन्य संतों के संतलोक, अमरलोक आदि अनेक नामों द्वारा प्रकट होता है। प्रत्येक मानव में इनके अनुसार, चालीस प्रकार की त्रुटियाँ हैं जिन्हें दूर कर नैतिक आचरण अपना लेने पर वैसी स्थिति आप-से-आप आ सकती है। स्वावलंबन एवं स्वानुभूति संत शिवनारायण द्वारा बतलायी गई साधना के शिलाधार-स्वरूप हैं। प्रत्येक व्यक्ति को सत्य का अनुभव, उसकी साधना एवं पहुँच के अनुपात से ही हुआ करता है, अतएव प्रत्येक की स्थिति भी, उनके अनुसार, पृथक्-पृथक् ही संभव है। उनकी रचनाओं में प्रायः एक ही प्रकार की बातें सर्वत्र कही गई दीख पड़ती हैं। फिर भी उनकी कथन-शैली बहुत ओजपूर्ण है। जान पड़ता है कि अपनी अनुभूत बातों की महत्ता में दृढ़ आस्था रखने के कारण, उन्होंने उन्हें बार-बार एवं भिन्न-भिन्न प्रकार से कहने की चेष्टा की है। उनकी भाषा भोजपुरी का उनकी रचनाओं पर बहुत प्रभाव है जिस कारण उनमें अधिक सरसता आ गई है।

पद

वास्तविक गुरु (१)

अंजन आंजिए निज सोइ ॥टेक॥
जेहि अंजन से तिमिर नासे, दृष्टि निरमल होइ।
बैद सोइ जो पीर मिटावे, बहुरि पीर न होइ ॥१॥

धेनु सोइ जो आपु स्रवै, दूहिए बिनु नोइ।
अंबु सोइ जो प्यास मेटे, बहुरि प्यास न होइ ॥२॥

सरस साबुन सुरति धोबिन, मैलि डारे धोइ ।
गुरू सोइ जो भ्रम टारै, द्वैत डारै धोइ ॥३॥
आवागमन के सोच मेटै, सब्द सरूपी होइ ।
शिव नारायण एक दरसे, एकतार जो होइ ॥४॥

स्रवै = दूध देवे । नोइ = गाय के पिछले पैर बाँधने की रस्सी । अंबु = पानी । सरस = जिसमें विकारों को दूर कर देने का गुण हो । सुरति = आत्मा । एकतार = निरत ।

(२)

तनि एक मनुआं धरा तूं धीर ॥टेक॥
पांच सखी आइल मेरो अंगना, पांचों का हथवा में पांच-पांच तीर ॥
खइंचब गुन तब छाड़ब तीर, मुदाये मरन कर करो तदबीर ।
शीव नरायन चीन्हल वीर, जनम जनम कर मेटल पीर ॥१॥

पांच...तीर = पंचतत्त्व एवं पच्चीस प्रकृतियाँ । गुन = त्रिगुण । मुदाये = मुद्दई, वैरी । वीर = निपुण सद्‌गुरु ।

उपदेश

(३)

सिपाही मन दूर खेलन मत जैये ॥टेक॥
घट ही में गंगा घट ही में जमुना, तेहि बिच बैठि नहैये ॥
अछेहो बिरिछ की शीतल जुड़ छहिया, तेहि तरे बैठि नहैये ॥
मात पिता तेरे घटही में, निति उठि दरसन पैये ।
शिव नारायन कहि समुझावे, गुरु के सबद हिये कैये ॥१॥

दूर = अन्यत्र । खेलन...जैये = अपने को व्यस्त न करो । घर ही...नहैयै = शरीर के ही भीतर गंगा एवं यमुना की भाँति मोक्षदायिका ईडा एवं पिंगला नाम की नाड़ियाँ हैं, उनकी मध्यवर्त्तिनी सुषुम्ना में प्रवेश कर लीन हो जाओ । अछेहो बिरिछ = अक्षय वृक्ष, परमात्म तत्त्व ।

पछतावा

(४)

गुनवा एको नहीं, कैसे मनैबो सैयां ॥टेक॥
गहरी नदिया नाव पुरानी, भइ गइले सांझ समइया ॥१॥
संग की सखी सब पार उतरि गईं, मैं बपुरिन एहि ठइया ॥२॥
शिवनारायन बिनती करत है, पार लगा दो मेरी नइया ॥३॥

मिलन

(५)

प्रेम मंगल आलि सब मिलि गाई ॥टेक॥
घर घर कोहबर रुचिर बनाई, जहां बैठे दुलहिनि दुलहा सोहाई ।
सब सखियाँ मिलि मन मत लाई, दुलहा के रूप देखि कछु न सोहाई ।
दुखहरन गुरु सब सुधि पाई, देस चंद्रबार में सुरति लगाई ॥१॥

घर...बनाइ = हृदय-क्षेत्र को ही वर-वधू के मिलन का सुंदर स्थान ठीक

किया। मन मत लाई=एकमत हो गई। देस चंद्रबार=ब्रह्मांड का वह स्थान जहाँ से अमृत-स्राव होता है। संत शिवनारायण के जन्म-स्थान का नाम भी चंद्र-बार है।

अनाहत-श्रवण (६)

वृन्दाबन कान्हा मुरली बजाई ॥घूहा॥
जो जैसहि तैसहि उठि धाई, कुल की लाज गंवाई ॥१॥
जो न गई सो तो भई है बावरी, समुझि समुझि पछिताई ॥२॥
गोवन के मुख त्रेन बसत है, बछवा पियत न गाई ॥३॥
शिवनारायन श्रवण सबद सुनि, पवन रहत अलसाई ॥४॥

गोवन...बसत है=गायें चरते समय अपने मुख की घास मुख में ही लिए रह गई।

विरह (७)

गगन तार गनत गइ रतिआ ॥टेक॥
गगन गहागह अनहद बाजत, बरसत अमृत धार।
जो जन पीवै सोइ जन जीवै, मान गुमान हकार किरतिआ ॥१॥
गगन बीच भरि मकर तार घरि, चढ़ि गए चतुर सुजान।
अजपा जाप जाहिर भयो जबते, बिसरि गये दारा सुत नतिआ ॥२॥
करनी काम किए जग जबते, करता तीनि सुभाव।
इंगला पिंगला सुषमना सुरते, कटि गए काल कराल कुमतिआ ॥३॥
पिय परदेस उदेस न पावों, पिय बेलमे केहि भाव।
का करों लोभी पिया जैसो रहि गयो, राखि पराई थतिया ॥४॥
जो पिय पावों अंक भरि लावों, निज परतीत बढ़ाय।
तबहीं सुहागिनी प्रान पुरुषकी, चढ़ि मैदान लड़ी सुरा छतिआ ॥५॥
जो आया सो जात न देखा, कहां बार कहां पार।
जनमत मरत हाट एक देखा, बकता सांच झूठ दुइ बतिआ ॥६॥
बेद पुरान बरन बहु बरनत, भिन भिन करि भाग।
सो सुनि भूले मुरुख गंवारा, भटकत फिरहिं जगत भलिभंतिआ ॥७॥
केहु नाहिं हीत बंधु एहि जगमें, सभै बिराना लोग।
जात न बनै अकेला जाना, खोजत मिलै न केहु संगतिआ ॥८॥
शीवनरायन सुरति निरंतर, निरखि आपनो लीन्ह।
बैठ तखत अमल करि अपना, कहि दिन चलहु मुक्ति की गतिआ ॥९॥
गगन तार गनत गइ रतिआ ॥

तार=ताराओं को। मकतार=बादले का कामदानो का तार। नतिआ=पोता। उदेस=पता। बेलमे=रुके। अमल=अधिकार।

मनोमारण-महत्त्व (८)

बिषय बासना छुटत न मन से, नाहक नर बैराग करो।
जैसे मीन बाझु बंसी मंह, जिभ्या कारन प्रान हरो।
सो रसना बस कियो न जोगी, नाहक इंद्री साधि मरो ॥१॥

जैसे मृगा चरत जंगल में, न काहू सों बैर करो।
बंसी के तान लगी श्रवननि में, ब्याधा बान सों प्रान हरो ॥२॥
जैसे फतिंगा परै दीप में, नैना कारन प्रान हरो।
नासा कारन भंवर नास भयो, पांचो रसबस पांच मरो ॥३॥

तीरथ जाके पाहन पूजे, मौनो ह्वै के ध्यान धरो।
शीवनरायन ई सभ झूठा, जब लग मन नहि हाथ करो ॥४॥

पांचो रसबस = पंचेंद्रियों के स्वाद के कारण।

चेतावनी (९)

सुनु सुनु रे मन कहल मोर। चेत करहु घर जहां तोर ॥टेक॥
मोह भया भ्रम जल गंभीर। बहै भयावन रहै न थीर॥
लहरि झकोरै लै दूसरि आस। काल करम कर निकट बास ॥१॥

आपु देखि पंथ धरु सबेर। का भुलि भुलि जग करु अबेर।
सांझ समै जब घेरु अंधार। तब कैसे जइब उतर पार ॥२॥
फिर पछतइब समै जात। चलहु आपन घर मानहु बात।
देश आपना आपन जोग। जहां बसहिं सब संत लोग ॥३॥

अपन अपन घर करत बास। केहु न काहुक करत आस।
शीवनरायन शब्द बिचारी। अनंत सखिन संग रचु धमारी ॥४॥

लै...आस = दूसरों के कथन मात्र पर विश्वास कर चलने से।

साखी

संतमंत सबत परे, जोग भोग सब जीति।
अदग अनंद अभै अधर, पूरन पदारथ प्रीति ॥१॥
चालिस भरि करि चाल्हि धरि, तत्तु तौलु करु सेर।
ह्वै रहु पूरन एक मन, छाडु करम सब फेर ॥२॥

एक एक देख्यो सकल घट, जैसे चंद की छांह।
वैसे जानो काल जग, एक एक सब मांह ॥३॥
जहं लगि आये जगत महं, नाम चीन्ह नहि कोय।
नाम चिन्हे तो पार ह्वै, संत कहावत सोय ॥४॥

दुनिया को मद कर्म है, संतन को मद प्रेम।
प्रेम पाय तो पार है, छुटै कर्म अरु नेम ॥५॥
जब मन बहकै उड़ि चलै, तब आनै ब्रह्म ग्यान॥
ग्यान खड़ग के देखते, डरपे मनके प्रान ॥६॥

निराधार आधार नहिं, बिन अधार की राह ।
शिवनारायन देश कहुं, आपुहि आपु निबाह ॥७॥

संतमंत=संतमत । अदग=शुभ्र, अमिश्रित । पूरन पदार्थ=पूर्ण पदार्थ, परमतत्त्व, परमात्मा । चालिस...धरि=चालिस प्रकार के नैतिक गुणों के अनुसार आचरण करो । छांह=प्रतिबिंब । एक-एक=वही एक परमात्मा ही । निराधार... राह=संतों का मार्ग किसी के आश्रय वा अवलंब की अपेक्षा नहीं करता । देश... निबाह=संतों की स्थिति की उपलब्धि स्वानुभूति द्वारा ही संभव है ।

संत भीखा साहब

भीखा साहब का पूर्व नाम भीखानंद चौबे था और उनका जन्म, जिला आजमगढ़ के परगना मुहम्मदाबाद के अंतर्गत खानपुर बोहना गाँव में हुआ था । आठ वर्ष की अवस्था से ही ये साधुओं के संपर्क में आने लगे थे और बारहवें वर्ष विवाह के समय घर छोड़ कर भाग निकले थे । भ्रमण करते हुए काशी पहुँचकर इन्होंने पहले ज्ञानार्जन करना चाहा, किन्तु जी न लगने के कारण वहाँ से घर को ओर लौट पड़े । मार्ग में इन्हें, गाजीपुर जिले के सैदपुर भीतरी परगने के अभुआरा गाँव के एक मंदिर में किसी गवैये के मुख से एक ध्रुपद गायी जाती सुन पड़ी । उसके द्वारा ये अत्यंत प्रभावित हो गये और उसके रचयिता का पता पूछ कर उसकी खोज में आगे बढ़े । उस पद के बनाने वाले संत गुलाल साहब थे जो उसी जिले के भुरकुड़ा गाँव में अपने शिष्यों के साथ सत्संग करते हुए मिले । ये उनके व्यक्तित्व और व्यवहार के प्रभाव में आकर आनंदित हो उठे और उनके उपदेशों को श्रवण कर उनके शिष्य तक बन गए । इन सभी बातों का वर्णन इन्होंने अपने शब्दों में भी किया है और अपने गुरु गुलाल साहब की भूरि-भूरि प्रशंसा की है । भीखा साहब तब से बराबर वहीं रहने लगे और गुलाल साहब का देहांत हो जाने पर उनके उत्तराधिकारी भी बने । ये सं० १८१७ से लेकर ३१ वर्षों तक भुरकुड़ा की गद्दी पर आसीन रहे और सं० १८४८ में इन्होंने शरीर छोड़ा । इनके जीवन की अन्य घटनाओं का कोई विवरण अभी तक नहीं मिलता ।

भीखा साहब की रचनाओं में १. राम कुंडलिया, २. राम सहस्र नाम, ३. राम सबद, ४. रामराग, ४. राम कवित्त और ६. भगतबच्छावली प्रसिद्ध हैं । किंतु इनका अधिकांश 'बेलवेडियर प्रेस' द्वारा प्रकाशित 'भीखा साहब की बानी' तथा भुरकुड़ा केंद्र की ओर से छपी हुई 'महात्माओं की वाणी' में पाया जाता है और उनमें कुछ इनकी अन्य फुटकर रचनाएँ भी मिलती हैं । इसका सबसे बड़ा ग्रंथ 'रामसबद' तथा इनकी 'भगतबच्छावली' अभी तक कदाचित् कहीं से भी प्रकाशित नहीं हैं । भीखा साहब की रचनाओं में उनके आत्मनिवेदन का भाव बहुत स्पष्ट रूप में लक्षित होता है । इनकी दार्शनिक विचारधारा वेदांत के सिद्धांतों द्वारा प्रभावित जान पड़ती है जिसे कहीं-कहीं इन्होंने किसी-न-किसी रूप में स्वीकार कर लिया है । इनकी भाषा में भी इनके गुरु गुलाल साहब की भाँति, भोजपुरी के शब्दों तथा मुहावरों के अनेक उदाहरण मिलते हैं । इनकी रचना में गेयत्व भी कम नहीं । इन्होंने विविध छंदों के सफल प्रयोग किये हैं और इनकी वर्णन-शैली सरल एवं सुबोध है ।

पद

विचित्र संसार (१)

जग के कर्म बहुत कठिनाई, तातें भरमि भरमि जंहड़ाई ।।टेक।।
ज्ञानवंत अज्ञान होत है, बूढ़ करत लरिकाई ।
परमारथ तजि स्वारथ सेवहिं, यह धौं कौन बड़ाई ।।१।।

वेद वेदान्त को अर्थ बिचारहिं, बहुविधि ढंचा उपाई ।
माया मोह ग्रसित निसि बासर, कौन बड़ो सुखदाई ।।२।।
लेहिं बिसाहि कांच को सौदा, सोना नाम गंवाई ।
अमृत तजि बिष अंचवन लागे, यह धौं कौनि मिठाई ।।३।।

गुरु परताप साध की संगति, करहु न काहे भाई ।
अंत काल जब काल गरसिहै, कौन करौ चतुराई ।।४।।
मानुष जनम बहुरि नहि पैहो, बादि चला दिन जाई ।
भीखा कौ मन कपट कुचाली, धरत धरै मुरखाई ।।५।।

जंहड़ाई = ठगे जाते हैं । ढंचा उपाई = प्रपंच रचकर । बिसाहि = बेसाह, मोल । अंचवन = पीने । बादि = व्यर्थ । धरन = टेक ।

दुराग्रही मन (२)

मन तोहि कहत कहत सठ हारे ।
ऊपर और अंतर कछु औरै, नहिं बिस्वास तिहारे ।।टेक।।
आदिहि एक अंत पुनि एकै, मद्धमहुं एक बिचारे ।
लबज लबज एहवर ओहवर करि, करम दुइत करि डारे ।।१।।

विषयारत परपंच अपरबल, पाप पुन्न परचारे ।
काम क्रोध मद लोभ मोह कब, चोर चहत उजियारे ।।२।।
कपटी कुटिल कुमिति बिभिचारी, हो वाको अधिकारे ।
महा निलज कछु लाज न तोको, दिन दिन प्रति मोहि जारे ।।३।।

पांच पचीस तीन मिलि चाह्यो, बनलिउ बात बिगारे ।
सदा करेहु बैपार कपट को, भरम बजार पसारे ।।४।।
हम मन ब्रह्म जीव तुम आतम, चेतन मिलि तन धारे ।
सकल दोस हमको काहे दइ, होन चहत हौ न्यारे ।।५।।

खोलि कहौं तौरंग नहिं फेर्‌यो, यह आपुहि महिमा रे ।
बिन फेरे कछु भयो न ह्वं है, हम का करहि बिचारे ।।६।।
हमरी रुचि जग खेल खेलौना, बालक सांझ सबारे ।
पिता अनादि अरख नहिं मानहि, राखत रहहि दुलारे ।।७।।
जप तप भजन सकल है बिरथा, व्यापक जबहि बिसारे ।
भीखा लखहु आपु आतम कंह, गुनना तजहु खमारे ।।८।।

लबज...करि = शब्दों के हेर-फेर द्वारा । बनलिउ = बनी हुई भी । बैपार = व्यापार । खोलि...फेर्‌यो = मैं स्पष्ट कहता हूँ, अपने रंग न बदला करो । सांझ सबारे = सुबह-शाम का । अरख = बुरा । खमा = गुप्त, भीतरी ।

मन के प्रति (३)

मन तू राम सों लै लाव ।
त्यागि के परपंच माया, सकल जग को चाव ।।टेक।।
सांच की तू चाल गहिले, झूठ कपट बहाव ।
रहनिसों लवलीन ह्वै, गुरु ज्ञान ध्यान जगाव ।।१।।

जोग की यह सहज जुक्ति, बिचारि कै ठहराव ।
प्रेम प्रीति सों लागि के, घट सहज ही सुख पाव ।।२।।
दृष्टितें अदृष्टि देखो, सुरति निरति बसाव ।
आतमा निर्धार निर्भौ बानि, अनुभव गाव ।।३।।

अचल अस्थिर ब्रह्म सेवो, भाव चित अरुझाव ।
भीखा फेरि न कबहुं पैहौ, बहुरि ऐसो दाव ।।४।।

अदृष्टि=अदृष्ट, अदृश्य । निर्धार बानि = निराधार एवं अजन्मा रूप है । अस्थिर=स्थिर, अचल । अरुझाव=मग्न करो ।

मायाजाल (४)

मोहि डाहतु है मन माया ।।टेक।।
एकै शब्द ब्रह्म फिरि एकै, फिरि एकै जग छाया ।
आतम जीव करम अरुझाना, जड़ चेतन बिलमाया ।।१।।

परमारथ को पीठ दियो है, स्वारथ सनमुख धाया ।
नाम नित्य तजि अनितै भावै, तजि अमृत बिष खाया ।।२।।
सतगुरु कृपा कोऊ कोउ बांचै, जो सोधै निज काया ।
भीखा यह जग रतो कनक पर, कामिनि हाथ बिकाया ।।३।।

डाहतु है = दुःख देती है । अनितै=अनित्य ही ।

अंतर्ध्वनि (५)

धुनि बजत गगन मंह बीना, जंह आपु रास रस भीना ।।टेक।।
भेरी ढोल संख सहनाई, ताल मृदंग नवीना ।
सुर जैह बहुतै मौज सहज उठि, परत है ताल प्रबीना ।।१।।

बाजत अनहद नाद गहागह, धुधुकि धुधुकि सुरझीना ।
अंगुली फिरत तार सातहुं पर, लय निकसत झिन झीना ।।२।।
पांच पचीस बजावत गावत, निर्त चारु छबि दीना ।
उघरत तननन धितां धितां, कोउ ताथेइ थेइ तत कीना ।।३।।

बाजत जल तरंग बहु मानो, जंत्री जंत्र कर लीना ।
सुनत सुनत जिव थकित भयो, मानो ह्वै गयो शब्द अधीना ।।४।।
गावत मधुर चढ़ाय उतारत, रुनझुन रुनझुन धीना ।
कटि किंकिनि पग नूपुर की छबि, सुरति निरति लौलीना ।।५।।

आदि शब्द ओंकार उठतु है, अटुट रहत सब दीना ।
लागी लगन निरंतर प्रभुसों, भीखा जल मन मीना ।।६।।

भिन-भीना = भीनी-भीनी वा भिन्न-भिन्न। नित्तं = नृत्य। उघरत = निकलता है। धीना = ताधिन-ताधिन। सब दीना = सब दिन, निरंतर।

साधना-फल (६)

बोलता साहब लोलो लोई, मिथ्या जगत सत्य इक वोई ॥१॥
नाम खेत जनप्रीति कियारी, जीव बीज ता पैर पसारी।
सेवा मन उनमुनी लगाया, लोलो जा जामलि गुरु दाया ॥२॥

जोग बढ़नि जल विषै दबाई, बिरही अंग जरद होइ आई।
गगन गवन मन पवन झुराई, लोलो रंग परम सुखदाई ॥३॥
सुरति निरति कै मेला होई, नाद औ बिंदि एक सब सोई।
बाजत अनहद तूर अघाई, लोलो सुनत बहुत सुख पाई ॥४॥

अनुभव बालि उदित उजियारा, आदि अंत मधि एक निहारा।
सुद्ध सरूप अलख लख पाई, लोलो दरसन की बलि जाई ॥५॥
पाप-पुन्न-गत कर्म निनारा, केवल आतम राम अधारा।
भीखा जेहि कारन जग आये, लोलो जन्म सुफल करि पाये ॥६॥

वोई = वही। ता पैर पसारी = उसमें बिखेर दिये। जामलि = उग गई। बालि = फल। गत = रहित।

भ्रम (७)

सब भुला किधौं हमहि भुलाने, सो न भुला जाके आतम ध्याने ॥१॥
सब घट ब्रह्म बोलता आही, दुनिया नाम कहौं मैं काही।
दुनिया लोक बेद मति थापे, हमरे गुरु गम अजहा जापे ॥२॥
हरिजन जे हरिरूप समारे, घमासान भये सूर कहावे।
कह भीखा क्यों नांहीं नांहीं, जब लगि सांच झूठ तन मांहीं ॥३॥

घमासान = संघर्ष। नांहीं-नांहीं = नेति-नेति।

भजन (८)

मनुवां नाम भजत सुख लीया ॥टेक॥
जनम जनम कै उरझनि पुरझिन, समुझत करकत हीया।
यह तौ माया फांस कठिन है, का धन सुत बित तीया ॥१॥
सत्त शब्द तन सागर मांही, रतन अमोलक पीया।
आपा तेजि धंसै सो पावै, लै निकसै मरजीया ॥२॥

सुरति निरति लौ लीन भयो जब, दृष्टि रूप मिलि थीया।
ज्ञान उदित कल्पद्रुम को तरु, जुक्ति जमावो बीया ॥३॥
सतगुरु भये दयाल ततच्छिन, करना था सो कीया।
कहै भीखा परकासी कहिये, घर अरु बाहर दीया ॥४॥

करकत हीया = कसक होती है। पीया = प्रियतम। मरजीया = मरजीवा। थीया = स्थिर हुआ। ततच्छिन = शीघ्र। दीया = दीपक।

प्रीति की रीति (९)

प्रीति की यह रीति बखानी ॥टेक॥
कितनी दुख सुख परै देह पर, चरन कमल कर ध्यानी।

हो चैतन्य बिचारि तजो भ्रम, खांड धूरि जनि सानी ॥१॥
जैसे चात्रिक स्वाति बूंद बिनु, प्रान समं न ठानी ।
भीखा जेहि तन राम भजन नहिं, काल रूप तेहि जानी ॥२॥

प्रेम का सौदा (१०)

कहा कोउ प्रेम बिसाहन जाय ।
महंग बड़ा गथ काम न आवै, सिरके मोल बिकाय ॥टेक॥
तन मन धन पहिले अरपन करि, जग के सुख न सोहाय ।
तजि आपा आपुहि ह्वै जावै, निज अनन्य सुखदाय ॥१॥
यह केवल साधन को मत है, ज्यों गूंगे गुड़ खाय ।
जानहि भले कहै सो कासों, दिल की दिलहिं रहाय ॥२॥
बिनु पग नाच नैन बिनु देखै, बिनु करताल बजाय ।
बिनु सरवन धुनि सुनै बिबिधि बिधि, बिन रसना गुन गाय ॥३॥
निरगुन में गुन क्योंकर कहियत, ब्यापकता समुदाय ।
जहं नाहिं तहं सब कछु दिखियत, अंधरन की कठिनाय ॥४॥
अजपा जाप अकथ को कथनों, अलख लखन किन पाय ।
भीखा अबिगति की गति न्यारी, मन बुधि चित न समाय ॥५॥

बिसाहन=मोल लेने । गथ...आवै=द्रव्यादि से काम नहीं चलता । अनन्य =केवल वही एक मात्र । सरबन=श्रवण, कान । समुदाय=सर्वत्र ।

निश्चल मन (११)

धनि कबहूं यह सुनब सपने, की मन थाकि बैठहि घर अपने ॥१॥
अब बिषयनि के निकट न जइहों, निरभै रामनाम लै लइहों ॥२॥
वाको मोहि बिसवास न ऐसो, हाथी हाथ में होवै कैसो ॥३॥
मनउन मेख चेत जब आवै, तब सुधि मोहि बुद्धि भुलि जावै ॥४॥
जब गुरु गोविंद करैं सहाई, तब कबही के सो ठहराई ॥५॥
अब मैं आनंद करब हुलासा, केवल ब्रह्म मिलो तेहि पासा ॥६॥
फिर मन कै धरम अधरम जानै, काधी कहै करै को मानै ॥७॥
नहिं तो पानि पवन कर लेखा, बहत सदा कहीं थीर न देखा ॥८॥
कह भीखा गुरु सेवक सोई, जाकर मन हरि भजता होई ॥९॥

थाकि=थककर । हाथ में=वश में । उनमेख=उन्मेष; बिकास, प्रवृत्ति । कबही के=किसी प्रकार । फिर...जानै=फिर भी उसी के ऊपर है । पानि=पानी, जलप्रवाह ।

सच्ची भक्ति (१२)

प्रीतिसों हरि भजन है सांची ॥टेक॥
यहि बिनु भक्ति भाव फल देखा, रूप थको अंतर गति कांची ॥१॥
जोग जग्य तीरथ ब्रत पूजा, मन माया आशा लिये नांची ॥२॥
प्रीतिवंत हरिपद अनुरागी, भयो अजाच फेरि काहु न जांची ॥३॥
सतगुर ग्यान बेदांत मता जोइ, भीखा खोलि लिखा सोइ बांची ॥४॥

रूप = बाहर से देखने पर। अंतर गति = अंतर्गत, भीतर से। अजाय = संतुष्ट। बांची = पढ़ लिया, समझ लिया।

कवित्त

पुरुष पुरान आदि दूसरों न माया बादि,
बोले सत्त सब्द जामें त्रिगुन पसार है।
बीज बढ़यो है तुमार चर अचर बिचार,
तामे मानुष सचेत औ चेतन अधिकार है।।
सतगुरु मत पाय निज रूप ध्यान लाय,
जनम सुफल सांच ताको अवतार है।
गगन गवन करै अनहद नाद भरै,
सुन्दर सरूप भीखा नूर उजियार है ।।१।।

जाकै ब्रह्म दृष्टि खुलो तनमन प्रान तुलो,
धन्य सोई संत जाके नाम की उपासना।
ज्ञानिन में ज्ञान वोई अनुभव फल जोई,
तजै लोकलाज जामें काल जात सांसना।।
प्रेम पंथ पग दियो उरध में घर कियो,
मन निरगुन पद छटै जग बासना।
जोग की जुगति पाय सुरति निरति लाय,
नाद बिंद सम भीखा लायो दृढ़ आसना ।।२।।

भूलो ब्रह्म द्वार काम क्रोध अहंकार माँहि,
रहत अचेत नर मन माया पागो है।
अलख अलेख रूप आतमा है भेख धरे,
कस न पुलकि जीव ताही संग लागो है।।
अकथ अगाथ वोई अनुभव फल जोई,
निसु महाभोर मानो सोय उठि जागो है।
बाजै अनहद मारु उमैदल मोच्छ झारु,
सूरा खेते मांड़ि रह्यो भीखा कूर भागो है ।।३।।

खुद एक भुम्मि आहि बासन अनेक ताहि,
रचना बिबिध रंग गढ्यो कुम्हार है।
नाम एक सोन आस गहना ह्वै द्वैतभास,
कहूं खरा खोट रूप हेमहि अधार है।।
फैन बुद बुद अरु लहरि तरंग बहु,
एक जल जानि लीजै मीठा कहूं खार हैं।
आतमा त्यों एक जाते भीखा कहे याही मते,
ठग सरकार के बटोही सरकार हैं ।।४।।

तुमार = तूमार, बहुत। आसना = आसन। पुलकि = उमंग के साथ, प्रसन्नतापूर्वक। मारु = युद्ध का बाजा। मोच्छ झारु = मूंछों पर ताव देते हैं। मांड़ि रह्यो =

डटा हुआ है। कूर=कायर। खुद=केवल। भुम्मि=भूमि, मिट्टी। आस=अस, ऐसा। बासन=बर्तन। हेमहि=सोना ही। जाते=जाति, मात्र। बटोही=पथिक, मुसाफिर।

रेखता

भयो अचेत नर चित्त चिंता लायो, काम अरु क्रोध मद लोभ राते।
सकल सरपंच में खूब फाजिल हुआ, माया मद चाखि मन मगन माते ॥
बढ़यो दीमाग मगरूर हय गज चढ़ा, कह्यो नहिं फौज तूमार जाते।
भीखा यह ख्वाब की लहरि जग जानिये, जागि करि देखु सब झूठ नाते ॥१॥

झूठ में सांच इक बोलता ब्रह्म है, ताहि को भेद सतसंग पावै।
धन्य सो भाग जो सरन सेवाटहल, रात दिन प्रीति लवलीन गावै ॥
बचन लै जुक्ति सों सिद्धि आसन करै, पवन संग गवन करि गगन जावै।
प्रकट परभाव गुरुगम्य परचौ इहै, भीखा अनहद्द पहिले सुनावै ॥२॥

शब्द परकास के सुनत अरु देखते, छूटि गई बिषै बुधि बास कांची।
सुरति गै निरति घर रूप अयो दृष्टि पर, प्रेम की रेख परतीत खांची ॥
आतमा राम भरिपूर परगट रह्यो, खुलि गई ग्रंथि निज नाम बांची।
भीखा यों पगि गयो जीव सोई ब्रह्म में, सीव अरु सक्ति की मिलन सांची ॥३॥

ब्रह्म भरिपूर चहुं ओर दसहूं दिसा, भाव आकासवत नाम गहना।
अजर सो अमर आबरन अबिगति सदा, आतमा राम निज रूप लहना ॥
सत्त सों एक अवलंब करु आपनो, तजो बकवाद बहु फूहस कहना।
भीखा अलेख को देखि कै मिलि रह्यो, मुष्टि का बांधि चुप लाइ रहना ॥४॥

फाजिल=निपुण, निष्णात। तूमार=विस्तार। बास=वासना। अयो=आयो, आ गया। गंथि=बंधन की गाँठ। पगि गयो हिलमिल गया। सांची=वास्तविक बात है। आबरन=अवर्ण, बिना किसी रंग का। फूहस=भद्दी, बे-सिर-पैर की। मुष्टि का...रहना=अंत में मुट्ठी बाँधकर मौन बन जाना है।

कुंडलिया

राम रूप को जो लखे सो जन परम प्रबीन ॥
सो जन परम प्रबीन लोक अरु बेद बखानै।
सत संगति में भाव भगति परमानंद जानै ॥
सकल बिषय को त्यागि बहुरि परबेस न पावै।

केवल आपै आपु आपु में आपु छिपावै ॥
भीखा सबते छोट होइ रहै चरन लवलीन।
राम रूपको जो लखे सो जन परम प्रबीन ॥१॥

मन क्रम बचन बिचारिकै राम भजै सो धन्य।
राम भजै सो धन्य धन्य बपु मंगल कारी।
राम चरन अनुराग परम पद को अधिकारी।
काम क्रोध मद लोभ मोह की लहरि न आवै ॥
परमातम चेतन्य रूप मँ दृष्टि समावै ॥

व्यापक पूरन ब्रह्म है भीखा रहनि अनन्य ।
मन क्रम बचन बिचारि कै राम भजै सो धन्य ॥२॥
धनि सो हरि भाग जो भजै तासम तुलै न कोइ ॥
तासम तुलै न कोइ होइ निज हरि को दासा ।
रहै चरन लीलोन राम को सेवक खासा ॥

सेवक सेवकाई लहै भाव भगति परवान ।
सेवा को फल जोग है भक्तवस्य भगवान ॥
केवल पूरन ब्रह्म है भीखा एक न दोइ ।
धन्य सो भाग जो हरि भजै तासम तुलै न कोइ ॥३॥

जुक्ति मिले जोगी हुआ जोग मिलन को नाम ॥
जोग मिलन को नाम सुरति जा मिलै निरति जब ।
दिव्य दृष्टि संजुक्त देखि कै मिलै रूप तब ॥
जीव मिलै जा पीव को पीव स्वयं भगवान ।
तब सक्ति मिलै जा सीव को सीव परम कल्यान ॥

भीखा ईसुर की कला यह ईसुरताई काम ।
जुक्ति मिले जोगी हुआ जोग मिलन को नाम ॥४॥
चलनी को पानी पड़ो बरहा कभी न होय ॥
बरहा कभी न होइ भजन बिनु धिग नर देही ।
झूठ परपंच मन गह्यो तज्यो हरि परम सनेही ॥

ज्यों सुपने लागी भूख अन्न बिनु तन मरि जाहीं ।
कबहीं उठे जो जाग हरख बिसमय कहुं नाहीं ॥
(भीषा) सत्य नाम जाने बिना सुख चाहे जो कोइ ।
चलनी को पानी पड़ो बरहा कभी न होइ ॥५॥

बहुरि...पावै = फिर प्रभावित नहीं होता । बपु = शरीर । खासा = सच्चा । बरहा = सिंचाई के लिए बनाया गया नाला ।

साखी

तूमा तन मन रूप है, चेतनि आब भराय ।
पीवत कोई संत जन, अमृत आपु छिपाय ॥१॥
पीवा अधर अधार को, चलत सो पांव पिराय ।
जो जावै सो गुरु कृपा, कोउ-कोउ सीस गंवाय ॥२॥

सकल संत कै रेनुलै, गोला गोल बनाय ।
प्रेम प्रीति घसि ताहि को, अंग बिभूति लगाय ॥३॥
भिच्छा अनुभव अन्न लै, आतम भोग बिचार ।
रहै सो रहति अकासवत, बरजित जानि अहार ॥४॥

संत चरनि में लगि रहे, सो जन पावे भेव ।
भीखा गुरु परताप तें, काढे कपट जनेव ॥५॥
जोग जुक्ति अभ्यास करि, सोहं शब्द समाय ।
भीखा गुरु परताप तें, निज आतम दरसाय ॥६॥

जाय जपै जो प्रीति सों, बहु बिधि रुचि उपजाय ।
सांझ समय औ प्रात लगु, तत्त पदारथ पाय ।।७।।
भीखा केवल एक है, पिरतम भयो अनंत ।
एकै आतम सकल घट, यह गति जानहिं संत ।।८।।

जोती ज्वाला जीव की, फैलि रह्यो सब अंग ।
चेतनि अंस प्रकास है, मन पवना के संग ।।९।।
शब्द नाम गुरु एक है, करता करम अधीन ।
देह आतमा द्वै नहीं, जीव ब्रह्म नहिं चीन ।।१०।।

कोटि कला जो करि मरै, बिनु गुरु लहै न भेद ।
अंत कोई नहिं पावई, पढै जो चारों वेद ।।११।।
करम को करता जीव है, अवर न दूजा कोइ ।
भीखा हरि बिनु जो करै, अंत भोगता होइ ।।१२।।

राम को नाम अनंत है, अंत न पावै कोय ।
भीखा जस लघु बुद्धि है, नाम तवन सुख होय ।।१३।।
एक संप्रदा सब्द घट, एक द्वार सुख संच ।
इक आतम सब भेष मों, दूजो जग परपंच ।।१४।।

तूमा = तुंबा । आब = जल । पौवा = पादस्थान । अधर = आकाश, शून्य स्थान । आधार को = आधार वा आश्रम के लिए । भेव = भेद, आध्यात्मिक रहस्य । जोती ज्वाला = ज्वलंत ज्योति । चीन = चीन्हता, पहचानता । कला = प्रयत्न । भोगता = भोक्ता, भोगने वाला । तवन = तितना, तैसा । संप्रदा = संप्रदाय, मत । संच = समुदाय, ढेरी । भेष मों = रूपों के अंतर्गत ।

सहजो बाई

सहजो बाई ने अपने ग्रंथ 'सहजप्रकाश' के अंतर्गत जो आत्म-परिचय दिया है, उससे केवल इतना ही पता चलता है कि इनका भी जन्म अपने गुरु चरणदास की भाँति, ढूसर (वैश्य) कुल में हुआ था । ये किसी हरिप्रसाद की पुत्री थीं । उक्त पुस्तक में यह भी लिखा मिलता है कि सं १८०० के फाल्गुन मास (शुक्ल पक्ष) की अष्टमी तिथि को, बुधवार के दिन, इन्होंने उसकी रचना आरंभ की थी तथा दिल्ली नगर के प्रीछितपुर (कदाचित् परीक्षितपुर नामक किसी भाग) में उसकी समाप्ति हुई थी । इनके विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि ये अपने जीवन भर क्वाँरी एवं ब्रह्मचारिणी रहीं और अपने गुरु के निकट रह कर उनके सत्संग से सदा लाभ उठाती रहीं ।

इनका 'सहजप्रकाश' ग्रंथ 'बेलवेडियर प्रेस' द्वारा प्रकाशित हो चुका है । इसमें इनकी प्रगाढ़ गुरु-भक्ति, संसार की ओर से पूर्ण विरक्ति तथा साधु, मानव-जीवन, प्रेम, निर्गुण-सगुण भेद, नाम-स्मरण जैसे विषयों पर व्यक्त किये गए इनके विचारों का अच्छा परिचय मिल जाता है । इसमें दोहे, चौपाई, कुंडलियाँ छंदों की संख्या अधिक है । इनकी वर्णन शैली में कोई विशेषता नहीं दीखती । हाँ, इनके सगुण रूप वर्णन में सगुणोपासक कृष्ण-भक्तों की शैली अवश्य लक्षित होती है ।

पद

उपदेश

(१)

बाबा काया नगर बसावो ।
ज्ञान दृष्टि सूं घट में देखो, सुरति निरति लौ लावो ॥१॥
पांच मारि मन बस करि अपने तीनों ताप नसावो ।
सत सन्तोष गहौ दृढ़ सेती, दुर्जन मारि भजावो ॥२॥
सील छिमा धीरज कूं धारो, अनहद बंब बजावो ।
पाप बानिया रहन न दीजै, धरम बजार लगावो ॥३॥
सुबस बास होवै तब नगरी, बैरी रहै न कोई ।
चरन दास गुरु अमल बतायो, सहजो संभालो सोई ॥४॥

बंब=नगारा । संभालो - व्यवहार किया ।

सगुण रूप में

(२)

मुकट लटक अटकी मन मांही ।
नृत तन नटवर मदन मनोहर, कुंडल झलक अलक बिथुराई ॥१॥
नाक बुलाक हलत मुक्ताहल, होठ मटक गति भौंह चलाई ।
ठुमुक ठुमुक पग धरत धरनि पर, बांह उठाय करत चतुराई ॥२॥
झुनक झुनक नूपुर झनकारत, तता थेई थेई रीझ रिझाई ।
चरन दास सहजो हिय अन्तर, भवन करो जित रहो सदाई ॥३॥

बिथुराई=छिटकी हुई । नृत तन=नृत्य करता हुआ शरीर । चतुराई=भावा-चतुर्य ।

विनय

(३)

तुम गुनवंत मैं औगुन भारी ।
तुम्हरी ओट खोट बहु कीन्हें, पतित उधारन लाल बिहारी ॥१॥
खान पान बोलत अरु डोलत, पाप करत है देह हमारी ।
कर्म बिचारो तो नहिं छूटों, जो छूटों तो दया तुम्हारी ॥२॥
मैं अधीन मायाबस हो करि, तुव सुधीन माया सूं न्यारे ।
मैं अनाथ तुम नाथ गुसाईं, सब जीवन के प्रान पियारे ॥३॥
भौ सागर मैं डर लागत मोहिं, तारो बेगहि पार उतारी ।
चरन दास गुर किरपा सेती, सहजो पाई सरन तिहारी ॥४॥

औगुन=अवगुणपूर्ण । तुम्हारी ओट=तुमसे छिपाकर । सुधीन=स्वाधीन ।

चौपाई

राम तजूं पै गुरु न बिसारूं । गुरुके सम हरिकूं न निहारूं ॥
हरि ने जन्म दियो जग माहीं । गुरुने आवागमन छुटाहीं ॥
हरिने पांच चोर दिये साथा । गुरुने लई छुटाय अनाथा ॥
हरिने कुटुंब जाल में गेरी । गुरुने काटो ममता बेरी ॥
हरिने रोग भोग उरझायो । गुरु जोगी कर सबै छुटायो ॥
हरिने कर्म भर्म भरमायो । गुरुने आतम रूप लखायो ॥
हरिने मोसूं आप छिपायो । गुरु दीपक दै ताहि दिखायो ॥

फिर हरि बंध मुक्ति गति लाये । गुरुने सबही भर्म मिटाये ॥
चरनदास पर तन मन वारूं । गुरु न तजूं हरिकूं तजि डारूं ॥

निहारूं = मानती हूँ । गेरी = डाल दिया । जोगी कर = युक्ति करके ।

साखी

सहजो गुरु रंगरेज सा, सबही कूं रंग देत ।
जैसा तैसा बसन ह्वै, जो कोइ आव सेत ॥१॥
साध मिले हरिही मिले, मेरे मन परतीति ।
सहजो सूरज धूप ज्यों, जल पाले की रीति ॥२॥
जो सोवै तौ सुन्न में, जो जागे हरि नाम ।
जो बोलै तौ हरिकथा, भक्ति करै निःकाम ॥३॥
जब लग चावल धान में, तब लग उपजै आय ।
गज छिलके सूं तजि निकस, मुक्ति रूप ह्वै जाय ॥४॥
जग देखत तुम जावगे, तुम देखत जग जाय ।
सहजो योंही रीति है, मत कर सोच उपाय ॥५॥
साहन कूं तौ भय घना, सहजो निर्भय रंक ।
कुंजर कै पग बेडियां, चींटी फिरै निसंक ॥६॥
हंसा सोहं तार कर, सुरति मकरिया पोय ।
उतर उतर फिरि-फिरि चढ़ै, सहजो सुमिरन होय ॥७॥

सेत = शुद्ध हृदय के साथ । जग छिलके = सांसारिक प्रपंच । साहन कूं = धनवानों की । मकरिया = चक्की में लगी हुई मकरी नाम की लकड़ी । पोय = गूंथ दो ।

संत दयाबाई

दयाबाई का एक अन्य नाम दया कुंवरि भी मिलता है । इनके ग्रंथ 'दयाबोध' से पता चलता है कि ये संत चरणदास की शिष्या थीं और उसकी रचना इन्होंने सं० १८१८ की चैत सुदि ७ को की थी । प्रसिद्ध है कि अपनी गुरु बहन सहजो बाई की भाँति ये भी ढूसर (वैश्य) कुल की ही कन्या थीं और अपने गुरु के साथ दिल्ली में रहा करती थीं । इनकी रचना 'दयाबोध' के साथ 'विनयमालिका' नाम की एक अन्य छोटी-सी पुस्तक भी 'बेलवेडियर प्रेस' द्वारा प्रकाशित हुई है जिसके रचयिता का नाम दयादास जान पड़ता है । दोनों के संपादक ने दयाबाई और दयादास को अभिन्न माना है जो असंभव नहीं जान पड़ता । इनके विषय में और कुछ विदित नहीं है ।

इनकी रचनाओं में गुरु-भक्ति के अतिरिक्त प्रेम, वैराग्य, अजपाजाप आदि विषयों का वर्णन अन्य संतों की ही भाँति दीख पड़ता है । 'विनयमालिका' के अन्तर्गत प्रदर्शित की गई एकांतनिष्ठा का भाव तथा इनके आत्मनिवेदन का दैन्यपन इनके सच्चे हृदय के परिचायक हैं । इनके आत्मसमर्पण में, एक निराश्रित की शक्तिहीनता के साथ-साथ अपने इष्ट के प्रति दृढ़ विश्वास का सहारा भी लक्षित होता है । 'विनय-मालिका' की भाषा में 'दयाबोध' से कहीं अधिक प्रभाव उत्पन्न करने की शक्ति है ।

साखी

गुरु किरपा बिन होत नहिं, भाव भक्ति विस्तार ।
जोग जज्ञ जप तप 'दया', केवल ब्रह्म बिचार ॥१॥

सूरा सन्मुख समय में, घायल होत निसंक ।
यों साधू संसार में, जगके सहैं कलंक ॥२॥

'दया' प्रेम उन्मत्त जे, तनकी तनि सुधि नांहि ।
झुके रहैं हरिरस छके, थके नेम ब्रत मांहि ॥३॥
हंसि गावत रोवत उठत, गिरि गिरि परत अधीर ।
पै हरिरस चसको 'दया', सहै कठिन तन पीर ॥४॥

स्वांसउ स्वांस बिचार करि, राखै सुरति लगाय ।
दया ध्यान त्रिकुटी धरै, परमातम दरसाय ॥५॥
वही एक व्यापक सकल, ज्यों मनिका में डोर ।
थिरचर कीट पतंग में, 'दया' न दूजो और ॥६॥ —दयाबोध से

समय = संग्राम । तनि = तनिक भी । झुके रहैं · सदा और भी हरिरस पीने के इच्छुक बने रहते हैं । थके...मांहि = विधि-निषेधादि से सदा उदासीन रहा करते हैं । चसको = चसका, स्वाद । मनिका = मनकों की माला ।

पैरत थाको हे प्रभू, सूझत वार न पार ।
मेहर मौज जब ही करो, तब पाऊं दरबार ॥७॥
निर पच्छी के पच्छ तुम, निराधार के धार ।
मेरे तुमही नाथ इक, जीवन प्रान आधार ॥८॥

ठग पापी कपटी कुटिल, ये लच्छन मोहि मांहि ।
जैसो तैसो तेरिही, अरु काहू को नांहि ॥९॥
दुख तजि सुख की चाह नहिं, नहिं बैकुंठ बेवान ।
चरन कमल चित चहत हौं, मोहि तुम्हारी आन ॥१०॥

देह धरौं संसार में, तेरो कहि सब कोय ।
हांसी होय तो तेरि ही, मेरी कछू न होय ॥११॥
सीस नवै तौ तुमहिं कूं, तुमहिं सूं भाखूं दीन ।
जो झगरौं तौ तुमहिं सूं, तुम चरनन आधीन ॥१२॥

—विनयमालिका से

मौज = लहर । धार = धारा, लहर । तेरिही = तेरा ही । बेवान = विमान । आन = शपथ ।

संत रामचरन

संत रामचरन का जन्म जयपुर राज्य के अंतर्गत, ढूंढाण प्रदेश के सूरसेन अथवा सोडा गाँव में सं० १७७६ में हुआ था । इनका पहला नाम रामकृष्ण था, किंतु इनके प्रारम्भिक जीवन की घटनाओं का कोई पता नहीं चलता । ये बीजावर्गीय वैश्य कुल के थे । प्रसिद्ध है कि अपनी आयु के इकतीसवें वर्ष में इन्होंने किसी रात को स्वप्न में देखा कि मुझे कोई महात्मा नदी में बहने से बचा रहे हैं । जगने पर घटना की सत्यता में विश्वास करते हुए ये उस महात्मा की खोज में निकल पड़े और दांतड़ा जाकर सं० १८०८ में कृपाराम जी से दीक्षित हुए । ये कृपाराम जी स्वामी रामानंद की परम्परा के प्रसिद्ध अग्रदास की पांचवीं पीढ़ी के संतदास के शिष्य थे । संत रामचरन ने सं० १८०८ में वैराग्य लेकर गूदड़ धारण किया था, किन्तु वहां इन्हें

पूर्ण सन्तोष न हो सका और इन्होंने निजी अनुभव के अनुसार मत निश्चित किया। अंत में शाहपुरा में आकर रहने लगे और वहीं पर इन्होंने अपने मत-प्रचार का प्रधान केन्द्र स्थापित किया। इनका देहान्त सं० १८५५ में हुआ और इनका चलाया पंथ 'रामसनेही सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है।

इनके अनुसार सर्वश्रेष्ठ साधना निर्गुण राम का स्मरण है और ऐहिक सुख तथा ईश्वर-प्राप्ति प्रेम के आधार पर ही सम्भव है। इनके अनुयायी अहिंसा के महत्त्व पर अधिक जोर देते हैं और उनकी कई एक बातें जैन धर्मानुयायियों के समान दीख पड़ती हैं। संत रामचरन ने लगभग दो दर्जन छोटे बड़े ग्रन्थों की रचना की थी जिनका एक बृहत् संग्रह 'अणभैवाणी' नाम से प्रकाशित हुआ है। इनकी रचनाओं के अन्तर्गत विशेष ध्यान गुरु-भक्ति, साधु-महिमा, सादा जीवन, सदाचरण और भक्ति पर दिया गया है। इनकी प्रवृत्ति किसी विषय का स्पष्ट विवरण देने की ओर अधिक जान पड़ती है और ये उसे पूरी शक्ति के साथ व्यक्त करते हैं। जान पड़ता है कि इन्होंने प्रत्येक बात का अध्ययन मनोयोगपूर्वक किया है और उसे स्वानुभूति के बल पर बतला रहे हैं। इनकी रचनाओं की भाषा प्रधानतः राजस्थानी है, किन्तु इनकी वर्णन-शैली बहुत सरल और प्रसादपूर्ण है। उनमें आलंकारिक भाषा के प्रयोग प्रचुर मात्रा में नहीं मिलते और उनमें पहेलियों की ही भरमार है।

संत रामचरन के 'रामसनेही संप्रदाय' के अतिरिक्त हरिरामदास द्वारा प्रवर्त्तित 'रामसनेही पंथ' भी खेड़ापा (बीकानेर) में प्रसिद्ध है जो इससे भिन्न है।

पद

आत्मनिवेदन (१)

रमइया मोरि पलक न लागै हो।
दरस तुम्हारै कारणैं, निसिबासर जागै हो ॥टेक॥
दसूं दिशा जातर करूं, तेरो पंथ निहारूं हो।
राम राम की टेर दे, दिन रैण पुकारूं हो ॥१॥

नैन दुखी दीदार बिन, रसना रस आशै हो।
हिरदो हुलसै हेतूकूं, हरि कब परकाशै हो ॥२॥
स्वाति बूंद चातक रटै, जल और न पीवै हो।
घन आशा पूरै नहीं, तो कैसे जीवै हो ॥३॥
दास की या अरदास सुण, पिया दरसन दीजै हो।
राम चरण बिरहिनि कहै, अब बिलम न कीजै हो ॥४॥

जातर = यात्रा, भ्रमण। अरदास = प्रार्थना, विनती।

आरती (२)

आरती रमता राम तुम्हारी, तुम सूं लागी सुरति हमारी ॥टेक॥
रमता राम सकल भरपूरा, सुषिम थूल तुम्हारा नूरा ॥१॥
आरति सुमरण सेवा कीजै, सब निर्दोष ज्ञान गहि लीजै ॥२॥
ये ही आरती ये ही पूजा, राम बिना दरसै नहि दूजा ॥३॥
शिव सनकादिक शेष पुकारै, यह आरति भव सागर तारै ॥४॥
रामचरण ऐसि आरति ताके, अठसिधि नव निधि चेरी जाके ॥५॥

कुंडलिया

निस्प्रेही, निर्वैरता, निराकार, निरधार ।
सकल सृष्टि में रमि रह्यो, ताको सुमिरन सार ।।
ताको सुमिरन सार, राम सो ताहि भणीजै ।
दृष्टि मुष्टि आकार रूप माया ज गिणीजै ।।
रामचरण व्यापक व्योम ज्यों, ताको सुमिरन सार ।
निस्प्रेही, निर्वैरता, निराकार, निरधार ।।१।।

जिज्ञासू जरणां लियां, संजम राखै मन्न ।
धर्म मांहि धारा सदा, तनको नांहि जतन्न ।।
तनको नांहि जतन्न, अन्न जल संजम लेवै ।
राम भजन में निरत, नित्य निर्मल जल सेवै ।।
रामचरण में धारणा, कहा ग्रेही कहा वन्न ।
जिज्ञासू जरणां लियां, संजम राखै मन्न ।।२।।

इतना चहिये साधुकों, छादन भोजन नीर ।
रामचरण एता अधिक, ले सो नहीं फकीर ।।
ले सो नहीं फकीर, भार काहे सिर धरिये ।
आतम भाड़ा देय, राम का सुमिरण करिये ।।
जगत छांडि ऐसी करी, ज्यां परस्या पूरा पीर ।
इतना चहिये साधुकों, छादन भोजन नीर ।।३।।

साधू सुमिरे राम, काम माया से नांही ।
छादन भोजन हेतु बसै, नहि दुनिया मांही ।।
पर इच्छा की भीख, पाय बरते निज देहा ।
अपणा निज घर छाड़ि, करै नहि पर घर नेहा ।।
आशा बांध्या ना फिरै, बिचरै सहज सुभाय ।
रामचरण ऐसा जती, रामकृपा से पाय ।।४।।

आनंदघन सुखराशि, चिदानंद कहिये स्वामी ।
निरालंब निरलेप, अकल हरि अंतरयामी ।।
वार पार मधि नहिं, कूंन बिधि करिये सेवा ।
नहिं निराकार आकार, अजन्मा अवगत देवा ।।
रामचरण वन्दन करै, अलहं अखंडति नूर ।
सूक्ष्म स्थूल खाली नहीं, रह्यो सकल भरपूर ।।५।।

राम राम मुख गाय, ब्रह्म का पद कूं पायो ।
जैसे सरिता नीर धाय, धुरि समंद समायो ।।
जल की उत्पति लोण, उलटि अपणो पद पायो ।
पालो पाणीं महिं गल्या, नहिं दूजा दरसायो ।।
ज्यों जलकेरा बुदबुदा, जल से न्यारा नांहि ।
रामचरण दरियाव की, लहर्‌यां दरियां मांहि ।।६।।

मुष्टि = माप । ग्रेही = गृह, घर । जरणां = आत्मसात् करने की साधना ।

छादन = पहनने के लिए वस्त्रादि। ज्यां...पीर = जिसे आत्मानुभूति हो गई, जिसने पूर्ण तत्त्व का अनुभव कर लिया। अवगत = अविगत, अज्ञात। खाली = पोपला, भीतर शून्यवत्। दरियाव = समुद्र, जलराशि।

चौपाई

जाग्यो प्रेम नेम रह्यो नांहीं। पाई राम धाम घट मांहीं॥
उर अस्थान पाय बिश्रामा। सब्द किया जाय नाभि मुकामा॥१॥
नाभि कमल में सब्द गुंजारै। नीसै नारी मंगल उचारै॥
रोम रोम झुणकार झुणक्कै। जैसे जंतर तांत ठुणक्कै॥२॥
माया अच्छर इहां बिलाया। ररंकार इक गगन सिधाया॥
पच्छिम दिशा मेरु की घाटी। बीसों गांठ घोरसें फाटी॥३॥
त्रिकुटी संगम किया सनाना। जाय चढ़्या चौथे अस्थाना॥
जहां निरंजन तख्त बिराजै। ज्योति प्रकास अतन रवि राजै॥४॥
अणहद नाद गिणंत नहि आवै। भांति-भांति की राग उपावै॥
सूवै सुषुमना नीर फुंहारा। सून्य सिखर का यह बिवहारा॥५॥

जंतर तांत = किसी वाद्ययंत्र में लगी चमड़े की तांत। उपावै = उत्पन्न करता है।

अरिल्ल

बिरह घटा घररात नैंण नीझर झरैं।
चित चमंकै बीज कि हिरदो ओल्हरैं॥
बिरहिन हूं बेहाल दया कर न्हालियो।
परिहां, रामचरण कूं राम बेग सम्हालियो॥१॥

बिरहा कर ले करद कलेजा काटिहै।
पीव न सुणै पुकार कि हिवरा फाटिहै॥
सबै बटाऊ लोग न पूछै पीडरे।
परिहां, रामचरण बिन राम करै कुण भीडरे॥१॥

बिरह सपीड़ा सास वहै उर करद रे।
घाव गयो है फाटि बध्यो अति दरद रे॥
निस दिन करे पुकार वैद्य हरि आवही।
परिहां, रामचरण बिन राम भरै नहिं पाव ही॥

सूई कर निज सार सूर हित कीजिये।
अपना हाथां आप घाव सी लीजिये॥
अब नहिं कीजै ढील घाव अति बिस्तरे।
परिहां, रामचरण बेहाल बिरहनी दुखभरे॥

गुरां बताया निकट दूर कैसे भया।
मोहा माया की बाड़ आसरे होय रह्या॥
मैं निर्बल निरधार न टूटे बाड़ जी।
परिहां, तुम समर्थ बल जोर की पड़दा फाड़ जी॥

घररात = घहराती है। बीज = बिजली।

आधुनिक युग

(सं० १८५० से आगे)

सामान्य परिचय

संत-साहित्य के इतिहास के आधुनिक युग का आरम्भ उस समय से होता है, जबकि अंग्रेजों के इस देश में निश्चित रूप से शासन-भार सँभालने लगने के साथ ही विज्ञान-प्रेरित पश्चिमी विचारधाराओं का कुछ-न-कुछ प्रभाव भी यहाँ पड़ने लगा था। यहाँ की शिक्षित जनता क्रमशः आत्मनिरीक्षण एवं समाज-सुधार-सम्बन्धी प्रयत्नों में लगती जा रही थी। इस काल के कई भारतीय सुधारकों ने अपने धर्म, समाज एवं साहित्य की प्रचलित बातों पर एक नवीन दृष्टिकोण से विचार किया और उन्हें फिर से व्यवस्थित करना चाहा। पुनरुत्थान की चेतना की एक लहर दौड़ पड़ी। फलतः इस युग की एक प्रधान विशेषता संतों के अपने मूल एवं शुद्ध संतमत को एक बार फिर से अपनाने की ओर प्रवृत्त होने तथा इसके लिए वर्तमान त्रुटियों को दूर कर वास्तविक मार्ग सुझाने में भी लक्षित हुई। इस समय के संतों में प्रायः सभी शिक्षित और अनुभवी थे और उनमें कई उच्चकोटि के विद्वान् एवं अध्ययनशील भी थे। इस कारण उन्होंने मध्ययुगीन प्रवृत्तियों के प्रभाव में आकर पतनोन्मुख संत-परंपरा को सचेत एवं सावधान करने में अपनी विद्वत्ता का भी उपयोग किया। उन्होंने अनेक विवादास्पद बातों की युक्तिसंगत व्याख्या एवं विवेचन द्वारा नवीन सुझाव उपस्थित किये। परन्तु इनमें से जिन लोगों ने इधर अधिक ध्यान नहीं दिया, उन्होंने व्यापक नियमों की ओर निर्देश करते हुए सात्त्विक जीवन का महत्त्व ठहराया।

इस काल के संतों में से रामरहस दास एवं निश्चलदास ने, क्रमशः कबीर पंथ एवं दादू पंथ के पक्के अनुयायी होते हुए भी, संतमत की प्रमुख बातों को स्पष्ट करने के लिए भाष्य की रचना-पद्धति अथवा विषय-विवेचन-शैली का माध्यम स्वीकार किया। संत तुलसी साहब ने इसी प्रकार कई सांप्रदायिक प्रश्नों का व्यापक दृष्टि के साथ समाधान किया और उससे परिणाम निकाले। संत शिवदयाल एवं सालिगराम ने अपना 'सत्संग' पृथक् रूप से स्थापित करते तथा उसके द्वारा रहस्यमयी साधनाओं का अभ्यास बतलाते हुए भी, मूल संतमत का ही समर्थन किया। संत डेढ़राज ने अपने सम्प्रदाय में समाज-शुद्धि का कार्यक्रम रखा। स्वामी रामतीर्थ ने तथा महात्मा गांधी ने भी अपने-अपने सात्त्विक जीवन के आधार पर आदर्श संत-स्वरूप का स्पष्ट परिचय देते हुए इस कार्य में प्रारम्भिक काल के संतों की भाँति नितांत स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष रूप से पूरा सहयोग प्रदान किया। इस काल के संतों की कृतियों में सन्तुलित विचारों के साथ-साथ एक अपूर्व गांभीर्य एवं भावोन्माद भी लक्षित होता है जो अत्यन्त पक्की और गहरी अनुभूति के ही कारण सम्भव हो सकता है। इससे आकृष्ट एवं प्रभावित हो जाना कुछ भी कठिन नहीं है। इस विशेषता ने ही उनकी कथन-शैली में उस खरापन और चुटीलेपन का भी समावेश कर दिया है जो कबीर आदि संतों में ही दीख पड़ता था। इस काल के संतों में पलटू साहब एवं स्वा० रामतीर्थ की मस्ती और भावावेश विशेष रूप से उल्लेख-

नीय हैं। इसी प्रकार तुलसी साहब की स्पष्टवादिता और खरी आलोचना की भी चर्चा किये बिना हम नहीं रह सकते।

इस काल के संतों की रचनाओं में फारसी एवं उर्दू भाषा की वर्णन-शैलियों का प्रभाव भी स्पष्ट लक्षित होता है। पलटू साहब, तुलसी साहब, संत शिवदयाल, सालिगराम एवं स्वामी रामतीर्थ में ऐसे प्रयोगों की प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ती चली गई है। इनमें से प्रथम दो संत जहाँ सूफी मत से न्यूनाधिक प्रभावित होने के ही कारण, इस प्रकार के उदाहरण उपस्थित करते हैं, वहाँ शेष तीन संतों में इस प्रकार की प्रवृत्ति स्वाभाविक-सी जान पड़ती है। वे इसे अपनाते समय अपनी नैसर्गिक प्रतिभा भी दिखलाते हैं। स्वामी रामतीर्थ की उर्दू 'बह्र' वाली रचनाओं में जिस मौलिकता और प्रवाह का चमत्कार है, वह उनकी इस विशेषता के कारण और भी अधिक बढ़ गया है। उनकी भावोन्माद भरी पंक्तियाँ अधिकतर इसी शैली द्वारा व्यक्त की गई हैं जो अत्यन्त मार्मिक और चुटीली हैं। रामरहस दास एवं निश्चलदास की विषय-प्रतिपादन-शैली इसके नितांत विपरीत जाती हुई जान पड़ती है। इसमें विषय की गंभीरता का भारीपन पग-पग पर दीख पड़ता है और उस पर सर्वत्र पंडिताऊपन की छाप लगी रहती है। रामरहस दास की वर्णन-शैली में तो रहस्यगोपन की भी चेष्टा दिखलायी पड़ती है। निश्चलदास की समास-शैली विशेषतः स्पष्ट है जहाँ सत्संग के उपर्युक्त दोनों संतों की रचनाओं में साधनादि के वर्णन विस्तार की शैली के अनुसार किये गए हैं। कविसुलभ प्रतिभा के विचार से इस काल के संतों में केवल पलटू साहब एवं स्वामी रामतीर्थ के ही नाम लिये जा सकते हैं।

संत रामरहस दास

रामरहस दास का पूर्वनाम रामरज द्विवेदी था और उनका जन्म सं० १७८२ में किसी समय बिहार प्रान्त के अन्तर्गत हुआ था। वे सुयोग्य पंडित थे और बहुत दिनों तक काशी में रह कर उन्होंने दर्शन-साहित्य का गम्भीर अध्ययन एवं अनुशीलन किया था। उन्होंने कबीरचौरा (काशी) के महंत शरणदास से दीक्षा ग्रहण की थी। 'बीजक' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ पर पूर्णरूप से मनन एवं चिंतन कर उसके आधार पर उन्होंने अपनी पुस्तक 'पंचग्रंथी' का निर्माण किया था। वे गया नगर के कबीर बाग में रहा करते थे। उनकी पुस्तक 'पंचग्रंथी' का स्थान कबीर पंथीय साहित्य में बहुत ऊँचा है और पंथ का अध्ययन करने वालों का आदर्श ग्रन्थ है। उन्होंने कई एक फुटकर पदों और साखियों की रचना की है। उनकी शैली अधिकतर समास-पद्धति का अनुसरण करती है। रामरहस दास सत्य की खोज बड़ी गहराई तक पैठ कर करना जानते थे। उनका देहांत सं० १८६६ में हुआ था।

पद

प्रभु की लीला

प्रभुजी तुम बिन कौन छुड़ावै।
महा कठिन जम जाल फांस है, तासों कौन बचावै ॥१॥
नाना फांस फंसाय जीवको अपनो रूप छिपावै।
पंच कोष ह्वै परगट ग्रासे, तेहि को कौन लखावै ॥२॥

आपुहि एक अनेक कहावैं, त्रिविध सरूप बनावैं।
सन्निपात होय दृष्ट सो, परलय अंत दिखावैं ।।३।।

विषय विकार जगत अरुझावैं, जहां तहां भटकावैं ।
योग ध्यान विगुर्चन भारी, ताहि सुरति अटकावैं ।।४।।

आस नाम नौका बैठावैं, भवकी धार वहावैं ।
तत्त्वमसी कहि ताहि डुबावैं, अंत कोइ नहिं पावैं ।।५।।

चारि मुक्ति जोइनि चौरासी, तेहि मिलि हेत बढ़ावैं ।
नेम धर्म पूजा और संजम, बहुबिधि लागि लगावैं ।।६।।

भेष अलेख करे को पावैं, जीवहि चैन न आवैं ।
चार वेद षट अष्ट दसों लौं, शून्यहि शून्य समावैं ।।७।।
काल चक्र बसि उत्पति परलय, जीव दुसह दुख पावैं ।
साहेब दया कीन्ह परखाये, राम रहस गुण गावैं ।।८।।

पंच कोष=शरीरस्थ आवरण।

साखी

द्वन्द्वज सत्य असत्य को, जहां नहीं कुछ लेश ।
सो प्रकाशक गुरु परख है, मेटत सकल कलेश ।।१।।
प्रथमहि शब्द सुधारिके, टारे त्रयविध जाल ।
झांई मेटन संधिको, ऐसो शरण दयाल ।।२।।
राम रहस साहब शरण, अभय अशंक उदोत ।
आवागमन की गम नहीं, भोर सांझ नहिं होत ।।३।।

झांई=झलक, आरोपित छाया।

सत पलटू साहब

पलटू साहब के आविर्भाव-काल का ठीक-ठीक संवत् विदित नहीं। किन्तु ऐसा अनुमान किया जाता है कि विक्रम की १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ये वर्तमान थे और किसी समय उसके अंत में ही इनका देहावसान भी हुआ। ये भीखा साहब के शिष्य गोविन्द साहब के शिष्य थे। इनका जन्म नगपुर जलालपुर गाँव (जिला फैजाबाद) में हुआ था जो आजमगढ़ जिले की पश्चिमी सीमा से मिला हुआ है। ये जाति के कांदू बनिया थे और पहले अपने पुरोहित गोविन्द के साथ किसी साधु जानकीदास के शिष्य हो गए थे। किन्तु जब गोविन्द को अपने उस गुरु के उपदेशों द्वारा पूरी शान्ति नहीं मिली तो वे जगन्नाथपुरी की ओर चल पड़े। मार्ग में ही भीखा साहब से उनकी भेंट हो गई और उनके सत्संग द्वारा प्रभावित होकर वे फिर से दीक्षित हो गए। गोविन्द के फिर घर लौट आने पर उनकी पलटू साहब से भेंट हुई जिन्होंने उन्हें उस नवीन दशा में पाकर अपना गुरु स्वीकार कर लिया। पलटू साहब की एकाध पंक्तियों से यह भी विदित होता है कि इस बार दीक्षित हो जाने पर इन्होंने अपने गृहस्थाश्रम का भी परित्याग कर दिया। ये 'मूंड मुंडा कर' तथा 'करधनी तोड़ कर' पूरे विरक्त बन गए। इन्होंने अपना प्रधान केन्द्र अयोध्या को बना रखा था जहाँ के वैरागी इनसे प्रायः जला करते थे। कदाचित् उन्हीं के कारण इनकी असामयिक मृत्यु भी हो गई।

पलटू साहब मस्तमौला संत थे। अपनी आध्यात्मिक अनुभूति के नशे में ये सदा चूर बने रहते थे। इनका सत्संग वेदान्ती लोगों तथा सूफियों के साथ भी रह चुका था। इस कारण, ये उनसे भी बहुत-कुछ प्रभावित थे। पलटू साहब की बहुत-सी रचनाएँ मिलती हैं जिनमें से इनकी कुंडलियाँ अधिक प्रसिद्ध हैं। इनके पदों, रेखतों, झूलनों, अरिल्लों, कुंडलियों तथा साखियों का एक अच्छा संग्रह 'बेलवेडियर प्रेस' प्रयाग द्वारा तीन भागों में प्रकाशित हो चुका है। इनकी रचनाओं पर कबीर साहब की गहरी छाप दीख पड़ती है। ये 'द्वितीय कबीर' कहलाकर भी प्रसिद्ध हैं। वास्तव में, ये उच्चकोटि के अनुभवी संत, निर्भीक आलोचक तथा निर्द्वन्द्व जीवन व्यतीत करने वाले महात्मा थे। इसी कारण, ये बहुत लोकप्रिय भी हैं। इनकी भाषा पर फारसी-अरबी का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में लक्षित होता है। इनकी स्पष्टवादिता इनकी प्रत्येक पंक्ति में व्यक्त होती है।

पद

सच्चा गुरु (१)

गगन की धुनि जो आनई, सोई गुरु मेरा।
वह मेरा सिरताज है, मैं वाका चेरा ॥टेक॥
सुन में नगर बसावई सूतत में जागै।
जल में अगिन छपावई, संग्रह में त्यागै ॥१॥
जंत्र विना जंत्री बजै, रसना बिनु गावै।
सोहे सब्द अलापि कै, मनको समुझावै ॥२॥
सूरति डोर अमृत भरै, जहं कूप अरध मुख।
उलटै कमलहि गगन में, तब मिलै परम सुख ॥३॥
भजन अखंडित लागई, जस तेल कि धारा।
पलटू दास दंडौत करि, तेहि बारंबारा ॥४॥

सृष्टि रहस्य (२)

ऐसी कुदरति तेरी साहिब, ऐसो कुदरति तेरी है ॥टेक॥
धरती नभ दुइ भीत उठाया, तिसमें घर इक छाया है।
तिस घर भीतर हाट लगाया, लोग तमासे आया है ॥१॥
तीन लोक फुलवारी तेरी, फूलि रही बिनु माली है।
घट घट बैठा आपै सींचै, तिल भर कहीं न खाली है ॥२॥
चारि खान औ भुवन चतुरदस, लख चौरासी बासा है।
आलमतोहि तोहि तोहि में आलम, ऐसा अजब तमाशा है ॥३॥
नटवा होइ कै बाजी लाया, आपुइ देखन हारा है।
पलटू दास कहौं मैं कासे, ऐसा यार हमारा है ॥४॥

आलम=जगत्, सृष्टि।

जोगी प्रियतम (३)

प्रेम बान जोगी मारल हो, कसकै हिया मोर ॥टेक॥
जोगिया कै लालि लालि अंखिया हो, जस कंवल के फूल।
हमरी सुरुख चुनरिया हो, दूनो भये समतूल ॥१॥

जोगिया के लेउ मिर्गछलवा हो, आपन पट चीर।
दूनो के सियब गुदरिया हो, होइ जाब फकीर ।।२।।
गगना में सिंगिया बजाइन्हि हो, ताकिन्हि मोरी ओर।
चितवनि में मन हरि लियो हो, जोगिया बड़ चोर ।।३।।
गंग जमुन के बिचवां हो, बहै झिरहिर नीर।
तेहि ठैयां जोरल सनेहिया हो, हरि लै गयो पीर ।।४।।
जोगिया अमर मरै नहिं हो, पुजवल मोरी आस।
करम लिखा बर पावल हो, गावै पलटू दास ।।५।।

समतूल -एकसमान। जोरल सनेहिया = प्रेम-बंधन में डाल दिया। झिरहिर= वेगवती धारा में। ठैयां=स्थान पर।

सच्चा भजन (४)

हम भजनीक में नाहीं अवधू, आंखि मूंदि नहिं जाहीं ।।टेक।।
इक भजनीक भजन है इकठो, तब वह भजन में जावै।
भजनी भजन एक भा दूनो, वाके भजन न आवै ।।१।।
खसम की मजा परी है जिनको, सो क्या नैहर आवै।
हुमा पच्छी रहै गगन में, वाके जगत न भावै ।।२।।
बुंद परा सागर के मांहीं, वह ना बुंद कहावै।
लोन की डेरी परी पानी में, कहवां से फिर पावै ।।३।।
तेल की धार लगी निसि बासर, जोति में जोति समानी।
पलटुदास जो आवै जावै, सो चौथाई ज्ञानी ।।४।।

हुमा पच्छी=आकाश में ही रहने वाली एक प्रसिद्ध चिड़िया जिसकी छाया पड़ने पर मनुष्य बादशाह हो जाता है। डेरी=डली।

सच्ची बनियाई (५)

कौन करै बनियाई मेरी, कौन करै बनियाई ।।टेक।।
त्रिकुटी में है भरती मरी, सुखमन में है गादी।
दसयें द्वारे कोठी मेरी, बैठा पुरुष अनादी ।।१।।
इंगला पिंगला पलरा दूनौं, लागि सुरति की जोती।
सत्त शब्द की डांडी पकरौं, तौलौं भरि भरि मोती ।।२।।
चांद सुरुज दोउ करैं रखवारी, लगी तत्त की ढेरी।
तुरिया चढ़ि के बेचन लागे, ऐसी साहिबी मेरी ।।३।।
सतगुरु साहब किहा सिपारस, मिली राम मोदियाई।
पलटू के घर नौबति बाजै, निति उठि होत सवाई ।।४।।

भरती=पूंजी। जोती=तराजू के पलड़ों की डोरी जो डांडी से बँधी रहती है। तुरिया=चौथे पद पर।

मूर्ख जीवात्मा (६)

धूबिया रहै पियासा जल बिच, लागि जाय मुंह लासा ।।टेक।।
जल में रहै पिये नहि मूरख, सुन्दर जल है खासा।
अपने घर सन्देस पठावै, करै धोबिनि कै आसा ।।१।।

एक रती को सोर लगावै, छूटि जाय भर मासा।
आपै बटै करम की रसरी, अपने गल कर फांसा ॥२॥
आपुइ रोवै आपुइ धोवै, आपुइ रहै उदासा।
दाग पुराना छूटै नाहीं, लील बिषै की बासा ॥३॥
साबुन ज्ञान लेइ नहिं मूरख, है संतन के पासा।
पलटूदास दाग कस छूटै, आछत अन्न उपासा ॥४॥

धूबिया = जीवात्मा। जल = आत्म-सागर। लागि...लासा = चसका लग जाता है। धोबिनि = माया। बासा = वासना।

कुंडलिया

(१)

साहिब साहिब क्या करै साहिब तेरे पास ॥
साहिब तेरे पास याद करु होवै हाजिर।
अंदर धंसिकै देखु मिलेगा साहिब नादिर ॥
मान मनी हो फना नूर तब नजर में आवै।
बुरका डारै टारि खुदा बाखुद दिखरावै ॥
रूह करे मेराज कुफरका खोलि कुलाबा।
तीसौ रोजा रहै अंदर में सात रिकाबा ॥
लामकान में रब्ब को पावै पलटूदास।
साहिब साहिब क्या करै साहिब तेरे पास ॥१॥

नादिर = अनुपम। मनी = मनका। फना = नष्ट। बुरका = पर्दा। बाखुद = स्वयं। मेराज = चढ़ाई। कुलाबा = जंजीर। रिकाबा = पदस्थान। लामकान = बिना मकान।

(२)

लहना है सतनाम का जो चाहै सो लेय ॥
जो चाहै सो लेय जायगी छूट औराई।
तुमका लुटिहौ यार गांव जब दहिहैं लाई ॥
ताकै कहा गंवार मोट भर बांध सिताबी।
लूट में देरी करै ताहि की होय खराबी ॥
बहुरि न ऐसा दाव नहीं फिर मानुष होना।
क्या ताकै तू ठाढ़ हाथ से जाता सोना ॥
पलटू मैं उतृन भया मोर दोस जिन देय।
लहना है सतनाम का जो चाहै सो लेय ॥२॥

लहना = उधार। छूट = सुभीता। औराई = समाप्त। लाई = आग। सिताबी = झटपट। उतृन = उत्तीर्ण, पार।

(३)

एक भक्ति मैं जानौं और झूठ सब बात ।।
और झूठ सब बात करैं हठजोग अनारी ।
ब्रह्मदोष वो लेय काया कौ राखैं जारी ।
प्रान करैं आयाम कोई फिर मुद्रा साधैं ।।
धोती नेती करैं कोई लै स्वासा बांधैं ।।
उनमुनि लावैं ध्यान करैं चौरासी आसन ।
कोई साखी सबद कोई तप कुसकै डासन ।।
पलटू सब परपंच हैं करैं सो फिर पछितात ।
एक भक्ति मैं जानौं और झूठ सब बात ।।३।।

जारी=जलाकर, कष्ट देकर । प्रान करैं आयाम=प्राणायाम करता है । मुद्रा, नेती, धोती, उनमुनि=हठयोग की विविध साधनाएँ ।

(४)

सिध चौरासी नाथ नौ बीचैं सबं भुलान ।।
बीचैं सबै भुलान भक्ति की मारग छूटी ।
हीरा दिहिन है डारि लिहिन इक कौड़ी फूटी ।।
रांड मांड में खुसी जगत इतनैं में राजी ।
लोक बड़ाई तुच्छ नरक में अटकी बाजी ।।
झूठ समाधि लगाय फिरैं मन अंतैं भटका ।
उहां न पहुंचा कोय बीच में सब कोइ अटका ।।
पलटू अठएं लोक में पड़ा दुपट्टा तान ।
सिध चौरासी नाथ नौ बीचैं सबै भुलान ।।४।।

सिध .....नौ = ८४ सिद्ध और ६ नाथ । रांड......खुसी=थोड़े में ही संतुष्ट हो गए । अंतै=अन्यत्र ।

(५)

रन का चढ़ना सहज है मुसकिल करना योग ।।
मुसकिल करना योग चित्तको उलटि लगावै ।
विषय वासना तजै प्रान ब्रह्मांड चढ़ावै ।
साधैं वायू प्रान कुंडली करैं उथपना ।
अष्ट कंवल दल उलटि कंवल दल द्वादस लखना ।।
इंगला पिंगला सोधि बंक के नाल चढ़ावै ।
चार कला को तोड़ि चक्र षट जाय बिधावै ।।
पलटू जो संजम करैं करैं रूप से भोग ।
रनका चढ़ना सहज है मुसकिल करना योग ।।५।।

उथपना=ऊर्ध्वमुखी कर दे । बिधावै=बेध देवे ।

(६)

आठ पहर निरखत रहै जैसे चंद चकोर ।।
जैसे चंद चकोर पलक से टारत नांही ।
चुगै विरह से आग रहै मन चंदै मांही ।।
फिरै जेही दिसि चंद तेही दिसि को मुख फेरै ।
चंदा जाय छिपाय आग के भीतर हेरै ।।
मधुकर तजै न पदम जान से जाइ बंधावै ।
दीपक में ज्यों पतंग प्रेम से प्रान गंवावै ।।
पलटू ऐसी प्रीति कर परधन चाहै चोर ।
आठ पहर निरखत रहै जैसे चंद चकोर ।।६।।

हेरै=देखता है, ढूंढ़ता है ।

(७)

सीस उतारै हाथ से सहज आसिकी नांहि ।।
सहज आसिकी नांहि खांड खाने की नांहीं ।
झूठ आसिकी करै मुलुक में जूती खांहीं ।।
जीते जी मरि जाय करै न तन की आसा ।
आसिक को दिन रात रहै सूली पर बासा ।।
मान बड़ाई खोय नींद भर नाहीं सोना ।
तिलभर रक्त न मांस नहीं आसिक का रोना ।।
पलटू बड़े बेकूफ वे आसिक होने जांहि ।
सीस उतारै हाथ से सहज आसिकी नांहि ।।७।।

आसिकी=प्रेम करना। खांड......नाहीं=शक्कर जैसी खाने की वस्तु नहीं है। झूठ......खांहीं=सांसारिक प्रेम में भी अपमानित होना पड़ता है। बेकूफ=बेवकूफ, मूर्ख ।

(८)

फनि से मनि ज्यों बीछुरै जलसे बिछुरै मीन ।।
जल से बिछुरै मीन प्रान को तुरत गंवावै ।
रहै न कोटि उपाय दूध के भीतर नावै ।।
ऐसी करै जु प्रीति ताहि की प्रीति सराही ।
बिछुरै पै नर जियै प्रीति वाहू की नांहीं ।।
पटकि पटकि तन रहै बिछोहा सहा न जाई ।
नैन ओट जब भये प्रान को संग पठाई ।।
पलटू हरि से बीछुरे ये ना जीवैं तीन ।
फनि से मनि ज्यों बीछुरै जलसे बिछुरै मीन ।।८।।

नावै=डालने पर भी। बिछोहा=वियोग ।

(९)

आसिक का घर दूर है पहुंचै बिरला कोय ॥
पहुंचै बिरला कोय होय जो पूरा जोगी।
बिंद करै जो छार नाद के घर में भोगी ॥
जीते जी मरि जाय मुए पर फिरि उठि जागै।
ऐसा जो कोइ होय सोई इन बातन लागै ॥
पुरजै पुरजै उड़ै अन्न बिनु बस्तर पानी।
ऐसे पै ठहराय सोई महबूब बखानी ॥
पलटू आपु लुटावही काला मुंह जब होय।
आसिक का घर दूर है पहुंचै बिरला कोय ॥९॥

बिंद......छार = काम-वासना पर विजय प्राप्त कर ले। नाद......भोगी = अनाहत नाम का अनुभव करता रहे। महबूब = प्रियतम।

(१०)

धुबिया फिर मर जायगा चादर लीजै धोय ॥
चादर लीजै धोय मैल है बहुत समानी।
चल सतगुर के घाट भरा जहं निर्मल पानी ॥
चादर भई पुरानि दिनों दिन बार न कीजै।
सत संगत मैं सौंद ज्ञान का साबुन दीजै ॥
छूटै कलमल दाग नाम का कलप लगावै।
चलिये चादर ओढ़ि बहुरि नहिं भौजल आवै ॥
पलटू ऐसा कीजिए मन नहिं मैला होय।
धुबिया फिर मर जायगा चादर लीजै धोय ॥१०॥

धुबिया .....जायगा = गुरुपदेश का प्रभाव जाता रहेगा। चादर = मन। पानी = उपदेश। बार = विलंब। सौंद = भिगो कर, मग्न कर। कलमल = चंचलता। कलप = विमलता एवं स्थिरता।

(११)

साहिब वही फकीर है जो कोइ पहुंचा होय ॥
जो कोइ पहुंचा होय नूर का छत्र बिराजै।
सबर तख्त पर बैठि तूर अठपहरा बाजै ॥
तम्बू है असमान जमीं का फर्श बिछाया।
छिमा किया छिड़काव खुशी का मुस्क लगाया ॥
नाम खजाना भरा जिकिर का नेजा चलता।
साहिब चौकीदार देखि इबलीसहु डरता ॥
पलटू दुनिया दीन में उनसे बड़ा न कोय।
साहिब वही फकीर है जो कोइ पहुंचा होय ॥११॥

सबर = संतोष। मुस्क = मुश्क, कस्तूरी। जिकिर = जप, साधना। नेजा = बरछा, यहाँ श्वास-प्रश्वास का जप। इबलीसहु = शैतान भी।

(१२)

फ़ाका जिकिर किनात ये तीनों बात जगीर।
तीनों बात जगीर खुशी की कफनी डारै।
दिल को करै कुसाद आई भी रोजी टारै।।
इबादत दिन रात याद में अपनी रहना।
खुदी खूब की खोय जनाजा जियते करना।।
सीकन्दर औ गदा दोऊ को एकै जानै।
तब पावै टुक नसा फना का प्याला छानै।।
पलटू मस्त जो हाल में तिसका नाम फकीर।
फाका जिकिर किनात ये तीनों बात जगीर।।१२।।

फ़ाका = उपवास। किनात = कनायत, संतोष। कुसाद = कुशाद, उदार। इबादत = आराधना। जनाजा = रथी। गदा = भिखारी। नसा = आनंद की मस्ती। फना = उत्सर्ग।

(१३)

संत न चाहैं मुक्ति को नहीं पदारथ चार।।
नहीं पदारथ चार मुक्ति संतन की चेरी।
ऋद्धि सिद्धि पर थुकैं स्वर्ग की आस न हेरी।।
तीरथ करहिं न व्रत नहीं कछु मन में इच्छा।
पुन्य तेज परताप संत को लगै अनिच्छा।।
न चाहैं बकुंठ न आवागमन निवारा।
सात स्वर्ग अपवर्ग तुच्छ मम ताहि बिचारा।।
पलटू चाहै हरि भगति ऐसा मता हमार।
संत न चाहैं मुक्ति को नहीं पदारथ चार।।१३।।

बर्त = व्रत। अपवर्ग = मोक्ष।

(१४)

टेढ़ सोझ मुंह आपना ऐना टेढ़ा नाहिं।।
ऐना टेढ़ा नाहिं टेढ़ को टेढ़ै सूझै।
जो कोउ देखै सोझ ताहि को सोझै बूझै।।
जाको कछु नहिं भेद भावना अपनी दरसै।
जाको जैसी प्रीति सुरति सो तैसी परसै।।
दुर्जन को दुर्बुद्धि पाप से अपने जरते।
सज्जन के है सुमति सुमति से अपने तरते।।
पलटू ऐना संत हैं सब देखै तेहि मांहि।
टेढ़ सोझ मुंह आपना ऐना टेढ़ा नाहि।।१४।।

सोझ = सीधा। ऐना = दर्पण। सुरति = आकृति।

(१५)

उलटा कूवा गगन में तिसमें जरै चिराग ।।
तिसमें जरै चिराग बिना रोगन बिन बाती ।
छह रितु बारह मास रहत जरतै दिन राती ।।
सतगुरु मिला जो होय ताहि की नजरि में आवै ।
बिनु सतगुरु कोउ होय नहीं वाको दरसावै ।।
निकसै एक अवाज चिराग की जोतिहि मांहीं ।
ज्ञान समाधी सुनै और कोउ सुनता नांहीं ।।
पलटू जो कोऊ सुनै ताके पूरे भाग ।
उलटा कूवा गगन में तिसमें जरै चिराग ।।२५।।

उलटा ...चिराग =अधोमुख सहस्रार चक्र में ज्योति जलती है। रोगन = तेल। रहत जरतै = प्रकाशमान रहती है। निकसै...मांहीं = उस ज्योति के भीतर से अनाहत ध्वनि सुन पड़ती है। ज्ञान समाधी = उसे एकाग्र विचारपूर्वक समझने वाला। और... नांहीं = दूसरों को उसकी अनुभूति नहीं होती।

(१६)

बंसी बाजी गगन में मगन भया मन मोर ।।
मगन भया मन मोर महल अठवें पर बैठा ।
जहं उठै सोहंगम सब्द सब्द के भीतर पैठा ।।
नाना उठै तरंग रंग कछु कहा न जाई ।
चांद सुरज छिपि गये सुषमना सेज बिछाई ।।
छूटि गया तन येह नेह उनहीं से लागी ।
दसवां द्वारा फोड़ि जोति बाहर ह्वै जागी ।।
पलटू धारा तेल की मेलत ह्वै गया भोर ।
बंसी बाजी गगन में मगन भया मन मोर ।।१६।।

महल अठवें = परमपद। सोहंगम = सोऽहं। धारा...मेलत = नाद की अबल धारा में लीन होते-होते। बंसी...में = अनाहत ध्वनि सुन पड़ी।

(१७)

चढ़ै चौमहले महल पर कुंजी आवै हाथ ।।
कुंजी आवै हाथ सब्द का खोलै ताला ।
सात महल के बाद मिलै अठएं उजियाला ।।
बिनु कर बाजे तार नाद बिनु रसना गावै ।
महा दीप इक बरै दीप में जाय समावै ।।
दिन दिन लागै रंग सफाई दिल की अपने ।
रस रस मतलब करै सिताबी करै न सपने ।।
पलटू मालिक तुही है न कोइ दूजा साथ ।
चढ़ै चौमहले महल पर कुंजी आवै हाथ ।।१७।।

चौमहले महल = चतुर्थ पद। महा दीप...समावै = प्रकाशमान परमज्योति में लीन हो जाय।

(१८)

जागत में एक सूपना मोहि पड़ा है देख ।
मोहि पड़ा है देख नदी इक बड़ी है गहरी ।
तामें धारा तीन बीच में सहर बिलौरी ।।
महल एक अंधिआर बरै तहं गैब की बाती ।
पुरुष एक तहं रहै देखि छवि वाकी माती ।।
पुरुष अलापै तान सुना मैं एकठो जाई ।
वाहि तान के सुनत तान में गई समाई ।।
पलटू पुरुष पुरान वह रंग रूप नहिं रेख ।
जागत में एक सूपना मोहि पड़ा है देख ।।१८।।

सूपना = स्वप्न । बिलौरी = बिल्लौर वा स्फटिक के समान श्वेत । गैब = गैब, परोक्ष वस्तु । एकठो = केवल एक मात्र । तान = सुरीले स्वर में ।

(१९)

खसम मुवा तौ भल भया सिर की गई बलाय ।
सिर की गई बलाय बहुत सुख हमने माना ।
लागे मंगल होन बजन लागे सदियाना ।।
दीपक बरे अकास महल पर सेज बिछाया ।
सूतों मही अकेल खबर जब मुए की पाया ।।
सूतौं पांय पसारि भरम को डोरी टूटी ।
मने कौन अब करै खसम बिनु दुबिधा छूटी ।।
पलटू सोइ सुहागिनी जितयै पिय को खाय ।
खसम मुवा तौ भल भया सिर की गई बलाय ।।१९।।

खसम = मन जिसने स्वामित्व बना रखा था । सदियाना = उत्सव के बाजे ।

(२०)

मेरे तन तन लग गई पिय की मीठी बोल ।।
पिय की मीठी बोल सुनत मैं भई दिवानी ।
भंवर गुफा के बीच उठत है सोहं बानी ।।
देखा पिय का रूप रूप में जाय समानी ।
जब से भया मिलाप मिले पर न अलगानी ।।
प्रीत पुरानी रही लिया हमसे पहिचानी ।
मिली जोत में जोत सुहागिन सुरत समानी ।।
पलटूं सब्द के सुनत ही घूंघट डारा खोल ।
मेरे तन तन लग गई पिय की मीठी बोल ।।२०।।

भंवर गुफा = मस्तिष्क का एक रहस्यमय स्थान ।

(२१)

पिय को खोजन मैं चली आपुइ गई हिराय ।।
आपुइ गई हिराय कवन अब कहे संदेसा ।
जेकर पिय में ध्यान भई वह पिया के भेसा ।।
आगि मांहि जो परै सोऊ अपनी ह्वै जावै ।
भृङ्गी कीट को भेंटि आपु सम लेइ बनावै ।।
सरिता बहि के गई सिंधु में रही समाई ।
सिव सक्ती के मिले नहीं फिर सक्ती आई ।।
पलटू दीवाल कहकहा मत कोउ झांकन जाय ।
पिय को खोजन मैं चली आपुइ गई हिराय ।।२१।।

दीवाल कहकहा = चीन देश की कहकहा नामक दीवाल जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि उस पर चढ़ कर दूसरी ओर झाँकने से परियाँ दीख पड़ती हैं और इतना हर्ष होता है कि हँसी के मारे विवश हो मनुष्य उधर कूद कर लापता हो जाता है ।

(२२)

सुरत सब्द के मिलन मैं मुझको भया अनंद ।।
मुझको भया अनंद मिला पानी में पानी ।
दोऊ से भा सूत नहीं मिलिकै अलगानी ।।
मुलुक भया सलतंत मिला हाकिम को राजा ।
रैयत करै आराम खोलि कै दस दरवाजा ।।
छूटी सकल वियाधि मिटी इंद्रिन की दुतिया ।।
को अब करै उपाधि चोर से मिलि गइ कुतिया ।।
पलटू सतगुरु साहिब काटचो मेरो बंद ।
सुरत सब्द के मिलन मैं मुझको भया अनंद ।।२२।।

दोऊ...सूत = दोनों मिल कर एक हो गए । सलतंत = शांत । दस दरवाजा = दशम द्वार जो सबसे अंतिम है । दुतिया = द्वंधवृत्ति ।

(२३)

जियते मरना भला है नाहिं भला बैराग ।।
नाहिं भला बैराग अस्त्र बिन करै लड़ाई ।
आठ पहर की मार चुके से ठौर न पाई ।।
रहै खेत पर ठाढ़ सीस को लेय उतारी ।
दिन दिन आगै चलै गया जो फिरै पछारी ।।
पानी मांगै नाहिं नाहिं काहुसे बोलै ।
छकै पियाला प्रेम गगन की खिड़की खोलै ।।
पलटू खरी कसौटी चढ़ै दाग पर दाग ।
जियते मरना भला है नाहिं भला बैराग ।।२३।।

गया = कहीं का न रहा ।

(२४)

अपनी ओर निभाइये हारि परै की जीति ।।
हारि परै की जीति ताहि की लाज न कीजै ।
कोटिन बहै बयारि कदम आगे को दीजै ।।
तिल तिल लागै घाव खेत से टरना नाहीं ।
गिरि गिर उठै सम्हारि सोई है मरद सिपाही ।।
लरि लीजै भरि पेट कानि कुल अपनी न लावै ।
उनकी उनके हाथ बड़न से सब बनि आवै ।।
पलटू सतगुरु नाम से सांची कीजै प्रीति ।
अपनी ओर निभाइये हारि परै की जीति ।।२४।।

कानि लाज, मर्यादा ।

(२५)

रब्बा टूटै रब्बा फाटै कहिये परदा खोल ।।
कहिये परदा खोल रवा ना बाकी कीजै ।
बात कहै दुइ टूक मैल ना पानी पीजै ।
उनसे रहिये दूरि बड़े वे लोग अधरमी ।
तुरतहि देइ जवाब बचै ना सरमा सरमी ।।
कहैं मित्र की बात करैं दुसमन की करनी ।
ना कीजै बिस्वास करैं कैसौ ब्योहरनी ।।
पलटू छूरी कपट की बोलैं मीठी बोल ।
रब्बा टूटै रब्बा फाटै कहिये परदा खोल ।।२५।।

रब्बा=चाहे । रवा=कण, तनिक भी । बाकी कीजै=उठा रखें । मैल=गँदला ।

रेखता

धन्य है संत निज धाम सुख छाड़ि कै,
आनके काज को देह धारा ।
ज्ञान समसेर लै पैठि संसार में,
सकल संसार का मोह टारा ।।
प्रीति सब सौं करै मित्र और दुष्ट से,
भली अरु बुरी दोउ सील धारा ।
दास पलटू कहै राम नहि जानहूं,
जानहूं संत जिन जक्त तारा ।।१।।
संत औ राम को एक कै जानियै,
दूसरा भेद ना तनिक आनै ।
लाली ज्यों छिपी है मिहदी के पात में,
दूध में घीव यह ज्ञान ठानै ।।

फूल में बास ज्यों काठ में आग है,
संत में राम यहि भांति जानै ।
दास पलटू कहै संत में राम है,
राम में संत यह सत्य मानै ॥२॥
बिना सतसंग ना कथा हरिनाम की,
बिन हरिनाम ना मोह भागै ।
मोह भागै बिना मुक्ति ना मिलैगी,
मुक्ति बिनु नाहिं अनुराग लागै ॥
बिना अनुराग से भक्ति नहिं मिलैगी,
भक्ति बिनु प्रेम उर नाहिं जागै ।
प्रेम बिनु ना नाम बिनु संत ना,
पलटू सतसंग बरदान मांगै ॥३॥
गगन में मगन है मगन में लगन है,
लगन के बीच में प्रेम पागै ।
प्रेम में ज्ञान है ज्ञान में ध्यान है,
ध्यान के धरे से तत्त जागे ॥
तत्त के जगे से लगै हरिनाम में,
पगै हरिनाम सतसंत लागै ।
दास पलटू कहै भक्ति अविरल मिलै,
रहै निरसंक जब भर्म भागै ॥४॥
प्रेम की घटा में बूंद परै पटापट,
गरज आकाज बरसात होती ।
गगन के बीच में कूप है अधोमुख,
कूप के बीच इक बहै सोती ॥
उठत गुंजार है कुंज की गली में,
फोरि आकास तब चली जोती ।
मान सरोवर में सहसदल कंवल है,
दास पलटू हंस चुगै मोती ॥५॥
नाचना नाच तो खोलि घूंघट कहै,
खोलि कैं नाच संसार देखै ।
खसम रिझाव तो ओट को छोड़ि दे,
भर्म संसार की दूरि फेंकै ॥
लाज किसकी करै खसम मे काम है,
नाचु भरि पेट फिर कौन छेकै ।
दास पलटू कहै तुहीं सोहागिनी,
सोव सुख सेज तू खसम एकै ॥६॥
इधर से उधर तू जायगा किधर को,
जिधर तू जाय मैं उधर आवौं ।

कोस हज्जार तू जाय चलि पलक में,
ज्ञान की कुटी मैं उहैं छावौं ।।
सुमति जंजीर की गले में डारि कै,
जहां तूं जाय मैं खींच लावौं ।
दास पलटू कहै मारिहौं ठौर में,
जहां मैदान में पकरि पावौं ।।७।।
सून्य के सिखर पर अजब मंडप बना,
मन औ पवन मिलि करै बासा ।
एक से एक अनेक जंगल जहां,
भंवर गुंजार इक भरै स्वासा ।।
नाम सागर भरा झिलमिल मोती झरै,
चुनै कोइ प्रेम रस हंस खासा ।
दास पलटू परै जबै दिव दृष्टि तें,
जरै मब भर्म तब छुटै आसा ।।८।।

अरिल्ल

जप तप ज्ञान बैराग जोग ना मानिहौं ।
सरग नरक बैकुंठ तुच्छ सब जानिहौं ।
लोक वेद ना सुनो आपनी कहौंगा ।
अरे हां, पलटू एक भक्ति सिर धरौं सरन ह्वै रहौंगा ।।१।।
टोप टोप रस आनि मक्खी मधु लाइया ।
इक लै गया निकारि सबै दुखु पाइया ।।
मोको भा बैराग ओहि को निरखि कै ।
अरे हां, पलटू माया बुरी बलाय तजा मै परखि कै ।।२।।
कौन सकस करि जाय नाहिं कछु खबर है ।
बीच में सबके देइ बड़ा वह जबर है ।।
हरि धरि मेरो रूप करै सब काम है ।
अरे हां, पलटू बीच मंहै इक नाम मोर बदनाम है ।।३।।
अरध उरध के बीच बसा इक सहर है,
बीच सहर में बाग बाग में लहर है ।।
मध्य अकास में छुटै फुहारा पवन का ।
अरे हां, पलटू अंदर धसि कै देखु तमासा भवन का ।।४।।

साखी

पलटू ऐसी प्रीति करु, ज्यों मजीठ को रंग ।
टूक टूक कपड़ा उड़े, रंग न छोड़ै संग ।।१।।
लगा जिकिर का बान है, फिकिर भई छयकार ।
पुरजे पुरजे उड़ि गया, पलटू जीति हमार ।।२।।

बखतर पहिरे प्रेम का, घोड़ा है गुरु ज्ञान।
पलटू सुरति कमान लै, जीति चलै मैदान ।।३।।
आठ पहर लागी रहै, भजन तेल की धार।
पलटू ऐसे दास को, कोउ न पावै पार ।।४।।
जैसे काठ में अगिन है, फूल में है ज्यों बास।
हरिजन में हरि रहत हैं, ऐसे पलटू दास ।।५।।
साध परखिये रहनि में, चोर परखिये रात।
पलटू सोना कसे में, झूठ परखिये बात ।।६।।
पलटू तीरथ को चला, बीचे मिलिगे संत।
एक भुक्ति के खोजते, मिलि गइ मुक्ति अनंत ।।७।।
पलटू गुनना छोड़ि दे, चहै जो आतम मुक्ख।
संसय सोइ संसार है, जरा मरन को दुक्ख ।।८।।
मरने वाला मरि गया, रोवै सो मरि जाय।
समझावै सो भी मरै, पलटू को पछिताय ।।९।।
चारि बरन को मेटि कै, भक्ति चलाया मूल।
गुरु गोविंद के बाग में, पलटू फूला फूल ।।१०।।

संत तुलसी साहिब

संत तुलसी साहिब वा 'साहिब जी' के लिए प्रसिद्ध है कि वे पूना के पेशवा बाजीराव द्वितीय के बड़े भाई थे। अपने पिता की गद्दी का अधिकारी होते हुए भी उन्होंने उसके प्रति उदासीनता प्रकट कर अपना जन्म-स्थान त्याग दिया और उत्तरी भारत में चले आए। इधर वे हाथरस नामक स्थान में रहा करते थे। कहा जाता है कि एक बार उनसे बाजीराव द्वितीय से भेंट भी हुई थी, परन्तु वे बहुत आग्रह किये जाने पर भी, फिर पूना जाकर नहीं ठहरे और अंत तक हाथरस में ही रह गए। उनके 'घटरामायन' नामक ग्रंथ में उनका अपने पूर्वजन्म में प्रसिद्ध गोस्वामी तुलसीदास होना लिखा है, किंतु ऐसी बातें विश्वसनीय नहीं जान पड़तीं। वे हाथरस में रहते समय अपने शरीर पर केवल एक कम्बल डाले हाथ में डंडा लेकर दूर-दूर तक घूमते-फिरते चले जाते और सत्संग किया करते। वे बड़े स्पष्टवादी थे और किसी को फटकारने में तनिक भी संकोच नहीं करते थे। उसके सत्संग की अनेक बातें संवादों के रूप में उनकी रचनाओं में लिखी पायी जाती हैं जिनसे उनके खरा आलोचक होने का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। उनका देहान्त अनुमानतः ८० वर्ष की अवस्था में सं० १८९९ अथवा सं० १९०० की जेठ सुदि २ को हुआ था। उनके अनन्तर उनके शिष्यों ने उनके नाम पर 'साहिब पंथ' के प्रचार का यत्न किया था, किन्तु अनुयायियों की संख्या अधिक न हो सकी।

तुलसी साहिब को अपने पूर्ववर्ती संतों के नामों पर प्रचलित पंथों वा संप्रदायों में से किसी के शुद्धमतावलम्बी होने में विश्वास न था। वे बहुधा कहा करते थे कि कबीर साहब, गुरु नानकदेव, दादूदयाल प्रभृति सन्तों ने जो मत प्रवर्त्तित किया था, वही सच्चा संतमत था। उसे उक्त पंथों के अनुयायियों ने अपनी नासमझी के कारण भुला दिया और निरी बाह्य विडंबनाओं में फँस गए। वे इसी कारण चाहते थे कि ऐसे लोग उसका

मूल रूप फिर एक बार जानने की चेष्टा करें और उसी का प्रचार करें। इस दृष्टि से वे पक्के सुधारवादी थे और संतमत की पुनः प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने बहुत कुछ यत्न किये। उनकी 'घटरामायण', 'रत्नसागर' तथा 'शब्दावली' नाम की रचनाएँ 'बेलवेडियर प्रेस' द्वारा प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें विविध प्रकार के छन्दों द्वारा, उनके आदर्श संतमत का वर्णन तथा प्रचलित पाखंडादि का खंडन पाया जाता है। वे अपने विषय को विस्तार देकर लोगों को समझाया करते थे और ऐसा करते समय भिन्न-भिन्न भाषाओं के प्रयोग भी कर देते थे। उनकी वर्णन-शैली वैसी गम्भीर नहीं थी।

(पद)

साधनानुभूति (१)

बरसे रस धारा गगन घटा ।।टेक।।
उमड़ि घुमड़ि बदरी घन गरजै, बीज कड़क मानो अगिनि अटा ।।१।।
मैं तो खड़ी पिय पौर किवारी, महल लखन मन मगन नटा ।।२।।
गिरत परत गइ अधर अटारी, चढ़ि विष नागिनि लगन लटा ।।३।।
झंझरी परखि हरखि पिउ प्यारी, निरखि परखि पद पग न हटा ।।४।।
सुख मनि सुन्न जोति त्रिकुटी में, तुलसि दरद दिल दगन मिटा ।।५।।

अटा = फिरती है। नटा = नाच उठता है। लगन लटा = प्रेमानुरक्त होकर। विष नागिनि = कुंडलिनी। दगन = दाग, चिह्न।

परिचयानुभूति (२)

सुरति मतवाली करत कलोल ।।टेक।।
पलंगा साजि सजी पिउ प्यारी, पिय रस गांठ दई सब खोल ।।१।।
गहिगहि बांह गले बिच डाली, धार धरनि कोर कीन्हि अडोल ।।२।।
झमक चढ़ी हिये हेर अटारी, न्यारी निरखि सुना इक बोल।।३।।
पछिम दिसा दिस खोलि किवारी, पिय पद परसत भई री अमोल ।।४।।
तुलसी जगत जाल सब जारी, डारी डगर बेदन की पोल ।।५।।

धार धरनि = अमृतस्राव के द्वारा। पछिम दिसा दिस = गगन द्वार की ओर। डारी...पोल = मार्ग में ही वेदना की निःसारता सिद्ध कर दी।

न्यारी संत-गति (३)

एरी सिखर पर सुरत समानी, संत लखन पद पार री ।।टेक।।
जोगी जोत होत लखि जानै, पांचोइ तत्त पसार री ।।१।।
पासे सार संत गति न्यारी, पारे परखि निहार री ।।२।।
तुलसी तोल बोल जब पावे, करें कृपा निरधार री ।।३।।

प्रोत्साहन (४)

लाज कहा कीजै री, घूंघट खोलो आज ।।टेक।।
लाजहि लाज अकाज भयो है, सुंदर यह तन काज ।।१।।
सब तन अंग निहंग निहारे, परदे प्रगट बिराज ।।२।।

स्वामी सब अंतरगति जाने, व्याकुल सकल समाज ॥३॥
तुलसी तन मन बदन सम्हारो, सोई साहिब सिरताज ॥४॥

निहंग — निःसंग, एकाकी, परमात्मा।

चेतावनी (५)

बिन डगर मियां कहं जाते हो।
खनक खुदी संग भूलि परे, परदेसी देस न पाते हो।
धक धक होता अंदर में दिल, सुभा भरम भय खाते हो ॥टेक॥
कुछ खोज खबर नहिं रखते हो, नित नई नियामत चखते हो।
मियां जेर जबर तक धीर धरो, दिल पाक बदन होय होस करो।
भव भटकि भटकि दुख पाते हो ॥१॥
कुछ इलम इबादत कूं जानो, ये सरा समझ को पहिचानो।
मियां आप खुदी खुद खूब नहीं, यह मुरसिद फिर नाचीज कहां।
बद बेवफा चित्त चहाते हो ॥२॥
हर बख्त तबाही सहते हो, हुरमत लज्जा सब खोते हो।
कर होस अदल बिच जागोगे, जब कुफर कूर से भागोगे।
इक इसम बिना लौ लाते हो ॥३॥
तुलसी तबक्का करले रे, यह जुलमी काफिर कर जेरे।
पिउ अदल मुरीदी लाओगे, बे मजब हकीकत गाते हो ॥४॥

खुदी = अहंता। सुभा = संदेह। नियामत = वरदान, स्वादिष्ट भोजन। जेर... धरो = सुख-दुःख सामने आने पर। हुरमत = शील। इसम = नाम। तबक्का = आशा, निश्चय।

रेखता

(१)

पैंठ मन पैठ दरियाव दर आप में,
कंवल बिच झाज में कमठ राजै ॥१॥
होत जहं सोर घनघोर घट में लखै,
निरख मन मौज अनहद बाजै ॥२॥
गगन की गिरा पर सुरति से सैल कर,
चढ़ै तिल तोड़ घर अगम साजै ॥३॥
दास तुलसी कहै पछिम के द्वार पर,
साहिब घर अजब अदभुत बिराजै ॥४॥

झाज = जहाज। झाज...राजै = एक सच्चे कर्मठ की भाँति उस आधार पर आ विराजो।

(२)

अरे किताब कुरान को खोजले,
अलह अल्लाह खुद खुदा भाई ॥१॥
कौन मक्कान महजीत मस्सीत में,
जिमी असमान बिच कौन ठाई ॥२॥

हर बख्त रोजा निमाज और बाँग दे,
खुदा दीदार नहिं खोज पाई ॥३॥
खोजते खोजते खलक सब खप गया,
टेक ही टेक खुद खुदी खाई ॥४॥
दास तुलसी कहै खुदा खुद आप है,
रूहसे निरख दिल देख जाई ॥५॥

(३)

अगम इक चौज में मौज न्यारी लखो,
अंड बिच निरख ब्रह्मंड सारा ॥१॥
सुरति की सैल नित महल में बस रही,
निकरि पट खोल गई गगन पारा ॥२॥
अकल औ सकल लख लोक न्यारो भई,
गई धर अधर पर सुरति लारा ॥३॥
आद औ अंत घर संत पहिचानिया,
दास तुलसी आज अमर न्यारा ॥४॥

चौज=चोज, चमत्कारपूर्ण उक्ति में ही । अकल=अखंड । लारा=साथ-साथ, पीछे-पीछे । सकल=सभी कलाओं से पूर्ण ।

अरिल्ल

रूप रेख नहिं नाम ठाम नहिं कहत अनामी ।
नाम रूप ते भिन्न भिन्न सोइ कहत बखानी ॥
सत्तनाम सतलोक सोक सब दूर बहावै ।
अरे हां, तुलसी तीन लोक में काल ताहि निर्गुन कहि गावै ॥१॥
निर्गुन कहिये ब्रह्म वेद परमातम गावा ।
पांच तत्त गुन बंधा जीव आतमा कहावा ॥
आतम इंद्री बांस फांस बिच रहा फंसाई ।
अरे हां, तुलसी जड़ चेतन की गांठ ठाठ मन जग उपजाई ॥२॥
मन है पूरा दूत भूत से रचना ठानी ।
ब्रह्मा कियो बनाइ रजोगुन ताको जानी ॥
तम संकर सत बिस्नु तीन मनही उपजाया ।
अरे हां, तुलसी मन आया गुन मांहि ताहि सरगुन कहि गाया ॥३॥

ठाठ=ढाँचा । मन...गाया=गुण विशिष्ट मन को ही सगुण कह दिया ।

कुंडलिया

(१)

सब्द सब्द सब कहत हैं, सब्द सुन्न के पार ॥
सब्द सुन्न के पार, सार सोइ सब्द कहावै ।
पच्छिम द्वार के पार, पार के पार समावै ॥

दो दल कंवल मंझार, मद्ध के मधि में आवै ।
संतन दिया लखाय, सार सोइ सब्द कहावै ।।
तुलसी सत सतलोक से, कहुं कछु भेद निनार ।
सब्द सब्द सब कहत हैं, सब्द सुन्न के पार ।।१।।

दो दल कंवल=अज्ञा चक्र जो दोनों ध्रुवों के बीच में है। निनार=न्यारा, भिन्न ।

(२)

यह गत बिरले बूझिया, चौथे पद मतसार ।।
चौथे पद मतसार, लार संतन के पावै ।
कोटिन करे उपाय, लखन में कबहुं न आवै ।।
लख अलक्ख औ खलक खोज कोइ चिह्न न पावै ।
सतगुरु मिलै दयाल भेद छिन में दरसावै ।।
तुलसी अगम अपार जो, को लखि पावै पार ।
यह गत बिरले बूझिया, चौथे पद मतसार ।।२।।

(३)

जग जग कहते जुग भये, जगा न एको बार ।।
जगा न एको बार, सार कहो कैसे पावै ।
सोवत जुग जुग भये संत बिन कौन जगावै ।।
पड़े भरम के मांहि बंद से कौन छुड़ावै ।
जो कोइ कहै बिबेक ताहि की नेक न भावै ।।
तुलसी पंडित भेष से, सब भूला संसार ।
जग जग कहते जुग भये, जगा न एको बार ।।३।।

चौपाई

(१)

जीवन मुक्ति पलक में पावै । सो संजम हमरे मन भावै ।।
जीवत मुक्ति देखिये आंखी । ऐसी बिधि कोइ कहिये भाखी ।।
एक पहर में मुक्ति बतावै । सो सतगुरु मोरे मन भावै ।।
आदि और अंत पलक में पावै । सारा भेद नजर में आवै ।।
जब देखै हम अपने नैना । तब मानै सतगुरु के बैना ।।
कष्ट करै तप बन को जावै । मरे गये का खोज बतावै ।।
ऐसी झूठ बात नहिं मानै । देखा परै सुनै जो कानै ।।

—घटरामायन से

संजम=इंद्रिय-निग्रहादि द्वारा किया संयम का अभ्यास ।

(२)

त्यागन संग्रह संतन जाना । ये मन कर्म भर्म भरमाना ।
त्यागन करै सोई पुनि पावै । फिर फिरि भोग भाव जग आवै ।।

संग्रह बंधन जगत बंधाना। ये दोउ भर्म भेद जग जाना ।।
संतमता दोऊ ते न्यारा। संग्रह त्यागन झूठ पसारा ।।
संतन सुरति निरति ठहराई। मन थिर करि करि गगन चढ़ाई ।।
सुरत सूर बीर भई द्वारे। नभ भीतर चढ़ि गगन निहारे ।।
सुरति सुहागिन सूर सिधारी। नितनित गगन गिरासे न्यारी ।।

—घटरामायन से

त्यागन=विषयादि का परित्याग। भइ=होकर, बनकर। गिरासे=आत्मसात् करती जाती है।

(३)

अब पंथा पंथी दरसाऊं। पूछे पंथ न जाने गांऊं ।।
पंथ नाम मारग को होई। सो पंथी बूझा नहिं कोई ।।
गाय बजाय खंजरी पीटी। गावत मुख में पड़ि गई सीटी ।।
जो संतन का सब्द बिचारा। सूझे पंथ बार अरु पारा ।।
सब्द संधि कछु और बतावैं। यह नहिं समझ सोध मन लावैं ।।
गुरु बानी संतन की बूझे। निर्मल नैन आंखि से सूझे ।।
गुरु चेला मिलि पंथ चलावा। संत पंथ की राह न पावा ।।
यहि लेखा देखा उन नाहीं। पूजा को उनका मनचाही ।।

सीटी=शिकन, पपड़ी।

—रत्नसागर से

साखी

अंदर की आंखी नहीं, बाहर की गइ फूटि।
बिन सतगुरु औघट बहै, कभी न बंधन छूटि ।।१।।

उत्तम औ चांडाल घर, जहं दीपक उजियार।
तुलसी मते पतंग के, सभी जोत इक सार ।।२।।

मकरी उतरै तार से, पुनि गहि चढ़त जो तार
जाका जांसो मन रम्यो, पहुंचत लगै न बार ।।३।।

सूरज बसै आकास में, किरन भूमि पर बास।
जो अकास उलटे चढ़ै, सो सतगुरु का दास ।।४।।

जल मिसरी कोइ ना कहै, सर्बत नाम कहाय।
यों घुल के सतसंग करै, काहे भर्म समाय ।।५।।

सुरत सिखर अंदर खड़ी, चढ़ी जो दीपक बार।
आतम रूप अकास का, देखै बिमल बहार ।।६।।

तुलसी मैं तू जो तजै, भजै दीन गति होय।
गुरु नवै जो सिष्य को, साध कहावै सोय ।।७।।

मन तरंग तन में चलै, आठो पहर उपाव।
थाह कधी पावै नहीं, छिन छिन चल परभाव ।।८।।

जल ओला गोला भयो, फिर घुलि पानी होय।
संत चरन गुरु ध्यान से, मन घुलि जावै सोय ।।९।।

सूप ज्ञान सज्जन गहै, फूकर देत निकार।
सार हिये अंदर धरै, पल पल करत बिचार ॥१०॥
भक्ति भाव बूझे बिना, ज्ञान उदै नहिं होय।
बिना ज्ञान अज्ञान को, काढ़ सकै नहिं कोय ॥११॥
घड़ी घड़ी स्वासा घटै, आसा अंग बिलाय।
चाह चमारी चूहड़ी, घर-घर सबको खाय ॥१२॥

फूकर=भूसी, चोकर। चूहड़ी=भंगिन।

साधु निश्चलदास

साधु निश्चलदास की जन्म-तिथि का पता नहीं चलता। केवल इतना ही विदित है कि उनका जन्म-स्थान पूर्वी पंजाब प्रान्त के हिसार जिले की हासी तहसील का कूंगड़ नामक गाँव था। वे जाति के विचार से जाट थे। उनका शरीर बहुत सुन्दर और सुडौल था। उनकी बुद्धि तीव्र थी तथा उन्हें विद्योपार्जन की लगन भी थी। संस्कृत पढ़ने की लालसा से उन्होंने अपने को ब्राह्मण बालक घोषित कर काशी के पंडितों से सभी शास्त्रों का अध्ययन किया। व्याकरण, दर्शन, साहित्य, आदि में पारंगत होकर वे एक प्रकांड विद्वान् हो गए। किन्तु पहले से ही दादू पंथ में दीक्षित हो चुकने तथा जाट जाति का होने के कारण उन्हें काशी में विरोध का भी सामना करना पड़ा। अन्त में वे वहाँ से चले आए। कहते हैं कि न्यायशास्त्र का विशेष अध्ययन उन्होंने नदिया (बंगाल) जाकर किया था और छन्दशास्त्र प्रसिद्ध विद्वान् 'रसपुंज' से पढ़ा था। उन्होंने किहडौली में एक पाठशाला वेदान्त पढ़ाने के लिए खोली और बूंदी जाकर वहाँ के राजा रामसिंह से बहुत सम्मान प्राप्त किया। उनके ग्रन्थों में 'विचारसागर' तथा 'वृत्तिप्रभाकर' अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें उनके प्रखर पांडित्य एवं परिष्कृत विचारों का अच्छा परिचय मिलता है। उनका देहान्त सं० १९२० में हुआ था।

कवित्त

दीनता कूं त्यागि नर अपनो स्वरूप देखि,
तूं तो शुद्ध ब्रह्म अज दृश्य को प्रकासी है।
आपने अज्ञान तें जगत सब तूं ही रचै,
सर्व को संहार करै आप अबिनासी है॥
मिथ्या परपंच देखि दु:ख जिन आनि जिय,
देवन को देव तूं तौ सब सुखरासी है।
जीव गज ईस होय, माया में प्रभासै तूं ही।
जैसे रज्जु सांप सीप रूप ह्वै प्रभासी है॥१॥

रूप=चाँदी।

साखी

अंतर बाहिर एकरस, जो चेतन भर पूर।
बिभु नभ सम सो ब्रह्म है, नहिं नेरे नहिं दूर॥१॥
ब्रह्मरूप अहि ब्रह्मवित, ताकी बानी बेद।
भाषा अथवा संस्कृत, करत भेद भ्रम छेद॥२॥

सत्यबंध की ज्ञान तैं, नहीं निवृत्ति सयुक्त।
नित्य कर्म संतत करै, भयो चहै जो मुक्त ॥३॥
भ्रमन करत ज्यूं पवन तैं, सूको पीपर पात।
शेष कर्म प्रारब्ध तै, क्रिया करत दरसात ॥४॥

बिभु=व्यापक। नहिं...दूर=उसके लिए निकट वा दूर का कोई प्रश्न नहीं है। अहि=है। करत...छेद=संशय का निराकरण।

संत शिवदयाल सिंह (स्वामीजी महाराज)

लाला शिवदयाल सिंह 'राधास्वामी सत्संग' के मूल प्रवर्त्तक थे। वे 'स्वामीजी महाराज' कहला कर प्रसिद्ध थे। उनका जन्म आगरा नगर के पन्नी गली मुहल्ले में सं० १८७५ की भादो बदि ८ को खत्री-परिवार में हुआ था। उनके पिता पहले नानक पंथ, फिर तुलसी साहिब के 'साहिब पंथ' के अनुयायी थे। उनके परिवार के अन्य अनेक सदस्य भी 'साहिब पंथ' द्वारा प्रभावित थे। तदनुसार युवक शिवदयाल सिंह पर भी उसका बहुत प्रभाव पड़ा। वे अपने को कमरे में बन्दकर एकान्त चिंतन के अभ्यासी हो गए। अन्त में सं० १९१७ को वसन्त पंचमी के दिन से उन्होंने बाहर बैठकर सत्संग करना और उपदेश देना भी आरम्भ कर दिया। उनका विवाह भी हुआ था, किन्तु कोई सन्तान न थी। जिस प्रकार उनके अनुयायी उन्हें 'स्वामी' कहते थे, उसी प्रकार उनकी पत्नी को 'राधा' कहा करते थे। संत की दशा को प्राप्त कर उन्होंने अपने छोटे भाई प्रताप सिंह द्वारा अपने लेन-देन के कारोबार को समाप्त करा दिया। जिन-जिन कर्जदारों ने अपने जिम्मे का रुपया खुशी के साथ दिया, उनसे लेकर शेष लोगों के कागज फाड़कर फेंकवा दिया। नगर में सत्संग के कारण अधिक भीड़ होती देख वे पीछे उसके बाहर बैठने लगे थे। वह स्थान आजकल 'स्वामी बाग' के नाम से प्रसिद्ध है। उनका देहान्त सं० १९३५ की आषाढ़ कृष्ण प्रतिपदा के दिन हुआ था। उनकी समाधि उक्त 'स्वामी बाग' में ही वर्तमान है।

राधास्वामी सत्संग की साधना-सम्बन्धी बातें अधिकतर गुप्त रखी जाती हैं और सर्वसाधारण को उनका परिचय नहीं है। उसके अनुयायी अपने गुरु के प्रति पूरी निष्ठा प्रदर्शित करते हैं और उसी के संकेतों पर आध्यात्मिक साधना का अभ्यास करते हैं। 'स्वामी जी महाराज' की दो प्रधान रचनाएँ प्रकाशित हैं जिनमें से पहली पद्य में तथा दूसरी गद्य में है और दोनों के नाम 'सारवचन' हैं। संगृहीत पदों में रचयिता की गम्भीर साधना, उसकी आध्यात्मिक दशा एवं तज्जन्य उल्लास का परिचय सर्वत्र मिलता है। भिन्न-भिन्न भीतरी 'पदों' के उन्होंने बहुत स्पष्ट सजीव वर्णन किये हैं और गुरु-भक्ति को उन्होंने अपनी सारी सफलता का श्रेय प्रदान किया है। किसी बात का पूरा विवरण देने अथवा उसके विषय को बार-बार दुहराने में भी उन्हें एक अपूर्व आनन्द मिलता है। उनकी भाषा सीधी-सादी है, किन्तु कुछ शब्दों को उन्होंने कहीं-कहीं विकृत कर दिया है और छन्दोनियम के अक्षरशः पालन की भी चेष्टा नहीं की है।

पद

मतसार (१)

गुरु बिना कभी न उतरे पार। नाम बिन कभी न होय उधार ॥१॥
संग बिन कभी न पावे सार। प्रेम बिन कभी न पावे यार ॥२॥

जुक्ति बिन चढ़े न गगन मंझार । दया बिनु खुले न बज्र किवार ।।३।।
सुरत बिन होय न शब्द सम्हार । निरत बिन होय न धुन आधार ।।४।।
गुरु से करना पहिले प्यार । नाम रस पीना मन को मार ।।५।।
काल घर जान तजा संसार । द्याल घर आई जन्म सुधार ।।६।।
संत गति पाई गुरु की लार । शब्द संग मिली मिला पद चार ।।७।।
कहा राधास्वामी अगम बिचार । सुने और माने करे निरवार ।।८।।

द्याल = राधास्वामी दयाल । लार = संग में रहकर ।

गुरु-भक्ति (२)

प्रेमी सुनो प्रेम की बात ।।टेक।।
सेवा करो प्रेम से गुरु की और दर्शन पर बल बल जात ।।१।।
बचन पियारे गुरु के ऐसे जस माता सुत तोतरि बात ।।२।।
जस कामी को कामिन प्यारी अस गुरुमुख को गुरु का गात ।।३।।
खाते पीते चलते फिरते सोवत जागत बिसरि न जात ।।४।।
खटकत रहे भाल ज्यों हियरे दर्दी के ज्यों दरद समात ।।५।।
ऐसी लगन गुरु संग जाकी वह गुरुमुख परमारथ पात ।।६।।
जब लग गुरु प्यारे नहिं ऐसे तब लग हिरसी जानो जात ।।७।।
मनमुख फिरे किसी का नांही कहो क्योंकर परमारथ पात ।।८।।
राधास्वामी कहत सुनाई अब सतगुरु का पकड़ो हाथ ।।९।।

खटकत = चुभता । पात = पाता है । हिरसी = केवल देखा-देखी काम करने वाला । मनमुख = निगुरा ।

साधना-परिचय (३)

घर आग लगावे सखी, सोइ सीतल समुंद समावे ।।१।।
जड़ चेतन की गांठ खुलानी, बुन्दा सिन्ध मिलावे ।।२।।
सुरत शब्द की क्यारी सींचे, फल और फूल खिलावे ।।३।।
गगन मंडल का ताला खोले, लाल जवाहिर पावे ।।४।।
सुन्न सिखर का मन्दिर झांके, अद्भुत रूप दिखावे ।।५।।
मान सरोवर निरमल धारा, ता बिच पैठ अन्हावे ।।६।।
सन्तन साथ हाथ फल लेवे, धृग धृग जगत सुनावे ।।७।।
महासुन्न का नाका तोड़े, भंवर गुफा ढिग जावे ।।८।।
सत्तनाम पद परस पुराना, अलख अगम को धावे ।।९।।
राधास्वामी सतगुरु पावे, तब घर अपने आवे ।।१०।।

नाका तोड़े = घेरा तोड़े, प्रवेश करे । परस = स्पर्श करके ।

सुरत की साधना (४)

सुर्त पनिहारी सतगुरु प्यारी चली गगन के कूप ।।१।।
प्रेम डोर ले पनघट आई भरी गगरिया खूब ।।२।।
शब्द पिछान अमीरस पागी देखा अद्भुत रूप ।।३।।

नगर अजायब मिला डगर में जहां छांह नहिं धूप ॥४॥
पहुंची जाय अगम पुर नामी दरस किया राधास्वामी भूप ॥५॥

पिछान=पहचान कर, परिचित होकर।

मन की साधना (५)

धुन धुन डालूं अब मन को। मैं धुनिया सतगुरु चरनन को ॥१॥
मन कपास सूरत कर रूई। काम बिनौले डाले खोई ॥२॥
हुई साफ धुनकी सुधि पाई। नाम धुना ले गगन चढ़ाई ॥३॥
गाली मनसा गाले कर्मा। चरखा चला कते सब भर्मा ॥४॥
सूत सुरत बारीक निकासा। कुकड़ी कर किया शब्द निवासा ॥५॥
चित्त अटेरन टेर सुनाई। फेर फेर कवलन पर लाई ॥६॥
कवंल कवंल लीला कहा गाऊं। सुन सुन धुन निज मन समझाऊं ॥७॥
सुरत रंगी करे शब्द बिलासा। तजी बासना बेची आसा ॥८॥
निकट पिंड सुन पैठ समाई। सौदा पूरा किया बनाई ॥९॥
राधास्वामी हुए दयाला। नफा लिया खोला घट ताला ॥१०॥

गाली=धुनी हुई रूई की गोली जो चर्खे पर कातने के लिए बनायी जाती है, पूनी। कुकड़ी=कच्चे सूत का लपेटा हुआ लच्छा जो कात कर तकले पर से उतारा जाता है, अंटी। अटेरन=सूत की आंटी बनाने का लकड़ी का एक यंत्र, ओयना। सुन पैठ=शून्य की पैठ वा बाजार में।

आत्मशुद्धि (६)

चूनर मेरी मैली भई, अब कापै जाऊं धुलान ॥१॥
घाट घाट मैं खोजत हारी, धुबिया मिला न सुजान ॥२॥
नइहर रहुं कस पिया घर जाऊं, बहुत मरे मेरे मान ॥३॥
नित नित तरसूं पलपल तड़पूं, कोइ धोवे मेरी चूनर आन ॥४॥
काम दुष्ट और मन अपराधी, और लगावें कीचड़ सान ॥५॥
कासे कहूं सुने नहिं कोई, सब मिल मरते मेरी हान ॥६॥
सखी सहेली सब जुड़ आईं, लगीं भेद बतलान ॥७॥
राधास्वामी धुबिया भारी, प्रगटे आय जहान ॥८॥

बहुत...मान=अब तो पूरी फजीहत हो चुकी। सान=गीला कर-करके। हान=हानि, अनिष्ट, बुराई। भेद=यहाँ पर उपाय, युक्ति।

साधना की सफलता (७)

देव री सखी मोहिं उमंग बधाई। अब मेरे आनंद उर न समाई ॥१॥
छिन छिन हरखूं पल पल निरखूं। छवि राधास्वामी मोंसे कही न जाई ॥२॥
आरत थाली लीन सजाई। प्रेम सहित रस भर भर गाई ॥३॥
चरन सरन गुरु लाग बढ़ाई। अधिक बिलास रहा मन छाई ॥४॥
कहा कहूं यह घड़ी सुहाई। सुरत हंसनी गइ है लुभाई ॥५॥
शब्द गुरु धुन गगन सुनाई। अमी धार धुर से चल आई ॥६॥
रोम रोम और अंग अंग न्हाई। बरन बिनोद कहूं कस भाई ॥७॥

लिख लिख कर कुछ सैन जनाई। जानेंगे मेरे जो गुरुभाई ।।८।।
राधास्वामी कहत बनाई। चार लोक में फिरी है दुहाई ।।९।।
सत्तनाम धुन बीन बजाई। काल बली अति मुरछा खाई ।।१०।।
अलख अगम दोउ मेहर कराई। राधास्वामी राधास्वामी दरस दिखाई ।।११।।

लाग=लगन, सम्बन्ध। धुर=केन्द्र। बरन बिनोद=वरण कर लेने पर जो आनन्दातिरेक मिला। मेहर=दया, कृपा।

अनाहत नाद (८)

मुरलिया बाज रही कोइ सुने संत धर ध्यान ।।१।।
सो मुरली गुरु मोहिं सुनाई लगे प्रेम के बान ।।२।।
पिंडा छोड़ अण्ड तजि भागी सुनी अधर में अपूरब तान ।।३।।
पाया शब्द मिली हंसन से खैंच चढ़ाई सुरत कमान ।।४।।
यह बंसी सतनाम बंस की किया अजर घर अमृत पान ।।५।।
भंवर गुफा ढिग सोहं बंसी रीझ रही मैं सुन सुन तान ।।६।।
इस मुरली का मर्म पिछानो मिली शब्द की खान ।।७।।
गई सुरत खोला वह द्वारा पहुंची निज स्थान ।।८।।
सत्तपुरुष धुन बीन सुनाई अद्‌भुत जिनकी शान ।।९।।
जिन जिन सुनी आन यह बंसी दूर किया सब मन का मान ।।१०।।
सुरत सम्हारत निरत निहारत पाय गई अब नाम निशान[1] ।।११।।
अलख अगम और राधास्वामी खेल रही अब उस मैदान ।।१२।।

मुरलिया...रही=अनाहत शब्द निरन्तर हो रहा है।
पाठांतर--१. निधान।

अपना अनुभव (९)

सोता मन कस जागे भाई, सो उपाव मैं करूं बखान ।।१।।
तीरथ करे बर्त भी राखे, विद्या पढ़के हुए सुजान ।।२।।
जप तप संजम बहुबिधि धारे, मौनी हुए निदान ।।३।।
अस उपाव हम बहुतक कीन्हें, तो भी यह मन जगा न आन ।।४।।
खोजत खोजत सतगुरु पाये, उन यह जुक्ति कही परमान ।।५।।
सतसंग करो संत को सेवो, तन मन करो कुरबान ।।६।।
सतगुरु शब्द सुनो गगन चढ़, चेत लगाओ अपना ध्यान ।।७।।
जागत जागत अब मन जागा, झूठा लगा जहान ।।८।।
मन की मदद मिली सूरत को, दोनों अपने महल समान ।।९।।
बिना शब्द यह मन नहिं जागे, करो चाहे अनेक विधान ।।१०।।
यही उपाय छांट कर गाया, और उपाय न कर परमान ।।११।।
बिरथा बैस बितावें अपनी, लगे न कभी ठिकान ।।१२।।
सन्त बिना सब भटके डोलें, बिना सन्त नहिं शब्द पिछान ।।१३।।
शब्द शब्द मैं शब्दहि गाऊं, तू भी सुरत लगा दे तान ।।१४।।
घर पावे चौरासी छूट, जन्म मरन की होवे हान ।।१५।।
राधास्वामी कहें बुझाई, बिना सन्त सब भटके खान ।।१६।।

कुरबान=बलिदान, समर्पित। समान=प्रवेश कर गए। न...परमान=आश्रित न रहो। बैस=वयस, उम्र।

काल की बाधा (१०)

गूजरी चली भरन गगरी श्याम ने रोकी पनघटवा ॥१॥
सखियन साथ उमंग से जाती खोज लगाती धुन घटवा ॥२॥
अब क्या करूं जोर नहिं चाले कैसे खोलूं घट पटवा ॥३॥
मारग रोक भुलावत सबको कला दिखावत ज्यों नटवा ॥४॥
घूम घाम कर फिर बगदावत ठहरत देत न काहु तटवा ॥५॥
ऐसा छलिया कान्ह न माने छोड़त नाहीं निज हटवा ॥६॥
गुरु बिन कौन बतावे याते खोल सुनावे धुन छंटवा ॥७॥
राधास्वामी खेली लीला दूर हटाया अब झटवा ॥८॥

श्याम=काल। पटवा=आवरण। बगदावत=रास्ते से भटका देता है। हटवा=स्वभाव। छंटवा=चुनी हुई।

चेतावनी (११)

घट भीतर तू जाग री, है सुरत पुरानी।
बिना देश झांकत रही, सब मर्भ भुलानी ॥१॥

काल दाव मारत रहा, पर तू न चितानी।
अब सतगुरु की मेहर से, मौसम बदलानी ॥२॥

नरदेही पाई सहज, सतसंग समानी।
सुरत घाट अब पाइया, धुन शब्द पिछानी ॥३॥

यह मारग संतन कहा, पंडित नहिं जानी।
जिन यह मारग पाइया, सो छूटे खानी ॥४॥

श्याम कंज के घाट से, सुरत अलगानी।
चौथे पद में जा मिली, जहां अचरज बानी ॥५॥

पंचम षष्टम पाय के, राधास्वामी जानी।
भाग सुहागिन पाइया, को करे बखानी ॥६॥

चितानी=चेत सकी। मौसम=स्थिति, दशा। खानी=उत्पत्ति-स्थान, योनि। पंचम षष्टम=पद जो उसके आगे हैं।

सुरत की शुद्धि (१२)

गुरु घाट चलो मन भाई, सुरत चदरिया लेव धुवाई ॥१॥
सेवा साबन दर्शन मंजन, प्रेम का नीर भराई ॥२॥
बचन की रेह भाव की भाठी, बिरह की अगिन जराई ॥३॥
भक्ति नदी जहं निस दिन बहती, मल मल तामें मैल गंवाई ॥४॥
उज्जल निर्मल हुई सुरत जब, ओढ़त मन अब अति हरखाई ॥५॥
चला गगन पर मिला शब्द संग, चढ़त चढ़त त्रिकुटी ढिग आई ॥६॥
सुन्न शिखर चढ़ हंस रूप धर, महासुन्न छबि औरहि पाई ॥७॥

भंवर गुफा पर सोहं सोहं, सत लोक सत सोहं गाई ।।८।।
अलख अगम को देखत देखत, राधास्वामी चरनन जाय समाई ।।९।।

रेह =कपड़ा साफ करने की मिट्टी । औरहि=अनिर्वचनीय ।

साखी

बैठक स्वामी अद्भुती, राधा निरख निहार ।
और न कोई लख सके, शोभा अगम अपार ।।१।।
गुप्त रूप जहां धारिया, राधास्वामी नाम ।
बिना मेहर नहिं पावई, जहां कोई बिसराम ।।२।।
मोटे बन्धन जगत के, गुरु भक्ति से काट ।
झीने बन्धन चित्त के, कटें नाम परताप ।।३।।
मोटे जब लग जायं नहिं, झीने कैसे जाय ।
ताते सबको चाहिये, नित गुरु भक्ति कमाय ।।४।।
संत दिवाली नित करें, सत्तलोक के माहिं ।
और मते सब काल के, योंही धूल उड़ाहिं ।।५।।
सुरत रूप अति अचरजी, वर्णन किया न जाय ।
देह रूप मिथ्या तजा, सत्तरूप हो जायं ।।६।।

स्वामी=आदि शब्द । राधा=आदि सुरत । मते =दूसरे पंथ, संप्रदायादि । अचरजी =अद्भुत ।

संत सालिगराम रायबहादुर (हुजूर महाराज साहेब)

राय सालिगराम उपनाम 'हुजूर महाराज साहेब' राधास्वामी सत्संग के द्वितीय गुरु थे और उनका जन्म भी, आगरा नगर के ही पीपलमंडी मुहल्ले में सं० १८८५ की फागुन सुदि ८ को, प्रतिष्ठित माथुर कायस्थ-कुल में हुआ था। उन्होंने पहले फारसी में शिक्षा पायी थी और फिर अंग्रेजी में उस समय की सीनियर कक्षा तक पढ़े थे जो कदाचित् आजकल की बी० ए० श्रेणी के बराबर थी । वे सं० १९०४ में डाक विभाग की नौकरी में भर्त्ती हुए और अन्त में सं० १९३८ में 'पोस्टमास्टर जनरल' के पद तक पहुँच कर अलग हुए । उनकी योग्यता तथा परिश्रम के ही कारण उन्हें रायबहादुर की पदवी मिली थी । उन्हें सिखों की पुस्तक 'पंजग्रंथी' के कुछ अंशों का वास्तविक अभिप्राय जानने के लिए संयोगवश संत शिवदयाल जी के सम्पर्क में आना पड़ा जिनसे वे बहुत प्रभावित हुए। वे उनके व्यक्तित्व से यहाँ तक आकृष्ट हो गए कि उन्हें अपना गुरु स्वीकार कर लिया और क्रमशः उनकी सेवा-टहल तक करने लगे । उन्होंने अपने गुरु की सुश्रूषा करते समय उनके आराम के लिए सभी प्रकार के काम किये और अपने धनादि को भी उन्हें समर्पित कर दिया। अपने गुरु का देहान्त हो जाने पर 'हुजूर महाराज साहेब' उनकी जगह सत्संग कराने लगे। सत्संग के अनुयायियों की एक अच्छी संख्या बढ़ाने, उसे संगठित करने तथा कई रचनाओं को प्रस्तुत करने के अनन्तर उन्होंने सं० १९५५ में अपना चोला बदला ।

'हुजूर महाराज साहेब' का व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक था। उनकी बानियों में भी स्वानुभूति के ही उद्गार अधिक मिलते हैं । उनकी पद्य-रचनाओं का प्रधान संग्रह 'प्रेम-बानी' के नाम से प्रकाशित है जिसके चार भाग हैं। उनकी गद्य पुस्तकें भी कई हैं। उनकी अंग्रेजी पुस्तक 'राधा सोआमी मत प्रकाश' सत्संग के मुख्य सिद्धान्त जानने के

लिए बहुत उपयोगी ग्रंथ है। वे अपने पदों द्वारा अपने सुखद अनुभव की बातें बार-बार कहा करते रहे और अपने शब्दों द्वारा उसका सजीव चित्र खींचते रहे। अपने गुरु के प्रति वे परम कृतज्ञ हैं और उनकी महत्ता उन्हें 'परमपुरुष पूरनधनी राधास्वामी' कह कर प्रकट करते हैं। हुजूर महाराज साहेब की भाषा स्पष्ट तथा सरल है और उनकी पुनरुक्ति में भी प्रायः नीरसता नहीं जान पड़ती।

पद

अपनी बात (१)

सतगुरु पूरे परम उदारा। दया दृष्टि से मोहिं निहारा ॥१॥
दूर देश से चल कर आया। दरशन कर मन अति हरखाया ॥२॥
सुन सुन बचन प्रीत हिय जागी। चरन सरन में सूरत पागी ॥३॥
करम भरम संशय सब भागा। राधास्वामी चरन बढ़ा अनुरागा ॥४॥
सुरत शब्द मारग दरसाया। बिरह अंग ले ताहि कमाया ॥५॥
कुल कुटुम्ब का मोह छुड़ाना। सतसंगत में मन ठहराना ॥६॥
सुमिरन भजन रसीला लागा। सोता मन धुन सुन कर जागा ॥७॥
मेहर हुई स्रुत नभ पर दौड़ी। त्रिकुटी जा गुर चरनन जोड़ी ॥८॥
अचरज लीला देखी सुन में। मुरली धुन अब पड़ी श्रवन में ॥९॥
पहुंची फिर सतगुरु दरबारा। अलख अगम को जाय निहारा ॥१०॥
वहां से भी फिर अधर सिधारी। मिल गए राधास्वामी पुरुष अपारी ॥११॥
वहां जाय कर आरत गाई। पूरन दया सामने पाई ॥१२॥

कमाया=अर्जन किया, अभ्यास किया। लागा=जान पड़ने लगा। स्रुत=सुरत। जोड़ी=जुड़ गई। अधर=शून्य स्थान।

वही (२)

जगत में खोज किया बहु भांत। न पाई मैंने घट में शांत ॥१॥
गौर कर देखा जग का हाल। फंसे सब करम भरम के जाल ॥२॥
फैल रहे जग में मते अनेक। धार रहे थोथे इष्ट की टेक ॥३॥
भेद कोइ घर का नहिं जाने। भरम बस सीख नहीं माने ॥४॥
मान में खप रहे पण्डित भेख। कर्म में बंध रहे मुल्ला शेख ॥५॥
भाग मेरा जागा अजब निदान। मिला मैं राधास्वामी संगत आन॥६॥
सुनी मैं महिमा अचरज बोल। करी मैं राधास्वामी मत की तोल ॥७॥
भरम और संशय उठ भागे। बिरह अनुराग हिये जागे ॥८॥
पता निज मालिक का पाया। भेद निज घर का दरसाया ॥९॥
समझ में आई भक्ती रीत। शब्द की धारी मन परतीत ॥१०॥
सुरत का पाया अजब लखाव। सिफत सुन गुरु की बाढा भाव ॥११॥
कहूं क्या महिमां सतसंग सार। भरम और संशय दीने टार ॥१२॥
प्रीत नित बढ़ती गुरु चरना। धार लई मनमें गुरु सरना ॥१३॥
समझ मैं मनमें अस धारी। संत बिन जाय न कोइ पारी ॥१४॥
बना उन सरन न उतरे पार। शब्द बिन होय न कभी उधार ॥१५॥
सराहूं छिन छिन भाग अपना। मिला मोहि सुरत शब्द गहना ॥१६॥
हुआ मेरे हिरदे में उजियार। दया राधास्वामी कीन्ह अपार ॥१७॥

पकड़ धुन चढ़ता नभ की ओर। जोत लख सुनता अनहद घोर ॥१८॥
सुन्न धुन सुनकर चढ़ी आगे। गुफा में जहां सोहंग जागे ॥१९॥
सत्तपुत दरश पुरुष कीन्हा। परे तिस अलख अगम चीन्हा ॥२०॥
वहां से लखिया राधास्वामी धाम। मिला अब निज घर किया बिस्राम ॥२१॥

भेख = सांप्रदायिक विचारों वाले। सिफत = विशेषता, परिचय। पारी = अंतिम लक्ष्य। गहना = पहुँच। गहना मिला = वहाँ तक का परिचय मिल गया। परे-तिस = उसके आगे।

वही (३)

प्रेम भक्ति गुरु धार हिये में, आया सेवक प्यारा हो ॥टेक॥
उमंग उमंग कर तन मन धन को, गुरु चरनन पर वारा हो ॥१॥
गुरु दरसन कर बिगसत मन में, रूप हिये में धारा हो ॥२॥
आठ पहर गुरु संग रहावे, जग से रहता न्यारा हो ॥३॥
मन माया को आँख दिखावे, गुरुबल सूर करारा हो ॥४॥
शब्द डोर गह चढ़ता घट में, पहुंचा गगन मंझारा हो ॥५॥
आगे चल सुनी सारंग किंगरी, मुरली बीन सितारा हो ॥६॥
राधास्वामी मेहर से दीन्हा, निज पद अगम अपारा हो ॥७॥

करारा = दृढ़।

अपनी विरह-दशा (४)

सावन मास मेघ घिर आये। गरज-गरज धुन शब्द सुनाये ॥१॥
रिमझिम बरषा होवत भारी। हिय बिच लागी बिरह कटारी ॥२॥
प्रीतम छाय रहे परदेसा। बूझत रही नहिं मिला संदेसा ॥३॥
रैन दिवस रहूं अति घबराती। कसक कसक मेरी कसके छाती ॥४॥
कासे कहूं कोइ दरद न बूझै। बिन पिय दरस नहीं कुछ सूझै ॥५॥
चमके बीज तड़प उठे भारी। कस पाऊं पिया प्रान अधारी ॥६॥
रोवत बीते दिन और राती। दरद उठत हिये में बहु भांती ॥७॥
ढूंढत ढूंढत बन बन डोली। तब राधास्वामी की सुन पाई बोली ॥८॥
प्रीतम प्यारे का दिया संदेसा। शब्द पकड़ जाओ उस देसा ॥९॥
सुरत शब्द मारग दरसाया। मन और सुरत अधर चढ़वाया ॥१०॥
कर सतसंग खुले हिये नैना। प्रीतम प्यारे के सुने वहीं बैना ॥११॥
जब पहिचान मेहर से पाई। प्रीतम आप गुरु बन आई ॥१२॥
दया करी मोहि अंग लगाया। दुक्ख दरद सब दूर हटाया ॥१३॥
क्या महिमा राधास्वामी गाऊं। तन मन वारूं बलबल जाऊं ॥१४॥
भागे जगे गुरु चरन निहारे। अब कहूं धन धन राधास्वामी प्यारे ॥१५॥

चमके बीज = कभी-कभी रहकर सुध आ जाती रही तो। बोली = संकेत। प्रीतम ...आई = प्रियतम इष्टदेव एवं गुरु में कोई भेद नहीं रह गया।

वही (५)

मेरे उठी कलेजे पीर घनी ।।टेक।।
बिन दरसन जियरा नित तरसे, चरन ओर रहे दृष्टि तनी ।।१।।
नित्त पुकार करूं चरनन में, दरस देव मेरे पूरन धनी ।।२।।
घट का पाट खोलिये प्यारे, जल्दी करो हुई देर घनी ।।३।।
जब लग दरस न पाऊं घट में, तब लग नहिं मेरी बात बनी ।।४।।
हरष हुलास न आवे मन में, चिंता में रहे बुद्धि सनी ।।५।।
अब तो मेहर करो राधास्वामी, चरनन की रहूं सदा रिनी ।।६।।

तनी = खिची हुई, आकृष्ट । रिनी = ऋणी, कृतज्ञ ।

साधना का फल (६)

सुरतिया लाल हुई, चढ़ गगन निरख गुरु रूप ।।१।।
घंटा संख गरज धुन सुनकर, छोड़ दिया भौकूप ।।२।।
आसा तृष्णा संसा जग की, फटक दई ले गुरु का सूप ।।३।।
सुन्न और महासुन्न के पारा, निरखा सूरज सेत स्वरूप ।।४।।
सत्त पुरुष का दर्शन करके, पहुँची राधास्वामी धाम अनूप ।।५।।

वही (७)

अमी की बरखा हुई भारी । भींज रही अतर सुत प्यारी ।।१।।
सजी जहं तहं कंवलन क्यारी । शब्द गुल फूली फुलवारी ।।२।।
वासना त्यागी संसारी । मगन होय चढ़त अधर प्यारी ।।३।।
गगन गुरु दरसन कीना री । हुआ मन चरन अधीना री ।।४।।
सुन्न चढ निरखी उजियारी । मिली हंसन संग कर यारी ।।५।।
भंवर धन लाग रही तारी । मिला फिर सत्त सब्द सारी ।।६।।
दया राधास्वामी की भारी । सरन दे चरन लगाया री ।।७।।

गुल = फूल । तारी = गहरा ध्यान, लीनता ।

सुरत की प्रगति (८)

आज घिर आये बादल कारे, गरज गरज घन गगन पुकारे ।।१।।
रिमझिम बरसत बूंद अमी की, बिजली चमक घट नैन निहारे ।।२।।
चहुं दिस बरखा होवत भारी, भीज रही सुर्त सुन झनकारे ।।३।।
उमंग उमंग सुर्त चढ़त अधर में, निरख रही घट जोत उजारे ।।४।।
घंटा संख धूम अब डाली, बंकनाल धस हो गई पारे ।।५।।
गुरु दरशन कर अति हरखानी, पहुंची जाय सुन्न दस द्वारे ।।६।।
सत्त पुरुष के चरन परस कर, राधास्वामी अचरज दरस निहारे ।।७।।

होवत = होता है । दस = दसवें ।

सुरत-विवेक (९)

सुरतिया मनन करत, सत गुरु के अचरज बोल ।।१।।
जो जो बचन सुनत सतसंग में सबकी करती तोल ।।२।।

मार निकार हिये बिच धारा, सुरत शब्द मारग अनमोल ।।३।।
चढ़त अधर में निरख उधर में, छांट रही घट धन को रोल ।।४।।
राधास्वामी जैसी दिखाई लीला, कासे कहूं मैं उसको खोल ।।५।।

रोल=रोर, कोलाहल ।

सुरत का अनुभव (१०)

झूलत घट में सुरत हिंडोला । बाजत अनहद शब्द अमोला ।।१।।
धुन की डोरी लगी अधर में । सुरत निरत रहि झांक अधर में ।।२।।
सखी सहेली सब संग आईं । गगन मंडल में उमंग समाई ।।३।।
अमीधार बरसत चहुं ओरी । हरष हरष भीजत स्रुत गोरी ।।४।।
हंस हंसिनी जुड़ मिल आये । राग रागिनी नइ नइ गाये ।।५।।
देख नवीन बिलास मगन मन । ऊपर चढ़े सुन अधर शब्द धुन ।।६।।
शब्द हिंडोल बना सतपुर में । राधास्वामी झूलत जहां अधर में ।।७।।
हंसन के जह झुंड सुहाये । अचरज सोभा कही न जाये ।।८।।
जुड़ मिल दर्शन राधास्वामी करते । प्रीतम प्यारे के चरनन पड़ते ।।९।।
प्रेम सहित सब आरत गावें । छिन-छिन राधास्वामी पुर्ष रिझावें ।।१०।।

आरत=आरती के समय की स्तुति ।

लोगों की भूल (११)

सखी री मेरे बिच अचरज होय ।
अचरच अचरज अचरज होय ।।१।।
सांचा मारग सुरत शब्द का, सो नहिं माने कोय ।।२।।
समरथ सतगुरु दीन दयाला, राधास्वामी प्रगटे सोय ।।३।।
प्रीत प्रतीत चरन नहिं धारें, भरम रहे सब लोय ।।४।।
जनम मरन चौरासी फेरा, भुगत रहे सब कोय ।।५।।
करम भरम संग हुए बावरे, जनम अकारथ खोय ।।६।।
राधास्वामी चरन धार हिये अंतर, तब तेरा कारज होय ।।७।।

लोय=लोग ।

उलटा व्यवहार (१२)

होली खेल न जाने बावरिया, सतगुरु को दोष लगावे ।।१।।
जगत लाज मरजाद में अटकी, घूंघट खोल न आवे ।।२।।
प्रेम रंग घट भरन न जाने, भरम गुलाल घुलावे ।।३।।
डगमग भक्ती चाल अनेड़ी, जग संग झोंके खावे ।।४।।
निंदा धूल से उड़ उड़ भागे, सतसंग निकट न आवे ।।५।।
पांच दुष्ट का रंग ले साथा, नित पिचकार छुड़ावे ।।६।।
आदर मान भरा मन भीतर, दीन अंग नहिं लावे ।।७।।
बचन सुने पर चित न समावे, छिन छिन काल भुलावे ।।८।।

मन माया ने जाल बिछाया, सब जिव नाच नचावे ।।९।।
दया करें सतगुरु मन मोड़ें, सो घर की राह पावे ।।१०।।
प्रीति प्रतीत बढ़ावत दिन दिन, राधास्वामी चरन समावे ।।११।।

अनेड़ी=व्यर्थ, निष्प्रयोजन। छुड़ावे=छुड़वावे, चलवाती है।

अपनी कठिनाइयाँ (१३)

भोग वासना मनमें धरी, मोसे सतसंग किया न जाय ।।टेक।।
मैं चाहूं छोड़ूं भोगन को, देख भोगन अति ललचाय ।।१।।
सतसंग बचन सुनूं मैं कैसे, मन रहे अनेक तरंग उठाय ।।२।।
चित चंचल मेरा चहूं दिस धावे, सुरत शब्द में नहीं समाय ।।३।।
निरभय होय भरमे संसारा, नई कामना नित जगाय ।।४।।
बिन राधास्वामी अब कोइ नहिं मेरा, जो यह बेड़ा पार लगाय ।।५।।

उपदेश (१४)

प्रेमी लीजे रे सुध घर की, गुरुसंग शब्द कमाय ।।टेक।।
शब्द धार धुर घर से आई, वही धार गह अधर चढ़ाय ।।१।।
वही धार गुरु चरन कहावे, वामें गहरी प्रीति बसाय ।।२।।
गुरु स्वरूप को संग ले अपने, शब्द-शब्द से मिलता जाय ।।३।।
या विधि चाल चले जो कोई, दिन दिन चरनन प्रेम बढ़ाय ।।४।।
घट में लीला लखै नियारी, नित नवीन रस आनंद पाय ।।५।।
चढ़ चढ़ पहुँचे राधास्वामी धामा, दरस पाय निज भाग सराय ।।६।।

नियारी =न्यारी, अनुपम। सराय=सराहे।

चेतावनी (१५)

आओ गुरु दरबार री, मेरी प्यारी सुरतिया ।।टेक।।
जगत अगिन में क्यों तू जलती, न्हावो शीतल धार री ।।मेरी०।।१।।
सतसंग कर गुरु का हित चित से, जग भय भाव बिसार री ।।मेरी०।।२।।
बिरह अनुराग धार हिये अंतर, तन मन चरनन वार री ।।मेरी०।।३।।
नाम दान सतगुरु से लेकर, करनी करो सम्हार री ।।मेरी०।।४।।
विमल प्रकाश लखो घट अंतर, सुन अनहद झंकार री ।।मेरी०।।५।।
राधास्वामी मगन धार हिये अपने, करले जीव उपकार री ।।मेरी०।।६।।

नेक सलाह (१६)

अधर चढ़ परख शब्द की धार ।।टेक।।
गुरु दयाल तोहि मरम लखावें, बचन सुनो उन हिये धर प्यार ।।१।।
बिरह अंग लेकर अभ्यासा, खोज करो तुम घट धुन सार ।।२।।
गुरु स्वरूप को अगुआ करके, धुन सुन चलो कंज के पार ।।३।।
सहस कंवल में घंटा बाजे, गगन माहिं सुन धुन ओंकार ।।४।।
सुन्न शिखर चढ़ महा सुन्न पर, भंवर गुफा मुरली झनकार ।।५।।

सत्त शब्द का धरकर ध्याना, सत्त लोक धुन बीन सम्हार ।।६।।
अलख अगम के पार निसाना, राधास्वामी प्यारे का कर दीदार ।।७।।

भक्ति-स्वरूप (१७)

मन मन धुन से भक्ति करो री ।।टेक।।
कोरी भक्ति काम नहिं आवे, याते हिये में प्रेम भरो री ।।१।।
परम पुरुष राधास्वामी चरनन में औ सतसंग में प्रीत धरो री ।।२।।
दया करें गुरु भेद बतावें, तब धुन संग सुर्त अधर चढ़ो री ।।३।।
दीन गरीबी धार हिये में, उमंग उमंग गुरु चरन पड़ो री ।।४।।
राधास्वामी मेहर करें अब अपनी, भव सागर से सहज तरो री ।।५।।

भरोरी=पूर्ण कर लो।

प्रेम-महत्व (१८)

प्रेम बिन चले न घर की चाल ।।टेक।।
सतसंग करे समझ तब आवे, गुरु चरनन में प्रीत सम्हाल ।।१।।
गुरु भक्ती की रीत सम्हारे, छोड़े जग की चाल औ ढाल ।।२।।
गुरु स्वरूप का धारे ध्याना, शब्द सुने तज माया ख्याल ।।३।।
घट में देखे बिमल प्रकासा, मगन होय सुन शब्द रसाल ।।४।।
प्रीत प्रतीत बढ़े तब दिन दिन, पावे राधास्वामी दरस बिसाल ।।५।।

कठिन साधना-पथ (१९)

गुरु प्यारे का मारग झीना, कोइ गुरुमुख जाय ।।टेक।।
मन इंद्री को रोक अंदर में, भोग बासना दूर हटाय, मन मान नसाय ।।१।।
सतगुरु प्रेम भींज रहे निसदिन, नया नया भाव औ उमंग जाय,
गुरु सेवा लाय ।।२।।
होय हुशियार चलत गुरु मारग, घट में विमल बिलास दिखाय,
गुरु ध्यान धराय ।।३।।
तन मन धन चरनन पर वारत, मन औ सूरत गगन चढ़ाय,
घट शब्द जगाय ।।४।।
करम काट गुरु बल चली आगे, माया दल भी दूर पराय,
दिया काल गिराय ।।५।।
ऐसी सुर्त गुरु चरन अधीनी, सुर होय सत शब्द समाय,
धुन बीन बजाय ।।६।।
मेहर हुई सुर्त अधर सिधारी, राधास्वामी दिया निज घर पहुंचाय,
लिया गोद बिठाय ।।७।।

झीना=सूक्ष्म, कठिन।

अरी अंतर्ध्वनि (२०)

बोल री मेरी प्यारी मुरलिया, तरस रही मेरी जान मुरलिया ।।१।।
सुन सुन धुन मन उमंगत घट में, और शिथिल हुए प्रान मुरलिया ।।२।।

रस भरे बोल सुने जब तेरे, गया कलेजा छान मुरलिया ।।३।।
तन मन की सब सुद्ध बिसारी, धुन में चित्त समान मुरलिया ।।४।।
राधास्वामी दया अधर चढ़ आई, सतपद दरस दिखान मुरलिया ।।५।।

छान गया = भेद दिया, वार-पार हो गया, व्याप्त हो गया।

रचना रहस्य (२१)

गुरु प्यारे चरन रचना की जान ।।टेक।।
आदि धार चेतन जो निकसी, उसने रची सब रचना आन ।।१।।
वही धार गुरु चरन पिछानो, वही पिंड ब्रह्मांड समान ।।२।।
उसी धार का सकल पसारा, वोही धुन औ नाम कहान ।।३।।
जुगती ले गुरु से सुर्त अपनी, उसी धार को पकड़ चढ़ान ।।४।।
राधास्वामी मेहर करें जब अपनी, निज स्वरूप घट में दरसान ।।५।।

जान = मूल स्थान। पिछानो = पहचानो, मानो। समान = व्याप्त है। कहान = कहलाता है। चढ़ान = चढ़ा जाता है।

विनय (२२)

रंगीले रंग देओ चुनर हमारी ।।टेक।।
ऐसा रंग रंगी किरपा कर, जग से हो जाय न्यारी ।।१।।
यह मन नित्त उपाय उठावत, याको गढ़ लो सारी ।।२।।
निर्मल होय प्रेम रंग भीजे, जावे गगन अटारी ।।३।।
तुम्हरी दया होय जब भारी, सुरत अगम पद धारी ।।४।।
राधास्वामी प्यारे मेहर करो अब, जल्दी लेव सुधारी ।।५।।

चुनरी = मनोवृत्ति। गढ़ लो सारी = पूर्णतः सुधार दो।

साखी

चुपके चुपके बैठकर, करो नाम की याद।
दया मेहर से पाइयो, तुम सतगुरु परसाद ।।१।।
पिया मेरे और मैं पिया की, कुछ भेद न जानो कोई।
जो कुछ होय सो मौज से होई, पिया समरथ करें सोई ।।२।।
जो सुख नहिं तू दे सके, तो दुख काहू मत दे।
ऐसी रहनी जो रहे, सोई शब्द रस ले ।।३।।

परसाद = प्रसाद, कृपा।

स्वामी रामतीर्थ

स्वामी रामतीर्थ का जन्म पंजाब प्रान्त के गुजरानवाला जिले के अंतर्गत मुरारीवाला गाँव में हुआ था। ये सं० १९३० में उत्पन्न हुए थे और इनके पूर्वज 'गोसांई' वंश के ब्राह्मण कहलाते थे जिनमें प्रसिद्ध गोस्वामी तुलसीदास का भी नाम लिया जाता है। ये प्रतिभाशाली व्यक्ति थे और इन्हें उर्दू एवं फ़ारसी के अतिरिक्त गणित में एम० ए० तक शिक्षा मिली थी। इन्होंने कुछ दिनों तक अध्यापन-कार्य किया, किन्तु कृष्ण की

भक्ति, गीतानुशीलन एवं वेदान्त दर्शन की ओर इनका ध्यान क्रमशः अधिकाधिक आकृष्ट होता गया। इनके हृदय में ऐसे भाव जागृत होने लगे जिनके प्रभाव में आकर इन्होंने अपना जीवन बदल डाला। केवल २४ वर्ष की ही अवस्था में इन्होंने एक पत्र द्वारा अपने पिता को सूचित कर दिया कि "आपका पुत्र अब राम के आगे बिक गया, उसका शरीर अब अपना नहीं रह गया" और हरिद्वार आदि की यात्रा कर ये सं० १६५५ से आत्मानुभूति में निमग्न हो गये। तब से ये सदा आत्मानन्द की मस्ती में विभोर हो पर्यटन करने लगे और अपने भावों को व्यक्त करते-करते अमेरिका और जापान तक हो आये। इन्होंने कोई सम्प्रदाय नहीं चलाया और अन्त में सं० १६६३ की कार्त्तिकी अमावस्या के दिन, टिहरी के निकट, इन्होंने जल-समाधि ले ली।

स्वामी रामतीर्थ ने 'ब्राह्मी स्थिति' उपलब्ध की थी जिसकी झलक उनकी विविध रचनाओं में मिला करती है। वे सभी कुछ को आत्म-स्वरूप में ही देखते थे और अपनी प्रत्येक चेष्टा को भी उन्होंने पूर्णतः उसी रंग में रँग डाला था। उनकी दशा कभी-कभी भावोन्माद की कोटि तक पहुँच जाती थी, किन्तु उनके विचारों में किसी प्रकार की विशृंखलता नहीं लक्षित होती थी। अपनी मानसिक स्थिति का परिचय इन्होंने एक बार (A state of balanced recklessness) अर्थात् 'सन्तुलित प्रमाद की अवस्था' के द्वारा दिया था। उनकी आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति विश्व-कल्याण का लक्ष्य लेकर ही हुआ करती थी। उन्होंने 'धर्म' की व्याख्या भी वैसी ही की है जिससे वह अपने चित्त की एक 'बढ़ी-चढ़ी अवस्था' ही सिद्ध होता है। उसमें विश्वात्मा एवं जीवात्मा एकाकार हो जाते हैं और खुदी (देहात्मभाव) खुदाई (ब्रह्मभाव) में परिणत हो जाती है। स्वामी रामतीर्थ की उपलब्ध रचनाओं में सच्चे संत के विचार भावावेश की शैली में व्यक्त किए गये दीख पड़ते हैं। उनमें सात्विक जीवन जागरूक बना दीखता है। उनके पद्यों की भाषा में फ़ारसी तथा अरबी के शब्दों का बाहुल्य है और वे अधिकतर उर्दू की ही बह्रों में लिखे पाए जाते हैं। उनमें ओज एवं प्रवाह के साथ-साथ सहानुभूति का वह आनन्दोल्लास भी है जो प्रायः गम्भीरतम आध्यात्मिक जीवन में ही सम्भव हुआ करता है।

ग़ज़ल

चेतावनी (१)

शाहंशहे जहान है, सायल हुआ है तू।
पैदा कुने ज़मान है, डायल हुआ है तू॥
सौ बार गर्ज होवे तो, धो धो पियें क़दम।
क्यों चर्खो मिहरो माह पै, मायल हुआ है तू॥
खंजर की क्या मजाल कि इक जख्म कर सके।
तेरा ही है खयाल कि घायल हुआ है तू॥
क्या हर गदाओ शाह का राज़िक है कोइ और।
अफ़लासो तंगदस्ती का कायल हुआ है तू।
टाइम है तेरे मुजरे के मौके की ताक में।
क्यों डर से उसके मुफ्त में जायल हुआ है तू॥
हम बगल तुझसे रहता है हर आन राम तो।
बन पर्दा अपनी वस्ल में हायल हुआ है तू॥१॥

शाहंशहे जहान = विश्व का सम्राट् । सायल = प्रार्थी, मंगन । पैदा कुने ज़मान = काल का भी रचयिता । डायल = Dial घड़ी व धूपघड़ी का बनावटी काल-सूचक चेहरा । क़दम = पैर । चर्खो...माह = आसमान, सूरज और चांद । मायल = आकृष्ट, इच्छुक, प्रभावित । खंजर = तलवार । गदाओ शाह = भिक्षुक तथा महाराजा, राजारंक । राजिक = पोषक, अन्नदाता । अफ़लासो तंगदस्ती = दरिद्रता तथा निर्धनता । कायल = मानने वाला, पीड़ित । टाइम = Time समय, काल । मुजरा = दृष्टिपात, कटाक्ष । ज़ायल = क्षीण, दुर्बल, शक्तिहीन । हम बगल = एक ही अंक में, एक ही साथ । हर आन = सदा, सर्वदा । वस्ल = मिलन, संयोग । हायल बाधक ।

उल्लास की अभिव्यक्ति (२)

यह डर है मिहर आ चमका, अहाहा, आहाहा !
उधर मह बीम से लपका, अहाहा, अहाहा !
हवा आठखेलियां करती है मेरे इक इशारे से !
है कोड़ा मौत पर मेरा, अहाहा, अहाहा !
इकाई जात में मेरी असंखो रंग हैं पैदा !
मजे करता हूं मैं क्या क्या, अहाहा अहाहा !
कहूं क्या हाल इस दिल का कि शादी मौज मारे है ।
है एक उमड़ा हुआ दरिया, अहाहा, अहाहा !
यह जिस्मे राम ऐ बदगो ! तसव्वर महज़ है तेरा ।
हमारा बिगड़ता है क्या, अहाहा, अहाहा !

मिहर = सूर्य । मह = चंद्र । बीम = भय । है...मेरा = मृत्यु पर भी मेरा पूर्ण शासन है । जात = स्वरूप । इकाई...पैदा = मेरी एकता में ही अनेकता भासित हुआ करती है । शादी = खुशी, आनंद । मौज मारे है = तरंगायित होता है । दरिया = समुद्र । जिस्मेराम = स्वामी रामतीर्थ का शरीर । बदगो = अनुचित बातें करने वाला । तसव्वर = कल्पना, खयाल । महज = केवल, मात्र ।

———

पारिभाषिक शब्दावली

यहाँ उन कतिपय शब्दों के सांकेतिक अर्थ दे दिये जाते हैं जिनके प्रयोग संगृहीत रचनाओं में कहीं-कहीं दीख पड़ते हैं। उनका अभिप्राय यथास्थान बतला दिया गया है, किंतु उनके पारिभाषिक रूप को स्पष्ट करने के लिए उनका एक संक्षिप्त परिचय अलग भी दे दिया जाता है।

अजपाजाप : नाम-स्मरण की वह स्थिति वा पद्धति जिसमें सभी प्रकार के बाह्य साधन, जैसे नामोच्चारण, माला का फेरना, अँगुलियों पर नामों का गिनना, आदि छोड़ दिये जाते हैं और उसकी अंतःक्रिया आपसे आप होने लगती है।

अनहद : अनाहत नाद अथवा बिना किसी के कुछ बजाये आपसे आप निरंतर होता रहने वाला शब्द जो समाधिस्थ योगियों को अपने शरीर के भीतर एक प्रकार की मधुर ध्वनि के रूप में सुनायी पड़ता है और जिसके साथ संत लोग तल्लीनता का अनुभव करते हैं।

अमृत : ब्रह्मरध्र, अर्थात् मस्तक के भीतर शीर्षस्थान में वर्त्तमान सहस्रदल कमल का विकास नीचे की ओर है। उसके मध्य स्थित चंद्राकार विंदु से एक प्रकार का मदस्राव होता है जिसे महारस भी कहते हैं। वह निम्न स्थान की ओर क्रमशः प्रवाहित होता हुआ, अंत में मूलाधार चक्र के निकटवर्ती सूर्याकार स्थान तक आकर सूख जाता है। यदि अभ्यास द्वारा इसे ऊपर ही रोक लिया जाय और इसका आस्वादन किया जाय तो शरीर का दीर्घायु अथवा अमर तक हो जाना निश्चित समझा जाता है।

अलल : अललपक्षी नामक एक विचित्र चिड़िया जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि वह सदा आकाश में उड़ा करती है और वहीं रहती हुई अपना अंडा भी दिया करती है जो पृथ्वी पर पहुँचने के पहले ही फूट जाता है और बच्चा उड़कर माँ से मिल जाता है।

इडा : मेरुदंड में वर्तमान वह योग नाड़ी जो उसकी बायी ओर से उठकर सुषुम्ना में लिपटती हुई ऊपर की आर चली जाती है और जो अंत में नाक की बायी ओर समाप्त होती है। इसको चंद्र नाड़ी अथवा गंगा नदी भी कहते हैं।

उन्मन : उनमनी की वह दशा जिसमें चित्तवृत्तियाँ सदा परमात्म तत्त्व में ही लगी रहती हैं। अन्यमनस्कता, अतिचेतना।

कुंडलिनी : मूलाधार चक्र के निकट मेरुदंड के मूल में स्थित वह शक्ति जिसके विषय में कहा जाता है कि वह किसी सर्पिणी की भाँति साढ़े तीन कुंडलों वा लपेटों में सुप्त-सी पड़ी रहती है और जो अंतःसाधना द्वारा प्रबुद्ध की जाती है। जागृत होने की दशा में वह सीधी होकर सुषुम्ना नाड़ी द्वारा क्रमशः ऊपर को अग्रसर होती है और ब्रह्मरंध्र के निकट पहुँच कर लीन हो जाती है। उसकी इस अन्तिम दशा को शक्ति का शिव के साथ मिल जाना कहा जाता है। उसका जागृत होना योगी की सिद्धि का परिचायक है।

कुंवा : सहस्रदल कमल में स्थित उपर्युक्त चंद्राकार विंदु जिसे 'औंधा कुआँ' भी कहा जाता है। इसे ही 'अमृतकूप' भी कहते हैं।

कुंभक : प्राणायाम की वह मध्यक्रिया जिसमें प्राणों का संयमन हुआ रहता है। इसे कहीं-कहीं प्राणायाम का पर्याय भी माना गया है।

गगन : शरीर के भीतर का वह आकाशवत् अंतराल जिसमें ज्योतिर्मय ब्रह्म का प्रकाश दीखता है और जहाँ से अनाहत की ध्वनि सुन पड़ती है। इसको कभी-कभी 'शून्य' भी कहा करते हैं और इसके विभिन्न स्तरों की भी कल्पना की जाती है।

चंद्र : इड़ा नाम की उपर्युक्त योगनाड़ी अथवा सहस्रार स्थित चंद्राकार अमृत-कूप जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

त्रिकुटी : भ्रूमध्य में स्थित वह विंदु जहाँ पर इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना योग नाड़ियों का मिलन होता है। इसे इसी कारण 'त्रिवेणी' भी कहा जाता है। योगसाधन में इस स्थल को कई दृष्टियों से बड़ा महत्त्व दिया गया है।

दसम दुआर : दशम द्वार अर्थात् आँखों के दो छिद्र, कान के दो छिद्र, नाक के दो छिद्र, मुख, गुदा एवं लिंग के अतिरिक्त ब्रह्मरंध्र नाम का एक दसवाँ छिद्र जो शिर के भीतर शीर्षस्थान में वर्त्तमान है जिसकी ओर शक्ति की साधना उन्मुख की जाती है।

निरति : परमात्मा के साक्षात्कार का आनन्द जो पूर्ण तन्मयता के कारण अनुभव में आता है।

निरबान : निर्वाण अर्थात् मोक्ष की वह चरमावस्था, जब आवागमन के चक्र का सदा के लिए अंत हो जाता है।

परचा : परिचय के ढंग से प्राप्त किया हुआ स्वानुभूति-विषयक ज्ञान। पूर्ण परिचय, आत्मज्ञान, परमतत्वोपलब्धि।

पवन : प्राणायाम द्वारा परिष्कृत शरीरस्थ वायु।

पिंगला : मेरुदंड में वर्त्तमान वह योगनाड़ी जो उसकी दाहिनी ओर से उठकर सुषुम्ना में लिपटती हुई ऊपर की ओर चली जाती है। वह अंत में नाक की दाहिनी ओर समाप्त होती है। इसको सूर्य नाड़ी अथवा यमुना नदी भी कहते हैं।

प्राणायाम : प्राणों की वह साधना जिसके द्वारा श्वास की एवं प्रश्वास की गतियों को संयमित किया जाता है। इसकी तीन वृत्तियाँ हैं जो पूरक, कुम्भक एवं रेचक नामों से अभिहित की जाती हैं। इनके द्वारा क्रमशः बाहर की वायु को नियमित ढंग से भीतर ले जाना, उसे उदरादि में भर देना तथा भीतर की वायु को बाहर निकालना सिद्ध किया जाता है। इन क्रियाओं और विशेषकर कुंभक क्रिया की साधना से प्राणों का संयमन हो जाता है और चित्त की बहुमुखी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं।

बंकनाल : वह टेढ़ा मार्ग जिससे होकर सुषुम्ना नाड़ी त्रिकुटी के कुछ और आगे अग्रसर होती है। वह अत्यन्त सूक्ष्म एवं बीहड़-सा समझा जाता है और उससे प्रवाहित होने के कारण स्वयं सुषुम्ना को भी इसी नाम से पुकारते हैं।

बहत्तर कोठे : योगशास्त्रीय शरीर-रचना विज्ञान के अनुसार काया के भीतर ७२ कोठे वा क्षेत्र वर्त्तमान हैं।

मानसरोवर : उपर्युक्त, अमृतकूप अथवा अमृतकुंड जिसके शुभ्र जल में 'सुरति' मग्न हो जाती है।

मुद्रा : हठयोग द्वारा विहित विशेष प्रकार के अंगन्यास जो खेचरी, भूचरी, चाचरी, गोचरी और उन्मुनी नामों से प्रसिद्ध हैं।

मेरु : मेरुदंड नाम की पीठ के बीच की हड्डी जिसे रीढ़ भी कहा जाता है।

शब्द : वह शब्द जो अनहद के रूप में शरीर के भीतर सुन पड़ता है और जो परमतत्त्व का प्रतीक भी समझा जाता है। 'शब्द' नाम बहुधा उस उपदेश अथवा 'जुगति' को भी दिया जाता है जिसे सद्गुरु अपने शिष्य को प्रदान करता है।

शून्य : देखिये 'गगन'।

षट्चक्र : उपर्युक्त रीढ़ वा मेरुदंड की रचना छोटे-छोटे अस्थिखंडों के आधार पर की गई बतलायी जाती है। इनके विविध संधिस्थलों पर सूक्ष्म नाड़ियों द्वारा निर्मित कतिपय चक्र से बन गए हैं। इन चक्रों की स्थिति सुषुम्ना से होकर ऊपर की ओर अग्रसर होने वाली कुंडलिनी के मार्ग में पायी जाती है और इनकी संख्या बहुत है। किंतु इनमें से मुख्य छह ही कहे जाते हैं जिन्हें नीचे से ऊपर की प्रगति के अनुसार क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और अज्ञा कहते हैं। इनकी रचना कमल के फूलों जैसी जान पड़ती है और इनके दलों की संख्या, इनके उक्त क्रमानुसार चार, छह, दस, बारह, सोलह एवं दो की समझ पड़ती है। इनकी स्थिति भी उसी प्रकार गुदामूल, लिंगमूल, नाभि, हृदय, कण्ठ एवं त्रिकुटी के समानांतर है। कुंडलिनी शक्ति इन छहों चक्रों को क्रमशः बेधती हुई आगे बढ़ती और उसी क्रम से साधना में उत्कर्ष भी बढ़ता जाता है।

सुखमन : सुषुम्ना नाम की योगनाड़ी जिसकी स्थिति मेरुदंड में है। यह इड़ा एवं पिंगला नाम की दो अन्य वैसी ही नाड़ियों के मध्य में नीचे से ऊपर की ओर बढ़ती हुई त्रिकुटी के निकट उन दोनों को भी अपने में मिला लेती है। फिर आगे सहस्रार के कुछ इधर लुप्त होती है। इसको सरस्वती नदी भी कहते हैं और इसी से होकर कुंडलिनी शक्ति प्रवाहित होती है।

सुमिरन : नामस्मरण की साधना जो वस्तुतः अनाहत नाद के श्रवण को ही लक्ष्य करती है और जो सुरति-शब्द-संयोग का कारण बनकर संतों के लिए आत्मोपलब्धि में सबसे प्रधान सहायक है।

सुरति : जीवात्मा अथवा परमात्मा का वह प्रतीक जो उसकी स्मृति वा प्रतिनिधि के रूप में मनुष्य के भीतर वर्तमान है। सुरति का संतों ने अपने पति परमात्मा से बिछुड़ी हुई दुलहिन के रूप में भी वर्णन किया है। वह उससे मिलने के लिए आतुर हो नामस्मरण की सहायता से अनाहत शब्द के साथ संयोग कर लेती है जिससे अंत में उसे तदाकारता की उपलब्धि हो जाती है।

सूर्य : पिंगला नाम की उपर्युक्त योगनाड़ी अथवा मूलाधार-स्थित एक शक्ति जो ऊपर से प्रवाहित अमृतस्राव को सोख लेती है।

हंस : जीवात्मा जो नवद्वार के पिंजड़ों (इस शरीर) में अपने को आबद्ध पाता है।

सहायक साहित्य

१. उत्तरी भारत की संत-परम्परा (ले० परशुराम चतुर्वेदी)—लीडर प्रेस, प्रयाग, सं० २००७।

२. कबीर ग्रंथावली (सं० श्यामसुन्दर दास)—काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सन् १९२८ ई०।

३. कबीरपंथी शब्दावली (सं० स्वामी युगलानन्द बिहारी)—गंगाविष्णु श्रीकृष्ण दास, कल्याण बंबई, सं० १९८८।

४. कीर्त्तिलता (विद्यापति)—काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं० १९८६।

५. केसोदास की अमीघूंट—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।

६. गरीबदास जी की बानी—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।

७. गरीबदास जी की बाणी (सं० स्वामी मंगलदास)—श्री लक्ष्मीराम ट्रस्ट, जयपुर, सं० २००४।

८. गुरु ग्रंथ साहिब जी (आदिग्रंथ)—गुरु खालसा प्रेस, अमृतसर।

९. गुलाल साहब की बानी—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सन् १९१० ई०।

१०. गोरखबानी (सं० डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल)—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० १९९९।

११. घटरामायन (तुलसी साहिब)—सन् १९३२ ई०।

१२. घनानंद और आनन्दघन (सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र)—वाङ्मयनाल, काशी।

१३. जगजीवन साहब की बानी—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सन् १९२२ ई०।

१४. तुलसी साहिब की शब्दावली, २ भाग—सन् १९३४ ई०।

१५. दयाबाई की बानी—बे० प्रेस, प्रयाग, सन् १९२७ ई०।

१६. दरिया सागर—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।

१७. दरिया साहब (मारवाड़) की बानी—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।

१८. दरिया साहेब (बिहार) के चुने हुए शब्द—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सन् १९३१ ई०।

१९. दीवाने गालिब—रामनारायण लाल, प्रयाग, सन् १९१८ ई०।

२०. दुलनदास जी की बानी—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सन् १९१४ ई०।

२१. धनी धरमदास जी की शब्दावली—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सन् १९२१ ई०।

२२. धरनीदास जी की बानी—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सन् १९११ ई०।

२३. नागरी प्रचारिणी पत्रिका (वर्ष ४५, अंक १), सं० १९७७।

२४. नामदेवाचा गाथा—चित्रशाला प्रेस, पूना (शके १८५३)।

२५. पञ्चामृत (सं० स्वामी मंगलदास)—श्री लक्ष्मीराम ट्रस्ट, जयपुर, सन् १९४८ ई०।

२६. पलटू साहिब की बानी, ३ भाग—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सन् ११२६ ई० ।
२७. पोथी प्रेमबानी, २ भाग—राधास्वामी ट्रस्ट, आगरा, सन् १६३६ ई० ।
२८. बखना जी की वाणी (सं० स्वामी मंगलदास)—श्री लक्ष्मीराम ट्रस्ट, जयपुर, सन् १६३७ ई० ।
२६. बीजक (सं० विचारदास)—रामनारायन लाल, इलाहाबाद, सन् १६२८ ई० ।
३०. बुल्ला साहब का शब्दसार—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सन् १६१० ई० ।
३१. बुल्ला शाह का सीहर्फी—खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, सं० १६६० ई० ।
३२. भक्तिसागर—नवल किशोर प्रेस, लखनऊ सन् १६३१ ई० ।
३३. भजन-संग्रह (सं० श्री वियोगी हरि)—गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० १६६० ई० ।
३४. भीखा साहब की बानी—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सन् १६२६ ई० ।
३५. मधुकर (जून-जुलाई, सन् १६४६ ई०)—टीकमगढ़ (मध्य-भारत) ।
३६. मलूकदास जी की वाणी—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग ।
३७. महात्माओं की वाणी (बाबा रामबरन दास साहब)—भुड़कुड़ा, जि० गाजीपुर, सन् १६३३ ई० ।
३८. यारी साहब की रत्नावली—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सन् १६१० ई० ।
३६. रज्जबजी की वाणी—ज्ञानसागर प्रेस, बम्बई, सं० १६७५ ।
४०. रत्नसागर (तुलसी साहब)—बे० प्रे०, प्रयाग, सन् १६३० ई० ।
४१. रामस्नेही धर्मदर्पण (ले० मनोहर दास)—सुनेल कला रामद्वारा (होल्कर राज्य), सं० २००३ ।
४२. रैदासजी की बानी—बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, सन् १६३० ई० ।
४३. वैज्ञानिक अद्वैतवाद (ले० रामदास गौड़)—ज्ञानमंडल प्रेस, काशी, सं० १६७७ ।
४४. शब्दावली (संत शिवनारायण)—हस्तलिखित प्रति ।
४५. शब्द ग्रंथ संत विलास ।
४६. लव परवाना ।
४७. संत अक्षरी ।
४८. संत बचन—संत समाज प्रबन्धक समिति गुरुद्वारा, कानपुर ।
४६. श्री पोथी विवेक सार—आनन्द भवन, सेनपुरा, बेतगंज, बनारस, सन् १६४६ ई० ।
५०. श्री विचारसागर—व्रजवल्लभ हरिप्रसाद, कालबा देवी रोड, बंबई, सन् १६२६ ई० ।
५१. श्री संत गाथा (गाथा पञ्चक)—त्र्यंबक हरी आपटे, पूना ।
५२. श्री स्वामी दादू दयालजी की बाणी (सं० पं० चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी)—वैदिक यंत्रालय, अजमेर, सन् १६०७ ई० ।
५३. दादू (बंगला)—आचार्य क्षितिमोहन सेन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन ।
५४. श्री हरिपुरुषजी की वाणी—वैष्णव साधु देवदास, कटला बाजार, जोधपुर, सं० १६८८ ।

५५. संत अंक (कल्याण)—गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० १६६४।
५६. संतमाल (ले० महर्षि शिवव्रत लाल)—राधास्वामी धाम, गोपीगंज।
५७. संत सिंगाजी (सं० श्री सुकुमार पगारे)—सिंगाजी साहित्य शोधक मंडल, खण्डवा, १६३६ ई०।
५८. सहजो बाई का सहज प्रकाश—बेल० प्रेस, प्रयाग, सन् १६३० ई०।
५९. साधनांक (कल्याण)—गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० १६६७।
६०. सारबचन (नज्म)—राधास्वामी ट्रस्ट, आगरा।
६१. सुन्दर ग्रंथावली (सं० पु० हरिनारायण शर्मा)—राजस्थान रिसर्च सोसायटी, कलकत्ता सं० १६६३।
६२. हिन्दी साहित्य का इतिहास (ले० पं० रामचन्द्र शुक्ल)—काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं० १६८६।
६३. बोधसागर—श्री वेंकटेश्वर प्रेस, मुंबई।
६४. सांई दीनदरवेश (गुजराती)—अनवर आगेवान, सस्तु साहित्य वर्धक कार्यालय, कालबा देवी रोड, मुंबई।
६५. Kabir Granthavali (Doha) in French Translations and Introduction—Ch. Vaudeville Institute Francais D'indologie, Pondicherry.